चिकित्सा प्रशिक्षण का सहज पाठ

चिकित्सा प्रशिक्षण का सहज पाठ

चिकित्सा प्रशिक्षण का सहज पाठ

विख्यात चिकित्सा विज्ञानी जी.बी. अर्खांगेल्स्की द्वारा संपादित
'Manual for Nurses' का सरल-सुबोध अनुवाद

सम्पादक व अनुवादक

विश्वमित्र शर्मा

सुश्रुत आचार्य

मैत्रेय पब्लिकेशन
4697/5, 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नयी दिल्ली-2

●

प्रथम संस्करण : 2001

●

●

मूल्य : 450.00

●

मुद्रक
शुभम ऑफ़सेट
दिल्ली-110032

विषय-सूची

1

तंत्रिका तथा मानसिक रोग

ता.आ. नेवजोरोवा; प्रो. डी. एस-सी.

2

त्वचीय और रतिज रोग

मि.ब्ला. मिलिछ, प्रो., पी. एच-डी. (चिकित्सा)

3

नाक, कान और गले के रोग

आ.गा. लीखचोव, प्रो., डी. एस-सी., वा.सा. पगोसव, पी. एच-डी.

4

नेत्र रोग

मा. मि. जोलोतारेवा प्रो., डी. एस-सी., व्ला.इ. मरोजव, पी. एच-डी.

इस पुस्तक के बारे में

लोकोपयोगी विज्ञान विश्वकोश पुस्तकमाला का यह पुष्प, 'चिकित्सा प्रशिक्षण का सहज पाठ', आपके हाथों में हैं। इसे मुख्यतया उपचारिका अथवा परिचारिका प्रशिक्षण की आवश्यकताओं के अनुरूप तैयार किया गया है।

उपचार विज्ञान में नर्स या उपचारिका की भूमिका 19वीं सदी के मध्य में फ़्लोरेंस नाइटिंगेल नाम की एक लोकोपकारी अंग्रेज महिला ने निर्धारित की थी। क्रीमिया युद्ध के हताहतों को, एक हाथ में चिमनी लेकर और दूसरे हाथ से उनके ज़ख़्म धो-पोंछ और पट्टी बांधकर जो मातृसुलभ वात्सल्य और मित्रवत् स्नेह उसने किया उसी से उसका नाम 'लेडी विद दि लैम्प' की उपाधि से सुशोभित हुआ और चिकित्सा विज्ञानियों को उपचार विज्ञान में नर्स की भूमिका का अहसास भी हुआ। उसी घटना के बाद यह माना गया कि रोगों के उपचार में दवाओं और आपरेशनों की जितनी भूमिका होती है, उपचारिका की सहृदयतापूर्ण देखभाल की उससे कम नहीं होती। चूंकि रोगियों की देखभाल करते, हर परिस्थिति में, एक उपचारिका को सच्चे स्नेह, नम्रता और धैर्य की कसौटी पर खरा उतरना होता है, इसलिए मानना होगा कि किसी अस्पताल में उपचारिका का महत्त्व डॉक्टर या चिकित्सक से कम नहीं, ज्यादा होता है। दवाएं बेशक डॉक्टर तय करते हैं, आपरेशन बेशक सर्जन करते हैं, लेकिन किसी रोगी के शीघ्र स्वस्थ होने में दवाओं और आपरेशनों की बजाय रोगी की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा ज्यादा प्रभावी भूमिका निभसाती है और मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का सारा दारोमदार चूंकि उपचारिका पर होता है, अतः वह डॉक्टर अथवा सार्जक से ऊँचा दर्जा पा जाती है।

उपचारिका का पेशा श्रमसाध्य और सम्माननीय है, लेकिन उसका मूल उत्स विशुद्ध रूप से उत्कट मानवसेवा है। एक सफल उपचारिका को कई ऐसी विषम परिस्थितियों में भी सहज, संतुलित और स्नेहशील बने रहना होता है, संपादन हेतु चिकित्सा संबंधी नयी से नयी पुस्तकों-पत्रिकाओं के निरंतर सम्पर्क में रहना, अपने चिकित्सा ज्ञान को नित नवीन और अनुभव संपन्न बनाये रखना अनिवार्य होता है,

वहीं मानव-स्वभाव के क्षण-क्षण बदलते मनोभावों को अविलम्ब भांप लेने और उनके अनुरूप अपने व्यवहार को सौम्य, सहानुभूतिपूर्ण बनाये रखने का नैपुण्य भी अपने भीतर निरंतर विकसित करना होता है। यह बहुत मुश्किल और समय साध्य काम है और इसका सध जाना ही एक कुशल और सफल उपचारिका की कसौटी है।

नर्सिंग-प्रशिक्षण की जो पाठ्य पुस्तकें अंग्रेजी-हिंदी में अब तक उपलब्ध रही हैं, उन्हें इस दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं माना जाना चाहिए। नर्सिंग-प्रशिक्षण में औषधि और चिकित्सा सम्पादन का सम्यक् अध्ययन तो कराया जाता है किंतु मानव-सेवा के उन उच्च मानदंडों को उतनी प्रमुखता नहीं दी जाती, जो इस पेशे की मूल भावना है। यह पुस्तक इन दोनों के बीच अधिकाधिक तालमेल रखने के मूल विचार के साथ, सोवियत दौर के रूसी चिकित्साशास्त्रियों के संयुक्त प्रयासों से लिखी गई है और इसका संपादन गि.ब्ला. अर्खागेल्स्की डी.एस.सी. (चिकित्सा) ने किया है। इसमें तंत्रिका और मानसिक रोगों, त्वचा और रतिज रोगों, नाक-कान-आंख और गले के रोगों को केंद्र में रखकर औषधि और चिकित्सा-सम्पादन की प्रशिक्षण पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करने के साथ-साथ उपचारिका की नैतिकता को प्रमुखता दी गई है। पुस्तक का यह हिंदी अनुवाद विषय प्रतिपादन और भाषा-प्रवाह की दृष्टि से मूल रूप से हिंदी में लिखी गई पुस्तक जैसा है।

—संपादक

प्रस्तावना

चिकित्सा विद्यालयों का प्रमुख कर्त्तव्य औषधि और चिकित्सा सज्जा के सम्यक ज्ञान से विशेषज्ञों को लैस करना, तथा नैतिक मानदंडों के उच्च स्तर में उन्हें दीक्षित करना है। इस उद्देश्य की सफलता की पूर्ति निश्चय ही शिक्षकों के सामान्य दृष्टिकोण तथा विषय की विशेष जानकारी, कक्षा में कराए जाने वाले कार्य के लिए सांगोपांग तैयारी, साथ ही शिक्षक के व्यक्तिगत गुणों पर निर्भर करती है। किसी रोग के उपचार तथा प्रत्येक रोगी को जिस तरह की देख-रेख की जरूरत होती है, उस का वर्णन करते समय शिक्षक को रोगी की मनोदशा तथा उसके मानसिक उपचार के महत्त्व को भी बताना चाहिए, प्रत्येक दिन के अपने कार्य में उपचारिका से अपेक्षित नैतिकता के बारे में चर्चा करनी चाहिए और उपचारिका के व्यावसायिक कौशल, आम सांस्कृतिक स्तर और बोलचाल की आदतों को निरंतर उन्नत करने की आवश्यकता पर बल देना चाहिए। शिक्षक को पाठ्यपुस्तकों एवं चिकित्सकों की सहायता करने वालों के लिए विशेष रूप से प्रकाशित शिक्षण सहायक सामग्री के द्वारा भावी उपचारिकाओं को स्वतंत्र रूप से काम करने के लिए तैयार करना चाहिए। छात्रों को दिए जाने वाले व्याख्यानों में रोगोपचार प्रक्रिया तथा आबादी की स्वास्थ्य शिक्षा में उपचारिका की भूमिका साफ-साफ निरूपित की जानी चाहिए। व्यवहारिक कार्य का एक क्रम पूरा हो चुकने के बाद छात्रों और निदानगृह के कार्य में भाग लेने वाली उपचारिकाओं के साथ 'उपचारिका की नैतिकता' विषय पर विचार-विमर्श आयोजित करना उपयोगी होगा। इसके साथ, अपने दैनिक सेवाकार्य में उपचारिकाओं से होने वाली गलतियों और साथ ही विभाग के कार्य के संगठन में प्रकट त्रुटियों से निबटने का अनूठा अवसर उपलब्ध होता है।

इस पुस्तक के लेखकों ने एक ऐसी पाठ्यपुस्तक लिखने का लक्ष्य सामने रखा है जो अपने को केवल चिकित्सा-विज्ञान के विवरण तक ही सीमित न रखे, वरन् चिकित्सा में नैतिकता तथा उपचारिकाओं के लिए उनके व्यावसायिक आचरण की मार्ग-दर्शिका भी बन सके।

पुस्तक का मूल रूसी संस्करण निकले कई वर्ष बीत चुके हैं, अतः हिंदी अनुवाद के लिए उसे यथावत संसाधित और संशोधित किया गया है, पुरानी दवाओं और उपचार-विधियों की जगह चिकित्सा विज्ञान की आधुनिक उपलब्धियों को दर्शाया गया है।

गि. व्ला. अर्खांगेल्स्की
डी. एस-सी. (चिकित्सक)

भूमिका

(उपचारिका के लिए आचार-शास्त्र : एक संक्षिप्त विवेचन)

उपचारिका का व्यवसाय श्रमसाध्य और सम्माननीय व्यवसाय है।

चिकित्सा-केंद्रों में स्वस्थ वातावरण बनाए रखने में उपचारिकाओं की भूमिका सब से अधिक महत्त्व रखती है। अस्पतालों, बहिरंग रोगी विभागों और चिकित्सा-केंद्रों में चिकित्सा के दैनिक कार्य में उपचारिका ही उसकी प्रथम सहायिका होती है। उपचारिका चिकित्सा केंद्रों में रोगी की देखभाल करती है, स्कूल के वच्चों तथा अन्य लोगों को प्राथमिक चिकित्सा प्रदान करती है, रोगी कक्ष में रोगियों का ध्यान रखती है तथा चिकित्सक को उनकी दशा से अवगत कराए रखती है। दवाई देना, चिकित्सक के औषधि-निर्देशों को पूरा करना, इस या उस चिकित्सा प्रणाली (दवाइयों द्वारा अंतःशिरा निपेचन, भौतिक चिकित्सा) से रोगी पर हुई प्रतिक्रिया से रोगी को अवगत कराना उपचारिका के कर्त्तव्य हैं। उपचारिका का काम सिर्फ चिकित्सा में सहायता और रोगी की देखभाल ही नहीं है, बल्कि स्वास्थ्य संबंधी सामान्य ज्ञान का प्रचार करना भी है, जिसका असर रोग की रोक-थाम पर होता है। जनपद उपचारिका घर में उपचार लेने वाले रोगियों को देखने जाती है, चिकित्सा के औषधि निर्देशों को पूरा करती है, रोगियों को देखने के लिए चिकित्सा के कार्यालय को तैयार करती है तथा स्थानीय आबादी के बीच जन स्वास्थ्य कर्मियों के समूहों का संगठन तथा आस-पड़ोस में स्वास्थ्य शिक्षा बैठकों का आयोजन करती है और रोग-निरोधक कार्यकलाप चलाती है। उच्च रूप से दक्ष चिकित्सा कर्मी बनने के लिए उपचारिका को विभिन्न रोगों की मूल जानकारी का अच्छा ज्ञान होना चाहिए तथा चिकित्सा द्वारा निर्देशित किसी भी औपधि के प्रयोजन तथा प्रभाव के विपय में ठीक समझ भी होनी चाहिए, न कि उसे स्वचालित ढंग से दवाई दे देनी भर चाहिए। अतः उपचारिका को नैदानिक विधाओं तथा चिकित्सा उपकरणों का, बहुधा प्रयोग में आने वाली औपधियों के प्रभाव तथा संभावित इतर प्रभावों का ज्ञान होना चाहिए; उसे अति मूर्छावस्था वाले रोगियों की देखभाल कर सकने में कार्यकुशल होना चाहिए।

वैज्ञानिक व तकनीकी विकास के साथ-साथ उपचारिकाओं का कार्य और भी जटिल होता जा रहा है—उन्हें नए-नए उपकरणों का ज्ञान हासिल करना पड़ता है ताकि वे उनका सही उपयोग कर सकें। योग्य चिकित्सक की अनुपस्थिति में उपचारिका को कभी-कभी अपातृकालीन चिकित्सा सहायता भी करनी पड़ सकती है (जैसे अपस्मारी दौरा या मूर्छित होने में, भावनात्मक रूप से उत्तेजित रोगी को सांत्वना देने में, निरंतर अत्यधिक नकसीर फूटने को रोकने में, इत्यादि) आपत्कालीन चिकित्सा सहायता का व्यावहारिक ज्ञान रखने वाली उपचारिका को अधिक योग्य समझा जाता है तथा वह किसी भी बहिरंग रोगी विभाग या चिकित्सालय के लिए एक मूल्यवान कर्मी होती है।

उपचारिका के कार्य में रोगियों की देख-भाल में तनिक भी त्रुटि तथा लापरवाही निषिद्ध है। अपनी जिम्मेदारियों के विशिष्ट गुणों को निभाने के लिए चिकित्सा के कुशल संपादन में उपचारिका को अनवरत अध्ययन तथा कार्य संपदान में उत्कृष्टता की आवश्यकता होती है। उपचारिका के लिए विशेष रूप से प्रकाशित पत्रिकाओं, चिकित्सा संबंधी पुस्तकों, और यहाँ तक कि चिकित्सकों, उनके सहायकों, उपचारिकाओं के कार्यकलापों तथा जीवन संबंधी कथा-साहित्य का भी, अध्ययन उपचारिकाओं को करना चाहिए, जिससे कि वे अपने व्यक्तित्व तथा शील-स्वभाव का सदुपयोग रोगियों की देखभाल करने तथा उन्हें प्रभावित करने में कर सकें। यही कारण है कि भावी उपचारिका को रोगी व्यक्ति की भावनाओं तथा उसके व्यक्तित्व के मनोविज्ञान में रुचि लेनी चाहिए।

चिकित्सा कर्मचारियों के श्रम को कलात्मक होना चाहिए, जिससे सौंदर्य का भान हो। इससे रोगियों की मनोदशा पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। जीवन के प्रति आस्था और प्रेम दिखानेवाली पुस्तकों को चुनना और रोगी को पढ़ने के लिए देना भी रोगी की देखभाल करने वाले कर्मचारियों का कर्तव्य है।

उपचारिका के सदैव साफ-सुथरा रहना चाहिए तथा सीधी-सादी वेश-भूषा व वर्दी, सँवरी हुई टोपी पहननी चाहिए। यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रायः रोगी चटकीली-भड़कीली वेशभूषा पहनने वाली उपचारिका का आदर नहीं करते।

जिस कमरे में रोगी का परीक्षण किया जाता है, उपचारिका को उसे यथासंभव आरामदेह बनाना चाहिए। रोगी के व्यक्तित्व-वृत, औषधि निर्देशों के फार्म तथा अन्य चिकित्सा संबंधी कागजों को करीने से डेस्क पर लगा देना चाहिए। उपचारिका को सावधान रहना चाहिए कि ऐसा कुछ न हो जो रोगी के मन में नकारात्मक सौंदर्यरसात्मक संवेग पैदा करे (जैसे रक्तरंजित रुई के फाहे या गाज, या यहाँ तक कि ज़रा-सी भी गंदगी)।

चिकित्सा शीलाचार के अंतर्गत व्यवहार के वैज्ञानिक सिद्धांत केवल चिकित्सक के ही लिए नहीं, बल्कि चिकित्सा सहायकों के लिए भी होते हैं। इन सिद्धांतों में

पारंगत हो जाने पर चिकित्सालय या अन्य चिकित्सा संस्थानों तथा उपचारगृहों में रोगियों के उपचार में दक्षता बढ़ जाती है। हर कोई व्यक्ति उपचारिका या चिकित्सा सहायक नहीं बन सकता। यह व्यवसाय केवल ऐसे लोगों के लिए है जो अनुक्रियाशील हों, जो ऐसे काम में रुचि रखते हों तथा रोगी और पीड़ितों के सहायता कार्य में कठिन परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल सकते हों।

विश्व चिकित्सा के स्वर्णिम इतिहास में ऐसे अनेक चिकित्सकों और उपचारिकाओं के नाम हैं, जिन्होंने अपना बलिदान दे कर दूसरों का जीवन बचाया।

दूसरे महायुद्ध के दौरान रूसी चिकित्सकों और उपचारिकाओं के कर्त्तव्यपालन करते हुए साहसिक कार्य किए। शल्य चिकित्सकों ने बमवर्षा के बीच चिकित्सा की और उपचारिकाएँ सदैव उनके पास थीं। उपचारिकाओं ने युद्ध में घायल हुए लोगों की मरहम-पट्टी की और उनहें युद्ध-स्थल से सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया। पेत्रोवा, निचिपोचुरकोवा (तीन शौर्य पदकों से सम्मानित) और पानफिलोवा, जिन्होंने अपनी जान का खतरा मोल लेकर युद्ध-स्थल में घायल सैनिकों की, जीवन-रक्षा की, के नाम सोवियत जनता की कृतज्ञतापूर्ण स्मृति में सदैव के लिए अंकित हो चुके हैं। अन्ना तरन-दिमित्रिएन्को, जो कई घायलों को मौत के मुँह से खींच लाई, के कारनामे युवा उपचारिकाओं के लिए जाज्वल्यमान् उदाहरण हैं।

अंग्रेज उपचारिका फ्लोरेंस नाइटिंगेल (1820-1910) का नाम विश्व प्रसिद्ध है। रेड क्रास सोसाइटी द्वारा उनके नाम से एक अंतर्राष्ट्रीय पदक की स्थापना की गई है। इस पदक से, जैसा कि इस पदक के साथ मिलने वाले डिप्लोमा में उल्लिखित है, उनके विशेष मानव प्रेम और आत्मोत्सर्ग के लिए सर्वोत्तम उपचारिकाओं को विभूषित किया जाता है। 40 वर्षों तक उपचारिका का काम करने के बाद शिशु बहुनिदानशाला नं. 4. ताशकंन्द की उपचारिका मतलूयबा इशानूखोद्जायेवा को यह पदक प्राप्त हुआ था। उन्होंने बहुत से शिशुओं को स्वास्थ्य लाभ कराने व स्वास्थ्य-सुधार में सहायता की। उनकी सहृदयता, देखभाल, सहायता और परामर्श के लिए इन शिशुओं की माताएँ उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते नहीं अघातीं। कई बार आपात्कालीन स्थिति में मतलूयबा इशानूखोदजायेवा ने रक्त दान किया और इसलिए उन्हें, उचित ही सम्मानीय रक्तदाता (आनरेरी डोनर) की उपाधि से सम्मानित किया गया। इसीलिए डिप्लोमा में लिखे हुए शब्दों का विशिष्ट अर्थ है : इस अति कर्मठ, मृदु स्वभाव की उपचारिका के कारनामों को विश्व भर में सार्वजनिक मान्यता।

दयालुता, अनुक्रियाशीलता, स्वार्थहीनता और अपने कार्यों के प्रति निस्वार्थ समर्पण भाव—ये ऐसे गुण हैं जिनसे सब उपचारिकाओं व चिकित्साकर्मियों को युक्त होना चाहिए। चिकित्सा-कर्मियों के बीच तालमेल तथा कर्त्तव्यपालन में उनकी पटुता, चिकित्सालय, वार्ड, क्लीनिक तथा सेनिटोरियम में दिखाई देती है।

उपचारिका कर्त्तव्यनिष्ठता से कार्य करती हैं, क्योंकि वह रोगी व्यक्ति और

उसकी दशा के संबंध में अपने व्यवहार के नैतिक उत्तरदायित्व के प्रति सचेत होती है।

मानवीयता, ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठता उपचारिका के व्यवहार के मूलाधार हैं, जो पाखंड और घमंड से उसे बचाते हैं।

प्रत्येक रोगी यह समझता है कि उपचारिका का कार्य यह देखना है कि बिना किसी रुकावट के चिकित्सक के सभी निर्देशों का पालन हो, तथा रोगी की भली-भाँति देखभाल की जाय। यदि उपचारिका चिकित्सक के निर्देशों का पालन पूरी तरह नहीं करती और रोगी के सम्मुख भावनाशून्य औपचारिकता से और रूखे ढंग से पेश आती है, तो इस बात पर सभी सहमत होंगे कि, वह ताड़ना की अधिकारी है। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि मृदुलता, संयम, धैर्य और नम्रता, रोगी के प्रति उपचारिका के दृष्टिकोण की आधारभूत अभिव्यक्तियाँ हैं।

रोगी व्यक्ति सहज ही भाँप लेते हैं कि उपचारिका की सहानुभूति बनावटी है या वास्तविक। उपचारिकाओं तथा चिकित्सा-कर्मियों द्वारा रोगी के प्रति दिखलाए गए स्नेहपूर्ण व्यवहार और भावनात्मक रुचि का रोगी हृदय से आदर करते हैं। अपने कष्टों और आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिए जाने पर रोगी के मन में उपचारिका के प्रति विश्वास हो जाता है और उसके ठीक होने की इच्छा बलवती होती है। ऐसे रोगी के लिए, जिनसे मुलाकात करने के लिए कोई न आता हो, उपचारिका की सहृदयतापूर्ण देखभाल एक प्रकार का वरदान है। उपचारिका की मधुर मुस्कराहट और उसके प्रेरणा देने वाले शब्द रोगी को जल्दी ठीक होने में बहुत मदद करते हैं।

रोगी के प्रति उपचारिका का दृष्टिकोण मानवतावादी होना चाहिए। ध्यानपूर्वक देखभाल रोगी की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा के लिए आवश्यक है। स्नेह, नम्रता के अतिरिक्त धैर्य का प्रदर्शन भी जरूरी है। उपचारिका को रोगी की किसी बात का बुरा नहीं मानना चाहिए। रोगी अपने रोग के कारण चिड़चिड़ा हो जा सकता है, उसमें कामेच्छा तीव्र हो जा सकती है, आदि, आदि। अतः उपचारिका को आत्मनियंत्रण से काम लेना चाहिए। उपचारिका-रोगी का मनोवैज्ञानिक संकर्ष उम्र, सांस्कृतिक विकास आदि पर निर्भर कर सकता है। उपचारिका को याद रखना चाहिए कि पीड़ा और वेदना की दुनिया में रहते-रहते वह इनके प्रति उदासीन हो जा सकती है। इसे एक प्रकार से चिकित्साकर्मियों का व्यवसायपरक रोग कह सकते हैं। इससे बचने के लिए ललित साहित्य का अध्ययन करते रहना चाहिए।

"सिस्टर...क्या ही मर्मस्पर्शी नाम दिया गया है इस पेशे को," सुप्रसिद्ध बोल्शेविक, प्रो. सेमाश्को ने एक बार कहा था, "सिस्टर चिकित्साकर्मी मात्र नहीं होती, वह अत्यंत अंतरंग व्यक्ति होती है, अपनी ही सगी संबंधी"*

*एन.ए. सेमाश्को। पत्रिका 'मेदीसींस्काया सेस्त्रा', 1942, 1-2, पृ. 3। रूसी में नर्स को सेस्त्रा (सिस्टर) कहते हैं।

यद्यपि चिकित्सा-सहायक तथा उपचारिकाएँ रोगी का सीधे तौर पर उपचार नहीं करतीं, लेकिन रोगी की मनश्चिकित्सा में वे भूमिका निभाती हैं। जैसे ही रोगी क्लीनिक में कदम रखता है और चिकित्सक के कार्यालय में प्रविष्ट होता है, वैसे ही तत्काल वह उपचारिकाओं और चिकित्सक के सहायकों के मनश्चिकित्सापरक प्रभाव को महसूस करता है। जब वह संस्थान को साफ-सुथरा और सुव्यवस्थित पाता है, जब वह सबके ध्यान का केंद्र बन जाता है और उससे उसके स्वास्थ्य के लिए दयालुतापूर्ण सरोकार प्रकट किया जाता है, तो वह चिकित्सक की दक्षता में उच्च स्तर का उपचार मिलने के संबंध में विश्वस्त हो जाता है।

मनश्चिकित्सा का अर्थ है रोगी के साथ सहानुभूतिपूर्वक बातचीत करने, रोगी को सांत्वना प्रदान करने और रोगी को उसके स्वास्थ्य लाभ का तथा इस बात का विश्वास दिलाने की उपचारिका की योग्यता है कि उसे ठीक-ठाक उपचार प्राप्त होगा। उपचारिका के मुँह से दुर्भाग्य से अगर कभी कोई उलटी-सीधी बात निकल जाय तो वह रोगी के लिए खतरे का और स्नायविक रोगी के लिए तो गंभीर मानसिक पीड़ा का कारण भी बन सकती है। उपचारिका द्वारा कहे गए शब्दों का न केवल ठोस अर्थ होता है, बल्कि साथ ही उन शब्दों का एक भावनात्मक लहजा भी होता है। एक ही शब्द को विभिन्न तरीकों से कहा जा सकता है और उसके अलग अर्थ हो सकते हैं तथा रोगी इस बात को बहुत शीघ्रता से ग्रहण करता है कि उसकी देखभाल कैसे की जा रही है। सहृदयतापूर्ण लहजा और सतर्क विनम्रता रोगी और उपचारिका के पारस्परिक संबंधों के आधारभूत अंग होने चाहिए। प्रत्येक उपचारिका को अपनी अभिव्यक्ति में स्पष्टता विकसित करनी चाहिए, उसे अपनी बात को अवश्य ही अधिक सटीकता, स्पष्टता, और विश्सनीयता के साथ-साथ ही अधिक सपाट रूप में अभिव्यक्त करना चाहिए। शब्द ज्ञान को विकसित करने के उद्देश्य से लेव तोलस्तोय, एंटोन चेखोव, इवान बूनिन, कोंस्तांतिन पौस्तोव्स्की जैसे महान रूसी लेखकों का क्लासिकी साहित्य, गल्प-साहित्य, उपन्यास, कहानियाँ और कविताएँ और मिखाइल लेर्मंतोव, फ्योदोर त्यूत्चेव, एलेक्जेंडर ब्लाक, सेर्गेय येसेनिन, व्लादिमिर मायकोव्स्की, एलेक्जेंडर त्वादोव्स्की आदि रूसी कवियों को तथा अन्य लेखकों को पढ़ना चाहिए।

जहाँ तक काम का प्रश्न है, उपचारिका को रोगी के उपचार और देखभाल से संबंधित कर्त्तव्य का पूरी निष्ठा के साथ पालन करना चाहिए और उस समय उसके मन में दूसरे विचारों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। रोगी की उपस्थिति में उपचारिका को अपने साथियों के साथ रात को देखी गई फिल्म तथा किसी चीज की खरीदारी इत्यादि के बारे में बातचीत करने की इजाज़त नहीं दी जा सकती।

व्यवहार में सरलता और सादगी उपचारिका का एक बहुमूल्य गुण है। उपचारिका की निरर्थक बातचीत तथा अकर्मण्यता से रोगी को निराशा होती है तथा विभाग भर के मान की प्रतिष्ठा को, और विशेष रूप से चिकित्सक की निकटतम सहायिका

होने के नाते उपचारिका की प्रतिष्ठा को चोट पहुँचती है।

अपने दैनिक कार्य में उपचारिकाओं का संपर्क वृद्ध जनों से होता है। वृद्ध लोग उपचारिका द्वारा बरते गए जरा-से उपेक्षा भाव के प्रति भी विशेष रूप से भावुकताप्रवण और अत्यंत संवेदनशील होते हैं, यह एक ऐसा मनोभाव होता है जिससे वे बहुत गहराई से पीड़ित रहते हैं। ऐसे रोगियों के प्रति एक अत्यंत समझदारीपूर्ण रवैया अपनाने की, और उन पर सावधानीपूर्वक ध्यान देने की आवश्यकता होती है। यह हमेशा ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वृद्ध लोगों ने अपनी अधिकाधिक शक्ति तथा यौवन को हमारे देश के कल्याण के लिए लगा दिया है तथा सोवियत जनगण की समृद्धि और संस्कृति में महान योगदान किया है। किसी को कभी भी यह नहीं भूल जाना चाहिए कि वृद्ध लोगों के प्रति उपेक्षा भाव सोवियत जन स्वास्थ्य की आचार संहिता के सिद्धांतों के प्रतिकूल है।

उपचारिकाओं और आम तौर पर सभी चिकित्सा कर्मचारियों के आचार-व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण अंग चिकित्सा संबंधी भेद को अपने तक सीमित रखने की योग्यता है। किसी को भी अपने परिचितों और सहकर्मियों को रोगी के रोग के स्वरूप के बारे में सूचनाएँ उद्घाटित करने का अधिकार नहीं है। रोगी के संबंधियों को, जो उसकी दशा और उपचार के पूर्वानुमान के बारे में जानना चाहते हैं, प्रभारी चिकित्सक से मिलने की सलाह दी जानी चाहिए।

बहुधा उपचारिकाएँ अपने काम में होने वाली त्रुटियों के लिए कोई बहाना बता देती हैं। ऐसा करने के बजाय उनहें गलती मान लेनी चाहिए तथा उसके कारणों की छान-बीन करनी चाहिए।

उपचारिका को अपने सहकर्मियों के साथ उचित और संयत बर्ताव करना चाहिए और अपने प्रति आलोचनात्मक होना चाहिए। अनुशासनबद्ध और कार्य में दक्ष उपचारिका किसी भी चिकित्सास्टाफ के लिए बहुमूल्य होती है।

उपचारिका में घमंड, अपने ज्ञान पर जरूरत से ज्यादा भरोसा और झूठा आत्मविश्वास नहीं होना चाहिए।

सोवियत नैतिकता के अनुसार किसी को भी अपनी या अपने सहकर्मियों की किसी गलती को छिपाना नहीं चाहिए। इसके विपरीत, उसकी चर्चा करनी चाहिए, ताकि ऐसी गलती फिर से न हो। सौहार्दतापूर्वक मूर्त्त आलोचना अच्छे कार्य की गारंटी होती है। कलहजनित आलोचना को कोई स्थान नहीं देना चाहिए।

उपचारिकाओं की आवर्ती सभाएँ उनकी दक्षता और आम शिक्षा के विकास का साधन हैं। यहाँ ज्ञान, सांस्कृतिक स्तर उठाने के लिए आवश्यक प्रश्न उठाए जाते हैं, जिससे रोगी की देख-भाल और रोगी के साथ चिकित्सा-कर्मचारियों के संबंध के स्तर उन्नत होते हैं।

सभाओं के आयोजन के लिए उपचारिका परिषद उत्तरदायी होता है। परिषद

को अपनी कार्यसूची में ऐसे ठोस प्रश्न भी शामिल करने चाहिए कि जिनका संबंध रोगियों की सेवा करने वाले चिकित्सा कर्मियों की आचारनीति में तथा प्रबंधन में मनश्चिकित्सा से हो। ये सभाएँ उपचारिकाओं को अपने कार्य में संचित हुए अनुभव का आदान-प्रदान करने का अवसर प्रदान करती हैं।

वरिष्ठ उपचारिका, जो विभाग के प्रभारी चिकित्सक की प्रथम सहायिका होती है, युवा उपचारिकाओं को निर्देश देने के लिए उत्तरदायी होती हैं। रोगियों की सही देखभाल का संगठन करना, यह देखना कि रोगियों को अच्छा भोजन उपलब्ध हो और भोजन ठीक समय पर दिया जाय, हर वार्ड को औषधालय से निर्धारित औषधियाँ पहुँचें तथा सहकर्मियों में परस्पर अच्छे संबंध उन्नत हों, आदि वरिष्ठ उपचारिका के कर्त्तव्य होते हैं। वरिष्ठ उपचारिका तथा उसके मातहत उपचारिकाओं के स्टाफ पर किसी विभाग की सफाई की ही जिम्मेदारी नहीं होती, वरन वे रोगियों और स्टाफ के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए रखने के लिए भी उत्तरदायी होती हैं। जब कभी वरिष्ठ उपचारिका स्टाफ को सँभालने तथा विभाग की व्यवस्था करने का कार्य कौशल से करती है, तब उपचार पाने वाले रोगी संतुष्ट रहते हैं, तथा कोई शिकायत सुनने को नहीं मिलती।

उपचारिकाओं को उन कार्यों को रोकने वाले सहायकों के साथ एकाग्रता और धैर्य से पेश आना चाहिए, जिन कार्यों के लिए चिकित्सीय कौशल की जरूरत नहीं होती। इससे उन पर यह प्रभाव पड़ेगा कि जब भी रोगी व्यक्ति अपने भिन्न-भिन्न रोगों के कारण चिड़चिड़ा हो जाय या यहाँ तक कि कठोरता से व्यवहार करे तो वे धैर्यपूर्ण और शांत बनी रहें।

चिकित्सा सहायक को उपचारिका के सभी कार्यों में उसकी सहायता करनी चाहिए तथा रोगियों की देखभाल में आनेवाली कठिनाइयों में उसका हाथ बँटाना चाहिए। उपचारिका को, सहायकों आदि को विभाग की सफाई-स्वास्थ्य पथ्यापथ्य नियमों को बनाए रखने पर विशेष ध्यान देने की जरूरत को स्पष्ट करना चाहिए।

उपचारिका का कार्य उससे समस्त मानसिक और शारीरिक शक्ति को लगाने की अपेक्षा करता है। उपचारिका को अवश्य ही रोगी के प्रति, तथा सभी लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्य पालन में वस्तुतः सचेत रहना चाहिए।

1

तंत्रिका तथा मानसिक रोग

I सामान्य तंत्रिका विकृति विज्ञान

तंत्रिका तंत्र के रोगों का अध्ययन करने वाले विज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है—तंत्रिका विकृति विज्ञान तथा मनोविकार चिकित्सा।

मुख्य रूप से प्रेरक तथा संवेदी विकारों द्वारा तंत्रिका केंद्र तथा संवाहन पथों की क्षति से संवेदी अंगों की क्रिया तथा विविध आंतरिक अंगों के कार्यो में होने वाली गड़बड़ियां द्वारा प्रकट होने वाले रोगों को तंत्रिका तंत्र के रोग कहते हैं और इसका संबंध तंत्रिका विकृति विज्ञान से होता है।

अपनी बाह्य परिस्थितियों को समझने की कमजोरी, या विवेक बुद्धि की कमी तथा असंगत व्यवहार का कारण तंत्रिकीय क्रिया की गड़बड़ियाँ होती हैं। इन गड़बड़ियों से विकसित होने वाले रोगों को मानसिक रोग कहते हैं और इनका संबंध मनोविकार चिकित्सा से होता है। यद्यपि मानसिक तथा तंत्रिका तंत्र रोगों के बीच कोई विशेष सीमा निर्धारित नहीं की गई है क्योंकि तंत्रिका रोगियों में मानसिक रोग के लक्षण भी मिलते हैं और मानसिक रोगों के पीछे विभिन्न प्रकार के तंत्रिका विग्रह भी हो सकते हैं।

सोवियत संघ की मन-तंत्रिका में बहिरंग तथा अंतरंग देखभाल के विभाग हैं। नगर, जनपद या ग्रामीण बहिरंग अस्पताल में सेवा करने वाले तंत्रिका विकृति वाले रोगी की प्रकृति तथा तंत्रिका रोग की गंभीरता की जाँच करते हैं और तदनुसार रोगी को अस्पताल में बिना भरती किए उपचार देते है। या उसे अंतरंग अस्पताल के तंत्रिका रोग विभाग में भेज देते हैं। ऐसी ही व्यवस्था मनोविकार चिकित्सा अस्पताल के बहिरंग रोगियों के लिए मनोचिकित्सक भी करते हैं। महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के उपरांत सोवियत संघ में मनोतांत्रिक संस्थाओं का व्यापक ताना-बाना खड़ा किया गया। मनश्चिकित्सकों के स्टाफ वाले विशेष मानसिक रोग के बहिरंग चिकित्सालय तथा बाल सामान्य चिकित्सा वाले बहिरंग अस्पतालों में तंत्रिका कार्यालयों का गठन किया गया है। बच्चों या बड़ों के तंत्रिका या मानसिक रोग के बहिरंग अस्पतालों में मुख्यत: उपचारिका ही चिकित्सक की प्रथम सहायिका होती है, उपचर्या-स्टाफ तथा चिकित्सा सहायकों के काम का पर्यवेक्षण करना, उनके लिए कार्य-सूची बनाना, गंभीर मानसिक दशा वाले रोगियों की विशेष रूप से देखभाल की व्यवस्था करना, मुख्य

उपचारिका के कर्त्तव्य होते हैं। उपचार के एक प्रभावशाली संगठन के द्वारा निःसहाय तंत्रिका या मानसिक रोगियों की, तथा ऐसे रोगियों को भी जो उत्तेजित हैं, अपने तथा दूसरों के लिए खतरनाक हैं, उपचर्या, देखभाल तथा पर्यवेक्षण उपचारिकाओं और चिकित्सा सहायकों को उचित स्थान पर तैनात करके किए जा सकते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर मुख्य उपचारिका द्वारा उन्हें किसी अन्य स्थान पर लगाया जा सकता है। विभाग में ड्यूटी का काम कर रही उपचारिका के कार्य तथा चिकित्साचार के बारे में मनः तंत्रिका रोगों से पीड़ित रोगियों के उपचार तथा देखभाल संबंधी अध्याय में विस्तार से चर्चा की गई है।

तंत्रिका तंत्र की संक्षिप्त शारीर-रचनात्मक तथा शारीरवृत्तिक सूचनाएँ

प्राणी जीव जितना ही जटिल होगा, उसकी सक्रियता का समन्वय करने वाले तंत्र उतना ही अधिक परिपूर्ण होंगे तथा उसके विभिन्न अंगों का क्रियात्मक समन्वय भी उतना ही परिपूर्ण होगा। ऐसा संवहन तंत्र रक्तधर तंत्र है, जिसमें कि रक्त अपने साथ विभिन्न प्रकार के हारमोन लेकर चलता है, जो प्राणी-जीव की बहुत सी क्रियाओं का नियंत्रण करते हैं। साथ ही तंत्रिका तंत्र है जो प्राणी-जीव की जीव सक्रियता को सभी स्तरों पर समन्वित करता है। तंत्रिका तंत्र क्रियात्मक अंगों से प्राप्त होने वाले आवेगों का विश्लेषण करता है और इस प्रकार से उनकी निर्देश-सक्रियता होती रहती है।
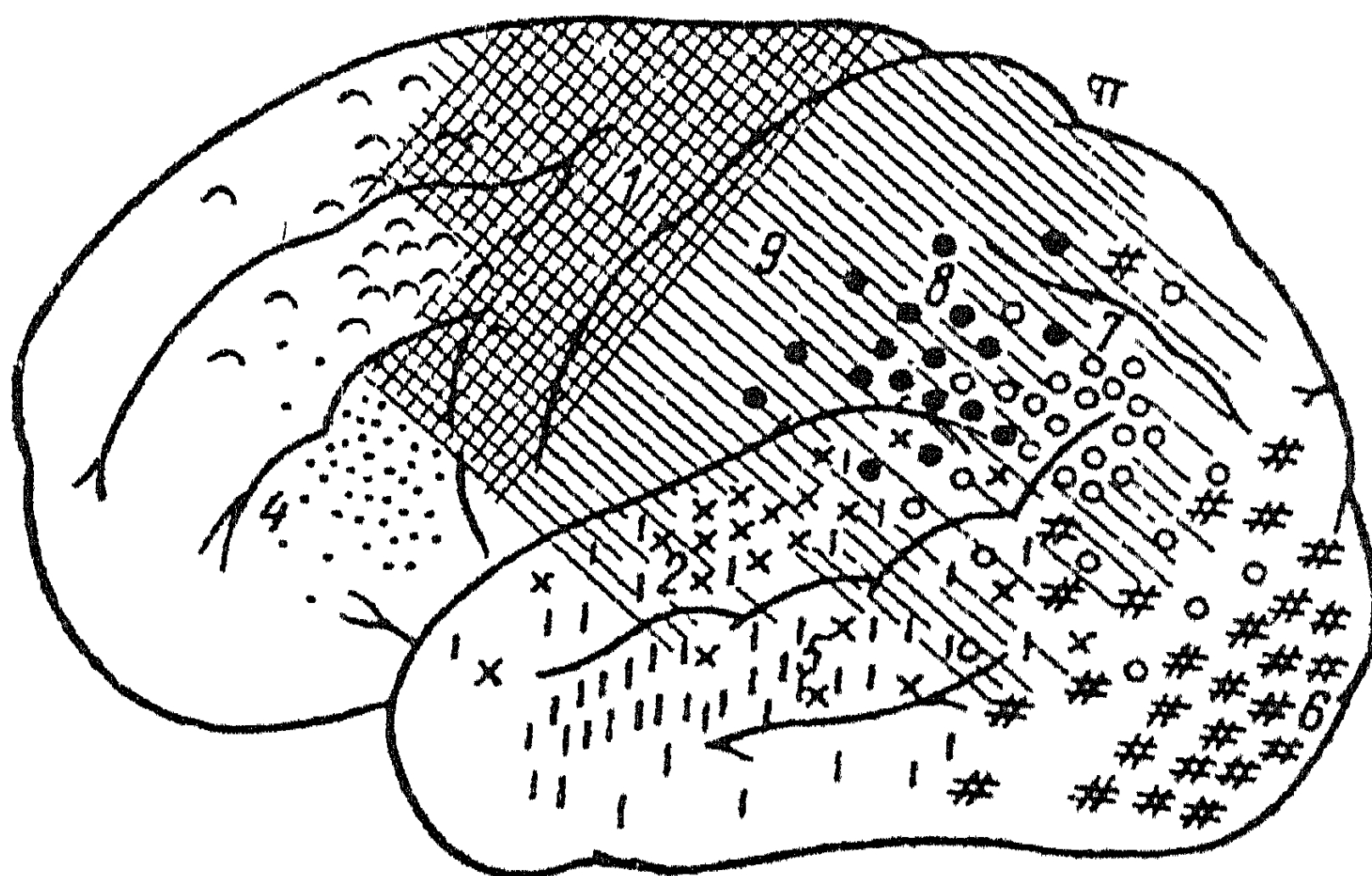
चित्र 1. प्रांतस्था विश्लेषक। केंद्रीय परिखा का अभ्युदर :
(1) मोटर विश्लेषक; (2) मुखवाक विश्लेपक; (3) मोटरवाक विश्लेषक; (4) ध्वनि विश्लेषक; (5) प्रकाश विश्लेषक; (6) लिखितवाक विश्लेषक (पठन केंद्र); (7) क्रिया निष्पादन (क्रियाकलाप); (8) त्वचा विश्लेषक; ल. ललाट खंड; म. मध्य परिखा; पा. शंखखंड; प. पश्चकपालखंड; क. कनपटी की ओर
पार्श्व का खंड; स. सिल्वीपरिखा।

नोट : घ्राण विश्लेषक का प्रांतस्था भाग आंतरिक सतह पर स्थित होता है।

बाह्य वातावरण से आने वाले तथा शारीरिक ऊतकों से प्राप्त होने वाले उद्दीपकों का बोध विश्लेषकों के द्वारा होता है। विश्लेषक में तंत्रिका अंतग्राहक, चालन भाग तथा प्रमस्तिष्क प्रातस्था में स्थित विश्लेषक का प्रांतस्थ केंद्रक सम्मिलित होता है। ग्राहक को उद्दीप्त करने पर जीव विद्युत आवेग उठते हैं और चालकों के साथ फैल जाते हैं। विश्लेषकों के प्रांतस्था भागों तक पहुँचने वाले 'विद्युत' आवेग संकेत पढ़े जाते हैं तथा वे एक या दूसरी अनुभूति (प्रकाश, ध्वनि, घ्राण, स्वाद, वेदना, ताप, स्पर्श, गति) में रूपांतरित हो जाते हैं (चित्र 1) प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में स्थित प्रेरक विश्लेषक से गुजरने वाले आवेग सुषुम्ना तक पहुँचते हैं तथा कपाल प्रेरक तंत्रिका के केंद्रक तक पहुँचते हैं। उनके द्वारा ऐच्छिक उद्देश्यपूर्ण गति होती है, जिसमें हम जीवन भर पशिक्षित होते रहते हैं। ये इवान पावलोव के अनुसार प्रतिबंधित प्रतिवर्त होते हैं।

केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के ऐसे भाग जो कि दूरस्थ प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में स्थित हैं, जैसे अवप्रांतस्था केंद्रक, मस्तिष्क स्तंभ के केंद्रक तथा सुषुम्ना के केंद्रक, ऐसे स्थान होते हैं जहाँ जटिल अनिर्धारित प्रतिवर्त (दौड़ना, खांसना, वमन) या सरल अनिर्धारित प्रतिवर्त (जानु प्रतिक्षेप व ग्रसनी प्रतिवर्त, प्रकाश उद्दीपन से नेत्र-पुतली की प्रतिक्रिया) आदि केंद्रित हो जाते हैं (चित्र 2)।

मस्तिष्क स्तंभ का धूसर द्रव्य (सुषुम्ना शीर्ष, पोंस प्रमस्तिष्क वृंतक, चित्र 3 और 4) और सुषुम्ना जहाँ अनिर्धारित प्रतिवर्त के चाप द्वारा निश्चित क्षेत्र से जुड़े होते हैं, इन्हें सुषुम्ना तथा मस्तिष्क स्तंभ का खंडीय प्रतिवर्त कहते हैं।

चित्र 2. परिसर में संयोजन। जानुप्रतिवर्त, ग्रसनी और तारा प्रतिवर्त, आरोही और अवरोही संचरण पथ, का कार्य प्रदर्शी चित्रण।

मूलतः मस्तिष्क स्तंभ से 12 युगल कपाल तंत्रिकाएँ निकलती हैं (चित्र 5): प्रथम—घ्राण तंत्रिका, जो ललाट खंड के आधार पर स्थित होती हैं;

तंत्रिका, जिसके तंतु पर्यणिका के सामने क्रासित होते हैं; तीसरी—नेत्र प्रेरक तंत्रिका जो प्रमस्तिष्क वृंतकों के बीच प्रकट होती है—चौथीं—चक्रक तंत्रिका, जो प्रमस्तिष्क
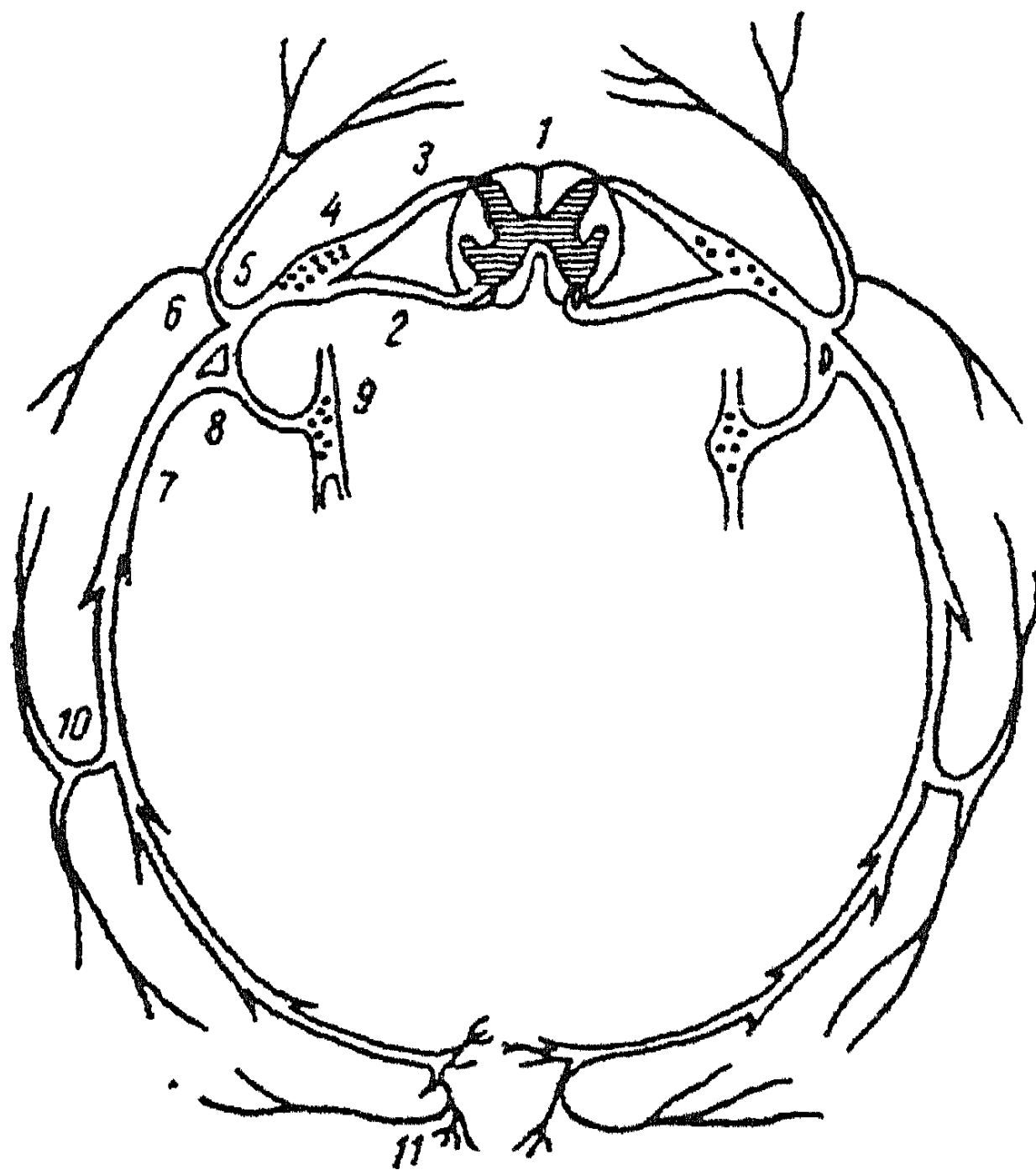
चित्र 3. सुषुम्ना की खंडीय संरचना 1. सुषुम्ना; 2. अग्रमोटरमूल; 3. पश्चसंवेदीयमूल; 4. अंतर कशेरुका गंडिका; 5. मेरुदंड तंत्रिका; 6. पश्च मेरुदंड प्रशाखा; 7. परिसरीय तंत्रिका की अग्र प्रशाखा; 8. अनुकंपीय गंडिकाकी संयोजी शाखा; 9. अनुकंपीय गंडिका; 10 और 11—त्वक शाखाए4।
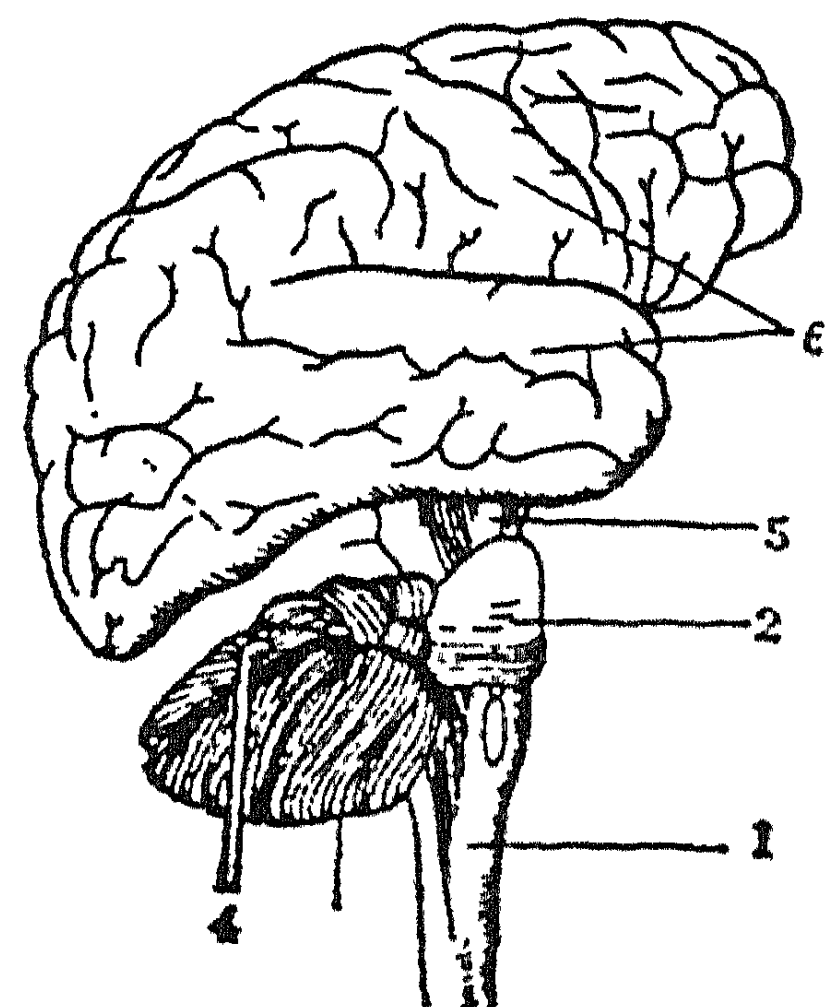
चित्र 4. मस्तिष्क का कार्य प्रदर्शी चित्रण 1. सुषुम्नाशीर्ष, 2. पोन्स वैरोली, 3. अनुमस्तिष्क, 4. प्रमस्तिष्क वृंतक; 5. प्रमस्तिष्क गोलार्ध (पोन्स और अनुमस्तिष्क मिलकर अनुमध्य मस्तिष्क बनाते हैं।)

वृंतक से निकलती हैं; पाँचवीं—त्रिधारा तंत्रिका जो पोन्स (Pons) के मध्य भाग से निकलती हैं; छठी—अपवर्तनी तंत्रिका जो पोन्स के निचले भाग ओर मज्जा से निकलती हैं; सातवीं—आनन तंत्रिका, और आठवीं—श्रवण-कर्णावर्त तंत्रिका जो पोन्स, मज्जा और अनुमस्तिष्क के अनुमस्तिष्क सेतु कोण कहलाने वाले भाग में स्थित होती है; ग्यारहवीं—सहायक तंत्रिका जो मज्जा के निचले भाग के मूल और मेरुदंड के ग्रैव भाग में होती है; दसवीं—वेगस तंत्रिका; नौंवी—जिह्वा-ग्रसनी तंत्रिका; बारहवीं—अधोजिह्वा तंत्रिका जो मज्जा के कंद भाग में होती है और कंद तंत्रिका कहलाती है। प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में स्थित विश्लेषक बाह्य वातावरण, अंगों और तंतुओं से मस्तिष्क स्तंभ और सुषुम्ना के खंडीय प्रतिवर्त के द्वारा जुड़े होते हैं, अर्थात् परीसरीय और केंद्रीय तंत्रिका कोशिका की कड़ी के द्वारा। तंत्रिका कोशिका तंत्रिका तंत्र की संरचनात्मक इकाई होती है, जिन्हें अक्षतंतु और पार्श्वतंतु कहते हैं। अक्षतंतु संवाहक हैं ओर पार्श्वतंतु तंत्रिका कोशिका से संबंध स्थापित करते हैं (चित्र 6)। केंद्रीय तंत्रिका-कोशिका के
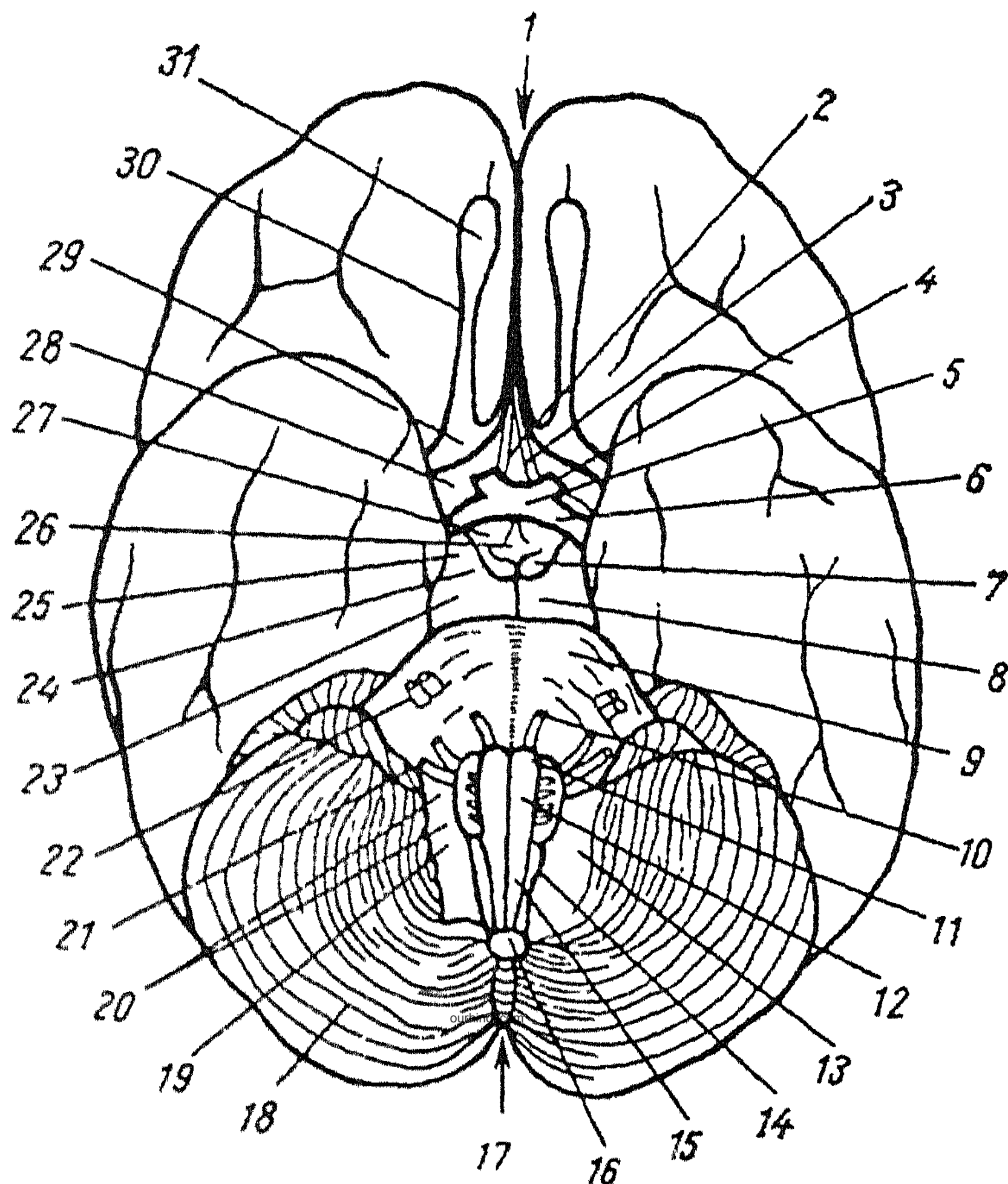
चित्र 5. मस्तिष्क की आधार तंत्रिकाएं

1. अनुदैर्ध्य प्रमस्तिष्क विदर प्रमस्तिष्क गोलार्ध के बीच में (प्रमस्तिष्क गोलार्ध के बीच में); 2 और 3. अंत-प्लेट; 4, 5 व 6. द्वितीय कपाल तंत्रिका, अशि और इसकी व्यत्यासिका; 7. चुचुक पिंड; 8. अंतरावृंत अवकाश, 9. पोन्स; 10. चौथी कपाल तंत्रिका अपवर्तक (नेत्रगोलक के अपवर्तक); 11 व 12 पिरामिदीय पथ का प्रसार स्थान; 13. बारहवीं कपाल तंत्रिका, जिह्वापाश; 14 व 15 सुषुम्नाशीर्ष के विदर; 16. सुषुम्नाशीर्ष, 17. प्रमस्तिष्क गोलार्धो के बीच में विदर; 18. अनुमस्तिष्क; 19. ग्यारहवीं कपालतंत्रिका, अतिरिक्त; 20. दसवीं और नौंवी कपाल तंत्रिकाएँ, वेगस और जिह्वाग्रसनी; 21. आठवीं और सातवीं कपाल तंत्रिकाएँ, प्रधाणकर्णावर्त और आनन तंत्रिका; 22. पांचवीं कपालतंत्रिका, त्रिधारा; 23. चौथी आनन तंत्रिका, चक्रक; 24. तीसरी आनन तंत्रिका, नेत्रप्रेरक; 25. प्रमस्तिष्क वृंतक; 26 व 27 प्रमस्तिष्क हाइपोफिसिस का प्रारंभिक भाग; 28. अग्र सछिद्र अवकाश; 29, 30 व 31 प्रथम कपाल तंत्रिका, घ्राण।

तंतु मज्जा और मस्तिष्क के चालन के पथ पर ऊपर या नीचे की ओर बढ़ते हैं। परिसरीय तंत्रिका-कोशिका मज्जा की अग्र तथा पश्च मूल या कपाल तंत्रिका के केंद्रक का मूल बनाती हैं।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष बोध तभी तक संभव है जब तक

कि परिसरीय ग्राहक और प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के बीच अनवरत संयोजन हो, जबकि गतियाँ तभी तक हो सकती हैं जब कि तंत्रिका केंद्र और मांसपेशी के बीच अनवरत संयोजन हो। यदि इस शृंखला की कोई भी कड़ी क्षतिग्रस्त हो गई हो तो ऐच्छिक गति अवरुद्ध हो सकती है या समाप्त हो सकती है। स्थल निदान का उद्देश्य इस क्षति के स्थान तथा इसके परिमाण (आकार) का पता लगाना है।
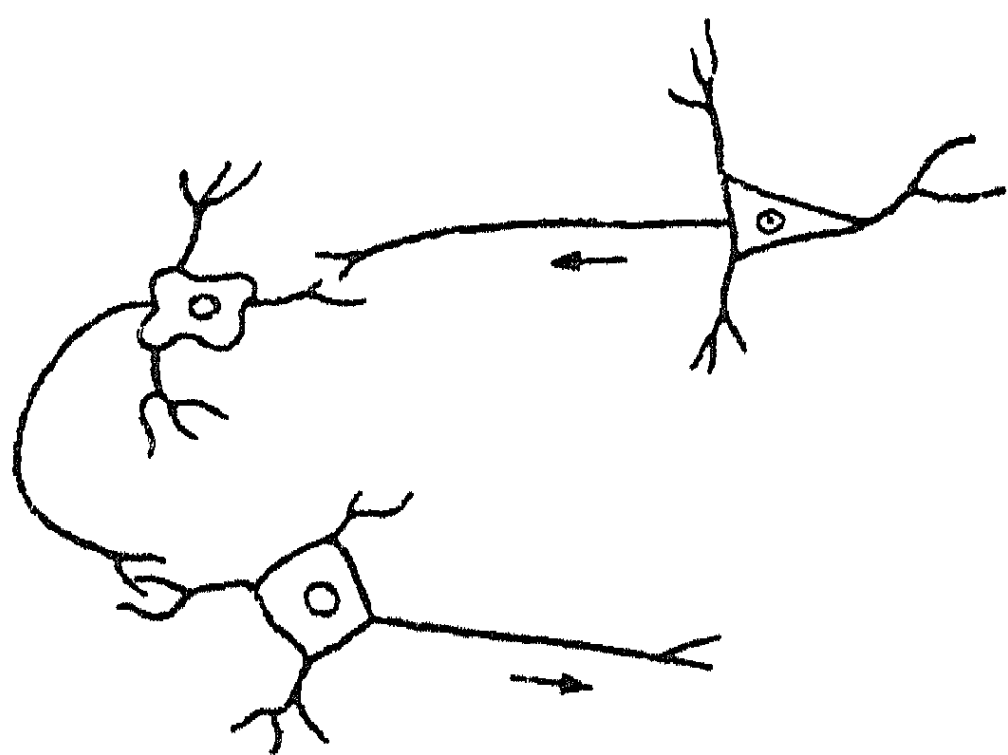
चित्र 6. तंत्रिका कोशिकाओं की शृंखला।

अनुमस्तिष्क, जो मस्तिष्क स्तंभ, गोलार्धों तथा सुषुम्ना से संयोजित रहता है, ऐच्छिक गतियों की परिशुद्धता और समानुपातिक के लिए उत्तरदायी होता है। आवेग अंग शृंग की कोशिकाओं तक प्रांतस्था के पिरामिडी पथ से ही नहीं, वरन अनुमस्तिष्क से भी पहुँचते हैं, जबकि संवेदी उद्दीपन परिसर से अनुमस्तिष्क तक मेरुदंड के आरोही चालन पथों द्वारा संप्रेपित होते हैं।

तंत्रिका-कार्य की विकारी शरीर क्रिया. वाक विकार

गतियों को प्राप्त करना तंत्रिका तंत्र की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण क्रिया है। तंत्रिका तंत्र के प्रेरक भागों के रोगग्रस्त होने पर अंगघात (गतिहीनता) या आंशिक घात (गति की अवरुद्धता) होता है। प्रेरक क्रिया के दुर्वल होने के रोग-लक्षण क्षति स्थल से निर्धारित किए जाते हैं : पक्षाघात या आंशिक पक्षाघात (हाथ या पैर की दुर्बल गति) गोलार्ध की विक्षति से होता है; पैरों का अंगघात या आंशिक घात (अर्धांगघात, अर्ध आंशिक घात)—वक्ष के क्षतिभाग या सुषुम्ना के कटि प्रदेश से; चारों अंगों का अंगघात (चतुरंगघात, चतुरंग आंशिक पक्षाघात)—ग्रीवा के क्षतिभाग या परिसरीय तंत्रिका से; संवेदनशीलता की हानि या चेहरे पर गतिहीनता--कपाल तंत्रिका के अदनुरूप तंतुओं की विक्षति से।

अवप्रांतस्था क्षेत्र के कार्य में विकार, जो रेखित पिंड (पांडुर पिंड) की गतियों से संबंधित होते हैं, अनैच्छिक व अस्वाभाविक गतियों, उनकी अस्पष्टता व धीमेपन का कारण होते हैं। ऐसी गतियों का प्रभाव केवल हाथों, पैरों में ही नहीं, वरन आनन की पेशियों और जिह्वा पर भी होता है। प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के अनुरूप केंद्रों की विक्षति के साथ नाना प्रकार के वाक् विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुषुम्ना के अग्रशृंग और परिसरीय तंत्रिकाओं के स्तर की विक्षति अंगघाती पेशी की क्षीणता व प्रतिवर्त की हानि तथा घटी हुई पेशी तानों से पता लगती है। इससे शिथिल या शोषकर अंगघात का चित्र उभरता है। प्रांतस्था सुषुम्ना की केंद्रीय प्रेरक तंत्रिका कोशिका की विक्षति से जो अंगघात होता है उसके साथ अंगघातीय पेशी का तान भी बढ़ जाता

A

B
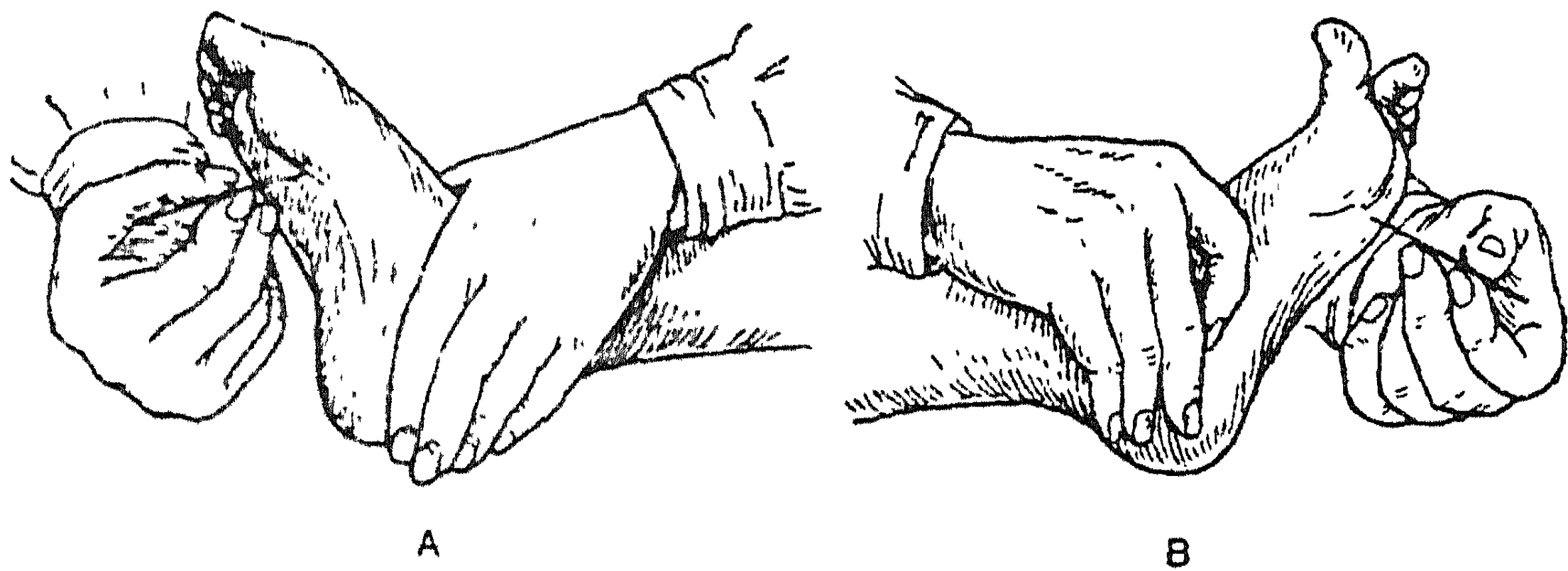
चित्र 7. पादतल प्रतिवर्त और बाबिन्सकी प्रतिवर्त
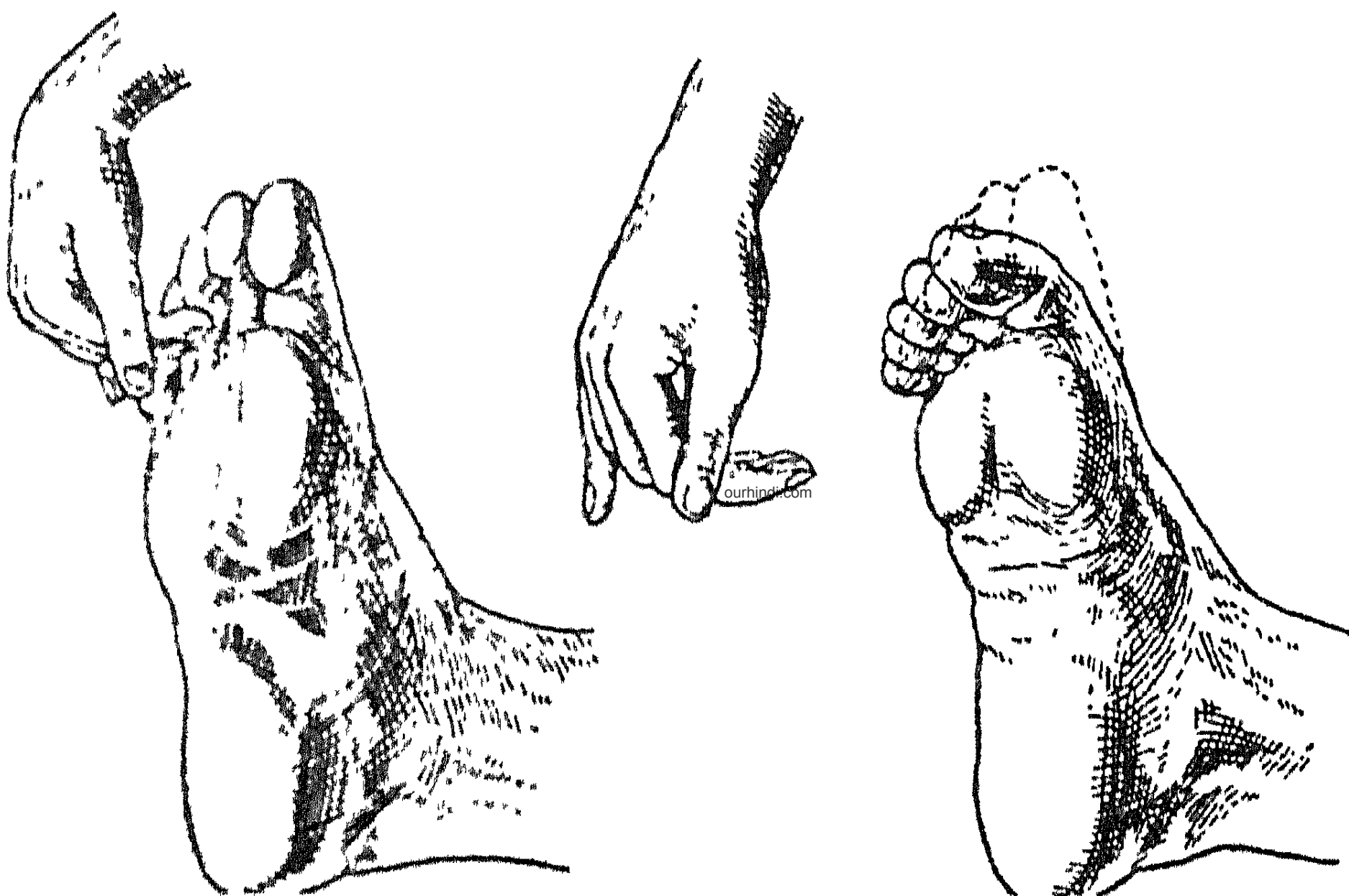
चित्र 8. रोजोलिमो प्रतिवर्त

है। ऐसे अंगघात को संस्तंभी कहते हैं। इसमें कंडरा प्रतिवर्त एकदम बढ़ जाते हैं और अकुल प्रतिवर्त या पिरामिडी चिन्ह प्रकट होने लगते हैं (बाबीन्स्की और रोजोलिमो प्रतिवर्त) (चित्र 7 व 8)।

संवेदी चालन पथ पर ग्राहकों के अतिपूर्ण उद्दीपन से अप्रिय संवेदन होता है जो कि पीड़ा में परिवर्तित हो जाता है। सुषुम्ना के पश्चमूलों में वैकृत प्रेरणा स्थान की उपस्थिति में मूल पीड़ा होती है। चेतक पीड़ा चैतक की विक्षति से जुड़ी होती है, जिसमें प्रमस्तिष्क से सुषुम्ना तक के सभी संचालन पथ क्रासित होते हैं। इन संरचनाओं के नाश से पीड़ा और ताप के उद्दीपकों की संवेदता की हानि हो सकती है। रोगी को चुभन, ठंडा या गर्म वस्तु के स्पर्श का पता नहीं लगता है। ऐसा शरीर के उस भाग में होता है जिसका कि विश्लेषक के प्रांतस्था भाग से संबंध टूट जाता है।

अधश्चेतक क्षेत्र
नेत्र
लाला ग्रन्थि
वेगस तंत्रिका
कपालीय तंत्रिकाएँ
अवटु ग्रन्थि
फुफ्फुस
हृदय
सौर जालिका
उदर
यकृत
अग्न्याशय
अधिवृक्क ग्रन्थि
गुर्दे
क्षुद्रान्त्र
बृहदान्त्र
श्रोणि तंत्रिका
मूत्राशय
जननांग
अग्र गुच्छिका
पश्च गुच्छिका
तंतु
परानुकम्पी भाग
त्वचा वाहिकाएँ
रोमांच
स्वेद ग्रन्थियाँ
अनुकम्पी भाग
परानुकम्पी भाग
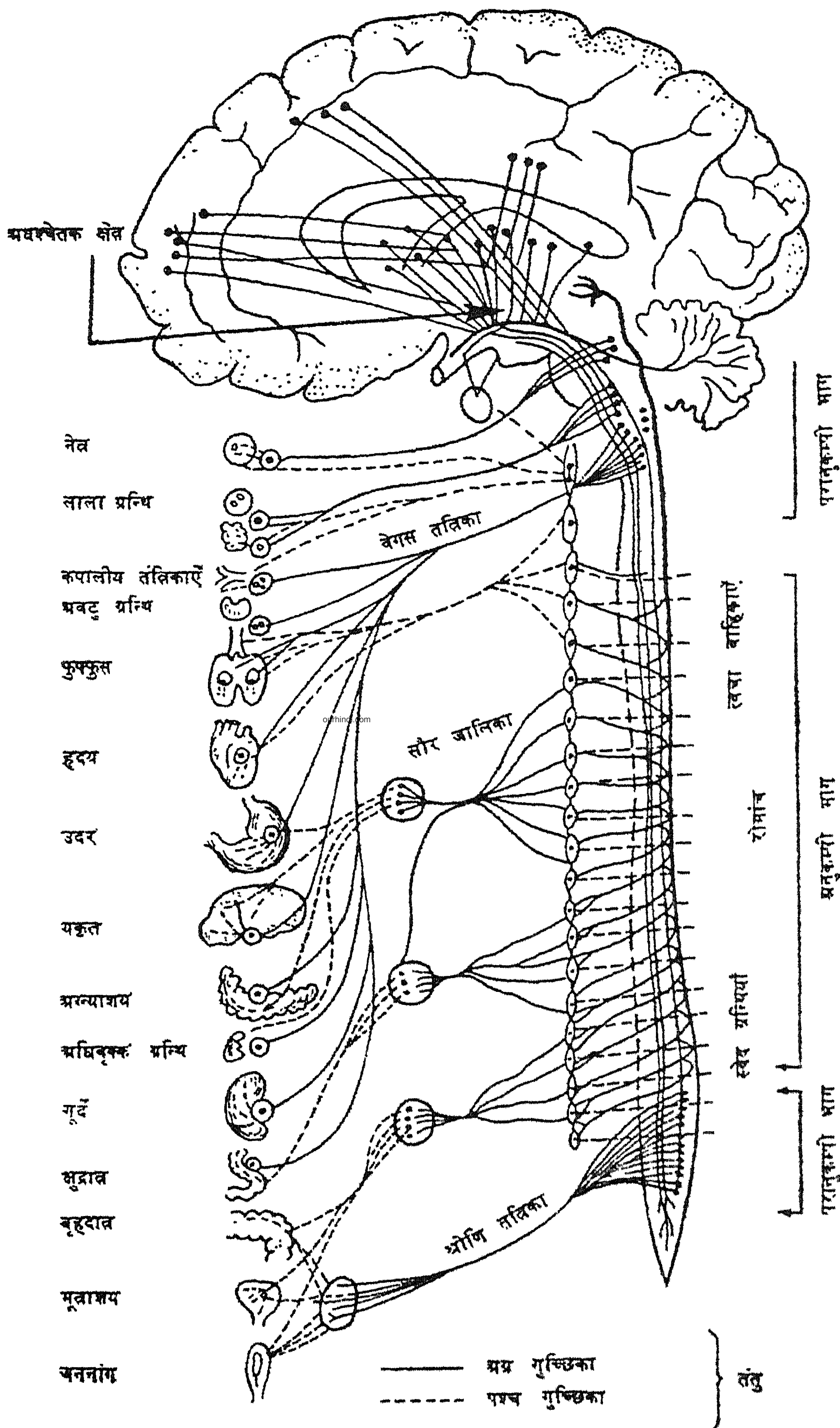
चित्र 9. वर्धीय तंत्रिका तंत्र की संरचना का कार्यपद्रर्शी चित्रण

अनुमस्तिष्क के रोगी होने पर (चित्र 2) संतुलन व गति का सामंजस्य कमजोर हो जाते हैं। रोगी अपनी नाक के सिरे को अपनी तर्जनी से स्पर्श करने से चूक जाता है और अपने एक पैर के घुटने से दूसरे पैर की एड़ी को नहीं छू पाता है।

आंतरिक अंगों का केंद्रीय तंत्रिका तंत्र से संयोजन और अंगों और तंतुओं की चयापचयी क्रियाओं का नियंत्रण तंत्रिका तंत्र के वर्धी या स्वचालित (अनुकंपी और परानुकंपी) भागों के द्वारा होता है। वेगस तंत्रिका (चित्र 9) परानुकंपी भाग का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटक है। यह तंत्रिका कंटक (रीढ़) (चित्र 10) के दोनों ओर फैलने वाली अनुकंपी कंडरा–पुटी की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी भी है। यह दैहिक तंत्रिका तंत्र से विलग होती है, जिसमें कि सुषुम्ना के अग्र शृंग की कोशिकाओं वाले अक्षतंतु पेशी तक बिना किसी व्यवधान के पहुँचते हैं। सुषुम्ना के पार्श्व-शृंग के अनुकंपी तंतु कंडरा पुटी स्कंध और परिसर में पाए जाने वाले कंडरा पुटी (आंतरिक अंगों के छोटे वर्धी कंडरा पुटी या और तंत्रिका-जालिका) में बदल जाते हैं।

प्रतिवर्त के द्वारा ही तंत्रिका तंत्र के वर्धी भाग में क्रिया होती है। पश्च मूलों के द्वारा उद्दीपक आंतरिक अंगों से पार्श्व-शृंग की कोशिकाओं को प्रेपित होते हैं, जिसके द्वारा अनुक्रिया भेजी जाती है। दैहिक और वर्धी क्रियाओं के नियंत्रण में, विशेष रूप से इसकी केंद्रीय कड़ी में, निकट संबंध है। मूत्रण तंत्र की सक्रियता, जिसकी क्षति तंत्रिका तंत्र के रोगग्रस्त होने का एक लक्षण है, वर्धी तंत्रिका तंत्र द्वारा निष्पादित नियमन के जटिल स्वरूप को दर्शाती है। आइए, इस अवस्था की चर्चा करें। मूत्राशय की श्लेष्मल कला से उद्दीपक संवेदी तंत्रिका तंतु के साथ सुषुम्ना के त्रिकटि भागों के पश्चमूलों से होकर जाते हैं। वहाँ से अनुक्रिया आवेग परानुकंपी और अनुकंपी तंतुओं के साथ मूत्राशय की चिकनी पेशियों
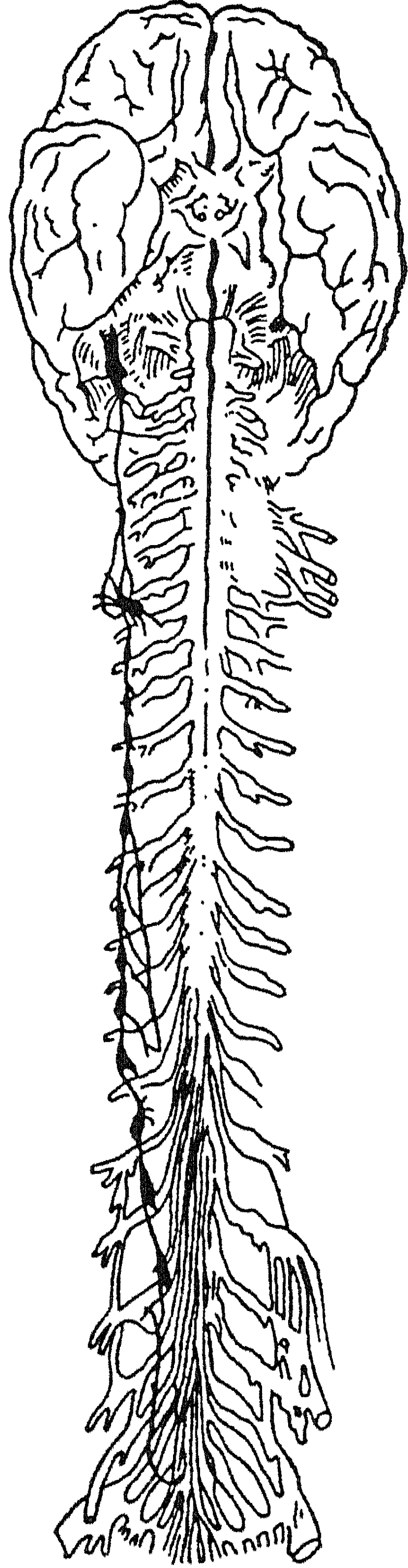
चित्र 10. केंद्रीय तंत्रिका तंत्र का सामान्य (सामने का) दृश्य। केवल दाहिना अनुकंपीय स्कंध (बाईं ओर दिखता है) और बाएँ ग्रैव और कटि-सेक्रमी कटित्रिक जालिकाएँ (दाहिनी ओर दिखाई देती हैं) दर्शायी गई हैं।
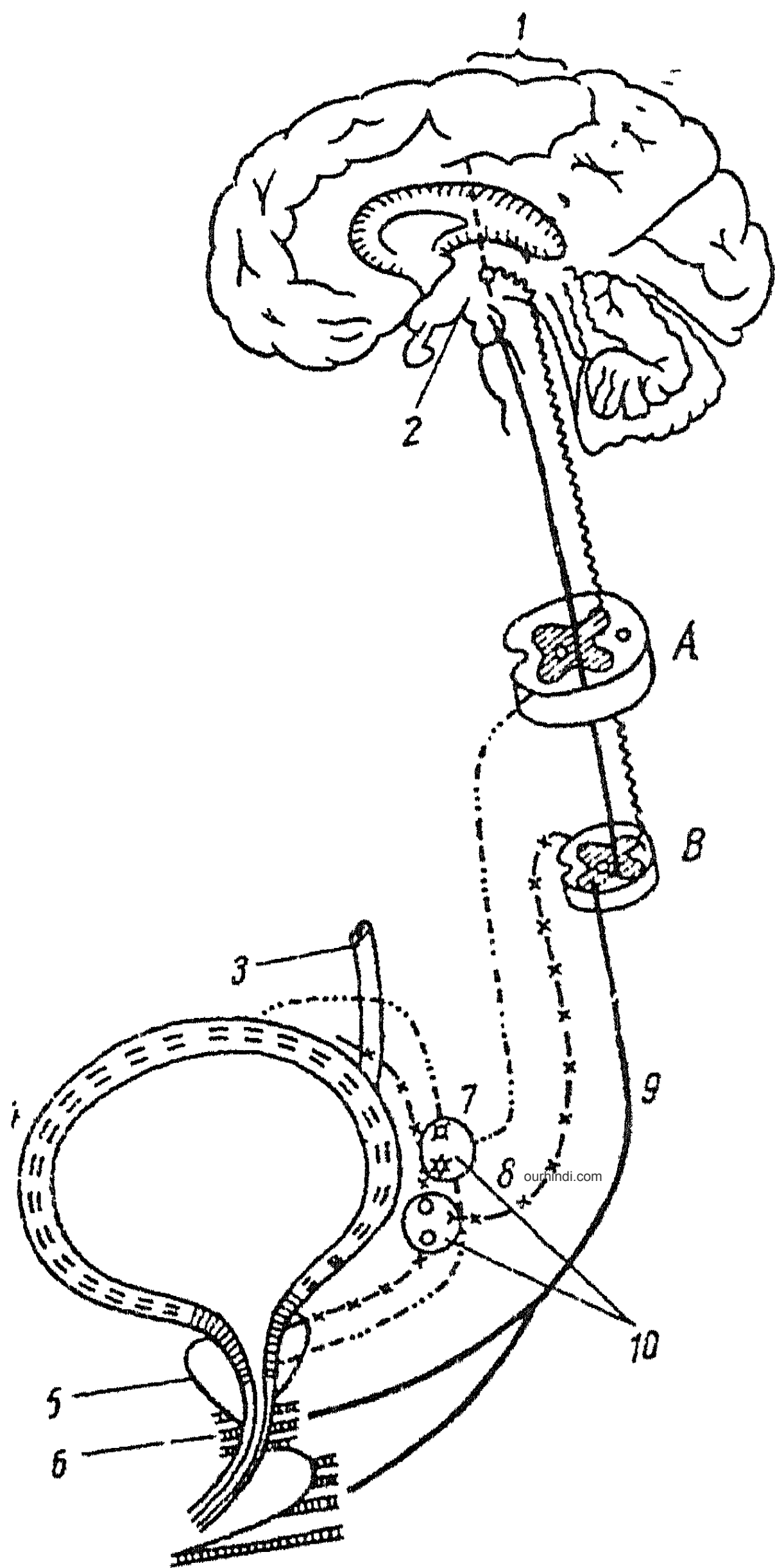
चित्र 11. मूत्राशय तंत्रिका वितरण का कार्य-प्रदर्शी चित्रण।

1. ऐच्छिक मूत्रण का मोटर विश्लेषक, 2. मस्तिष्क में वर्द्धिमूत्रण केंद्र, 3. गविनी, 4. निस्सारिका (मूत्राशय का संकुचन करने वाली पेशी), 5. मूत्राशय संवरणी, 6. मूत्रपथ संवरणी, 7. अनुकंपीय तंत्र, 8. परानुकंपी तंत्र, 9. गुह्य तंत्रिका, 10. वर्द्धिगंडिका जालक, (A सुपुम्ना को मोटा करने वाले कटि प्रदेश का ऊर्ध्व भाग, B) सुषुम्ना के सेक्रमी भाग का निम्न भाग।

मूत्रनिस्सारिका (ऐसी पेशी जो मूत्र को मूत्राशय से बाहर धकेलती है) तक भेजे जाते हैं। को मूत्राशय और मूत्र पथ संवरणी मूत्राशय के सिर को दबाती है। निस्सारिका के संकोचन और संवरणी के शिथिल होने पर मूत्र विमोचन होता है।

इसके अतिरिक्त, प्रथम संवरणी से एक दूरी पर मूत्र पथ संवरणी होती है। यह एक रेखित पेशी है जो गुह्य तंत्रिका से प्रेरित होती है। यह तंत्रिका सुपुम्ना के सेक्रमी भाग के अग्र शृंग वाली कोशिकाओं से आती है। पिरामिडी पथ वाले तंतुओं के द्वारा ये कोशिकाएं प्रमस्तिष्क प्रांतस्था से जुड़ी रहती हैं। इसलिए मूत्रपथ संवरणी भी प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के नियंत्रण में होती हैं। इसलिए मूत्रण एक ऐच्छिक क्रिया है। मूत्र पथ संवरणी (रेखित पेशी) तथा मूत्राशय की चिकनी पेशियों की सक्रियता का समन्वय तंत्रिका तंत्र के द्वारा होता है। इसी से मूत्राशय की क्रिया सही ढंग से होती है (चित्र 11)।

मूत्रण से संबंधित मूलों या मेरुदंड खंडों की विक्षति से मूत्र विकार हो जाते हैं, जैसे कि मूत्र का असंयति होना, जिसमें कि मूत्रपात लगातार होता रहता है। यदि इस दशा में मूत्राशय की ग्रीवा अब भी पलटी रहे और कुछ अवरोध पैदा करती हो तो विरोधाभासी इस्युरिया पैदा हो जाती है—यानी कि मूत्राशय में जब अधिक मूत्र एकत्र हो जाता है तो वह बूंद-बूंद करके गिरता रहता है। कुछ तंत्रिका तंत्र रोगों में, जब प्रांतस्था और सुषुम्ना मूत्रण केंद्रों के बीच के संबंध आंशिक रूप से कमजोर हो जाते हैं तो मूत्रण की इच्छा तेज होने पर और इसे पूरा न करने पर मूत्रण अनैच्छिक रूप से स्वयं

हो जाता है। प्रांतस्था और सुषुम्ना मूत्रण केंद्रों के बीच संबंध पूर्णतया टूटने पर मूत्रण अनजाने में होता है। चूँकि प्रांतस्था से सुषुम्ना केंद्रों तक जाने वाले तंतु सुषुम्ना की पूरी लंबाई तक पिरामिडी पथ पर फैले रहते हैं, इसलिए कटि प्रदेश के निकट सुषुम्ना के किसी खंड की विक्षति से मूत्र रुक जाता है और कैथीटर प्रवेशन (नालशलाका प्रवेशन) की आवश्यकता पड़ती है। यही सिद्धांत गुदा के तंत्रिका प्रेरण का, मलविसर्जन का है। अंतर केवल इतना है कि मल-विसर्जन की क्रिया में उदरस्थ दीवालें और डायफ्राम भाग लेते हैं।

बोलना मस्तिष्क की समाकल क्रिया है, पर इस क्रिया को पूरा करने के लिए श्रवण, मोटर और दृष्टि के विश्लेषकों और उनके बीच के संबंधों का बहुत महत्त्व है।

बाएँ गोलार्ध के प्रमस्तिष्क प्रांतस्था की कायिक विक्षति से (दाएँ हाथ से काम करने वाले व्यक्ति में) वाक् विकार वाचाघात पैदा हो जाता हैं। बाएँ हाथ खंड के प्रातंस्था के निश्चित क्षेत्र में क्षति से संवेदी वाचाघात होता है, अर्थात् बोले गए शब्दों के अर्थ समझने तथा भाषा के विश्लेषण में असमर्थता पैदा हो जाती है। बाएँ शंख कपाल क्षेत्र के प्रांतस्था के निर्दिष्ट क्षेत्र में क्षति होने से स्मृति वाचाघात होता है। इस रोग में रोगी उन वस्तुओं के नाम भी नहीं ले पाता है, जिनसे वह भली-भाँति परिचित होता है और जिनका उद्देश्य भी उसे पता होता है तथा वह उनका वर्णन भी कर सकता है। उदाहरण के लिए, जब उसे पेन्सिल दिखाई जाती है तो वह इसका नाम तो नहीं बता सकता है पर कहता है कि "यह लिखने के काम आती है"। प्रांतस्था के बाएँ ललाट क्षेत्र की क्षति से मोटर वाचाघात हो जाता है जिसमें जीवन भर में संचित वाक् परावर्त (संबंध) समाप्त हो जाते हैं और रोगी या तो एक भी शब्द नहीं बोल पाता है या बहुत ही थोड़े शब्दों से अपना काम चलाता है।

केंद्रीय पक्षाघात में उच्चारण दोष और अस्पष्ट उच्चारण जैसे वाक विकार हो जाते हैं। इन रोगों में ऐसे पेशी उपकरणों की सक्रियता कमजोर हो जाती है जिनसे कि ध्वनि बनती है। ये केंद्र सुषुम्ना शीर्ष में स्थित होते हैं।

तंत्रिका रोगों वाले रोगियों के उपचार तथा देखभाल की मुख्य विधियाँ

चिकित्सा क्षेत्र में जाने वाले व्यक्तियों से बहुत कुछ आशाएँ की जाती हैं। चाहे वे चिकित्सक हों या उनके सहायक, उन्हें उत्तरदायित्व की भावना और उच्च नैतिकता से युक्त होना चाहिए। रोगी की देखभाल करने के लिए ये अपेक्षाएँ अपरिहार्य शर्त हैं। उद्यमशीलता, मानवीयता, संयम, धैर्य, रोगी की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए रोगी से व्यवहार करना, आत्मोत्सर्ग तथा चिकित्सक के सभी आदेशों का सही रूप से पालन करना—ये ऐसे गुण हैं, जो उपचारिका या मध्यम चिकित्साकर्मियों के

लिए जरूरी होते हैं। दैहिक और मानसिक रोगों वाले रोगियों के उपचार करने में मध्यम चिकित्साकर्मियों व सहायकों की कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, रूसी औषधि शास्त्र का समृद्ध इतिहास, विशेष कर अक्तूबर क्रांति के बाद का इतिहास, इसे दर्शाता है।

उपचारिका को रोगी की देखभाल करते समय एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण नियम ध्यान में रखना चाहिए : उसे बीमार व्यक्ति से कभी भी उसके रोग की चर्चा नहीं करनी चाहिए तथा उसकी शिकायतों के प्रति संवेदनशीलता तथा सादानी का भाव वधर्शाना चाहिए। उपचारिका को, भले ही रोगी उसे अपमानित ही कर दे, शांत और संयमित रहना चाहिए, क्योंकि हो सकता है रोगी ऐसा व्यवहार अपनी विचार शक्ति की विक्षति या मस्तिष्क की प्रलाप स्थिति, या विभ्रम के कारण, अथवा अपने स्वास्थ्य के भय से कर रहा हो। इन परिस्थितियों में उपचारिका को चाहिए कि वह रोगी को सांत्वना दे और चिकित्सक को उसके सभी व्यपदेशों को सूचित करने का आश्वासन प्रदान करे। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि प्रवेश विभाग से लेकर सभी औषध निर्देश चिकित्सक द्वारा ही दिए जाएँ। गर्म पानी की थैली या तापन पैड तक तंत्रिका रोगी विभाग में रोगी के माँगने पर चिकित्सक की अनुमति मिलने के बाद ही मिलने चाहिए, क्योंकि ताप का और पीड़ा का कम होना तंत्रिक तंत्र के दैहिक रोग के नैदानिक लक्षणों में से हैं। ऐसे गर्मतापन पैड से भी रोगी जल जा सकता है जो बहुत अधिक गर्म न हो।

अक्सर ही कपाल-मस्तिष्क के रोगी को आक्सीजन उपचार की आवश्यकता पड़ती है। आक्सीजन का अंतर्श्वसन कराने के पहले रोगी के श्वास-मार्ग को गले में स्रावित श्लेष्मा व वमन-द्रव्य आदि से मुक्त कर देना चाहिए। यह काम हाथ से टेंपन लगी विद्युत–पंप का प्रयोग बेहतर होता है। इसके बाद आर्द्रित आक्सीजन का अंतर्श्वसन कराया जाता है।

तंत्रिका-रोग से पीड़ित रोगी का खान-पान उसकी सामान्य हालत, उसकी चेतना और उसके निगलने की क्रिया में विकार की उपस्थिति (या अनुपस्थिति) पर निर्भर करता है। गहरी मूर्च्छा (गंभीर अचेतन अवस्था, हृदय व श्वसन क्रियाओं में गड़बड़ी) या तंद्रा (श्वसन में बिना किसी गंभीर विकार के मध्यम गंभीरता वाली अचेतन अवस्था) में स्थित रोगी को रोग-विकास के प्रथम दिन कोई खाना नहीं दिया जाता। यदि वह निगलने में समर्थ हो, तो उसे घूँट-घूँट कर मीठा चाय, फलों का रस आदि देते हैं।

यदि निगलने की क्रिया में गड़बड़ी हो, तो पेय को पतली नली द्वारा पेट में उतारा जाता है, या फिर पोषक मिश्रण की एनीमा दी जाती है। इसका लाभ यह है कि पेय के श्वसनी में जाने का डर नहीं रहता। श्वसनी में पेय या खाद्य-पदार्थ के जाने से न्युमोनिया और यहाँ तक कि श्वासावरोध का भी खतरा उत्पन्न हो सकता है। यदि खाना रोगी के गले में अक्सर फँसता है, तो उसे दही, सूजी की खीर, नर्म

गूदेदार फल (अरबूज, केले) आदि खिलाने चाहिए।

चेतना में विकार (बेहोशी, आदि) होने पर रोगी को सावधानीपूर्वक विस्तर पर लिटा देना चाहिए और कहीं वह लुढ़क कर गिर न जाए, इसका इंतजाम कर देना चाहिए। यह हमेशा याद रखना चाहिए कि गहरी मूर्च्छा या तंद्रा में स्थित रोगी को अक्सर लोग सोता हुआ समझने की भूल कर बैठते हैं। ऐसे रोगी के पास बैठने वाले को उसकी साँस और नाड़ी की गति का ध्यान रखना चाहिए, रक्तदाब नापना चाहिए। इनमें थोड़ा भी परिवर्तन होने पर चिकित्सक को सूचित करना चाहिए।

मिरगी का दौरा पड़ने पर रोगी में जिह्वापातन को रोकने का इंतजाम करना चाहिए (जीभ अपने स्वयं के भार से लटक कर गले गिरती है और इससे दम घुटने का डर रहता है; उँगलियों पर गाज कपड़ा लपेट कर (या किसी अन्य विशेष उपकरण द्वारा) जीभ को पकड़ कर रखा जाता है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गिरने से रोगी के सर वगैरह में चोट न आ जाए। हर रोगी में मिरगी के दौरे की अपनी विशेषताएँ होती हैं, अतः इस हालत में रोगी का ध्यानपूर्वक प्रेक्षण करना चाहिए और सभी विशेषताओं को याद रखने और बाद में लिख लेने की कोशिश करनी चाहिए।

बायोक्युनोल (8 प्रतिशत आयोडोबिस्मयेट का उदासीन किए गए परसिका तेल में निलंबन) इंजेक्शन कुछ विचित्र परिणाम देते हैं। सुई एक दिन छोड़ कर 2.0-2.5 मि.लि. की मात्रा में 15 से 20 की गिनती में लगाते हैं। इंजेक्शन के पहले बायोक्युनोल के फ्लास्क को गर्म पानी में रख कर उसे गर्म करते हैं; फिर इसे अच्छी तरह हिलाया जाता है, तत्पश्चात इंजेक्शन नितंब के पार्श्व चरण में उस स्थान पर लगाया जाता है, जहाँ खाल पहले ही अल्कोहल से साफ कर ली गई होती है। फिर उस पर आयोडीन टिंचर लगा दिया जाता है, तत्पश्चात सुई लगाई जाती है। सुई को पिचकारी में लगाने से पहले ही नितंब में चुभाया जाता है। यदि एक-दो मिनट तक रक्त नहीं निकलता है तब दवाई का इंजेक्शन दिया जाता है। अघुलनशील पदार्थ का शरीर में वेधन से भयंकर परिणाम हो सकते हैं। इंजेक्शन लगवाने के बाद रोगी को चंद मिनट तक पेट के बल लेटे रखना चाहिए तथा इंजेक्शन लगने वाले स्थान को कालोडियन वाली रुई के फाहे से ढक देना चाहिए। उपचार के समय रोगी के मूत्र की परीक्षा बहुधा करते रहनी चाहिए और यह बात निश्चय ही जान लेनी चाहिए कि रोगी ने टिंचर आयोडीन वाले जल (एक गिलास पानी में 10 बूँद) से भोजन के बाद मुँह धोया हो, जिससे कि दंतमास शोथ न हो सके।

हम यहाँ एक अन्य हस्तोपचार पर भी विचार करेंगे—चिकित्सक द्वारा रोगी के प्रमस्तिष्क-मेरुतरल का चूषण करने की तकनीक और उसके उपरांत रोगी का उपचार।

प्रमस्तिष्क मेरु तरल का चूषण नैदानिक तथा चिकित्सीय दोनों उद्देश्यों से

किया जाता है। वेधन के लिए प्रचलित 5-6 सें.मी. लंबी सुई (सूची) प्रयोग में लाई जा सकती है। परंतु मैन्ड्रिन वाली वीरव सूची अधिक पसंद की जाती है। बालचिकित्सा में केवल साधारण सूचियाँ ही प्रयोग में लाई जाती हैं। उचित होगा यदि रोगी शैया के एक किनारे पर दाई या बाई करवट लेटे। पैर पेट की ओर जंघाओं तक झुके हों और जंघाएँ पेट तक सटी हुई हों, जबकि सिर को छाती से लगाया गया हो जिससे कि पीठ धनुषाकार बन जाए और कंटक प्रक्रम एक-दूसरे से दूर हट जाएँ। दोनों श्रोणि अस्थियों की शिखाओं को जोड़ने वाली एक रेखा खींची जाती है, जो कि तीसरे और चौथे कटि-पृष्ठ वंशी के बीच की जगह के समतल पर होती है। बहुधा यह रेखा टिंचर आयोडीन से खींची जाती है। सूची को यहाँ प्रविष्ट किया जाता है; इसे एक पृष्ठ-वंशी आगे या पीछे भी प्रविष्ट किया जा सकता है। चुने हुए स्थान को ध्यानपूर्वक टिंचर आयोडीन से विसंक्रमित किए जाने के बाद खाल में 0.25 प्रतिशत वाला 1.0 मि.ली. प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल का इंजेक्शन लगाया जाता है। या खाल पर ईथर में भिगोई हुई रुई के फाहे से लगभग 30 बार थपकी दी जाती है, जिससे कि संज्ञाहरण होता है। हाथों को अच्छी तरह साफ करने के बाद चिकित्सा तीसरी कटि पृष्ठवंशी कंटक प्रक्रम के उभरे भाग को उँगलियों से टटोलता है और सूची को प्रविष्ट करता है, ताकि सुइ पृष्टवंश के किनारे के साथ सरके और बीच की रेखा के बनी रहे और थोड़ी ऊपर की ओर हो। अंतरांकटिका और पीले स्नायु के वेधन मे पश्चात सूची सरलता से दृढ़ तानिका तक आगे बढ़ती है और जिसके वेधने के बाद किंचित-सी, किंतु स्पष्ट, रुकावट बहुधा महसूस होती है। जब ऐसा लगे कि मानो गुहा में वेधन हो रहा है, तब सूची को और अधिक प्रवष्टि नहीं करना चाहिए। मेंड्रिन को तब इस पर से हटा लिया जाता है और तरल सूची से बाहर निकलने लगता है।

नैदानिक उद्देश्य से 4 से 6 मि.ली. तरल ले लेना पर्याप्त है और जिस दाब पर यह तरल प्रवाहित होता है, उसे निश्चित रूप से नाप लेना चाहिए। तरल के रंग तथा शुद्धता को लिख लेना चाहिए। सामान्य स्थितियों में, प्रमस्तिष्क मेरु तरल का स्वरूप आसुत जल-सा होता है और इसका प्रवाह लगभग 60 बूँद प्रति मिनट है। अधिक दाब होने पर बूँदें संयोजित हो जाती हैं और तरल लंब या समातल चापित धारा के रूप में निकलने लगता है।

कुछ रोगों में यह तरल पीलापन (जैन्थाक्रोमियाँ) ले लेता है। तानिकाओं के सपूय शोथ की दशा में यह तरल अस्पष्ट (धुँधला) होता है। सूची को निकालने के बाद वेधन के स्थान को रुई और कलोडियम से ढक देते हैं। वेधन के बाद दो-तीन घंटे तक रोगी को बिना तकिए के पेट के बल लिटाए रखना चाहिए। 24 घंटे के लिए पूर्ण रूप से शैया विश्राम निर्धारित किया जाता है। इन सब सावधानियां के ध्यानपूर्वक बरतने पर भी कई रोगियों में कुछ घंटों के बाद तानिकाओं के उद्दीप्त

होने के चिह्न दिखाई देने लगते हैं : जैसे कि सामान्य निर्बलता, शिरोवेदना, पीठ में दर्द, मितली और कभी-कभी उल्टी और मूत्र-अवधारणा हो जाता है। ऐसे रोगियों को 40 प्रतिशत हैक्सामेथीलीन टेट्रामीन (यूरोट्रोपीन) के 5.0 मि.ली. घोल के अंतः शिरा आधान और मुख से वेदनाहर (ऐमिडापाइरीन, ऐसीडोफेनेडिटीस, ऐंटीपाइरिन) का औषधि-निर्देश दिया जाता है।

सुषुम्ना की विक्षित से होने वाले अधःशाखा (अधः या ऊर्ध्व अंगों) के अंगघात वाले रोगी को विशेष देखभाल की जरूरत होती है, क्योंकि ऐसे रोगियों को शैयात्रण हो सकता है और उनका मूत्रण क्षति ग्रस्त हो जाता है। शरीर के ऐसे भागों को, जिन पर अधिक समय तक दाब रहता हो, अर्थात् ऐसे भाग जहाँ की खाल अस्थि के ऊपर अधिक होती है; अत्यधिक कष्ट होने की संभावना रहती है, शय्यात्रण अधिकतर संक्रमी भाग में अथवा घुटनों और गुल्फ के जोड़ों की मध्यवर्ती सतह पर, श्रेणिअस्थि शिखाओं के उभरे भागों के ऊपर होता है। इस बात की सावधानी बरतनी चाहिए कि रोगी सूखी और साफ चादर पर लेटे, जिसमें कि सलवटें न हों। यदि रोगी अपनी पीठ के बल लेटता है, तो उसे अक्सर करवट बदलनी चाहिए। त्रिकास्थि के नीचे रबर की वायु-वलय रखनी चाहिए, खाल पर कपूर, स्प्रिट मलनी चाहिए या इसे साबुन और कमरे के तापक्रम वाले जल से धोकर फिर सुखा लेना चाहिए। यदि इस सबके बावजूद भी शय्यात्रण हो जाए, तंतुओं में सूजन आ जाए उसके बाद भी आक्लेदन हो और कोययुक्त पपड़ी बन जाए तो इसका उपचार उसी तरह करना चाहिए, जैसे घाव का : सल्फापाइरिडीन इमल्शन से, या विश्नेवस्की मलहम (तीन भाग टार, तीन भाग बिस्मथ ट्राइब्रोमोफेनेट, 94 भाग रेड़ी का तेल), जिंक मलहम से। इस भाग से फाइब्रिन फिल्म लगाने से भी अच्छा असर होता है। सभी परिगलित भागों को निकाल दिया जाता है और जो घाव रह जाता है उस पर गाज लगाई जाती है। गाज को 1 प्रतिशत पोटैशियम परमैगनेट में भिगो लिया जाता है। ड्रेसिंग को दिन में दो बार बदलना चाहिए और हर बार पट्टी को वैक्स पेपर से ढकना चाहिए।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि शय्यात्रण एक गंभीर पेचीदगी है, क्योंकि इसके द्वारा शरीर में संक्रमण प्रवेश कर जा सकता है। इसके द्वारा पूतिता हो सकती है और रोगी के जीवन के लिए खतरा पैदा हो सकता है।

मूत्र असंयमित की दशा में, पुरुष रोगियों को मूत्र पात्र तथा महिला रोगियों को रबर का शय्या पात्र दिया जाता है। मूत्रावधारण की स्थिति में जब मूत्राशय पर लगाने वाली गर्म पानी की थैली प्रभावहीन सिद्ध हो जाती है तो कैथीटर प्रवेशन करना पड़ता है। अपूति के सभी नियमों को ध्यान में रखते हुए कैथीटर प्रवेश किया जाता है, नहीं तो मूत्राशय के संक्रमित होने का भय रहता है। ऐसे रोगियों को मूत्राशय शोथ हो सकता है, जिसके बाद गोणिका शोथ, वृक्कशोथ हो जाते हैं, जो यूरोसेप्सिस

(मूत्र पूतिता) से और बढ़ जाते हैं। यदि कैथीटर प्रवेशन कई बार करना पड़े तो मूत्राशय की जब तक 2 प्रतिशत बोरिक ऐसिड घोल से धुलाई करनी चाहिए। इस घोल की जगह 1:200 सिल्वर नाइट्रेट घोल का भी प्रयोग किया जा सकता है। कैथीटर प्रवेशन अधिकतर दिन में दो बार किया जाता है। एक बार सवेरे और दूसरी बार सोते समय। जिन रोगियों में संवेदनशीलता का विकार हो, उन्हें अधिकतर मूत्रण की इच्छा ही नहीं होती और उन्हें यह भी शिकायत नहीं होती कि मूत्राशय एकत्रित मूत्र से फूल गया है। उपचारिका को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे रोगियों का मूत्राशय समय-समय पर खाली किया जाता रहे।

II विशिष्ट तंत्रिका विकृति विज्ञान

परिसरीय तंत्रिका-तंत्र के रोग

परिसरीय तंत्रिका तंत्र के रोगों की संकल्पना में तंत्रिका कार्ति तथा तंत्रिका शोथ शामिल हैं। इन रोगों में पीड़ा उस क्षेत्र में होती है जो उस संवेदित तंत्रिका द्वारा प्रेरित होता है, जो उद्दीपन की स्थिति में होती है (उदाहरणार्थ त्रिधारा या आसन तंत्रिका कार्ति)। इसके अतिरिक्त, पेरक और संवेदी क्रियाओं की हानि भी हो सकती है, जो क्षतिग्रस्त (शोथीय) तंत्रिका के कारण होती है (उदाहरण के लिए आनन तंत्रिका की कार्ति अथवा हाथ या पैर को जाने वाली तंत्रिका की कार्ति)।

त्रिधारा तंत्रिका चूंकि संवेद्यता को आनन और श्लेष्मा को श्लेष्मल कला तथा खाल से संचरित करती है, इसलिए आनन और श्लेष्मा की तंत्रिका कार्ति में, आनन के आधे भाग में या ऐसे क्षेत्र में पीड़ा होती है, जहाँ इसकी शाखा स्थित हो। कभी-कभी त्रिधारा तंत्रिका कार्ति का कारण स्पष्ट नहीं होता है, पीड़ा के दौरे चलते हैं जिनके दौरान रोगी पीड़ा से चालहीन स्थिति में आ जाता है और चेहरा पीड़ा से ऐंठ जाता है। इसके साथ ही, होंठों और जिह्वा की चटकारे जैसी गति होती है, अथवा अश्रुस्रवण या मुँह में धातु जेसा स्वाद हो जाता है। सेंक, तंत्रिका-कार्ति की प्रतिरोधी औषधि, तथा बर्नार्ड धारा से रोग के दौरे में आराम मिलता है। रोग की दीर्घ स्थिति में तंत्रिका स्कंध में एल्कोहल या गर्म पानी के आधान से तंत्रिका को नष्ट कर दिया जाता है।

आनन तंत्रिका शोथ से आधे आनन के अंगघात का चित्र सामने आता है: रोगी अपनी भौंहें नहीं उठा सकता है, ललाट पर सलवटें पड़ जाती हैं, आँखें बंद-सी हो जाती हैं, दाँत दिखने लगते हैं और होंठ खुल जाते हैं। आनन तंत्रिका शोथ के कारणों में से एक आंतरिक कान का विक्षति होना भी है, क्योंकि आनन तंत्रिका कान के इस भाग के ऊपर स्थित फैलोपी नलिका में से गुजरती है। मस्तिष्क स्तंभ से आने वाली तंत्रिका के मूल में शोथ या क्षति हो सकती है। कठिन काल के गुजरने और रोग का उपचार करने के बाद, भौतिक चिकित्सा (मालिश, बेरगोनी अर्ध मास्क)
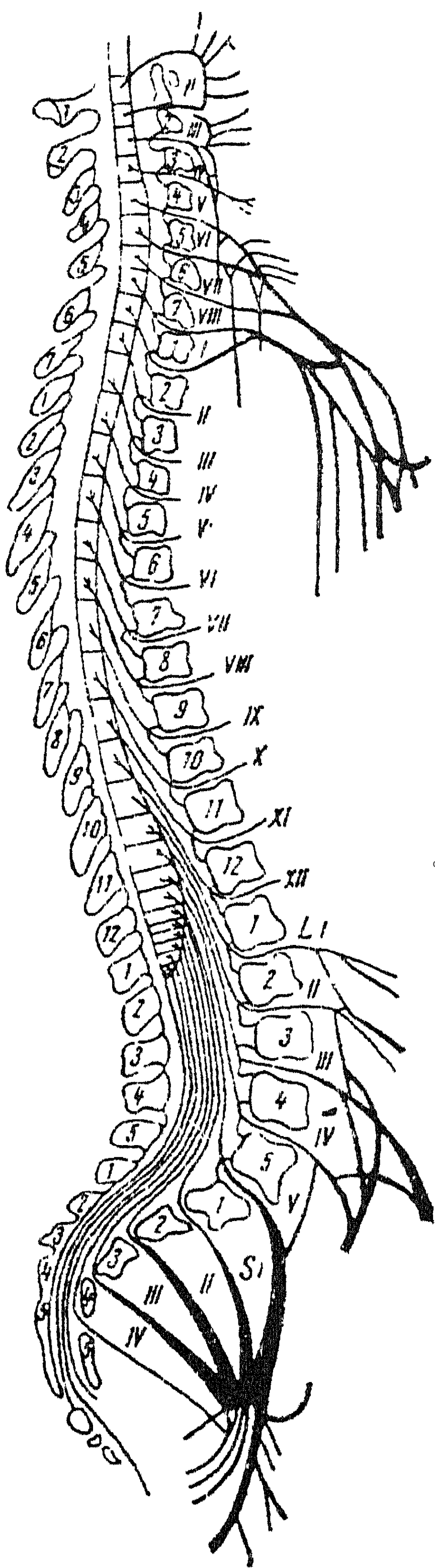
चित्र 12. सुषुम्ना के खंड (31 खंड); मेरु रज्जु पुष्ठ, प्रगंड और कटित्रिक तंत्रिका जालिकाएँ, पृष्ठवंशी; अरबी अंक। सुषुम्ना खंड के मूल; रोमन अंक।

का निर्देश दिया जाता है।

बहिर्प्रकोष्ठिका, अंतःप्रकोष्ठिका और मध्यम तंत्रिकाओं के शोथ अपने मूल में अधिकतर अभिघातज होते हैं। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि बहिर्प्रकोष्ठिका तंत्रिका शोथ में हाथ लटक जाते हैं (मणिबंध पात हो जाता है) और रोगी अपनी कलाई सीधा नहीं कर पाता है, जबकि अंतःप्रकोष्ठिका का तंत्रिका शोथ नखर हस्त से लक्षित होता है (इसमें उँगलियाँ अंगुलास्थि जोड़ों पर ज्यादा फैल जाती हैं तथा अंतर अंगुलास्थि जोड़ों पर मुड़ जाती हैं) या बंदर जैसा हाथ हो जाता है, जिसमें कि अँगूठा चारों उँगलियों के सामने नहीं आ पाता है। ग्रैव सुषुम्ना मूलों में तंत्रिका कार्ति होने पर ऊपर अंगों में जो पीड़ा होती है उसका कारण अत्यधिक बारंबारता होने वाला ग्रैव अस्थि-उपास्थि विकृति है, अर्थात अस्थि उद्वर्ध के बनने के साथ अंतराकशेरुका उपास्थियों का नष्ट हो जाना है। अस्थि उद्वर्ध के बनने से सुषुम्ना के संवेदन मूलों में संकोचन और उद्दीपन होता है। ऐसे रोगों में मुख्य उपचार शारीरित व्यायाम, कालरक्षेत्र की मालिश तथा उच्च कालर से प्रसार द्वारा किया जाता है।

कटि-सेक्रमी तंत्रिका-मूल का शोथ

परिसरीय तंत्रिका तंत्र के कटि-सेक्रमी भागों की विक्षति अत्यधिक प्रचलित तंत्रिका रोगों में से है। बहुत आसानी से क्षत हो जाने वाली निम्नकटि और उच्च सेक्रमी मूलों के आसन तंत्रिका क्रियाशील होती है (चित्र 12)। तंत्रिका मूल शोथ और आसन तंत्रिका के रोग मेरुदंड की असमान्यता (अस्थि-उपास्थि विकृति) से संबंधित समझे जाते हैं। कम बारंबारता से होने वाली कटि पीड़ा का कारण त्रिक श्रोणि फलक या नितंब के रोग होते हैं। अन्यथा यह पीड़ा श्रोणि के अंगों के रोगी होने

के कारण होती है। बहुत से संक्रमणों और विषजन्य रोगों से तंत्रिका तंत्र का संबंध भी हो सकता है।

अधिक पेशी आयास के बाद एकाएक तेज कटि पीड़ा का कारण अंतरा कशेरुकउपास्थि के बहिःसरण में मूल का बंधीकरण होना हो सकता है। अंतरासंधायक कंडराओं और पीठ की लंबी पेशियों की चोट से होने वाले रोग ऐसे रोगों में शामिल नहीं हैं।

कटित्रिक तंत्रिका मूल शोथ वाले रोगी को निरंतर पीड़ा होती रहती है या कभी-कभी पीड़ा का दौरा-सा पड़ता है और यह पीड़ा चूतड़ों और जाँघों के पश्च भाग या टाँगों के पश्च या पार्श्व भाग तक बढ़ जाती है। बहुधा यह पीड़ा पीठ के थोड़े-से भाग में पहले महसूस होती है। पीड़ा इतनी ज्यादा हो सकती है कि रोगी को शय्या लेनी पड़े। थोड़े से पेशी आयास, खाँसने, छींकने या थोड़ा-सा हिलने-डुलने से यह पीड़ा तीव्र हो जाती है। बड़ी ट्रोकेन्टर और आसनास्थि गंडक की मध्य रेखा को दबाने से स्पर्श सह्य वैलेक्स बिंदु जाना जा सकता है। यह गंडक जानु पृष्ठ खात और पार्श्व अंतरजंघिका के स्थूलक में होता है।

चूंकि पेशी के तनाव से पीड़ा बढ़ती है, इसलिए रोगी अपने प्रभावित पैर की पेशी को कुर्सी पर बैठते ही ढीला छोड़ देता है।
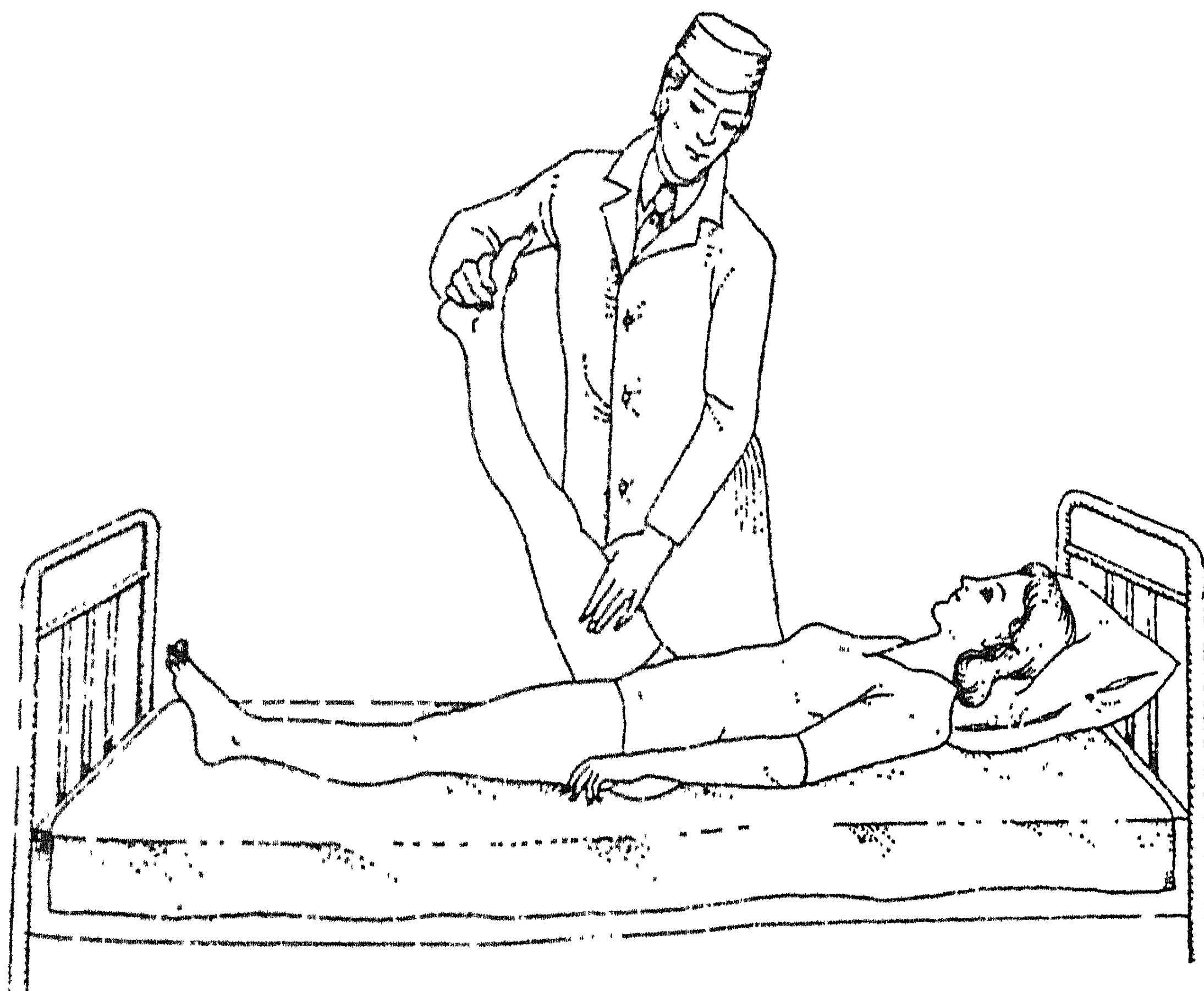
चित्र 13. लासेग चिह्न (जांच की विधि)

तनाव के लक्षणों. खासकर लैसेग लक्षण का नैदानिक महत्त्व बहुत है। लैसेग लक्षण निम्नलिखित है : रोगी को पीठ के बल लिटाया जाता है तथा प्रभावित अंग को सीधा उठाया जाता हे (सीधे पैर को उठाने वाली जाँच)। इसके परिणामस्वरूप आसन तंत्रिका खिंचती है और पूरे अंग में तीव्र पीड़ा का अनुभव होता है, जो अंग को खिंचने नहीं देता। लेकिन जब अंग को घुटने पर से मोड़ा जाता है, तो पीड़ा बंद हो जाती है, क्योंकि तंत्रिका कम खिंचती है (चित्र 13)

कटि सेक्रमी तंत्रिका मूल शोथ में स्वस्थ या रोगी अंग की ओर पार्श्वकुब्जता हो जाती है।

उपचार–रोगी को समतल तथा कठोर शय्या पर लिटा दिया जाता है। सेंक से, गर्म पानी की थैली से, हीटर से अथवा गर्म रेत की बोरी से सेंक करने से रोगी को पीड़ा से आराम मिलता है। रेत ठंडी होने पर बदल दी जाती है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बोरी रेत से बहुत भरी हुई न हो। सख्त होने पर यह अंग से भली-भाँति स्पर्श नहीं करेगी। कटि-प्रदेश में या नितंब के नीचे जाँघों पर सरसों का प्लास्टर किया जाता है। ऐमिडोपाइरीन, अनाल्जिन (डाइपाइरीन), या रियोपाइरीन (जैसे फिनाइल ब्यूटाजीन और एमिडोपाइरिन की गोलियाँ), आदि वेदनाहर औषधि के रूप में दिए जाते हैं। पर स्फूर्त विद्युत धारा, गेल्वनी धारा, या ऐंटीपाइरीन या प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड द्वारा कटि प्रदेश या नीचे के अंगों में आयन टोफोरोसिस और क्वार्टज मरकरी चाप लैंप द्वारा किरणन के माध्यम से भौतिक चिकित्सा की जाती है। अंग की पश्च सतह पर अंतस्त्वक प्रोकेन ब्लाक (0.25 प्रतिशत घोल) लगाया जाता है।

कटि सेक्रमी तंत्रिका मूल शोथ का आम कारण कंटक मूलों का वंधीकरण होता है, इसलिए प्रसार (खिंचाई) के द्वारा उपचार किया जाता है। इसमें रोगी को उत्तान स्थिति में ऐसी शय्या पर लिटाया जाता है, जिसका तल थोड़ा झुका हुआ हो। रोगी के कंधों पर से घुसाते हुए, ग्लिसन स्लिंग को शय्या के सिरहाने से बाँध देते हैं और टाँगों पर भार लटका दिए जाते हैं। प्रसार (खिंचाई) 30 मिनट तक दिन में एक या दो बार किया जाता है। यदि कटि पीड़ा कई महीनों तक चलती रहे तो सुषुम्ना या कशेरुक दंड के अर्बुद को निकाल देना आवश्यक है। या मेरु रज्जु-पुच्छ भाग की तानिकाओं के शोथ और वास्तविक श्रोणि में शोथज प्रक्रिया को दूर करना चाहिए।

नितंब तंत्रिका या उसकी किसी शाखा में शोथ होने पर पैर अभिपृष्ठ आकुंचक पेशियों को तंत्रिका प्रेरित करने वाली बहिर्जघिका तंत्रिका का या पैर का आंशिक घात मालूम होता है। इस दशा में चलने पर पैर की उँगलियाँ जमीन पर घिसटती हैं, रोगी रक्षात्मक क्रिया का सहारा लेता है, जिसमें कि वह हर कदम पर पैर को जमीन से ऊपर उठाता है, जिसके लिए उसे घुटने या कूल्हे के जोड़ पर अंग को

बहुत आकुंचित करना पड़ता है। इसके कारण जमीन पर चलने में या सीढ़ियों पर चढ़ने में उसकी चाल कुछ विलक्षण सी हो जाती है। इस रोग से पीड़ित रोगी अपनी ऐड़ियों के बल नहीं चल सकता। पैर की पश्च सतह की पार्श्व सीमा में पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता या तो घट जाती है या बिल्कुल खत्म हो जाती है।

बहुतंत्रिका शोथ

बहुत सी तंत्रिकाओं का एक साथ गुत्थी वन जाना, बहुतंत्रिका शोथ कहलाता है। हाथ और पैर के शोथ अंगघात से इसका पता चलता है। इसमें हाथ और पैर की पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता में विकार आ जाता है तथा अंगों में तंत्रिका प्रकांडों में स्पर्शसह्यता भी अनियमित हो जाती है। बहुतंत्रिका शोथ विभिन्न मूलों (एल्कोहल, लैड, मैंगनीज, आरसेनिक, पारा इत्यादि) की मादकता और संक्रमण (खसरा, इल्फ्लूएंजा, डिप्थीरिया, टाइफस, इत्यादि जो कि विभिन्न कारणात्मक कारणों द्वारा प्रेरित होते हैं) के कारण हो सकता है। हेतुकी चिकित्सा के अतिरिक्त विटामिन बी काम्पलेक्स और प्रेडनीसोलोन भी औपधि के रूप में निर्देशित किए जाते हैं। विभिन्न प्रकार की भौतिक चिकित्सा प्रक्रियाओं द्वारा भी बहुत लाभ होता है। पुनरुत्थान काल में मालिश, उपचारिक शारीरिक अभ्यास और स्नान आदि का निर्देश दिया जाता है।

परिसरीय तंत्रिका तंत्र की दीर्घकालिक विक्षति की दशा में गंधकीय हाइड्रोजन स्नान (मात्सेस्ता) वाला स्पा उपचार, रैडन स्नान और मिट्टी का प्रयोग किया जाता है।

तंत्रिका तंत्र के संक्रामक रोग

तानिका शोथ, मस्तिष्क शोथ और मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ

तंत्रिका तंत्र संक्रामक रोग अधिकतर तानिकाओं के शोथ (तानिका शोथ) या मस्तिष्क शोथ के रूप में विकसित होते हैं। मस्तिष्क शोथ के साथ-साथ सुषुम्ना में भी शोथ विकिसत हो सकता है, अर्थात् मस्तिष्क सुषुम्ना शोथ हो सकता है।

मस्तिष्क तीन कलाओं (तानिकाओं)से ढका हुआ है : एक सख्त कला—ड्यूरा मैटर—सबसे ऊपर का भाग है तथा मस्तिष्क और सुषुम्ना को ढके हुए रहता है। जाल तानिका और पाया मैटर मस्तिष्क की सतह पर दो परतों की तरह हैं, जिनके बीच अवजाल तानिका अवकाश होता है।

मस्तिष्क के अंदर गुहिकाएँ या निलय होते हैं : दो पार्श्विक निलय (अग्र, पश्च और निम्न शृंग या भाग सहित) जो कि तीसरे निलय से जुड़े होते हैं। यह निलय (तीसरा) चैतकों के बीच में होता है। तीसरा निलय एक सँकरी नलिका से लगा हुआ होता है। प्रमस्तिष्क कुल्या चतुष्टय फलक के नीचे स्थित होती है। पोन्स और सुषुम्नाशीर्ष के तल पर प्रमस्तिष्क कुल्या फैलती है और चौथा निलय बन जाता

है। यह (चौथा निलय) सँकरा होता जाता है और सुषुम्ना की केंद्रीय नलिका से जुड़ जाता है (चित्र 14 और 15)।

हेतुकी के अनुसार, निम्न प्रकार के तानिका शोथ होते है। : मैनिगोकाकिक (जानपादिक), यक्ष्मज, अनुषंगी सपूय तथा अन्य। ये रोग अधिकतर बच्चों को होते हैं।

तानिका शोथ के नैदानिक चित्र में तानिका लक्षण होते हैं जो इस प्रकार हैं :
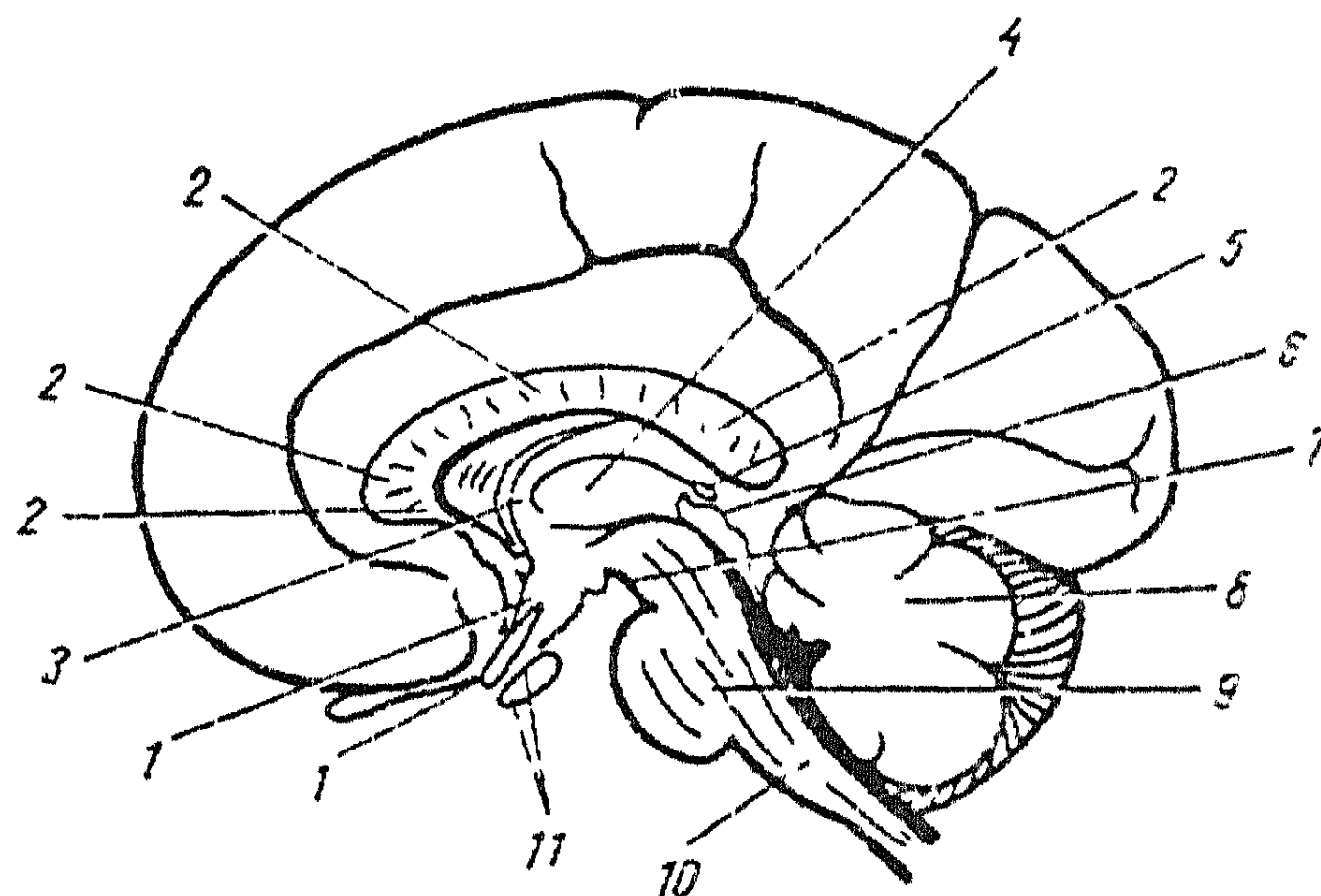
चित्र 14. मस्तिष्क का मध्यरेखीय खंड।

1. दृष्टि तंत्रिका, 2. प्रमस्तिष्क मैग्नासंयोजिका, 3. मुंह जिसके द्वारा पार्श्व निलय तृतीय निलय से जुड़ा हुआ है, 4. चैतक, 5. पिनिअल पिंड, 6. चतुष्टय फलक, 7. प्रमस्तिष्क वृंतक, 8. अनुमस्तिष्क, 9. पोन्स वैरोली, 10. मेरुरज्जुशीर्ष, 11. हाइपोफिसिस सेरिब्राई।
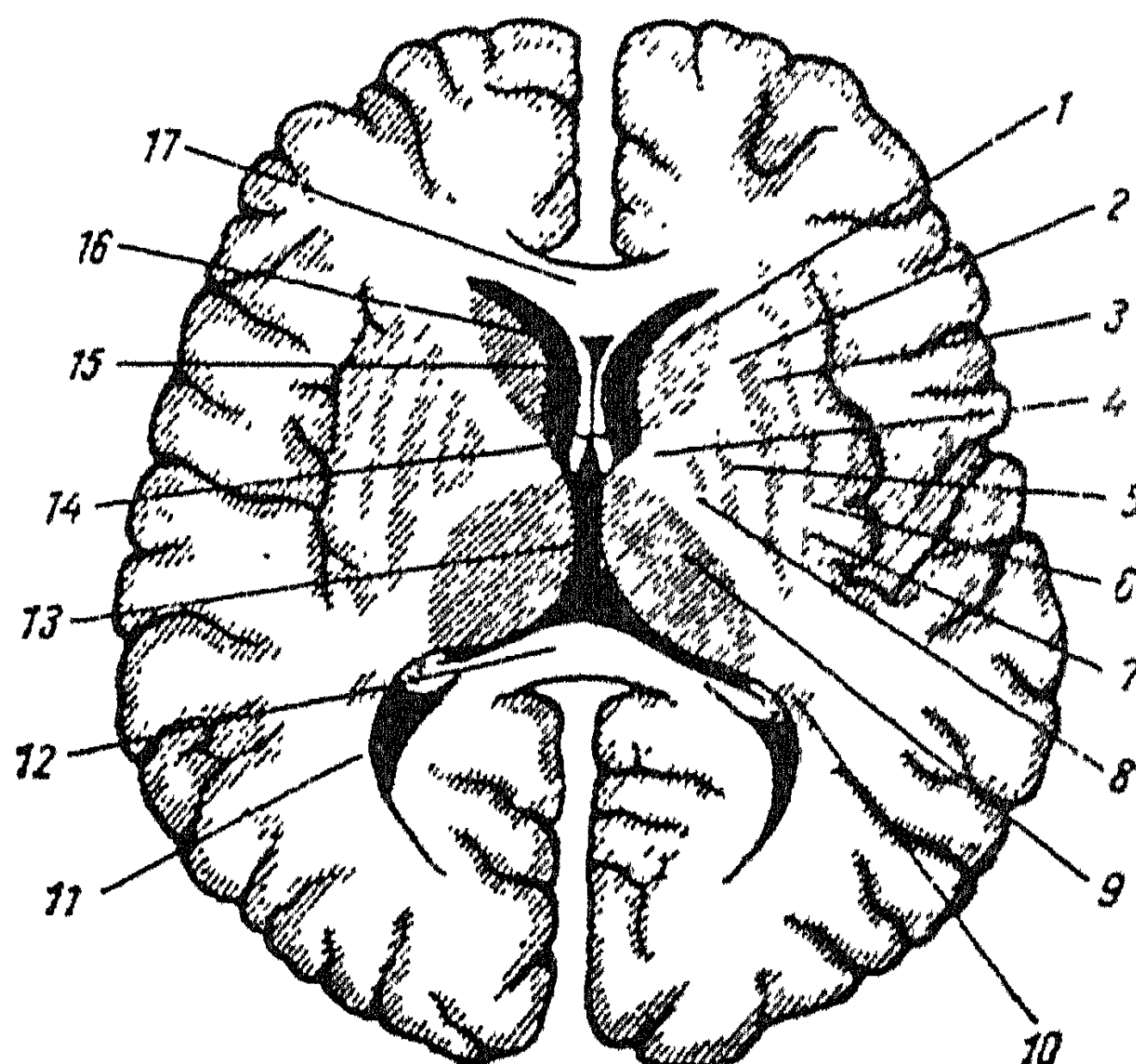
चित्र 15. मस्तिष्क का क्षैतिज भाग 1 और 10, पुच्छक केंद्रक; 2, 4 और 8 संपुट; 3. पुटेमेन (कवच); 5. मांडुपिंड; 6 और 7. रोधपट; 9. चैतक; 11 और 15. पार्श्वनिलय; 12 व 17 संयोजिका; 13. तृतीय निलय; 14. तोरणिका का क्रम, 16. स्वच्छपट।
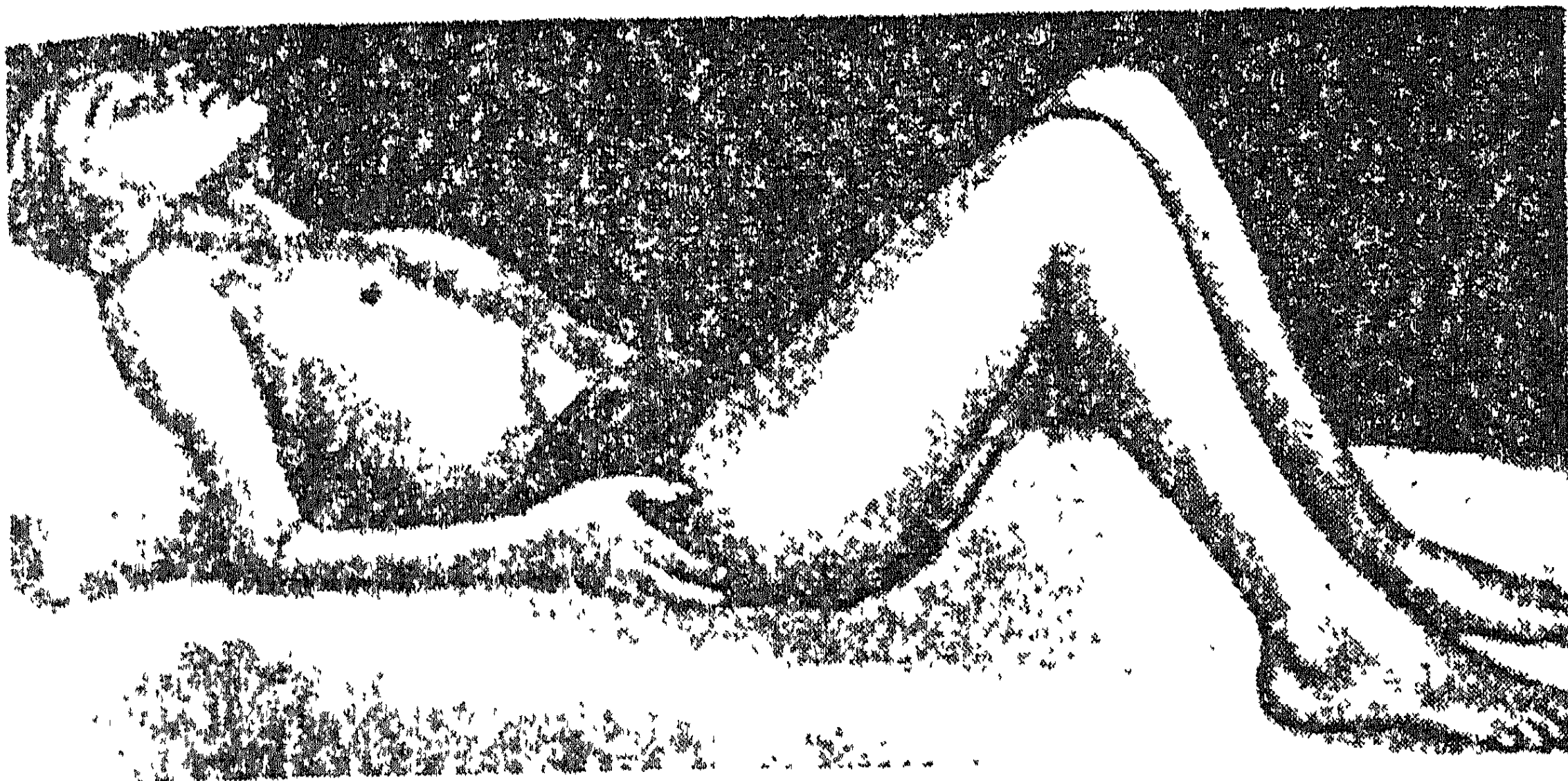
चित्र 16. तानिकाशोथ वाले रोगी की स्थिति
मन्या की कठोरता, निचले अंगों की नम्यता, पेट अंदर की ओर धँसा हुआ।
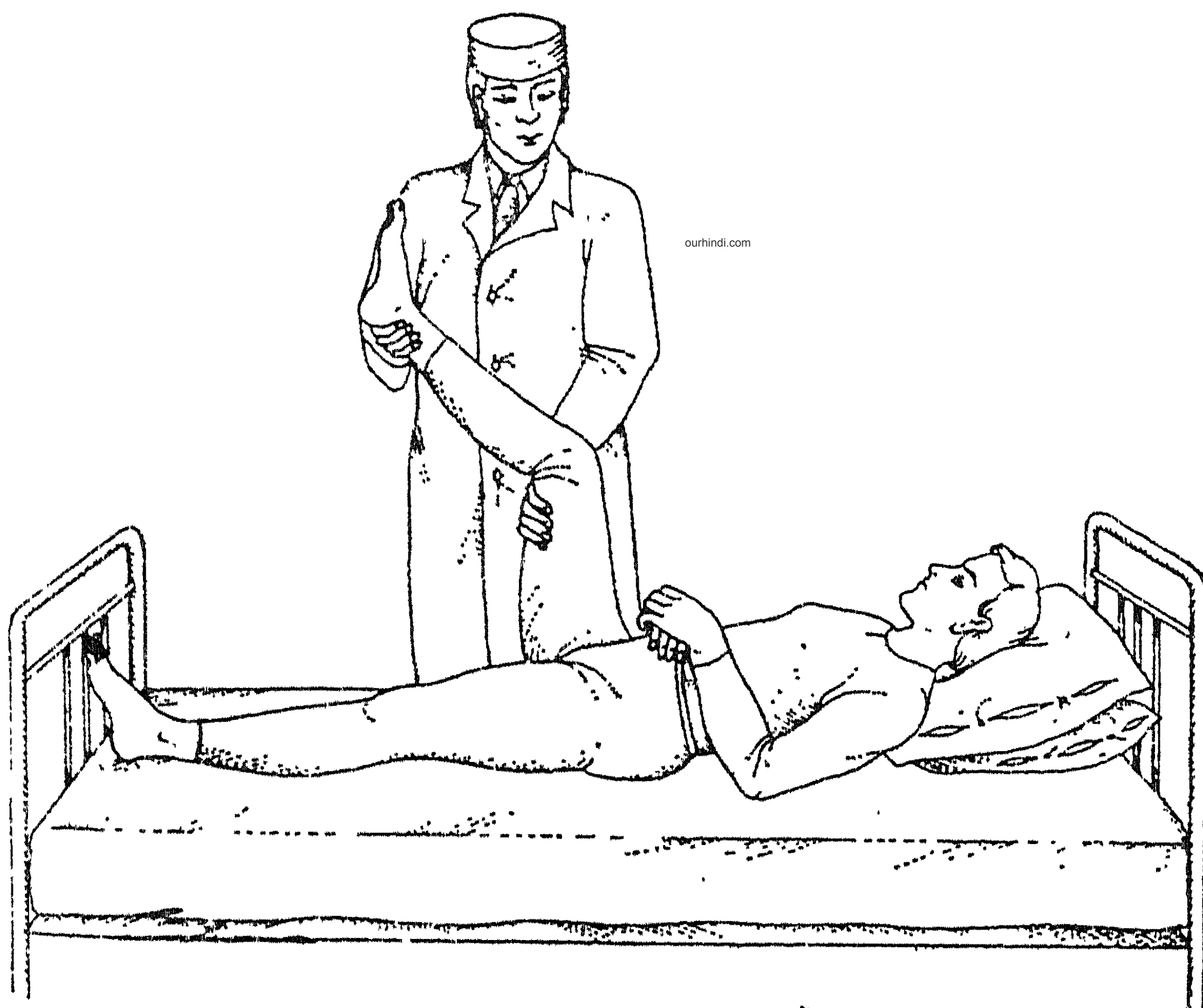
चित्र 17. केर्निग चिह्न की जाँच।

(1) मितली के साथ सिर दर्द और कभी-कभी उल्टियाँ भी, जबकि कुछ भी खाया-पिया न हो, (2) मन्या या मत्था-पेशियों (गुद्दी) की कठोरता, (3) केर्निग या नेरी लक्षण, (4) नाड़ी का मंदन, (5) प्रमस्तिष्क मेरु तरल में असामान्य अभिज्ञान, (6) शरीर का बढ़ा हुआ ताप और संज्ञा हानि।

तानिका शोथ के तीव्र काल में रोगी का सिर पीछे लटक जाता है और गंभीर दशा में रोगी का सिर तकिए में धँसा-सा लगता है और गर्दन को मोड़ना तथा चिबुक को छाती से लगाना कठिन होता है। रोगी करवट से या पीठ के बल लेटता है और उसकी टाँगें मुड़ जाती हैं तथा जाँधें पेट की ओर खिंच जाती हैं (चित्र 16)। टाँगों का घुटनों के जोड़ से आकुंचन टाँगों की आकोचनी पेशियों में अधिक तान के कारण होता है। इसे केर्निग चिह्न कहते हैं (चित्र 17)। इसमें मन्या की कठोरता भी होती है। गर्दन को मोड़ने के प्रयास में और चिबुक को छाती से लगाने के प्रयास में घुटनों में आकुंचन होता है (इसे नेरी चिह्न कहते हैं)। यह शोथज प्रक्रिया इस या उस कपाल तंत्रिका तक फैल जाती है और प्रमस्तिष्क तानिकाओं में प्रवेश कर जाती है।

तानिका शोथ में नेत्र प्रेरक और अपवर्तनी तानिकाएँ सर्वाधिक प्रभावित होती हैं, जिसके फलस्वरूप वर्त्मपात और द्विदृष्टिता के रोग विकसित हो जाते हैं। जिह्वा ग्रसनी तंत्रिका और वैगस तंत्रिका के शोथ से मेरु शीर्षघात के लक्षण नजर आते हैं, क्योंकि इनके प्रेरक तंतु स्वर यंत्र और ग्रसनी पेशियों तक होते हैं। इसलिए इनके प्रभावित होने से ये पेशियाँ निर्बल हो जाती हैं और निगलने में कठिनाई होती है (इस रोग को निगरण कष्ट कहते हैं) और स्वर उच्चारण कमजोर हो जाता है (जिसे उच्चारण दोष कहते हैं)। तरल भोजन नाक में पहुँच जाता है और सख्त भोजन से रोगी का गला रुँध जाता है। ऐसे रोगी को बैठा कर सावधानीपूर्वक आंशिक-द्रव भोजन दिया जाता है। ऐसे रोगी जो बिल्कुल निगल नहीं सकते, उन्हें तरल भोजन कृत्रिम विधि से दिया जाता है। इस विधि में नाक में उत्तम नालशलाका के द्वारा या पोषक एनिमा के द्वारा रोगी को तरल भोजन पहुँचाया जाता है।

सुषुम्ना शीर्ष केंद्रकों की शोथज प्रक्रिया में श्वास क्रिया कमजोर हो जाती है, जो मृत्यु का कारण बन सकती है। ऐसे रोगियों को मशीन द्वारा कृत्रिम श्वसन कराया जाता है।

निदान और उपचार के लिए तानिका शोथ वाले रोगियों का बार-बार कटिवेधन किया जाता है। मस्तिष्क मेरु तरल बढ़े हुए दबाव के अंतर्गत धारा के रूप में या बूँद-बूँद करके जल्दी-जल्दी निकलता है। इसमें प्रोटीन बहुत होता है और तानिका शोथ के लक्षणों के आधार पर रक्त के तत्त्व, लस कोशिका या न्यूट्रोफील बनते हैं। कभी-कभी रक्त के द्वारा कारणात्मक कारक (तानिका गोलाणु, माइक्रो बेक्टीरियम ट्यूबरकुलोसिस, स्ट्रेप्टोगोलाणु) का पता लगाना संभव हो सकता है।

तानिका शोथ के उपचार के लिए अनेक प्रतिजीवियों (पेंसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसीन, मोनोमाइसीन, ऐंपीसिलीन इत्यादि) का इस्तेमाल किया जाता है।

तानिका शोथ के ठीक हो जाने के बाद कुछ रोगियों में कुछ अवशिष्ट प्रभाव जैसे उभयकर्णी बधिरता, जलशीर्ष (मस्तिष्क का जलशोथ), अपस्मारी दौरे और क्षीण बुद्धिता आदि रोगों के लक्षण हो जाते हैं। शिशुओं और वृद्धों में तानिका शोथ का

तेज प्रभाव होता है।

प्रतिजीवी उपचार के अतिरिक्त लाक्षणिक उपाय भी किए जाते हैं, जैसे शीत अनुप्रयोग, हृदयोद्दीपक, पीठ पर शीशे से चषकन, आदि। कोष्ठबद्धता होने पर विरेचक दिया जाता है और मूत्रावधारण को नालशाला के प्रवेशन द्वारा दूर किया जाता है।

संरक्षित व्यक्ति को हवा देना जरूरी है। शय्यात्रण की रोकथाम भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुख की देखभाल भी जरूरी है, प्रतिदिन मुख की श्लेष्मलकला और दाँतों की भीगी हुई रुई से सफाई करना आवश्यक है। आहार में तरल भोजन ही अधिक होना चाहिए।

चित्र 18. पारकिन्सनता में पेशियों की सामान्य कठोरता।

हेतुकी और मस्तिष्क के इस या उस भाग में वैकृत प्रक्रम के स्थानसंश्रय के अनुसार, जिससे कि रोगलक्षण का चित्र सामने आता है, **मस्तिष्क शोथ** के रूप को पहचाना जाता है। बाल रोगों में रोमांतिका मस्तिष्क शोथ भी हो जाता है और यहाँ तक कि आंशिक घात और अंगघात के साथ भी मेनिगों मस्तिष्क शोथ हो जाता है।

उदाहरण के लिए, जानपदिक तानिका शोथ को ले लीजिए। इसमें शोथज प्रक्रम अवप्रांतस्था संरचना (रेखित पिंड, पांडुर पिंड, काला द्रव्य) में स्थित होता है और चिरकारी अवस्था में बढ़ती हुई पेशी-कठोरता से इनका पता चलता है। ऐसे रोगी धीरे-धीरे चलते हैं और उनकी बाँहें पैरों के संगामी रूप में नहीं चलतीं। चेहरे पर स्थिर भाव रहते हैं। उनका उच्चारण नीरस होता है और अनेक ध्वनियाँ मरी-मरी-सी निकलती हैं। इस लाक्षणिक संलक्षण को पारकिन्सनता कहते हैं (चित्र 18)। पेशी समूह में गंभीर अकड़ाव आ जाने पर रोगी को चलने में मदद करनी पड़ती है। दृष्टिपात का आकर्ष होता है। आँखें एकाएक नेत्र गुहा में चली जाती हैं और यह स्थिति कई मिनटों से लेकर कई घंटों तक रह सकती है।

हाथों का लगातार तालबद्ध कंपन (कभी-कभी सर का भी) इस रोग के नैदानिक संकेत हैं।

इसका उपचार पारकिंसनता औपधियों (ट्रोपैसिन, ट्रोपाइन डाइफिनाइल ऐसीटेट, साइक्लोडालसिन, ट्राइहेक्सा फेमेंडिल या आरटेन, एलडोपासिन, डोपालानिन या लेवोडोपा) द्वारा होता है। पांडुर पिंड या अभ्युदर पार्श्व चेतन केंद्रक को नष्ट करने के लिए

चित्र 19. ग्रैव पेशियों के शोथ में सिर का लटकना और बसंत, ग्रीष्म ऋतु के मस्तिष्क शोथ में ऊपरी अंगों का अंगघात।

शल्य चिकित्सा के परिणाम अच्छे होते हैं।

वसंत-ग्रीष्म किलनी से वाहित मस्तिष्क शोथ में शोथज प्रक्रम अधिकतर मुख्यतया सुषुम्ना शीर्ष के मोटर-केंद्रक और सुषुम्ना ग्रैवभाग में स्थित होता है। इसमें शरीर का तापमान एकाएक बढ़ जाता है और विषाणु संक्रमित किलनी द्वारा काटे जाने के दो सप्ताह बाद व्यक्ति के गले और स्कंध मेखला की पेशियों में शोथ अंगघात हो जाता है। सिर सीने की ओर कुछ झुक जाता है और बाहें ढीली होकर लटक जाती हैं (चित्र 19)।

ऐसे रोगियों को अपस्मार (कोझेव्नीकोव द्वारा प्रतिपादित रोग) हो जाता है। इस प्रपस्मार का नाम रूसी तंत्रिका विकृति विज्ञान के संस्थापक अलेक्सेई याकोव्लेविच कोझेव्नीकोव के नाम पर पड़ा है। इन्होंने इसका वर्णन 1894 में किया था। पेशियों के निश्चित समूह के अवमोटनी अकर्ष के लगातार मौजूद रहने पर धीरे-धीरे अपस्मारी दौरा पड़ने लगता है।

उपचार : रोग के तीव्र काल में इस रोग वाले रोगी को 5 से 10 मि.ली. रक्त सीरम का अंतः पेशी या अंतः कटि इंजेक्शन प्रतिदिन लगाया जाता है। यदि अंगघात होता है, तो नीओस्टिगमाइन मेथाइल सल्फेट (0.05 प्रतिशत घोल वाला 1.0 मि.ली. घोल 2/दिन) और विटामिन बी काम्प्लेक्स का इंजेक्शन लगाया जाता है। रोग की रोकथाम के लिए कितनी और जंगली (चूहे) कृतक प्राणी का दमन करना चाहिए क्योंकि ये ही तानिकाशोथ विषाणु के वाहक हैं।

आमवात मूल के तानिका में वैकृत प्रक्रम अधिकतर अवप्रांतस्था संरचनाओं में स्थित होता है। रोग का नैदानिक चित्र एक विचित्र प्रकार की प्रगतिकला के द्वारा लक्षित होता है, जिसे **लघु लास्य** कहते है। यह रोग अधिकतर स्कूल के बच्चों को होता है। इस रोग में धीरे-धीरे अनैच्छिक गतियाँ होने लगती हैं। पहले मुखविकृति

होती है, फिर ऊपरी अंगों में तेज गति होने लगती है और इसके बाद धड़ की पेशियों और नीचे के अंगों में गतियाँ होने लगती हैं। ऐसे व्यक्ति मुश्किल से खड़े हो सकते या चल सकते हैं। जिह्वा और स्वर यंत्र की पेशियों और निगरण की पेशियों की अतिगति कला के कारण निगलने और बोलने की शक्ति की क्षति हो जाती है। रोगी कभी-कभी बिस्तर के नीचे गिर जाता है। मानसिक विघ्न होने लगते हैं : स्मृति और ध्यान की क्षति हो जाती है, रोगी अनायास ही भयभीत और उदासीन हो जाता है तथा अकारण ही हँसता या रोता रहता है। बहुत से रोगियों को आमवात विरोधी चिकित्सा से लाभ होता है और कभी-कभी यह रोग दुबारा हो जाता है।

उपचार : रोग के तीव्र काल में रोगी को पूर्ण रूप से शय्या विश्राम करना चाहिए तथा 10 प्रतिशत मैग्नीशियम सल्फेट घोल का 3.0 से 5.0 मि.ली. का अंतःशिरा इंजेक्शन लगाना चाहिए। खिलाने वाली औषधियों में ब्रोमाइड, सोडियम सैलीसिलेट, एसीटाइल सैलसिलिक अम्ल, एमीडोपाइरीन, फेनोबारबीटल और हैलोपेरिडोल (हैल्डोल या सेरेनीज का सूत्र युग्मन) तथा स्वरक्त चिकित्सा द्वारा इलाज किया जाता है। उत्तेजना की स्थिति वाले रोगी को क्लोरल हाइड्रेट का एनीमा दिया जाता है या डाइजेपाम (मिथाइल डाइजेपिनान सूत्र युग्मन) के 0.5 प्रतिशत घोल का 1.0 मि.ली. का इंजेक्शन दिया जाता है। लास्य के साथ-साथ बहुधा आमवात (कमेटी) अंतर्हृदशोथ हो जाता है। रोग के कम होने पर भी बालक को बिस्तर से तभी उठने दिया जाता है, जबकि असामान्य हृदलक्षण बिल्कुल ही लुप्त हो जाते हैं।

प्रसृत (बहुसृत) काठिन्य

बहुसृत काठिन्य रोग मस्तिष्क सुपुम्ना शोथ का अधिक प्रचलित रूप है और यह रोग अधिकतर युवकों को होता है। विक्षति मस्तिष्क के विभिन्न भागों में सुषुम्ना में होती है, जिसके कारण नैदानिक चित्र विविधतापूर्ण होता है। पिरामिडी पथ और सुषुम्ना तथा सुषुम्नाशीर्ष को अनुमस्तिष्क से जोड़ने वाले तंतुओं की सर्वाधिक हानि होती है। यह रोग संस्तंभी आंशिक घात का अंगघात के रूप में, कभी-कभी श्रोणि अंगों की क्रियाओं में खराबी (मूत्रावधारण) तथा गतियों के समन्वय में गड़बड़ियों के साथ, जो ऊपरी और निचले अंगों की शक्तियों के बेढंगेपन के रूप में सामने आती हैं, प्रकट होता है। प्रसृत काठिन्य के शास्त्रीय लक्षण निम्नलिखित हैं : संस्तंभी और अनुमस्तिष्कीय चाल, हाथों की उद्देश्यपूर्ण गति में भद्दापन, रुक-रुक कर उच्चारण और अक्षिदोलन (नेत्र गोलक की अनैच्छिक तीव्र गति)। हालत में अक्सर सुधार होता है और लक्षणों के गायब होने के साथ शिथिलता, चाहे थोड़ी देर के लिए ही हो, बहुधा होती है।

रोगी के हाथों की गति का समन्वय चूँकि बहुत कमजोर हो जाता है, इसलिए चिकित्साकर्मी को रोगी को चम्मच से खिलाना पड़ता है; अनुमस्तिष्कीय चाल वाले

रोगी को कमरे में चलने में अवश्य ही सहायता देनी होती हैं मूत्रण विक्षोभ वाले रोगी की देखभाल का वर्णन मनःतंत्रिका रोगी की देखभाल वाले खंड में किया गया है।

मज्जाशोथ

मज्जाशोथ सुषुम्ना का शोथ है, जो अधिकतर वक्षस्थल में विकसित होता है। इसमें पूरा व्यास या रज्जु के विभिन्न क्षेत्र प्रभावित होते हैं। रोग निम्नलिखित लक्षणों से पहचाना जाता है : बढ़े हुए तान के साथ अधः शाखा की पेशी की कमजोरी का बढ़ना, अति प्रतिवर्त और वैकृत प्रतिवर्त; प्रभावित खंड के स्तर से संवेदन की हानि, मेखला की पीड़ा जो कि रोगी खंड के मूल के अनुरूप होती है, मूत्रावधारण व मलावधारण, ऊतक पोषणज विक्षोभ के कारण थोड़े समय में शय्या व्रण का हो जाना (चित्र 20)। शोथज विकार स्थान सुषुम्ना के ग्रैवभाग में स्थित होने से चारों अंगों का अंगघात होता है। कटि सेक्रमी भाग में मज्जाशोथ का पता निचले अंगों में आंशिकघात और मूत्र असंयति से चलता है। सुषुम्ना के कटि सेक्रमी भाग में स्थित अग्र शृंग की कोशिकाओं के रोगी होने से ये अपसामान्यताएँ होती हैं; ये कोशिकाएँ निचले अंगों की परिसरीय मोटर तंत्रिका कोशिकाओं को जन्म देती हैं। मूत्र असंयति का कारण मूत्राशय और सुषुम्ना के बीच बाधित संपर्कों का होना है।

विषाणु मूल वाला मज्जाशोथ आम तौर पर तेजी से बढ़ता है। सिफिलिस वाले मज्जाशोथ में सुषुम्ना की वाहिकाओं मे शोथ के साथ-साथ अंतरधमनी शोथ होता है—इसमें शोथ हो जाता है ओर वाहिकाओं की अंदरूनी दीवार मोटी हो जाती है। इसलिए वाहिकाएँ संकरी हो जाती हैं।
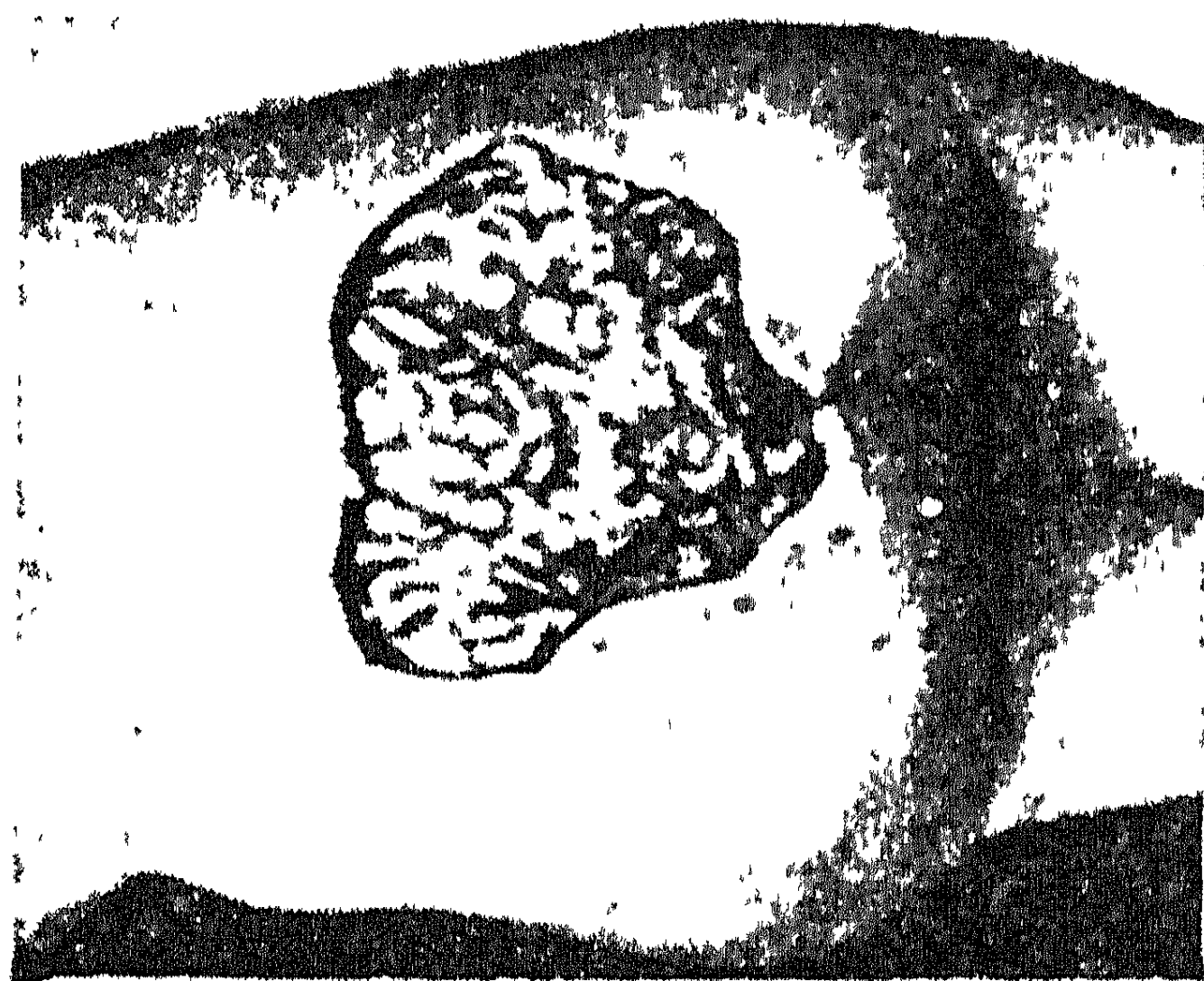
चित्र 20. क्रेमी भाग में प्रसारित और हगन शय्याव्रण

संक्रामक मज्जाशोथ का उपचार 40% यूरोट्रोपीन घोल के अंतरशिरा आधान और पेंसिलीन तथा अन्य प्रतिजीवी के अंतर पेशीय इंजेक्शन द्वारा किया जाता है।

जब रोग की तीव्रता कम होती है, तो मालिश, शारीरिक अभ्यास व स्नान के निर्देश दिए जाते हैं। शय्याव्रण को रोकने के लिए विशेष उपाय (जो कि पहले बताए जा चुके हैं) किए जाते हैं। मंद गति से विकसित होने वाले

अंगघात मज्जाशोथ को सुषुम्ना के अर्बुद से भिन्न समझा जाता है। अर्बुद का निदान तब किया जाता है जब कि प्रमस्तिष्क मेरु तरल में प्रोटीन वियोजित होने लगता है : प्रोटीन की मात्रा बढ़ जाती है, परंतु बने हुए अवयवों का अंश सामान्य रहता है।

सुषुम्ना धीरे-धीरे यक्ष्मज कशेरुक संधि शोथ के रूप में संपीड़ित हो जा सकती है और इसका निदान मेरुदंड का एक्सरे लेने पर आसान हो जाता है।

सुषुम्ना की क्षति होने पर, चोट से उसके किसी एक भाग में रक्त स्राव होने पर भी, नैदानिक रूप से कुछ सीमा तक मज्जा शोथ जैसे लक्षण मिलते हैं। संवेदन की हानि और मूत्र असंयमित या मूत्रावधारण के साथ सक्थि के अभिलक्षण सुषुम्ना के तीव्र अभिघातज शोथ में विकसित हो जाते हैं। मूत्राशय में दीर्घावधि गड़बड़ियों की स्थिति में अति जघन नालव्रण बनाने की सलाह दी जाती है, जिससे विविध किस्म की जटिलताएँ रुक सकती हैं।

पोलियो (मस्तिष्क स्तम्भ रूप)

केंद्रीय तंत्रिका तंत्र में विषाणु संक्रमण को **पोलियो** कहते हैं। इसमें सुषुम्ना का धूसर पदार्थ प्रमुख रूप से प्रभावित होता है। शोथ बहुधा अग्र शृंगों की कोशिकाओं में पृथक सीमित क्षेत्रों में विकसित होता है।

यह अधिकतर किशोर बच्चों को होता है, इसलिए पोलियो को शिशु अंगघात भी कहा जाता है। इसके आक्रमण के लक्षण हैं : ज्वर, कुछ दशाओं में दमन और अतिसार द्वारा तथा कुछ दशाओं में कब्ज द्वारा अस्वस्थ्यता। तापमान कुछ घंटों के लिए 39 या 40^0 C तक पहुँच सकता है और फिर गिर कर सामान्य स्तर पर आ सकता है; कभी-कभी अगले 24 घंटों में तापमान फिर बढ़ जाता है, लेकिन उस स्तर तक नहीं जिस स्तर पर पहले था। कई मामलों में रोग की तीव्रता की अवधि में अत्यधिक कमजोरी आ जाती है, प्रस्वेदन होता है, स्कारलेट ज्वर जैसा चित्र फूटता है, बार-बार तेज सिर दर्द होता है, तंद्रा आती है, और कभी-कभी अपस्मारी दौरे पड़ते हैं।

रोग की पूर्व अंगघात अवस्था में ज्वर कई घंटों से लेकर कई दिनों तक रहता है जिसके दौरान प्रमस्तिष्क मेरु तरल में शोथीय परिवर्तन दिखने लगते हैं।

रोग की अंगघात अवस्था का पता हाथ-पैर के अंगघात से चलता है इसके साथ पीड़ा भी हो सकती है; कभी-कभी संवेदनशीलता कमजोर हो जाती है। इस रोग में पेशी तंतुओं के अपक्षय के साथ अग्र शृंग की कोशिकाओं में शोथीय परिवर्तन होते है। श्वसन विकार और हृदय क्रियाओं में विकार के साथ सुषुम्ना शीर्ष की कोशिकाओं का प्रभावित होना विशेष रूप से खतरनाक होता है। तीव्र शोथ कुछ दिनों में ठीक हो जाता है और इसके बाद पुनर्स्थापन काल आता है। कुछ पेशियो

का अंगघात धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है और कुछ दूसरी पेशियों में अंगघात रहता है।

तंत्रिका उपकरण की विक्षति होने पर उन पेशियों का ऐच्छिक संकुचन और शोष (अपोषण) समाप्त हो जाता है और जो तंत्रिका उपकरण की विक्षति को उत्प्रेरित करता है। पेशी शीथ वाले शिशु की हड्डियों का विकास धीमा हो जाता है। यही कारण है कि पोलियो का शिकार होने वाले बच्चों के हाथ, जंघाएँ, कलाई या पूरा अंग जिसकी पेशियाँ शोषित (अपोपित) हो जाती हैं, छोटे रहते हैं।

तनूकृत जीवित विषाणु वैक्सीन से शिशुओं का आम निरोधक प्रतिरक्षीकरण होने के कारण सोवियत संघ में पोलियो बहुत ही कम होता है।

सुषुम्ना और मस्तिष्क का अर्बुद

मस्तिष्क के अर्बुद प्राथमिक या विक्षेपी हो सकते है। इस दशा में अर्बुद कोशिकाएँ रक्त या लसवाहिकाओं के द्वारा स्थानांतरित होती हैं। अर्बुद के अत्यधिक स्थान संश्रय के होने पर नैदानिक चित्र भिन्न होता है। मस्तिष्क के अबुर्द स्थाई और क्रमिक गति से लक्षित होते हैं। लगभग ऐसे सभी रोगियों में सामान्य प्रमस्तिष्क लक्षण बढ़े हुए अंतः कपाल-दाब और शिरा रक्त स्थैतिकता के कारण होते हैं; सिरदर्द, वमन, नेत्रबुदन में रक्ताधिक्य होना, और जड़िमा इसके लक्षण होते हैं। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क के निश्चित क्षेत्र के प्रभावित होने पर कुछ लक्षण पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए, ललाट खंड के अर्बुद वाले रोगियों को सुखाभास होता है, ये रोगी विनोदशील होते हैं और बेतुके काम करते हैं। उदाहरण के लिए ऐसे रोगी अपने बिस्तर के साथ या वार्ड में ही मूत्र त्याग कर देते हैं। किसी भी स्थान पर और विशेष रूप से शंख खंड में अर्बुद के स्थित होने पर अस्मारी दौरा पड़ सकता है।

इसके उपचार की एकमात्र मूत्र पद्धति अर्बुद को निकाल देना है। लाक्षणिक चिकित्सा में विकिरण चिकित्सा और रसायन चिकित्सा शामिल हैं।

सुषुम्ना शीर्ष में अर्बुद होने पर इसके नाभीय लक्षण प्रकट होते हैं। मूल वेदना भी हो सकती है। प्रमस्तिष्क मेरु तरल के परीक्षण के परिणामों तथा बढ़ते हुए संवेदन और मोटर विकारों से अर्बुद का निदान करने में सहायता मिलती है। यदि संदेह हो कि रोगी के मस्तिष्क में अबुर्द है तो रोगी को अवश्य ही तंत्रिका तंत्र रोग विभाग में परीक्षण के लिए भर्ती कर देना चाहिए।

पेशी शोषी (अपोषण जनित) पार्श्व पथ काठिन्य

पेशी शोषी पार्श्व (पार्श्व पथ) काठिन्य के मूल कारकों से केंद्रीय और परिसरीय प्रेरक-तंत्रिका कोशिकाओं का धीरे-धीरे नाश होने लगता है। रोग के नाम से विक्षति के स्थान संश्रय का और विकसित होने वाले विकार लक्षणों का पता चलता है।

पिरामिडीय, या प्रांतस्था सुपुम्ना पथ सुपुम्ना के पार्श्व फ्यूनिकुलस से होकर गुजरता है, इसलिए इसे पार्श्व कहते हैं। अग्रश्रृंग कोशिकाओं का नाश होने से पेशियों का शोष होने लगता है इसलिए इसे 'पेशी शोषी' कहते हैं। अग्रश्रृंग और पिरामिडीय तंतुओं की नष्ट हुई कोशिकाओं का स्थान ग्लीया और संयोजी ऊतक ले लेते हैं, यानी कि काठिन्य रोग होने लगता है। यह क्रिया सुषुम्ना के आधे ग्रैव भाग में सर्वाधिक बारंबारता से शुरू होती है। ऐसी दशाओं में शोषकर आंशिकघात या ऊपरी अंगों का अंगघात और निचले अंगों के संस्तंभी आंशिक घात का नैदानिक चित्र सामने आता है। आठवाँ ग्रैव और प्रथम वक्ष खंडांश हाथ की पेशियों को तंत्रिका-प्रेरित करते हैं, यही कारण है कि ऐसे रोगियों के हाथों में पेशीय शोष विकसित होता है।

इस प्रक्रिया में नौंवी, दसवीं और बारहवीं कपाल तंत्रिका के केंद्रकों तक बढ़ जाने पर मेरु शीर्षघात के लक्षण नजर आते हैं। ऐसे रोगियों में खाते वक्त भोजन नाक या श्वास नली में पहुँच जाता है और अनुनासिक वाक् तथा उच्चारण दोष हो जाता है या कभी-कभी तो बोलना एकदम असंभव हो जाता है।

ऐसे विकारों वाला रोगी अपने आपको नहीं सँभाल सकता है। वह अपने निर्बल हाथों से चम्मच तक नहीं पकड़ सकता है और उसे बिठाकर धीरे-धीरे खिलाना पड़ता है। उसे भोजन करते समय बोलने नहीं देना चाहिए। जब वह कई बार भोजन निगल चुका हो तो थोड़ी देर के लिए उसे खिलाना रोक देना चाहिए ताकि निगलने से संबंधित पेशी को विश्राम मिल जाए।

पेशी शोषी पार्श्व पथ काठिन्य ए.ल अत्यंत दुःसाध्य रोग है। भविष्यवाणी बुरी होती है। मृत्यु अधिकतर मेरु शीर्षघात के अनुगम से होती है। इस रोग का कारण अभी तक पता नहीं लगा है। इसका उपचार भी लाक्षणिक है।

सिरिंगोमाइलिया

सिरिंगोमाइलिया सुषुम्ना का रोग है। इसका मुख्य लक्षण संवेदना का विकार है। यह रोग दसियों बरस तक चलता है। और रोगी में कार्य करने की क्षमता बहुत समय तक रहती है। सिरिंगोमाइलिया नाम यूनानी शब्द सिरिंक्स (पाइप या ट्यूब) और माइलस (मज्जा) से बना है। इस रोग में ग्लीया वृद्धि और प्रमस्तिष्क मेरु नलिका की अंतःकला में वियोजन होने के कारण सुषुम्ना में गुहिकाएँ बन जाती हैं। आध्मानी (फूली हुई) केंद्रीय मेरु दंड नलिका के कारण पीड़ा और ताप अनुभव करने वाले चालक (संवाहक) नष्ट हो जाते हैं। ये चालक सुपुम्ना के प्रतिपक्षी से होते हुए विभाजित होते हैं।

अग्र श्रृंग तक फैलने वाली गुहिकाएँ आम तौर पर सुपुम्ना के निम्न ग्रैव और वक्ष भाग में बनती हैं। ऊपरी अंगों की पेशियों के शोष तथा जैकेट या अर्द्ध जैकेट में पीड़ा और ताप का संवेदन लुप्त होने से इस स्थिति का पता लगता है (चित्र

21)। स्पर्श संवेदन लुप्त नहीं होता है। रोगी व्यक्ति को ऊपरी अंगों, वक्षस्थल और पीठ में से किसी एक या दोनों पर ही चुभन, ठंडे और गर्म उद्दीपन का अनुभव नहीं होता है।

ताप और पीड़ा संवेदन में विकार इतना अधिक हो सकता है कि रोगी को गंभीर दग्ध होने पर भी पीड़ा का तनिक अनुभव नहीं होता। क्षतिग्रस्त ऊतक पोषण
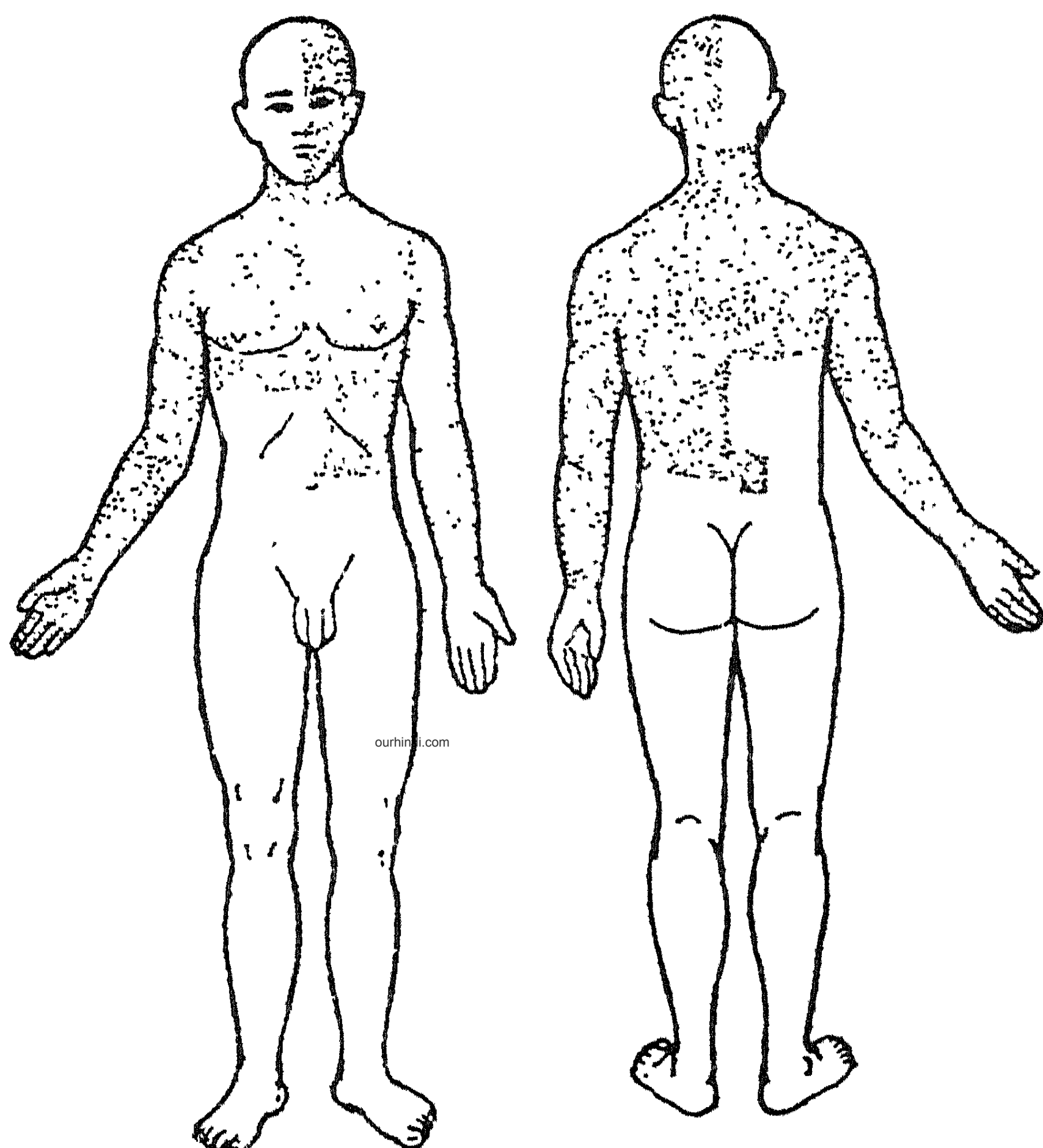
चित्र 21. चेहरे पर पीड़ा और ताप संबंधी संवेद के विकार

के कारण विक्षति बहुत ही धीरे-धीरे तिरोहित होती है। रोगी की सेवा करते समय (वैद्युत उपकरण, हीटर आदि का उपयोग, या स्नान कराते समय) इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

ऊपरी अंगों के दूरस्थ भागों की हड्डियों में परिवर्तन तथा जोड़ों में पोषणज परिवर्तन रोग के लक्षणों को सामने लाते हैं। रज्जू के धूसर द्रव्य में स्थित वर्धी कोशिकाओं का उलझाव भी इससे संबंधित होता है। कभी-कभी सुषुम्ना की गुहिकाएँ कपाल तंत्रिका के केंद्रकों तक फैल जाती हैं, जिससे कंदी विकार हो जाते हैं।

इसका उपचार लाक्षणिक होता है; सुषुम्ना के प्रभावित भाग का एक्सरे किरणन द्वारा उपचार करने से लाभ होता है।

तंत्रिका पेशी तंत्र के अनुवंशिक व्यपजनित रोग

अधिकतर अनुवंशिक रोगों में पेशियों के प्रगामी उच्छिष्ट लक्षण पाए जाते हैं। अधिकतर होने वाले रोगों में 'प्रगामी पेशी शोष' प्रचलित है। यह रोग बाल्यावस्था में होता है और इसमें पेशियों का लगातार उच्छिष्ट बढ़ता रहता है। प्रभावित पेशियों में श्रोणि और स्कंध मेखला विशेष हैं। इसके फलस्वरूप चाल डगमगाती हुई होती है और स्कंधास्थि पीठ की ओर पंखों जैसी स्थिति में हो जाती हैं। कटि अग्र कुब्जता हो जाती है और कुछ रोगियों में उपरिस्थ पिंडिका पेशी की कूट अतिवृद्धि हो जाती है अर्थात वसीय ऊतकों की वृद्धि से पेशियाँ बढ़ जाती है। अधिक पुराने रोगी कुर्सी या फर्श से अपने आप तब तक उठ नहीं सकते जब तक कि कोई सहारा न दिया जाए। या फिर बहुत प्रयास करने के बाद ही रोगी उठ पाता है। उदाहरण के लिए, उत्तान स्थिति से उठने के लिए रोगी पहले अपने पेट को घुमाता है और फिर अपने हाथों पर बोझ डाल कर अपने आपको उठाता है और फिर घुटने के जोड़ों पर से अपने पैर सीधे करता है और धीरे-धीरे अपने धड़ को अपने हाथों और पैरों की सहायता से सीधा करता है।

सामान्य शक्ति प्रदायक औषधियों के प्रयोग और हल्के शारीरिक व्यायाम द्वारा इस रोग का उपचार किया जाता है।

प्रमस्तिष्क रक्तपरिसंचरण के अतिपाती विकार (आघात)

मस्तिष्क ऊतकों के किसी क्षेत्र में अपूर्ण रक्त संचरण होने के कारण मस्तिष्क का अतिपाती परिसंचरण विक्षोभ या प्रमस्तिष्क आघात अथवा रक्ताघात होता है। यह आघात अधिकतर अतिरिक्त-दाब रोग या प्रमस्तिष्क ऐथिरो काठिन्य रोग से पीड़ित वयोवृद्ध रोगियों को होता है। यह रोग बहुधा पेशी या अत्यधिक मानसिक थकान के बाद होता है।

आघात से पूर्व, कुछ रोगियों को सिर में भारीपन महसूस होता है, चक्कर आते हैं और उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। रक्तस्रावी आघात और अरक्तता जन्य आघात में अंतर पहचाना जाता है।

मस्तिष्क में रक्तस्राव होने से रोगी का संज्ञालोप हो जाता है। बहुत से रोगियों का चेहरा श्याव हो जाता है। श्वास खर्राटेदार हो जाती है तथा नाड़ी—मंद और उत्तेजित। शरीर का तापमान या तो बढ़ जाता है या सामान्य रहता है। नेत्र तारे पर प्रकाश का असर नहीं होता और अंग की पेशियों की तान घट जाती है। आघात वाले अंग के प्रतिपक्षी दिशा में रोगी का सिर और आँखें बहुधा घूम जाती हैं और प्रत्येक निःश्वसन के साथ गाल फूल जाते हैं।

हालत संतोषजनक होने पर कुछ घंटों या दिनों में स्वापक स्थिति हो जाती

है और रोगी पर बाह्य उद्दीपकों का पता लगता है। विकार स्थानिक लक्षणों से रक्तस्राव की जगह का पता लगता है। यह अधिकतर आंतरिक सम्पुट में होता है, जहाँ कि पिरामिडीय पथ के तंतु होते हैं। मुख्य मोटर संवहन इस पथ से होता है। पक्षावात और उसी ओर की आनन पेशी का आंशिकघात इस प्रकार के रक्तस्राव के लक्षण हैं। घात अंगों की पेशी तान बढ़ जाती है। कंडरा प्रतिवर्त अतिशयित हो जाते हैं तथा विकृति जन्य प्रतिवर्त होते हैं।

दाहिने गोलार्ध में रक्तस्राव होने पर पक्षाघात बाईं ओर होता है क्योंकि प्रमस्तिष्क गोलार्ध को सुषुम्ना के अग्र शृंग से जोड़ने वाले पिरामिडीय पथ सुषुम्ना शीर्ष के निम्न भागों तक क्रासित होते हैं। दाहिने ओर का पक्षाघात होने पर दाहिने हाथ से काम करने वाले व्यक्ति की वाक शक्ति कमजोर हो जाती है और इसमें वाक सक्रियता का संबंध प्रांतस्था तंत्र से है। इसमें संवेदी या प्रेरक वाचाघात मालूम होता है। प्रेरक वाचाघात होने पर रोगी वह सब कुछ समझता है जो कि उसे कहा जाए, पर साथ में संवेदी वाचाघात होने पर रोगी न तो स्वयं बोल पाता है और न ही दूसरे की बात समझता है। संवेदी पक्षाघात होने पर रोगी बोल तो सकता है, पर वाणी के अर्थ को समझ नहीं पाता। आत्मनियंत्रण न होने के कारण उसका उच्चारण बहुधा ठीक नहीं होता; यह समझना असंभव होता है कि वह क्या कह रहा है।
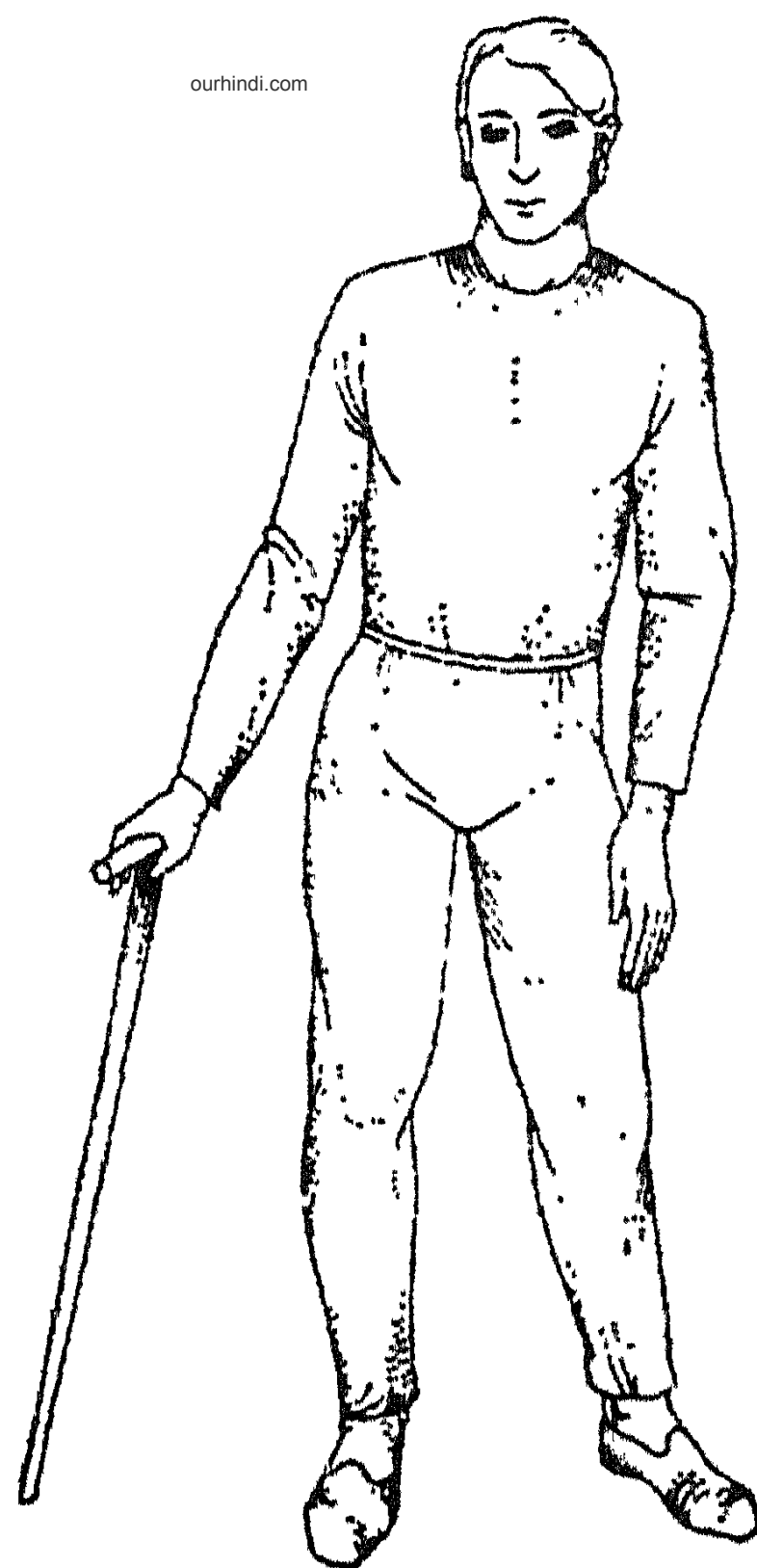
चित्र 22. बाएँ भाग का अंगघात। पक्षाघाती चाल। संकोचन के कारण पक्षाघाती अंग की विशेष स्थिति

घाती पेशियों में तान का बढ़ाव अनियमित होता है। ऊपरी अंगों में आकुंचनी की तान बहुधा बढ़ जाती है। कोहनी के पास का अंग आकुंचित हो जाता है तथा कलाई और उँगलियाँ मुट्ठी में बँध जाती हैं। निचले अंगों में पेशी तन जाती है और इसलिए स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा इनके पैर लंबे लगते हैं। चलते समय पैर का पंजा फर्श से न छुए और अपने पैर को उठाने की शक्ति न होने कारण वह अपने पैर को बढ़ाते हुए गोलार्ध में घुमाता है (चित्र 22)। इसे पक्षाघातिक चाल कहते हैं। पक्षाघाती स्कंध की तरफ ताप और पीड़ा संवेदन में गड़बड़ी हो जाती है। ऐसा त्वचा विश्लेपक तंतुओं के प्रभावित होने के कारण होता है जो कि आंतरिक सम्पुट से होकर गुजरता है।

24 घंटे रहने वाली अचेतनता, हृदय सक्रियता और श्वसन में विकार होना, शरीर ताप का एकाएक बढ़ जाना, आक्षेप होना और साथ में न्यूमोनिया होना यह दर्शाता है कि रोगी की हालत गंभीर है।

जब रोग की तेजी कम होती है तो चेतना लौट आती है और पक्षाघातिक अंग धीरे-धीरे गतिशील होने लगते हैं। दो सप्ताह में रोगी को बिस्तर में बैठने दिया जा सकता है और तीन-चार सप्ताह में वह बिस्तर से बाहर आ सकता है। ऊपरी अंगों में गति आ जाती है और निर्बल वाक्‌शक्ति धीरे-धीरे ठीक होने लगती है।

उपचार : मस्तिष्क-घात से ग्रस्त रोगी को सर्वप्रथम पूर्ण विश्राम देना चाहिए; पीठ के बल लिटाना चाहिए, सिर को यथासंभव बिना हिलाए-डुलाए उसके तंग कपड़ों को बदल देना चाहिए। गंभीर घात होने पर वस्त्रों को काट कर अलग करते हैं, ताकि रोगी के आराम में खलल न पड़े।

उपचार आघात की जीवविज्ञानी तंत्र के अध्ययन की उपलब्धियों पर आधारित है और वह दो प्रकार का होता है : भेदयुक्त (विशेष आघात, जैसे रक्तस्रावी, के लिए विशेष उपचार) और भेदहीन (रक्तस्रावी व अस्रावी दोनों ही प्रकार के आघातों के लिए समान उपचार)। किसी कारणवश चिकित्सक के अनुपस्थित रहने पर उपचारिका को मस्तिष्काघात के प्राथमिक उपचार का भार अपने ऊपर लेना पड़ता है, जो मूलतः भेदहीन होता है।

हृदय के क्षीण होने पर 0.06% कोरग्लीकोन घोल, या 0.5% स्ट्रोफैंटाइन घोल का 0.25-1 मि. लि. प्रति इंजेक्शन के हिसाब से अंतर्शिराधान कराते हैं। इन्हें ग्लुकोज के साथ ही देना चाहिए। ग्लुकोज के मधुमेह से ग्रस्त रोगी को सोडियम क्लोराइड का आइसोतोनिक घोल ग्लुकोज की जगह पर देते हैं। कभी-कभी पेशी में कार्डियामीन (2 मि. लि.) या चर्म के नीचे 20% कैंफर भी देते हैं। रोगी की खाट का सिर वाला भाग कुछ ऊँचा होना चाहिए। फेफड़े के सूजन को रोकने के लिए अंतर्पेशी सुई लेज़िक्स या नोवुराइट (एक बार में 1 मि. लि.), अवचर्म सुई डेमीड्रोल, सुप्रेस्टाइन, पिपोल्फेन (एक बार में 1 मि. लि.) निर्दिष्ट करते हैं। सुव्यक्त ट्राखीकार्डिया की अनुपस्थिति
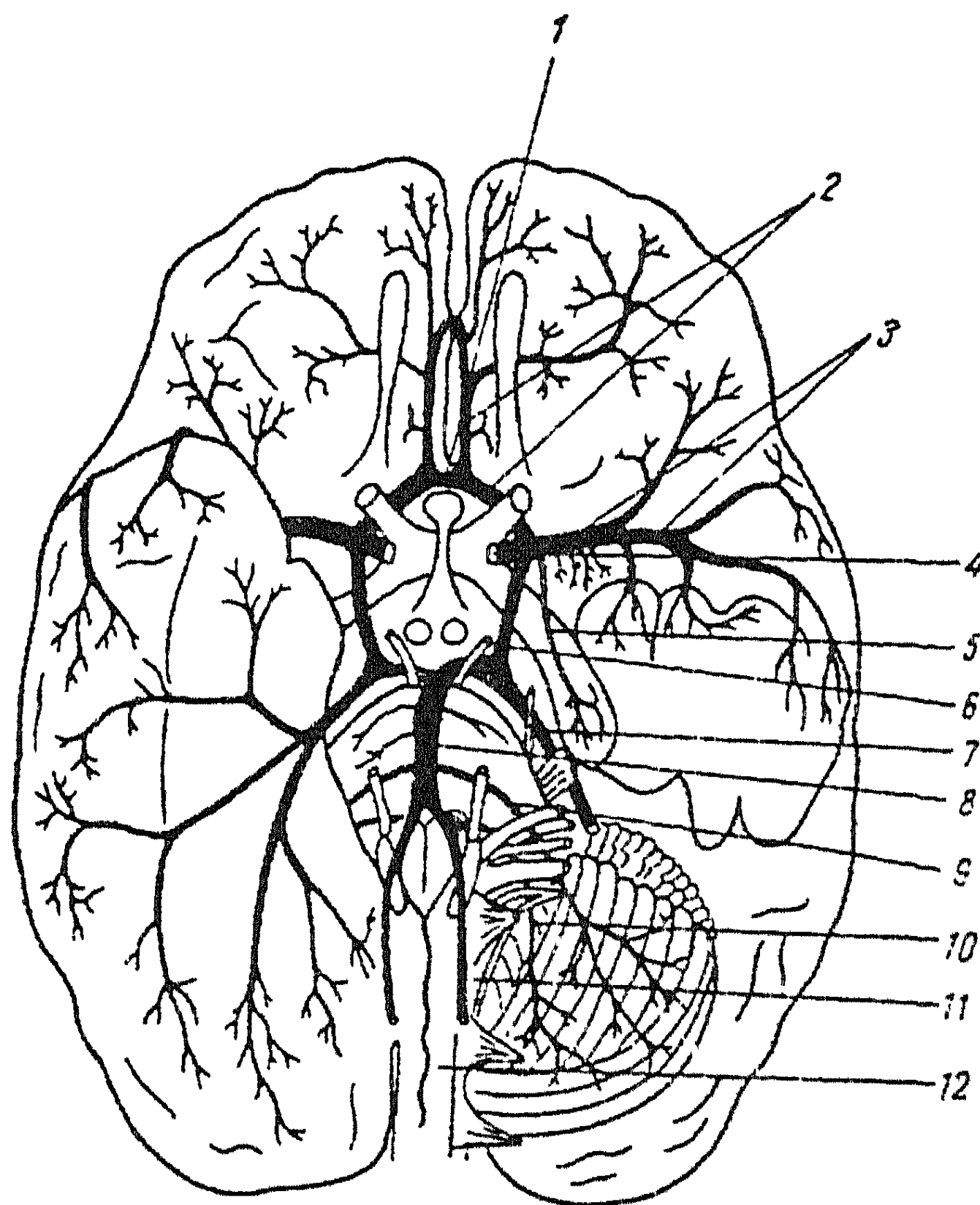
चित्र 23. मस्तिष्क की आधार धमनियाँ।

1. अग्रमस्तिष्क धमनी, 2. अग्र संयोजी धमनी, 3. मध्य मस्तिष्क धमनी, 4. अवप्रांतस्था धमनियाँ, 5. वाहिका में जालक की आपूर्ति करने वाली धमनियाँ, 6. पश्च संयोजी धमनी, 7. पश्च मस्तिष्क धमनी, 8. आधार (मस्तिष्क) धमनी, 9. अग्र-निम्न अनुमस्तिष्क धमनी, 10. पश्चनिम्न अनुमस्तिष्क धमनी, 11. कशेरुकी धमनी, 12. अग्र सुपुम्ना धमनी, (बाईं ओर अनुमस्तिष्क को निकाल दिया गया है)।

में एट्रोपीन देते हैं (0.1% घोल का 1 मि. लि.)। ऊपरी श्वसन पथ से द्रव-स्राव को दूर करना आवश्यक होता है; उसे अक्सर विशेष चोपक उपकरणों की सहायता से निकालते हैं। हृद्गति के एकाएक रुकने पर हृद पेशी में 1 : 100 एड्रेनेलीन-घोल का 1 मि. लि. देते हैं। इस स्थिति में चिकित्सक की देख-रेख में हृदय की अप्रत्यक्ष मालिश भी कर सकते हैं।

इशेमिक घात होने पर मस्तिष्क में मुलायम क्षेत्र बनने लगते हैं। एथेरोस्क्लेरोटिक प्रक्रिया इसी परिस्थिति में चलती है। इशेमिक घात अधिकतर बुजुर्ग-उम्र में होता है। घनास्रता (अवरोध) से अक्सर मध्य प्रमस्तिष्क-धमनी (आंतरिक ग्रैव-धमनी की एक शाखा, देखो चित्र 23 और 24) या स्वयं ग्रैव-धमनी प्रभावित होती है। शल्य-कर्म द्वारा धमनी से घनास्रता दूर की जा सकने की आशाएँ हैं।

धमनी-दाब तेजी से कम होने पर अंतर्पेशी रूप से मेजाटोन का 1% घोल (2 मि.लि.) या अंतर्शिरा रूप से कौफेइन या वाजोप्रेसर, हृद-संकोची साधन देते हैं। दाब

चित्र 24. मध्यमस्तिष्क धमनी का प्रशाखन (मस्तिष्क की सतह पर) (A), अग्रमस्तिष्क धमनी का भाग, (B) मध्य मस्तिष्क धमनी का भाग, (C) पश्च मस्तिष्क धमनी का भाग।

अधिक होने पर बेंडाजोल हाइड्रोक्लोराइड (4–10 मि. लि. 0.5 % या 2-5 मि.ली. 1% घोल देते हैं। एमीनाजीन या इसके साथ अन्य न्युरोट्रोपिक औषधियों का मिश्रण रोग-निदान होने पर देना चाहिए, सामान्य उपचार के रूप में नहीं; और इनका निर्देशकर्ता सिर्फ चिकित्सक हो सकता है। इन्हें रक्तस्रावी घात (हेमोरेजिक इंसल्ट) में प्रयुक्त करते हैं। ज्ञात है कि मस्तिष्क घात 90 प्रतिशत स्थितियों में श्वसन-विकार के साथ होता है। मस्तिष्क घात की गंभीर स्थिति में श्वसन-पथ में हवा के लिए रोध उत्पन्न हो जाता है।

इस विकार का कारण चेतना का लोप होना है, जिसके साथ-साथ जीभ का गिरना, प्रतिवर्तो का लोप होना (जो गले, मुँह व नाक में श्लेष्मा झिल्लियों के साथ उत्पन्न होते हैं) आदि घटनाएँ प्रेक्षित होती हैं। इसके कारण घोंटने की क्रिया रुक जाती है, खाँसी के प्रतिवर्त गायब हो जाते हैं। श्वसन पथ के ऊपरी भाग में उल्टी होने से श्लेप्मा और लाला जमा हो जाती है, जिससे श्वसन-पथ का अवरोध हो जाता है; भोजन का अंश भी श्वसन-पथ में फँस जा सकता है।

श्वसन-पथ के अवरोध की रोक-थाम के लिए निम्न कदम उठाए जाने चाहिए :

a) मुँह और गले से समय-समय पर श्लेष्मा का निष्कासन होना चाहिए। इसके लिए विशेष प्रकार के सिरे वाली नली (रबड़ या असक्रिय प्लास्टिक से बनी नली) की सहायता लेते हैं। नली को कान के निचले बिंदु से नाक की बगल वाली दीवार तक की दूरी तक नीचे उतारा जाता है। श्लेष्मा को विशेष विद्युत-पंप द्वारा खींचा जाता है। इस सारे उपकरणों को फुरासिलिन (नाइट्रोफ्युरल) या डायोसीड जैसे विसंक्रामकों के घोल में रखना चाहिए।

b) मुँह में वायु-संचारक प्रविष्टि कराना चाहिए, जो जीभ को गले में गिरने से रोकता है, साँस लेना आसान कर देता है और श्लेष्मा के पंपन को सरलतापूर्वक संपन्न होने देता है (यह प्रक्रिया चिकित्सक की देख-रेख में उपचारिका ही करती है)।

c) उदर में नाक से होकर पतली नली उतारते हैं, जिससे उदर में स्थित पदार्थ का निपंपन किया जा सके। इससे दस्त की रोक-थाम होती है, अन्यथा उल्टी होते

वक्त उदरीय पदार्थ श्वसन-पथ में फँस जा सकता है। ऐसी नली के सहारे पोषक पदार्थ भी भेजा जा सकता है (आवश्यकता पड़ने पर)।

d) दँतिया लगने (संकोचन के कारण जबड़ों के बंद होने) पर शंक्वाकार उपकरण द्वारा मुँह को खोले रखते हैं।

e) रोगी की स्थिति (करवट) हर दो घंटे में बदलनी चाहिए।

बेहोश रोगी में जलीय विद्युवैश्लेषिक संतुलन और अम्ल-क्षार अवस्था कायम रखने के लिए चिकित्सक की देख-रेख चाहिए। विद्युविश्लेपक वाले घोल (सोडियम क्लोराइड का आइसोटोनिक घोल, रिंगर-लौक का घोल) या प्लाज्मा के बदले में उसका काम करने वाले घोल (पोलीग्लुकीन, रेओ-पोलीग्लुकीन आदि) आंत्रेतर विधियों से प्रविष्ट कराए जाते हैं। इन घोलों की प्रविष्टि अम्ल-क्षार अवस्था या प्लाज्मा के विद्युविश्लेषक-अवयशों के निर्देशांकों के सतत प्रेक्षण के आधार पर होनी चाहिए।

साथ ही मस्तिष्क का सूजन दूर करना चाहिए। अंतर्शिरा रूप से एउफिलिन (एमिनोफालिनुम; 10 मि. लि., 24 प्रतिशत घोल), फुरोसेमिड (पेशी या शिरा में) तथा न्युरोट्रौपिक औपधियों के विभिन्न मिश्रण दिए जाते हैं। पानी या फल-रस के साथ 1 ग्राम प्रति किलोग्राम के हिसाब से ग्लिसिरिन भी मुख या नली द्वारा पहुँचाया जा सकता है।

अतिताप रोकने के लिए एमिडोपीरीन के 4 प्रतिशत घोल का 10 मि. लि. या एनाल्गीन के 50 प्रतिशत घोल का 3 मि. लि. पेशी में दिया जाता है। आघात के प्रथम क्षणों से ही ध्यान रखा जाता है कि कहीं दूसरी जटिलताएँ न उत्पन्न हो जाएँ। न्युमोनिया को रोकने के लिए वैसलिन मले छाती पर काँच के कप्पे (उसमें लौ दिखा कर भीतर की हवा गर्म करके) लगाते हैं। न्युमोनिया होने की आशंका पर प्रतिजीवी उपचार करते हैं। मूत्र नहीं होने पर दिन में दो बार नली द्वारा मूत्राशय खाली कराते हैं। कब्ज होने पर हाइपरटोनिक एनिमा देते हैं : मैग्नेशियम सल्फेट के 20% घोल का 200 मि. लि. और इतने ही पानी का मिश्रण। शय्याव्रण न हो, इसके लिए चादर वगैरह नित्य बदलना चाहिए, कैंफर स्प्रिट से मालिश करनी चाहिए, चमड़ी सिकुड़ने वाले स्थानों पर फिटकिरी पाउडर छिड़कना चाहिए। निश्चल रोगी को रबड़ के चक्के पर रखते हैं। तालू और कमर पर रुई की पट्टी रखते हैं। पेशियों का संकोच्य (कंट्रैक्चर) रोकने के लिए लकवाग्रस्त हाथ को तकिए पर इस प्रकार रखते हैं कि कंधे का जोड़ और हाथ क्षैतिज रूप से समान ऊँचाई पर रहें, हाथ को बगल की ओर दूर और सीधा रखते हैं, कलाई इस प्रकार मुड़ी हो कि हथेली ऊपर की ओर रहे और उँगलियाँ सीधी रहें। लकवाग्रस्त पैर के घुटनों के चोड़ के नीचे रूई का बेलन सा बना देते हैं, टखने (ऐंकल) को 90^0 पर मोड़ कर रखते हैं (लकड़ी के डब्बे या रबड़ की डोरी के सहारे)। स्वस्थ पक्ष नीचे रख कर करवट की स्थिति में लकवाग्रस्त हाथ या तो धड़ के अनुतीर रखना चाहिए, या समकोण

बनाते हुए, तकिए के सहारे। इस स्थिति में पैर कमर व घुटनों पर मोड़ कर रखना चाहिए; उसके नीचे तकिया होना चाहिए। रोगी की स्थिति (चित करवट के बल) हर तीन-चार घंटे पर बदलनी चाहिए।

प्रमस्तिष्क कपाल और सुषुम्ना की क्षति

त्वचा की क्षति तथा कपाल अस्थि के व्यतिक्रम या प्रभाव के साथ होने वाले प्रमस्तिष्क के खुले अभिघात, तथा संकीर्ण प्रमस्तिष्क कपाल अभिघातों (जिनका विभाजन रोग की गंभीरता के आधार पर संघट्टन, नील मस्तिष्क का संपीडन और अंतर प्रमस्तिष्क रक्तस्राव में किया जाता है) के बीच भेद किया जाता है।

अंतर प्रमस्तिष्क रक्तस्राव के रोगी को, जबकि उसे अधोदृढ़तानिका रक्त गुल्म हो, आपादकालीन तंत्रिका शल्य सहायता मिलनी चाहिए।

मस्तिष्क में नील पड़ने की स्थिति में जो लक्षण सामने आते हैं, वे उस स्थान पर मस्तिष्क ऊतकों के विनष्ट होने से निर्धारित होते हैं, जिस स्थान पर आघात किया जाता है या जो स्थान दूरस्थ या प्रत्याघात क्षेत्र में होता है।

मस्तिष्क में संघट्टन होने पर रोगी को चोट लगते ही वह अचेत हो जाता है और यह अवस्था दो या तीन मिनट से लेकर कुछ घंटों तक रह सकती है। रोगी को सिर दर्द, चक्कर आना, मतली और उल्टी की शिकायत हो जाती है। संघट्टन के लक्षण के अतिरिक्त रोगी को बार-बार उल्टी, धीमी नाड़ी (48 प्रति मिनट), केर्निग लक्षण और मन्या दृढ़ता हो जाती है।

चेतना आने पर रोगी बहुधा चोट से पहले घटी हुई घटनाओं को याद नहीं कर पाता। उसे इस बात का पता नहीं होता कि वह चिकित्सालय क्यों और कैसे आया और कभी-कभी तो उसे अपना नाम, कुलनाम, अपना पता, अपने कार्य करने का स्थान आदि भी याद नहीं आता। इसे **रेट्रोगेटिन ऐम्नोजिया** कहते हैं। हल्की या मध्यम गंभीरता वाला मस्तिष्क संघट्टन अक्सर पूर्णतया ठीक हो जाता है।

मस्तिष्क में नील करने के बाद काफी समय तक सिर दर्द या चक्कर आने के लक्षण रह जा सकते हैं। घ्राणिकी तो बहुत समय के लिए लुप्त हो सकती है यदि यह गंभीर मस्तिष्क अभिघात के समय कमजोर हो गई हो।

कुछ रोगियों में मस्तिष्क अभिघात से गंभीर मनोविक्षिप्ति हो सकती है। पूर्ण अचेतनावस्था के दौरे (कुछ घंटे से लेकर दो या या तीन दिन तक) के बाद रोगी, विशेषकर वह रोगी जो अत्यधिक मदिरा पान करता हो, दृष्टि और श्रवण विभ्रम से ग्रस्त होकर प्रलापी बन जाता है। वह असंगत उन्मादपूर्ण भ्रमों से, जो आम तौर पर डरावने किस्म के होते हैं, ग्रस्त हो जाता है; उसकी आवाज कठोर बन जाती है और प्रेरक उत्तेजना होती है। गंभीर प्रमस्तिष्क कपाल क्षति होने पर मस्तिष्क के

अत्यंत महत्त्वपूर्ण भागों के नष्ट हो जाने से रोगी चेतनावस्था में लौटे बिना ही मर जाता है।

अभिघात के क्षीण होने के बाद की अवधियों में शेष प्रक्रिया दुर्बलता के रूप में घटित हो सकती है। यह पेशी संबंधी या मानसिक दबाव में, सहज ही बढ़ी हुई मानसिक थकावट द्वारा, क्लांति, समान्य कमजोरी, भावनात्मक अस्थिरता, अकारण रुलाई आने, अत्यधिक रोष के दौरे पड़ने की हद तक क्रोधावेश को मनोदशा द्वारा प्रकट होती है। ऐसे रोगियों में संवहनीय अस्थिरता रहती है, अत्यधिक पसीना आता है तथा कंडरा प्रतिवर्त होता है।

प्रमस्तिष्क कपाल क्षति होने पर स्वभाव भी बदल जाता है जिसका पता रोगी के अहंकेंद्रित, अनियंत्रित भावों, असामान्य संकेत ग्राह्यता से ग्रस्त होने और कमजोर इच्छा शक्ति से चलता है।

उपचार : तीव्र काल में पूर्ण शय्या विश्राम तथा सिर पर शीत अनुप्रयोग की सिफारिश की जाती है। उत्तेजना और अनिद्रा होने पर मुख द्वारा डाइजेपाम (0.005 ग्राम की खुराक) या अंतरपेशीय इंजेक्शन (0.5% डाइजेपाम घोल का 1.00 से 2.00 मि.ली.) दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ब्रोमीन योग और फेनाबारबिटल 0.05 से 0.1 ग्राम तक दिया जाता है। दुर्बल क्रिया को कार्डीआमीन, कैंफर, कैफीन का इंजेक्शन देकर संरचित किया जाता है। अंतर कपाल दाब बढ़ने पर कटिवेधन करके प्रमस्तिष्क मेरु तरल का चूषण किया जाता है और डिहाइड्रेटी प्रसाधन (मैनितोल, ग्लीसिरीन आदि) निर्दिष्ट किए जाते हैं।

पश्च अभिघातज जटिलताओं को रोकने के लिए, खास कर दीर्घ स्थायी सिर दर्द से बचने के लिए, दीर्घकालिक शय्या विश्राम (तीन से चार सप्ताह) धीरे-धीरे जीवन को दैनिक चर्या पर लाने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ऐसे रोगियों का उपचार करने के लिए उन्हें किसी काम में लगाना भी बहुत महत्त्वपूर्ण है, दूसरा अहम कदम है उन्हें मनश्चिकित्सा प्रदान करना। इससे रोगी को यह आश्वासन मिलता है कि वह पूरी तरह स्वस्थ हो जाएगा और दुर्घटना होने से पूर्व जैसा जीवन यापन कर सकेगा।

बचपन में होने वाला प्रमस्तिष्क कपाल अभिघातज, अपेक्षाकृत कुछ सरल विधि से ठीक किया जा सकता है, क्योंकि बचपन में अवजाल तानिका अवकाश अधिक होता है। इनमें (अवजाल-तानिकाओं में) भरा हुआ प्रमस्तिष्क मेरु तरल, मस्तिष्क को क्षति से बचाने वाले उभयरोधी का काम करता है। भले ही शिशु की हालत बहुत ही संतोषजनक प्रतीत होती हो, फिर भी उसे चिकित्सक की निगरानी में 10 से 14 दिन का शय्या विश्राम देना चाहिए।

सुषुम्ना की क्षति के साथ-साथ अधिकतर मेरुदंड की भी क्षति होती है और शरीर में या कशेरुका चापों में अस्थि भंग होता है। ऊपरी या निचले अंगों या केवल

निचले अंगों (शाखाओं) का अंगघात इस बात पर निर्भर करता है कि क्षति किस स्थान पर हुई है। इनके संबंध, साथ ही तंत्रिकीय नैदानिक चित्र, लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि मज्जा शोथ में। तंत्रिकीय शल्य चिकित्सा सेवा आवश्यकता पड़ने पर दी जाती है।

वर्धी तंत्रिका तंत्र की विक्षति

मस्तिष्क और सुपुम्ना के कुछ रोगों में वर्धी क्रियाओं में विकार (असामान्य पसीना आना, पारकिन्सनता में अत्यधिक लाला स्रवण होना, सिरिंगोमाइलिया में संधि विकृति होना, टेबीज डासेलिस और सुपुम्ना में विक्षति होना, आदि) हो जाता है। इसके अतिरिक्त, वर्धी तंत्रिका तंत्र की विकृत अवस्था एक स्वतंत्र रोग हो सकता है। पित्ती जैसी एलर्जी प्रतिक्रिया, क्युन्के के नाम से जाना जाने वाला, या वाहिका-विक्षिप्ति, शोफ, स्थानीय शोफ, आदि इसके उदाहरण है। इस रोग में एकाएक सूजन आ जाती है और उसका पता पीलापन आ जाने और गर्तमयता के अभाव (उँगली से दबाने पर कोई दाब नहीं पड़ता) से चलता है। कभी-कभी शोफ पेट की श्लेष्मल कला, स्वरयंत्र और ग्रसनी में भी हो जाता है। रेनाड रोग उँगलियों तक जाने वाली धमनियों का आकर्ष रोग है। यदि शिराओं में भी आंशिकघात है, जो त्वचा पांडुता के बाद श्यावता होती है। इन हालात के साथ-साथ अपसंवेदन (खुजली होना, पिपीलिका-सरणानुभूति, और जलन का अनुभव) होता है। इसका उपचार बहुधा लाक्षणिक होता है। इसमें औषधि के रूप में पैखीकारपिन (0.1 या 0.15 ग्राम प्रतिदिन के हिसाब से एक महीने या अधिक समय तक) पापावेरिन (0.02 ग्राम की खुराक), त्वग्रक्तिमा मात्रा में पराबैंगनी किरणन तथा गर्म हमाम आदि दिया जाता है।

वर्धी तंत्रिका विक्षति का एक विशेष रूप माइग्रेन है। इसमें चेहरे पर सूजन आने, श्लेष्मल कला, मितली और कभी-कभी उलटी होने के साथ सिर के एक ओर दर्द होता है।

किन्हीं मामलों में रोगी के सिर पर शीतन प्रयोग से आराम आता है और इसके विपरीत कुछ रोगियों को यह आराम गर्मी देने से मिलता है। इसी प्रकार कुछ रोगियों की पीड़ा एड्रोनेलिन से ठीक होती है तो दूसरों की एट्रोपीन से।

जब तब होने वाली विक्षति अधःचेतक भाग में होती है। यह भाग तृतीय निलय की भित्ति और फर्श है जिसमें जल, वसन और खनिज चयापचय, तापमान, धमनी चाप स्तर और सोने के बाद जगने, आदि की क्रियाओं को नियंत्रित करने वाले वर्धी केंद्रक होते हैं। मस्तिष्क स्तंभ में जाल रचना का संबंध क्रियात्मक रूप से अधश्चेतक से होता है। इन क्रियाओं का प्रवेगी या चिरकारी विकार अधश्चेतना का नैदानिक चित्र प्रस्तुत करता है। इन रोगियों का उपचार रोग के हेतु विवेचन द्वारा किया जाता है। ऐसी संकटपूर्ण स्थिति का पता अनुकंपी या परानुकंपी तंत्र के अतिकार्य से लगता

है। इस स्थिति में बहुत डर लगता है। इस संकटपूर्ण स्थिति में उपचारिका को
के साथ होना चाहिए, जो कि इस स्थिति को विभिन्न उपायों से संभाल स
अधश्चेतना की संकटपूर्ण स्थिति शिशुओं में भी आ सकती है, और इसका पता ब
असामान्य प्यास, पेटूपन और मोटापे से लगता है।

मूर्च्छा अशक्तता का आकस्मिक रूप है जिसमें विकर्णक्ष्वेण (कानों में
होना), मतली होती है, चक्कर आता है और चेतनता का तेजी से लोप हो ज
है। त्वचा में उग्र पांडुरता हो जाती है, अंग ठंडे पड़ जाते हैं और नाड़ी मंद,कम
और उत्तेजित हो जाती है। ऐसी मुर्च्छा प्रायः कुछ मिनटों तक रहती है। वाहिका
की अपर्याप्तता ही बहुधा इसका कारण होती है।

मूर्च्छा की प्राथमिक सहायता निम्न प्रकार की जाती है : कौलर और पेटी ढ
कर दी जाती है। टाँगें ऊपर उठा दी जाती हैं और रोगियों को एमोनिया की स्पि
सुंघाई जाती है।

हाइपरटोनिक या हाइपोटोनिक संकट की रोक-थाम के लिए रक्त-चाप प
से नाप लेते हैं। रक्त की जाँच भी की जाती है, ताकि पता चल जाए कि रो
को मधुमेह तो नहीं है।

निद्रा-विकार

एलेक्ट्रोएनसेफेलोग्राफ (मस्तिष्क की जैव-विद्युत धारा का आलेख) बताता है कि नि
एक शरीरवृत्तिक प्रक्रिया है, जिसके दो चरण होते हैं : 1) धीमी नींद, 2) क्षिप्र नीं
निद्रा-विकार दोनों में से एक में विकार, या दोनों के पारस्परिक अनुपात का अतिक्रम
है। ये विकार सारे विश्व के वैज्ञानिकों द्वारा अध्ययन किए जा रहे हैं।

निद्रा विकार के आम लक्षण हैं : देर तक नींद न आना, बीच-बीच में नीं
का टूटते रहना, और पर्याप्त देर तक न सो पाना। ये विकार मनस्तापों (भावोन्मा
तंत्रिकावसाद, भ्रांतिज मनस्ताप आदि), या मस्तिष्क के ऐथेरोस्क्लेरोसिस, उस
हाइपोथैलेमिक क्षेत्र की विक्षति आदि के जटिल लक्षणों में से एक हो सकते हैं

उपचार मूल रोग को दूर करना ही है (जिनके नाम ऊपर गिनाए गए हैं)
इसके अतिरिक्त दवाएँ भी दी जाती हैं (एलेनियम, सेडुक्सीन आदि), जिससे भावात्म
उथल-पुथल शांत होते हैं और रोगात्मक दाब कम हो जाता है। साथ-साथ तथाकथि
'निद्रादायक गोलियाँ' भी देते हैं (बार्बामील, सोडियम बार्विटल, सोडियम एथामिन
आदि)।

III. सामान्य मनोविकार चिकित्सा

उच्च तंत्रिका कार्य और इसमें विकार के लक्षण

परस्पर अविभाज्य और प्रत्येक कोशिका व प्रत्येक तंत्रिका तंतु में सतत घटित होने वाली दो प्रक्रियाओं, उद्दीपन और संदमन, की परस्पर-क्रिया तंत्रिकीय कार्य का शरीरवृत्तिक आधार होती है। विश्लेपक में प्रमस्तिष्क छोर के उद्दीपन से उसके अनुरूप संवेदन प्रेरित होता है, अर्थात् पर्यावरण संबंधी वस्तुओं का प्रतिबिंबन होता है। आस-पड़ोस का ज्ञान अनुभूति से प्रारंभ होता है।

विश्लेपक के प्रमस्तिष्क छोर से शुरू होने वाला उद्दीपन प्रमस्तिष्क गोलार्ध के प्रांतस्था तक फैल जाता है। यह फैलाव विश्लेषक की कोशिकाओं को मिलाने वाले पथ पर किरणन के नियम से होता है। और इस प्रकार पूर्व अनुभव, पूर्वबोध और पहले देखी हुई चीजों के मानसिक बिंबों को फिर से जागृत करता है। संवेदन और पूर्व प्रतिबिंब के मिश्रण से बोध होता है अर्थात मस्तिष्क को जटिल वैश्लेषिक और संश्लिष्ट सक्रियता से पर्यावरण की वस्तु का अधिक समाकल प्रतिबिंबन होता है।

एक व्यक्ति जिसकी प्रमस्तिष्क प्रांतस्था जागृत अवस्था में है, उसे न केवल अपने इर्द-गिर्द का पता रहता है और वह उसका बोध भी करता है, बल्कि वह यह भी समझता है कि वह समाज का सदस्य है जो एक विशेष देश में निवास कर रहा है और जिसका एक निश्चित व्यवसाय है तथा जिसे ज्ञान भी है।

बोध के विकार

बोध संबंधी विकार, जो मस्तिष्क की विश्लेपण सक्रियता के कमजोर होने का परिणाम होते हैं, भ्रम और विभ्रम के माध्यम से प्रकट होते हैं।

भ्रम किसी वास्तविकता में मौजूद उद्दीपक का एक विरूपित और मिथ्या बोध है (चित्र 25)। दृष्टि, श्रवण और घ्राण भ्रम में विभेद किया जाता है। दृष्टि भ्रम
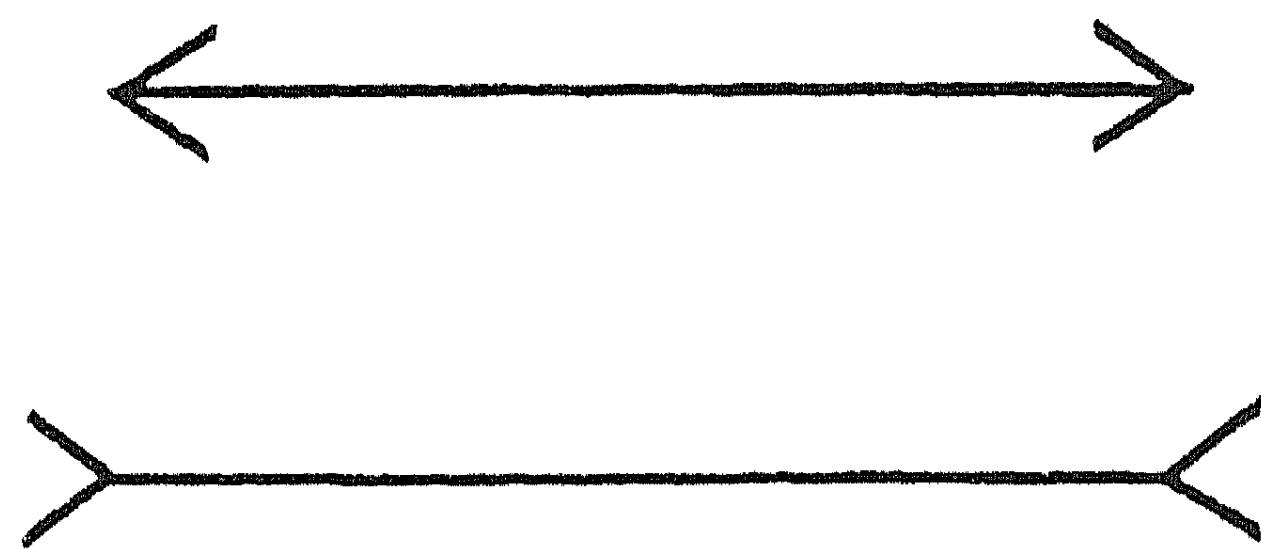
चित्र 25. शारीरिक (दृष्टि) भ्रम का चित्रण। नीचे वाली रेखा लंबी मालूम होती है।

होने पर ठोस दृष्टि-बिंब गलत रूप में समझा जाता है। उदाहरणार्थ, लटकते हुए कोट को दृष्टि भ्रम वाला रोगी व्यक्ति का छाया चित्र या दीवार पर एक धब्बा या छाया समझता है या भित्ति कागज पर बने प्रतिरूप को भयानक चेहरा अथवा दैत्य। श्रवण भ्रम होने पर, मसलन, किसी के बोले हुए शब्द को रोगी अपना नाम समझ लेता है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति को भी उस दशा में भ्रम हो सकता है, जब वह बहुत थका हुआ हो। उदाहरण के लिए, यदि व्यक्ति कब्रिस्तान के बीच से गुजर रहा हो या सुनसान अँधेरी गली में चल रहा हो तो उसे अपने कदमों की आवाज भी कुछ अजीब-सी लगती है। विषालुता और संक्रामक रोगों में, विशेष रूप से मद्यप प्रलाप में, टाइफस और आंत्र ज्वर में, यक्ष्मा में तथा हृदय क्षतिआपूर्ति, कार्सीनोमा की बढ़ी हुई अवस्था में, भ्रम रोग प्रकट होते हैं। साधारणतया, भ्रम गंभीर मनोविक्षिति का परिचायक होता है।

विभ्रम किसी निर्दिष्ट क्षण में साधारण या जटिल उद्दरपक के बिना ही हो जाने वाला संवेद बोध है। उदाहरणार्थ, रोगी को पूर्ण निस्तब्धता में भी आवाजें सुनाई देती हैं, साफ दीवार पर विविध प्रकार के बिंब दिखाई देते है। और बिना किसी उद्दीपक के अरुचिकर गंध का अनुभव होता है।

दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श और शरीर के विभ्रमों को अलग-अलग पहचाना जाता है। श्रवण विभ्रम होने पर रोगी को आवाजें सुनाई देती हैं और ऐसा लगता है कि कोई धमकी भरे या आदेश भरे शब्दों में उसे बुला रहा है (चित्र 26)। दृष्टि विभ्रम होने पर उसे लोगों की, जानवरों की भीड़ दिखाई देती है और विभिन्न बदलते हुए दृश्य उसके सामने आते हैं। घ्राण विभ्रम होने पर उसे अरुचिकर या कम रुचिकर गंध आती है।
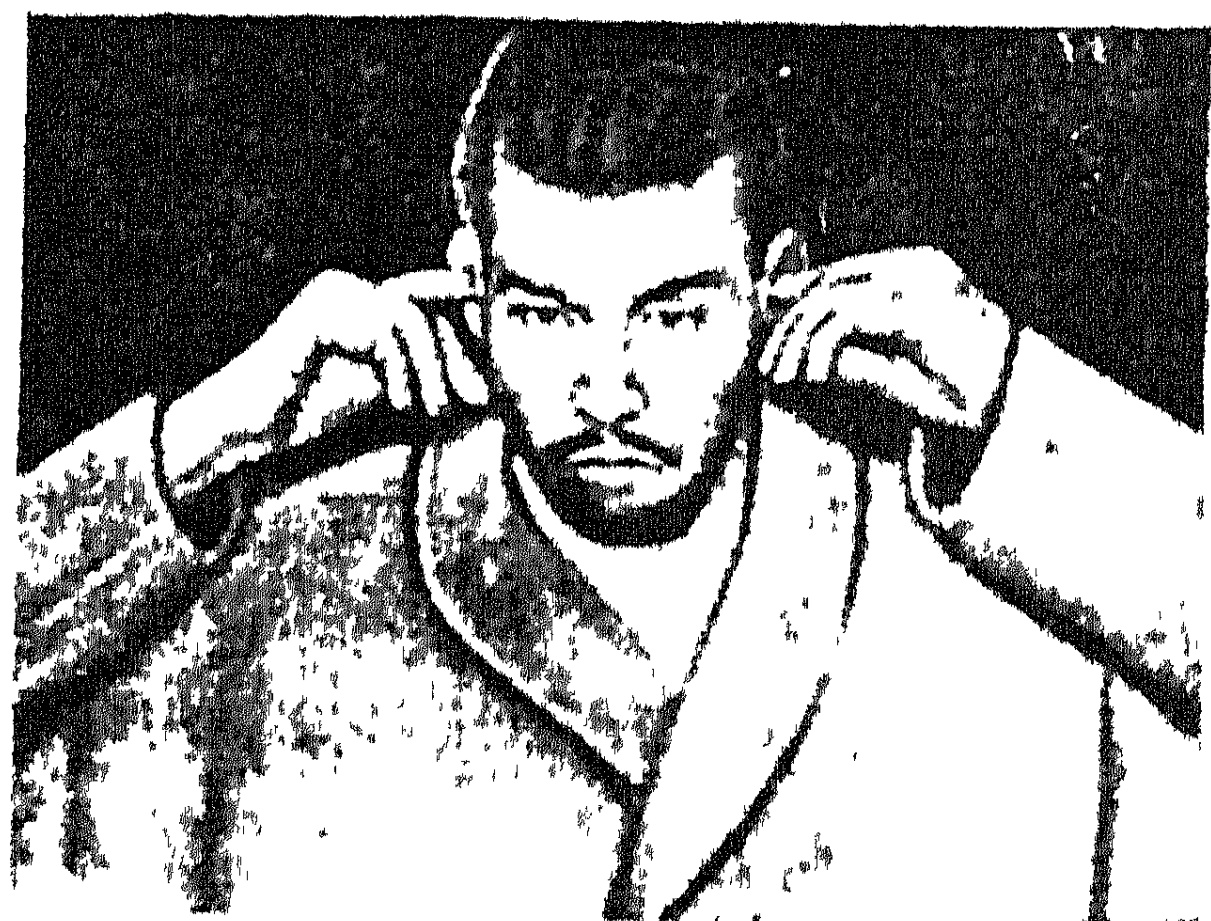
चित्र 26. श्रवण विभ्रम

विभ्रम प्रतिबिंब बहुधा असली और इंद्रियग्राह्य प्रकृति के होते हैं। उदाहरण के लिए, रोगी को आवाज ऐसे स्वर विन्यास में सुनाई देती है जिससे कि वह विश्वास

के साथ यह कह सकता है कि यह आवाज स्त्री की है या पुरुष की है, किसी परिचित की है या अपरिचित की।

दृष्टि विभ्रम खंडित और विलग अवस्था में हो सकता है और इसके विपरीत अपनी अंतर्वस्तु में बहुविध और जटिल भी हो सकता है। ऐसे विभ्रम मद्यप प्रलाप में, तीव्र संक्रमण, आंतरिक अंगों के तीव्र और दीर्घकालिक रोगों में होते हैं। यह विशेष रूप से मद्यप मादकता में होता है।

श्रवण विभ्रम साधारण ध्वनियों या पुकारों के सुनाई देने या किसी काल्पनिक साथी के साथ लंबे वार्तालाप के रूप में घटित हो सकते हैं, उदाहरण के लिए मद्यप श्रवण विभ्रम में ऐसा होता है। श्रवण और घ्राण विभ्रम विखंडित मनस्कता में हो सकते हैं। श्रवण और दृष्टि विभ्रम बहुधा एक ही समय में ऐसे रोगी द्वारा अनुभव किया जा सकता है जो तीव्र संक्रमण (टाइफस) या मद्यप मादकता से ग्रस्त हो।

इन विभ्रमों से अलग वे विभ्रम होते हैं, जिन्हें असली विभ्रम कहा जाता है, और जिनमें किसी वास्तव में मौजूद वस्तु के वास्तविक गुणधर्म दिखाई देते हैं। ये कूट विभ्रम हैं, जिनका वर्णन रूसी वैज्ञानिक वी. कंदिंस्की ने किया है। ऐसे रोगों में रोगियों को यह पक्का विश्वास हो जाता है कि आवाजें, बिंब, और गंधें उनके सिर में ही पैदा हो रही हैं। वे यह दावा करते हैं कि कूट विभ्रम उनके दिमाग में किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा 'बनाए' 'घुसाए' या 'डाल दिए' गए हैं। इसी तरह, एक महिला रोगी को यह विश्वास था कि जो आवाजें उसने सुनीं, वे डाक्टर द्वारा उसके भीतर भरी गई हैं, एक पुरुष रोगी का दावा था कि उसके बहुत अर्सा पहले मर चुके संबंधियों ने उनकी जुबान के माध्यम से बातचीत की। कूट विभ्रम अधिकतर खंडित मनस्कता की स्थिति में होते हैं, लेकिन संक्रामक और मस्तिष्क के संवहन रोगों में भी हो सकते हैं।

विभ्रम रोगी बहुधा यह समझने में अक्षम होते हैं कि उनकी दशा असामान्य है, चूँकि न केवल उनकी बोध शक्ति, बल्कि उनकी सोचने की शक्ति भी कमजोर हो जाती है, और परिणामतः अपने व्यक्तिगत अनुभव की उनकी समालोचन शक्ति भी कमजोर हो जाती है। ऐसे रोगियों की देखभाल करते समय उनके व्यवहार का सावधानीपूर्वक वर्णन करना महत्त्वपूर्ण होता है।

बोध ज्ञान विकारों में मनःसंवेदी विक्षोभ भी शामिल हैं। जैसे रूपांतराभास, जिसमें वस्तु अपने आकार और आकृति में विरुपित दिखता है—छोटी (सूक्ष्म दृष्टिता), बड़ी (दीर्घ-दृष्टिता) या विरूपित, और शरीर की रूपरेखा के विषय में क्षतिग्रस्त अनुभूति होती है जिसमें हाथ, पैर, शिर और धड़ असामान्य रूप से छोटा या बड़ा लगता है। ऐसे विक्षोभ मस्तिष्क के संक्रामक और अभिघातज विज्ञति की स्थिति में होते हैं।

स्मृति विकार

किसी विचार को दिमाग में बैठाने, प्रतिधारण करने और स्मरण रखन की क्षमता स्मृति के विभिन्न पहलू हैं। यह एक मानसिक क्रिया है जिसके द्वारा आसपास की सूचना दिमाग में रखी जाती है और पूर्व अनुभव को उपयोग में लाया जाता है। अब तक दो प्रकार की स्मृतियों को पहचाना गया है : चलिष्णु स्मृति, अर्थात थोड़े समय तक रहने वाली स्मृति और दीर्घकालिक स्मृति जो कि दीर्घ काल तक और जीवनपर्यंत भी ठहर सकती हैं। यह दीर्घकालिक स्मृति ही ज्ञान का स्रोत तथा अनुभव और प्रकृति का स्रोत है।

निम्न दो प्रकार के स्मृति विकार ही व्यवहार में अधिकतर पाए जाते हैं अधिक प्रचलित हैं (1) स्मरण करने की क्षमता का कमजोर होना (2) स्मरण नहीं आना। स्मरण करने की क्षमता के कमजोर होने का अर्थ है कि नई (प्रचलित) घटनाओं, अनुभावों और तथ्यों में दक्षता प्राप्त करने की शक्ति की हानि होना (इसे स्थिरीकरण स्मृति लोप कहते हैं)।

याददाश्त कमजोर होने पर समय-समय पर घटनाओं को याद करना संभव नहीं होता। रुग्ण अवस्था (सिर की चोट, कारबन मोनोआक्साइड द्वारा विष आदि) से पूर्व की घटनाओं की स्मृति का लोप हो जाने को **घटनापूर्व स्मृतिलोप** कहते हैं। और रुग्णावस्था के उपरांत घटने वाली घटनाओं के स्मृतिलोप को **घटनोत्तर स्मृतिलोप** कहते हैं।

याद रखने की क्षमता की आंशिक हानि के अतिरिक्त, स्मृति की कमजोरी हो जाती है। इसे प्रमस्तिष्क एथिरोकाठिन्य कहते हैं। इसमें रोगी अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं कोन तो याद कर पाता है और न ही अपने रोग के इतिहास का वर्णन ही सही ढंग से कर पाता है। वह तारीख, महीना और वर्ष याद नहीं रख सकता है। उसे यह भी याद नहीं आती है कि पिछले कुछ दिनों में वह क्या कर रहा था और उसने दिन में क्या खाया है। एक-दूसरे प्रकार का स्मृति विकार है, **अपस्मृति या स्मृति का विपर्यास** जिसमें **मिथ्या स्मृति** और **गल्पन** भी सम्मिलित है। मिथ्या स्मृति में रोगी पहले घटी हुई घटनाओं को समझता है कि यह घटना वर्तमान समय में या अभी ही घटित हुई है। गल्पन में स्मृति के अंतराल में काल्पनिक लक्षणों वाली मिथ्या स्मृति होती है। उदाहरण के लिए, यदि रोगी से पूछा जाए कि "तुम आज क्या कर रहे थे" तो वह उत्तर देता है "कि मैं दुकान पर काम कर रहा था"। तो यह रोग मिथ्या स्मृति का है, क्योंकि वह दुकान पर तो काम वास्तव में चिकित्सालय में भर्ती होने से पहले कर रहा था। गल्पन रोग में रोगी इसी प्रश्न के उत्तर में अपने ऐसे रिश्तेदारों से मिलने का वर्णन करता है जो बहुत पहले मर चुके होते हैं; वह किसी प्रसिद्ध लेखक से मिलने का वर्णन करता है, या अपने अविश्वसनीय अनुभव

को बताता है।

मिथ्या स्मृति की तरह के स्मृति विकार उच्च रक्तचाप वाले रोग में, या फिर मस्तिष्क क्षति के बाद होते हैं। मुख्यतः, युद्ध हताहतों के मामले में ऐसा होता है। मस्तिष्क की गंभीर कायिक विक्षति होने पर गल्पन रोग होता है। यह रोग मस्तिष्क के जराजन्य शोष, वर्धमान घात, गंभीर प्रमस्तिष्क एथिरोकाठिन्य होने पर भी होता है।

ध्यान संबंधी विकार

ध्यान संबंधी विकार की अभिव्यक्ति ध्यानांतरण द्वारा किसी विषय पर ध्यान केंद्रित कर पाने में असमर्थता द्वारा, होती है। मानसिक अभिघात के बाद, आंतरिक अंगों के तीव्र और चिरकारी रोग के फलस्वरूप हुई अवस में, सामान्य मानसिक उत्तेजना में या उन्माद की स्थिति में ध्यान संबंधी विकार हो जाते हैं। मस्तिष्क में इस या उस विचार के अतिरेकपूर्ण रूप से बैठ जाने पर अवसाद की स्थिति में तब ध्यान संबंधी विकार हो जाते हैं, जब रोगी इस विचार में खो जाता है कि वह गंभीर रूप से बीमार है और इस रोग का परिणाम बहुत बुरा होगा तथा यह कि अब तो उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है।

विचार तथा वाक शक्ति संबंधी विकार

पर्यावरण वस्तुओं और घटनाओं को समझने की क्षमता समाकल्पनी अथवा बौद्धिक क्रिया होती है। इसमें निर्णय करने, निगमन करने और विचार करने की शक्ति शामिल है, यह क्रिया बोध और जीवन के अनुभव का परिणाम है।

विचार को वाक शक्ति से अलग नहीं किया जा सकता है। वाक् शक्ति के बिना विचार विकसित नहीं हो सकते। सोचने के विकार इस या उस स्थिति तक बढ़ गए मानसिक रोगों के लक्षण होते हैं। इन विकारों की नैदानिक अभिव्यक्ति अत्यंत असमान है। विखंडित मनस्कता में ये अभिव्यक्तियाँ अत्याधिक तीव्र हो जाती है। रोग के प्रथम चरण में विकार में एकाएक 'व्यवधान' आ जाता है और रोगी एकाएक बोलना बंद कर देता है और फिर थोड़ी देर बाद ही बोलने लगता है। रोगी इस बात को स्वयं समझते है, कि उनके विचार सुस्पष्ट नहीं, वरण अस्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए, एक रोगी ने कहा कि उसके विचार 'छितरे हुए' और असंबंध हैं तथा उसके लिए इन विचारों को सुगठित रूप में व्यक्त करना बहुत कठिन है। दूसरे रोगी को इस बात का विश्वास था कि उसके मस्तिष्क में विचार तो भरे पड़े हैं, परंतु वे विकार उसके लिए अनावश्यक और विचित्र-से हैं। इसके बाद विचार टूटने लगते हैं और रोगी के मन में एक के बाद दूसरा विचार बदलता रहता है, जिसका कि उससे पहले वाले विचार से कोई संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि उससे पूछा जाए कि

आप कैसे हैं तो वह उत्तर देता है कि "मुझे भूख नहीं लगती है और कार-चालक वायुमंडल में जा रहा है।"

विखंडित मनस्कता वाले रोगी विवाद प्रिय विचार वाले होते हैं; यह कोरी दार्शनिकता के रूप में अभिव्यक्त होता है। उदाहरण के लिए, उनसे जब पूछा जाए "आज आपको नींद कैसी आई ?" तो विंखडित मनस्कता वाला रोगी कहता है "यदि हम निद्रावस्था को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखें और इसका जीव से संबंध इसके विकास के लिए..." इन रोगियों द्वारा दिए गए वक्तव्य बहुधा अंडबंड होते हैं और शब्दों का अर्थ गड्डमड्ड होता है। उदाहरणार्थ, वह कैसा महसूस कर रहा है, इस प्रश्न के उत्तर में वह बोलता है "पिआनो, बुलेटिन, स्पैगेटी (मोटी सेवई)"।

असामान्य विस्तृत विचार बुद्धिमंदता का लक्षण है, जब कि रोगी मुख्य और गौण विचार में भेद नहीं कर सकता है और नगण्य-सी बात पर अटक जाता है और इसी विचार को बार-बार दोहराता रहता है। यह एक विशिष्ट प्रकार की मिरगी है। उदाहरण के लिए जब उससे दौरे के लक्षणों का वर्णन करने को कहा जाता है तो रोगी अपने जन्म के स्थान और समय तथा अपने पूरे जीवन के अनावश्यक विवरण देने लगता है।

उसके विचार असामान्य रूप से तीव्र हो सकते हैं, और वह असाधारण रूप से बँधे-बँधाए संपर्कों को जोड़ता चलता है। रोगी का दिमाग अनेकानेक विचारों से भरा रहता है, जो एक के बाद एक आते रहते हैं। यह विक्षिप्तता की स्थिति का लक्षण होता है। तब भी रोगी के सोचने की प्रक्रिया असामान्य रूप से मंद हो सकती है : रोगी बहुत कम बोलता है, उसकी वाणी मंद पड़ जाती है और एक विचार से दूसरे विचार तक आने में उसे बहुत कठिनाई होती है। यह अवसाद की स्थिति में होता है।

विविध मानसिक रोगों का सर्वाधिक सामान्य लक्षण है, प्रलाप असामान्यता से उत्पन्न होने वाले वातावरण के बारे में भ्रांति, मिथ्या दुर्निरूपण और मिथ्या विश्वास। भ्रांति सदैव मानसिक रोग का संकेत होती है। अंध विश्वास और पूर्वाग्रह निर्णय संबंधी दोष हैं, लेकिन वे मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति में भी पाए जाते हैं और इनका कारण उसका अल्प ज्ञान व निम्न सांस्कृतिक स्तर होते हैं।

भ्रांति को समझा-बुझा कर दूर किया जा सकता है, क्योंकि रोगी को सोचने की मनःशक्ति अस्त-व्यस्त होती है।

भ्रांति के नैदानिक रूपों के प्रकार विविध हैं :

1. प्रसंग की भ्राँति : इसमें रोगी यह समझता है कि जो कुछ भी उसके चारों ओर घटित हो रहा है, उसका उसी से संबंध है, और यह संबंध नकारात्मक परू में है। उदाहरण के लिए, यदि कोई मुस्कराता है, हाथों को स्वाभाविक रूप से हिलाता है या खाँसता है तो रोगी समझता है कि यह उसके लिए अशुभ संकेत है कि इस

बात का इशारा है कि उस पर विपत्ति टूटने वाली है।

2. उत्पीड़न की भ्रांति : इसमें रोगी यह समझता है कि उसके कई शत्रु हैं जो उसे हर जगह सताते रहते हैं और जो उसे विष दे देना या मार डालना चाहते हैं, आदि।

3. भौतिक कारकों में प्रभावाधीन भ्रांति : इसमें रोगी यह समझता है कि वह विशेष किरणों, बिजली के करेंट या सम्मोहन के प्रभाव में है, और उसे शरीर के विभिन्न भागों में सभी तरह के अप्रिय संवेदन (जलन, चुभन) होते हैं।

4. रोगभ्रमी भ्रांति : इसमें रोगी को यह निश्चित हो जाता है कि उसे आंतरिक अंगों का कोई तीव्र रोग हो गया हैं रोगी शारीरिक अक्षमता की शिकायत निरंतर करता है और बहुधा चिकित्सक को यह विश्वास दिलाता है कि उसे यह और वह रोग है तथा चिकित्सक को शल्य चिकित्सा करने के लिए विवश करने पर उतर आता है।

उपरोक्त गिनाई गई भ्रांतियाँ बहुधा विखंडित मनस्कता में होती हैं।

5. आत्म-भर्त्सना भ्रांति : इस प्रकार की भ्रांति बहुधा ऐसे रोगियों को होती है, जो अवसादग्रस्त होते हैं (इसका पता विपण्णता और विषाद से चलता है)। वह अपने को किसी प्रकार के अपराध का दोषी मानते हैं और उन्हें पक्का यकीन होता है कि वे दंड के अधिकारी हैं। ऐसे रोगी अपने जीवन को उद्देश्यहीन समझते हैं और आत्महत्या करने का प्रयत्न करते हैं।

6. वैभव, धन और सुंदरता की भ्रांति : ऐसी रोगी यह सोचता है कि उसके पास अगणनीय धनराशि है या वह बहुत ही सुंदर है और सर्वाधिक शक्तिशाली व बलवान है। भ्रांति का यह रूप बहुधा सिफिलिसी मनोविक्षिप्ति (वृद्धिमान अंगघात) वाले रोगियों में होता है, जो विशेषकर उल्लास की स्थिति में (विक्षिप्तता की स्थिति में) पाया जाता है।

7. हानि की भ्रांति : ऐसी भ्रांति जराजन्य मनोभ्रंश (क्षीण बुद्धिता) में होती है। रोगी दावा करता है कि उसके कपड़े, पैसा और भोजन चुरा लिए गए हैं। एक महिला आधी रात गए जगी और अपने जूते खोजने लगी, अगर उसे जूते नहीं मिलते तो वह चिल्ला उठेगी, "बचाओ, हाय, मैं तो लुट गई"।

भ्रांति अव्यवस्थित (वियोजित भागों का बना हुआ) और व्यवस्थित हो सकती है, अर्थात उसका स्वरूप और आस्थाओं की एक पद्धति का हो सकता है। मसलन, एक पुरुष रोगी ने कृत्रिम भ्रूण निर्मित करने की प्रणाली 'विकसित' कर ली, ताकि महिला को प्रसव धारण और प्रसव पीड़ा से छुट्टी मिल जाए।

एक रोगी को एक ही साथ विभिन्न नैदानिक प्रकार की भ्रांतियाँ हो सकती हैं और बहुधा सहगामी विभ्रम भी साथ-साथ हो सकता है।

विभिन्न प्रकार की भ्रांतियों में से प्रत्येक को उसकी अनुरूप मनःस्थिति द्वारा

जाना जाता है—उल्लास की मनःस्थिति में वैभव की भ्रांति, भय और चिंता की मनःस्थिति में आत्म-भर्त्सना की भ्रांति, अवसाद और चिंता की मनःस्थिति में उत्पीड़न की भ्रांति।

भ्रांति को मनोग्रस्ति से अलगाया जाना चाहिए। मनोग्रसित उन विचारों, रुझानों और कार्यों के रूप में प्रकट होती है, जिनसे रोगी का दिमाग भरा रहता है, बिल्कुल वैसा ही, जैसा भ्रांति होने पर होता है। भ्रांतियों से ग्रस्त रोगी से अलग मनोग्रस्तियों वाले रोगी को, मनोग्रस्तियों की विचित्रता और बेतुकेपन का बोध रहता है और वह अपनी बीमारी में उनके प्रकटीकरण को आलोचनात्मक रूप से समझता है। मनोग्रस्तियाँ विविधतापूर्ण होती हैं और ये न केवल मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियों में, बल्कि मनोविक्षिप्ति वाले व्यक्तियों और मानसिक अभिघात के बाद स्वस्थ लोगों तक में पाई जाती हैं। स्वस्थ व्यक्तियों में मनोग्रस्ति संलक्षण के तत्त्व हो सकते हैं जो ऐसी स्थायी मनोग्रस्ति लय अथवा अंशों में व्यक्त होते हैं, जिनका रोगी पर पहले कभी भारी प्रभाव पड़ा था।

उच्च तंत्रिका की सक्रियता में अव्यवस्था हो जाने के कारण विक्षिप्ति में मनोग्रसित स्थायी हो सकती है और यंत्रणादायी व्यथा पैदा कर सकती है।

मनोग्रसित दशाएँ विवृत भीति और संवृत भीति विकार के रूप में प्रकट होती हैं। उनका स्वरूप संतापदायी संदेहों का हो सकता जो रोगी को किसी चीज को (दरवाजे) पर कुंडा लगा है या नहीं, गैस बंद की है या नहीं, उसने कहीं कुछ गलत तो नहीं कह दिया है) बारंबार जाँच पड़ताल करने के लिए विवश करते हैं। उनको लगातार यह भय बना रहता है कि कहीं वह संदूषित न हो जाए या कहीं उसे कोई रोग न पकड़ ले और इससे बचने के लिए उसे बार-बार हाथ धोने या अपना मुँह धोने की और चिकित्सक के पास डाक्टरी जाँच के लिए जाने की अप्रतिरोध्य जरूरत महसूस होती है।

मनोग्रसित ऐसे लोगों को होती है जिनमें ऐसी अति उत्सुकता और कल्पनाशीलता हो जो एक क्षण में तीव्र हो जाए और फिर मंद पड़ जाती हो। यदि रोगी का ध्यान दूसरी ओर खींचा जाए या तीव्र भावावेगों की स्थिति में मनोग्रस्ति कम हो सकती है या काफी समय के लिए बिलकुल लुप्त हो जा सकती है।

मनोभ्रंश के संलक्षण

प्रज्ञात्मक प्रक्रिया के स्थिर और असुधार्य ह्रास को क्षीण बुद्धिता कहते हैं। जन्मजात क्षीण बुद्धिता आलीगोफ्रेनिया (मंद बुद्धिमता) कहलाती है, और जो बाद में विकसित होती है उसे मनोभ्रंश कहते हैं। मनोभ्रंश तीव्र कायिक मस्तिष्क विक्षति (अभिघात, एथिरोकाठिन्य, जराजन्य मनोविक्षिप्ति) के परिणामस्वरूप होता है।

आवेश के विकार

आवेश आंतरिक और बाह्य उद्दीपकों के प्रति मनुष्य की वृत्ति को निश्चित करते हैं। आवेश के साथ-साथ भाव बोधक गति होती है (मुखाकृति, भंगिमाओं में परिवतन होता हे) और शरीर के विभिन्न तंत्रों में भी परिवर्तन होता है : जैसे हृदय की धड़कन और श्वास तेज हो जाती है, आँखों की पुतलियाँ विस्फरित हो जाती हैं तथा लालास्राव घट जाता है (मुँह सूखने लगता है), मूत्र अधिक आने लगता है, चयापचय बढ़ जाता है और रक्त शर्करा की मात्रा में वृद्धि होती है। आवेश सक्रियता के द्वारा प्रांतस्था और अवप्रांतस्था की संयुक्त समन्वित क्रिया का प्रतिबिंबन होता है।

मानव आवेश अत्यंत जटिल होते हैं। निम्न श्रेणी के आवेशों को आम तौर पर पहचान लिया जाता है जो कि जानवरों में भी पाए जाते हैं (जैसे भूख का आवेश जो कि आत्म परिरक्षण के लिए होता है) और उच्च श्रेणी के आवेश जो खालिस मान्वीय होत हैं। समाज के हितों से संबंधित तथा सामूहिक कार्य और कर्त्तव्य के विवेक, देशभक्ति संबंधी आवेशों की गिनती सबसे बाद में होती हैं।

चारों ओर से पड़े प्रभावों (बहिग्राही प्रभावों) से तथा आंतरिक अंगों (अंतरग्राही प्रभावों) से मस्तिष्क तक पहुँचने वाले विभिन्न उद्दीपक मिलकर एक सम्मिश्र संवेदन उत्पन्न करते हैं, जिसे मूड (भावदशा) कहते हैं। हर्ष, आनंद, दुःख, संभ्रांति, क्रोध, चिड़चिड़ेपन की अनुभूति ये सब मानस की आवेश सक्रियता की अभिव्यक्ति के विभिन्न सूक्ष्म भेद हैं। स्वस्थ व्यक्ति की भावदशा उम्र, लिंग, वर्ष या दिन के समय, जैसे कारकों की विभिन्नता पर निर्भर करते हुए बदलती रहती है। युवकों में ग्राही आवेशों की प्रचुरता, पूर्वऋतुकाल और ऋतुकाल के समय महिलाओं की मनोदशाओं में परिवर्तनों को सामान्य घटना समझा जाना चाहिए।

मनोदशा में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन, भले ही वह क्षणिक हो, **'अनुभव'** कहलाता है।

अनुभाविक आक्षेप, अर्थात आवेश के नियंत्रण विवेक की हानि, उन लोगों में होती है जिनके सिर में चोट लगी हो या जिनहें चिरकारी कायिक रोग या संक्रामक अथवा विषालुता के रोग हों।

विभिन्न प्रकार के अनुभावों में से विकृतजन्य अनुभाव को अलग से देखा जाना चाहिए। इस अनुभाव में आंशिक रूप से मंद चेतना की स्थिति में रोगी बहुधा तोड़-फोड़ के काम करता है और इसके बाद उसकी स्मृति लोप हो जाती है। उदाहरण के लिए एक युवक अपने अफसर के साथ अप्रिय भिड़ंत होने के बाद अपने दफ्तर से चला और उसने सड़क पर थोड़ी दूर चलने के बाद अपनी जेब से आग्नेयशास्त्र निकाला और सड़क से गुजरने वाले पर तीन गोलियाँ चला दीं और उसके बाद चला गया। गिरफ्तार होने पर वह यह भी याद नहीं कर पाता है कि आखिर क्या हुआ

है। मनोविकार विज्ञानी विशेषज्ञ न्यायिक मनोविकारी परीक्षण के बाद ही विकृतजन्य अनुभाव को प्रमाणित कर सकते हैं।

सुखाभास एक असामान्य हँसमुख मनोदशा है जिसमें मनुष्य प्रसन्न रहता है, और उसे भले-चंगे होने का अनुभव होता है। यह क्षणिक और अस्थायी स्थिति हो सकती है, जैसे कि मदिरा की मदोन्मत्तता में या मस्तिष्क में गंभीर कायिक विक्षिप्ति (वर्धमान घात, मस्तिष्क में गुल्मन) होने पर। सुखाभास उन्माद का एक लक्षण है जिसमें कि विचार बहुत तेजी से और बहुत मात्रा में आते हैं, वाणी चैतन्य रहती है और मोटर प्रक्रिया बढ़ जाती है।

बुझी चिंता, भय और बेचैनी भी भाव-विकार हैं। यह अधिकतर कायिक रोगों, हृदय रोगों, क्षय, कार्सीनोमा, तीव्र संक्रमण वाले रोगियों में और लैंगिक क्षीणता काल में देखा जाता है।

भाव विकार भावहीनता में प्रकट हो सकते हैं, अर्थात् इसमें रोगी को अपने चारों ओर की चीजों से कोई लगाव नहीं रहता। यह विकार कुछ रोगों (विखंडित मनस्कता, सिर की चोट, मस्तिष्क में शोप या गुल्म) में होता है। बदलते रहने वाली मनोदशा तथा चिड़चिड़ेपन की प्रवृत्ति (भाव विकार की अस्थिरता) परोक्ष रूप में मस्तिष्क के अभिघात के उत्तर प्रभाव हो सकते हैं।

आवेश विकारों में प्रमस्तिष्क धमनी काठिन्य का आम और पूर्व लक्षण भी शामिल है, यानी आवेश अस्थिरता, जिसमें कि रोगी सहज ही शांत भाव की स्थिति से रोने की स्थिति में और फिर रोने की दशा से हँसने की दशा में, विनोदप्रिय अवस्था में पहुँच जाता है।

व्यवहार और ललक के विकार

व्यवहार और ललक के विभिन्न विकार मानसिक रोग के पूर्वलक्षण हो सकते हैं

भोजन करने से इन्कार करना ललक के विकारों का बारंबार प्रकटीकरण होता है। रोगी कई दिनों तक इस बात का बहाना करके भोजन नहीं करता कि उसे भूख नहीं है या भोजन अच्छा नहीं बना है या यह कहता है कि थोड़ी देर बाद वह थोड़ा-सा भोजन कर लेगा। विखंडित मनस्कता के रोगी को आदेशात्मक श्रवण विभ्रम होता है, जो कि उसे भोजन करने से 'रोकता' है। ऐसे भी रोगी हैं, जिन्हें भ्रांति होती है कि उन्हें विष दिया जाएगा, या जड़िमा रोगी में इतनी सक्रिय नकारात्मकता होती है कि वह हठपूर्वक भोजन करने को मना करता है और बहुत अर्से तक मना करता रहता है। कभी-कभी भोजन करने से मना करना हिस्टीरियाग्रस्त अक्षुधा का लक्षण हो सकता है।

कुछ मानसिक रोगी व्यक्तियों में अपने को जख्मी करने, अपने आपको काट लेने, खरोंचने या कुछ निगल लेने (जैसे चम्मच, काँटा या सुई) की अदमनीय इच्छा

होती है। अवसाद या आदेशात्मक विभ्रम होने पर रोगी में आत्महत्या की भावना को रोक पाना कठिन होता है।

असामान्य ललक में विभिन्न प्रकार के लैंगिक विपर्यास भी सम्मिलित होते हैं, जैसे समलिंगी कामुकता अर्थात उसी लिंग वाले व्यक्ति की ओर लैंगिक आकर्षण।

ललक विकारों वाले उपरोक्त रोगियों को विशेष निगरानी और देख-भाल की आवश्यकता होती है।

मनोविकार चिकित्सा में व्यवहार संबंधी अनेक विकारों का ज्ञान होना बहुत आवश्यक है, क्योंकि बहुत से मानसिक रोगियों को समझ पाना मुश्किल होता है, क्योंकि वे अल्पभाषी होते हैं, उनमें स्पष्टता की कमी होती है और वे अपने असामान्य विचारों, इरादों तथा इच्छाओं को दृढ़तापूर्वक छिपाते रहते हैं। जो उपचारिका रोगी के साथ दिन और रात में अधिक समय तक रहती है, उसके लिए व्यवहार संबंधी नैदानिक प्रकटीकरणों का जानना तथा उन्हें अंकित करना बहुत ही आवश्यक है।

इनमें से **कैटाटोनिक विकार** सबसे अधिक निश्चायक होते हैं। इनकी अभिव्यक्ति जड़िमा या घटी हुई अनुक्रियात्मकता से होती है। इसमें रोगी पूछे गए प्रश्नों का उत्तर नहीं देता। जब उसे अपनी जीभ दिखाने को कहा जाता है तो वह इन आदेशों का पालन नहीं करता है और बहुधा अपनी मुद्रा स्थिर-सी बना लेता है। अपनी टाँगों को पेट तक सिकोड़े पड़ा रहता है और अपने सिर को तकिए पर से उठाए रखता है और कभी-कभी अस्वाभाविक मुद्रा में खड़ा रह जाता है (चित्र 27)। रोगी के शरीर को किसी भी स्थिति में रखा जा सकता है। इस लक्षण को **मोमा नम्यता** कहते हैं। रोगी भोजन करने से मना करता है। कुछ मामलों में रोगी में अपने आस-पास की चीजों को सही ढंग से समझने की क्षमता होती है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए, और यह सावधानी बरतनी चाहिए कि मानस रोगी के सामने उसके रोग की चर्चा न की जाए। ऐसी स्थिति अधिकतर विखंडित मनस्कता में होती है, परंतु अन्य संक्रामक और विषालुता के रोगों में भी हो सकती है।

चित्र 27. तानप्रतिष्टंभ के रोगी के अप्राकृतिक व्यवहार की मुद्रा।

बहुधा कैटाटोनिक स्थिति एकाएक मोटर-वाक की स्थिति में बदल जाती है; रोगी किसी विशेष स्थान को तत्काल जाना चाहता है तथा आक्रामी क्रियाएँ

करता है तथा एक ही हरकत को बार-बार दोहराता रहता है, कुछ शब्दों को दोहराता है (शब्दानुकरण), या वह अपने पास के लोगों की तरह गति करता है (इकोप्रेक्सिस)। रोगी व्यक्ति स्वयं के लिए तथा किसी अन्य व्यक्ति के लिए खतरा बन सकता है, विशेष रूप से तब जब कि उत्तेजनात्मक स्थिति विभ्रम और उत्पीड़न की भ्रांति से प्रेरित हुई हो।

व्यवहार विकार वाला रोगी बहानेबाज, मूर्ख और विनोदशील हो सकता है। उदाहरण के लिए, वयस्क अपने हाथों और घुटनों पर रेंगने लगे, अपनी जीभ दिखाने लगे या किसी अन्य व्यक्ति की नकल उतारने लगे। वह एकाएक किसी के मुंह पर थूक सकता है और बच्चों जैसी आवाज में बोलने लगता है। विक्षत चेतना वाले रोगी में आकस्मिक व्यवहार संबंधी इन विकारों को ध्यान में रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति तीव्र मानसिक अभिघात, तेज संक्रमण या क्षिपालुता में होती है। ऐसे रोगी में मोटर उत्तेजन के साथ संभ्रमित संज्ञा होती है। इसमें दृष्टि और कभी-कभी श्रवण विभ्रम और असंबंधित भ्रमित विचार बहुतायत में होते हैं। ऐसे रोगियों में चूँकि ये स्थितियाँ घर पर या काय चिकित्सालय में आती हैं, इसलिए रोगी को फौरन निगरानी में ले लिया जाना चाहिए और चिकित्सक को फौरन बुलाना चाहिए क्योंकि ऐसे रोगी अपने तथा दूसरों के लिए खतरा बना सकते हैं।

मनोविक्षिप्ति एक सामान्य जीव रोग है, जिसमें कि मानस परिवर्तन होते हैं और बहुधा कायिक विकार भी हो जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि रोगी का मानसिक क्रिया के विकारों के साथ उसके कायिक क्षेत्र का भी परीक्षण किया जाए। इसमें हृदवाहिका और श्वसन तंत्र की स्थिति, जठर-आंत्र पथ और अंतःस्रावी ग्रंथि तंत्र की ओर ध्यान दिया जाता है।

मनोविकारी संस्थानों में रोगी की संपूर्ण नैदानिक परीक्षण (रक्त की जांच) निश्चित रूप से की जाती है। मनोविकार चिकित्सा में विभिन्न प्रकार की मानसिक क्रियाओं के विकारों को ठीक करना पड़ता है, न कि इनमें से किसी एक क्रिया की असामान्यता को। ऐसा कभी नहीं होता है कि रोगी को केवल विभ्रम और भ्रांति की शिकायत हो, तथा अन्य सभी मामलों में उसकी मानसिक क्रिया सामान्य हो। बोध विकार होने पर ये निश्चय ही सोचने और व्यवहार संबंधी विकारों, आवेशपूर्ण जीवन के विकारों को उत्पन्न करते हैं।

IV. विशिष्ट मनोविकार चिकित्सा

संक्रमण-श्रांति और विषालु मनोविक्षिप्ति

संक्रमण-श्रांति और विषालु मनोविक्षिप्ति रोग तीव्र तथा चिरकारी संक्रामक रोगों और विषालुता के कारण होते हैं।

आंत्र ज्वर, टाइफस और तीव्र रूमेटी ज्वर, विसर्प, कंठशोथीय न्यूमोनिया, मलेरिया और विषालु इन्फ्लुएंजा को विशेष रूप से ऐसे संक्रामक रोगों के समूह में गिना जाना चाहिए, जिनमें तीव्र मनोविक्षिप्ति सर्वाधिक बार हो सकती है।

मदिरा, भोजन या औद्योगिक-विषों, दवाओं के कारण विषालुता, तथा आंतरिक अंगों के चिरकारी रोगों (कैन्सर, गुर्दे, हृदय, लीवर और गैस्ट्रोइंटैस्टाइलनल पथ के दीर्घकालिक रोगों) में विकसित होने वाली अंतर्जनित विषालुताएँ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

कायिक चिकित्सालयों में उपचार पाने वाले रोगियों में ऐसी मनोविक्षिप्ति बहुधा होती है,—परिचारिकाओं और उनके सहायकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए और केवल आंतरिक अंगों की स्थिति पर ही नजर नहीं रखनी चाहिए, बल्कि ऐसे रोगियों की मनोदशा और उनके व्यवहार में होने वाले हर परिवर्तन पर गौर करना चाहिए तथा चिकित्सा को इन परिवर्तनों की तत्काल सूचना देनी चाहिए। संक्रमण-श्रांति मनोविक्षिप्ति वाले रोगियों को मानसिक रोग चिकित्सालय में बहुत कम भेजा जाता है, क्योंकि ऐसा करना इसलिए खतरनाक होता है कि इससे संक्रमण फैल सकता है और यही नहीं, यह अनुपयुक्त भी है, क्योंकि ऐसे मानसिक विकार केवल कुछ दिनों तक ही पाए जाते हैं और इसके बाद में लेशमात्र चिह्न तक छोड़े बिना लुप्त हो जाते हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए, रोगी की देख-भाल और उपचार उस विभाग के कर्मचारियों द्वारा उसी विभाग में दिया जाता है जिसमें कि रोगी रह रहा है।

अवसन्नता की दशा बहुत-से कायिक रोगों में सर्वसामान्य रूप से पाया जाने

वाला मानसिक विकार है। यह दशा तीव्र संक्रमण रोगों के बाद और ऐसे रोगों के बाद, जिनके कोई प्रकट लक्षण नहीं होते, दोनों ही स्थितियों में हो सकती है। उदाहरण के लिए, सामान्य ज्वर वाले इन्फ्लुएंजा में ऊपरी श्वास पथ की श्लेष्मस्रावी शोथ की अपेक्षाकृत छोटी अवधि के बाद बहुधा अवसन्नता, सामान्य कमजोरी, बढ़ी हुई पेशीय व मानसिक थकान, और ध्यान संबंधी विकार होते है। चिकित्सक से बात करने में रोगी जल्दी थक जाता है, वह बार-बार उसको कही गई बात को दुहराने के लिए कहता है और बड़ी कठिनाई से सही शब्दों का चयन कर पाता है। ऐसे रोगियों की मनःस्थिति आम तौर पर गिरी हुई होती है और उनमें चिंता का भाव रहता है; उनकी नींद हल्की और अल्पकालिक होती है।

बहुत से कायिक रोगों में, विशेषकर हृदय रोगों में, चिंता, ज्वर और निम्न शंकुता विकसित हो सकती है।

तीव्र संक्रमक श्रांति मनोविक्षिप्ति का मुख्य लक्षण निर्बल चेतना होती है, जो जड़िमा द्वारा लक्षित होती है; रोगी अपने आस-पास की चीजों के प्रति विस्मरणशील-सा प्रतीत होता है और उस पर साधारण उद्दीपन की कोई प्रक्रिया नहीं होती है। बहुत जोर से बोलने पर या आग्रहपूर्ण खींचतान से वह इस स्थिति से थोड़े समय के लिए अलग हो सकता है और उसे यह याद नहीं रहता है कि क्या हुआ है। इसे स्मृतिलोप कहते हैं।

संक्रमण प्रलाप : तीव्र संक्रामक रोग की चरम सीमा पर पहुँचने पर बहुधा प्रलाप की स्थिति विकसित हो जाती है। रोगी की संज्ञा धूमिल पड़ जाती है। उसे स्थिति भ्रांति हो जाती है और भ्रम और डराने वाले विभ्रम होने लगते हैं। ये विभ्रम बहुधा दृष्टि और स्पर्श के होते हैं और श्रवण विभ्रम कम होते हैं। इसके अतिरिक्त रोगी प्रलापी आवेशों में होता है। वह किसी काल्पनिक खतरे से बच निकलने के लिए भाग जाने का प्रयास करता है। ऐसी स्थिति में रोगी बहुत ही खतरनाक होते हैं, वे खिड़की से बाहर कूद सकते हैं, चिकित्सालय से भाग सकते हैं, अथवा किसी पर आक्रमण कर सकते हैं।

संक्रमण प्रलाप कई दिनों तक चलता है। शरीर का तापमान घटने पर संज्ञा आ जाती है और रोगी का व्यवहार अपेक्षाकृत सामान्य हो जाता है, और वह अपने अनुभव को विवेकपूर्वक आँकने में सक्षम हो जाता है।

हम यहाँ उन परिवर्तनों पर अधिक विस्तार में विचार करेंगे जो कि महिला की मानसिक स्थिति में उसकी गर्भावस्था में होते हैं या प्रसव के समय या प्रसवोत्तर स्थिति में होते हैं, जिनका सामना स्त्री रोग विशेषज्ञ चिकित्सा व्यवसाय में करता है।

गर्भावस्था और प्रसवोत्तर अवस्था की मनोविक्षिप्तिया : गर्भवती होने पर स्त्री को डर लग सकता है और उसे मनोग्रस्ति हो सकती है। उदाहरण के लिए, उसमें

किसी दूसरे की चीज को चोरी छिपे उठा लेने की अनियंत्रित उत्कंठा हो सकती है, परंतु यह चोरी सामान्य चोरी करने की आदत से भिन्न होती है। इसमें जो चीज वह चोरी छिपे उठाती है, उसका कोई भौतिक मूल्य नहीं होता है और बहुधा कुछ समय बाद अनदेखी होने पर उसके स्वामी को वापिस कर देती है। प्रसव होने के बाद यह चोरी की आदत नहीं रह जाती है। ऐसे रोगियों को बहुधा अधिक समय तक मनोरोग चिकित्सक का उपचार नहीं लेना पड़ता है।

सगर्भता में होने वाली विभिन्न मनोविकृतियों में एक मनोविकृति विषय मनोग्रस्ति है, जिसमें स्त्री अपने निकट संबंधियों को, स्वयं को, या पैदा होने वाले बच्चे को, मार डालने के लिए प्रेरित होती है। ऐसे लक्षणों वाली गर्भवती स्त्री को मनोविकार विज्ञानी की देख-रेख में रखना आवश्यक होता है। अच्छा हो कि उसे अंतरंग रोगी की भाँति रखा जाए, ताकि उसे विशिष्ट उपचार दिया जा सके।

प्रसव होने पर या उसके कुछ दिन बाद विभिन्न प्रकार के मनोविकार उत्पन्न हो सकते हैं। अमनस्कता मनोविक्षिप्ति की स्थिति में, जिसमें अत्यधिक मानसिक भ्रांति और पूर्ण स्थिति भ्रांति, मोटर उत्तेजना, वियोजित विभ्रम होते हैं और उसके साथ शारीरिक विक्षोभ (तेज ज्वर, तेज गति से नाड़ी का चलना) भी होता है, स्त्री को मानसिक रोग चिकित्सालय में यथोचित उपचार के लिए फौरन भर्ती करा देना चाहिए।

गंभीर प्रासूतिक मनोविक्षिप्ति के साथ-साथ प्रासूतिक संक्रमण (पूतिता) हो सकता है, और यह अक्सर कई महीनों तक रहता है। इसका प्राथमिक उपचार निर्विषीकरण है। प्रसव के कुछ घंटों के बाद मनोविकृति क्रियाएँ हो सकती हैं जो कि प्रासूतिक अवसन्नता के कारण और शिशु की कुशलता और जीवन के बारे में माँ को हद से ज्यादा आशंका होने के कारण होती हैं। इस प्रकार की प्रक्रियाएँ प्रथम प्रसवा स्त्री में अधिकतर होती है।

कुछ मामलों में भावी माता, गर्भधारण और दीर्घ, तथा यहाँ तक कि जटिल श्रम से गुजरते हुए, बढ़ती हुई शक्तिक्षीणता की चिंता के साथ-साथ अनेक चिंताओं का सामना कर सकती है : कि बच्चा स्वस्थ होगा या नहीं, कहीं बच्चे के आकार-प्रकार में गड़बड़ न हो, उसको समय पर दूध पिलाने के लिए लाया जाएगा या नहीं, कहीं गलती से उसका बच्चा दूसरे के बच्चे के साथ न बदल जाए, उसमें बच्चे के स्तनपान के लिए दूध होगा या नहीं, या स्तनपान के लिए दूध पर्याप्त होगा या नहीं, आदि, आदि। ऐसी प्रतिक्रियाएँ बहुधा ऐसी स्त्रियों में होती हैं, जो चिंताग्रस्त और अविश्वासी स्वभाव की होती हैं। ऐसे में कार्यरत उपचारिका के सहृदयतापूर्ण, दयालुतापूर्ण और प्रशामक शब्दों का रोगी पर लाभदायक प्रभाव पड़ेगा।

उपचार : तीव्र संक्रमण और विषालुता के कारण होने वाली गंभीर मनोविक्षिप्ति का उपचार निर्विषीकारी पदार्थों तथा हृदय क्रिया और श्वास क्रिया को उद्दीपित करने

वाली लाक्षणिक औषधियों द्वारा किया जाता है। उत्तेजना होने पर 3 प्रतिशत क्लोरलहाइड्रेट (100 मि.ली.) का एनिमा दिया जाता है। यदि इन औषधियों का प्रतिनिर्देश न हो तो गंभीर मन:प्रेरक उत्तेजना को रोकने के लिए 2.5 प्रतिशत एमिनार्जान (क्लोरप्रोमाजीन) घोल के 1.00 से 2.00 मि.ली. या 0.5 प्रतिशत डाइजेपाम (मिथाइल डाइजेपिनोन, सेडूक्सेन) घोल का पेशी में 1.00 से 2.00 मि.ली. का इंजेक्शन दिया जाता है।

मदात्यय और सवापकोन्माद : विभिन्न प्रकार के नशीले पदार्थों और स्वापकों का दुरुपयोग करने से होने वाले मनोविकारों का एक विशेष समूह है। स्वापकों के लिए अदमनीय ललक को स्वापकोन्माद कहते हैं।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मदिरा की छोटी-सी खुराक भी, जिससे कि यद्यपि चैतन्यता आती है, विचारों का तेजी से प्रवाह होने लगता है और मनोदशा अच्छी हो जाती है, कार्य करने की क्षमता घटा देती है और बोध कठिन हो जाता है, ध्यान कमजोर हो जाता है और दैनिक कर्म करने में गलती होने लगती है। पियक्कड़ आदमी आसानी से ईर्ष्यालु, चिड़चिड़ा और दोषान्वेशी हो जाता है। उसके निर्णय विचारहीन और उथले होते हैं और अपने व्यवहार के प्रति उसकी विवेचन शक्ति घट जाती है। मोटर-विकार स्थिर और समन्वित गतियों की गड़बड़ी के रूप में प्रकट होते हैं। मदिरा की मादकता में नाड़ी तेज हो जाती है, पसीना ज्यादा आने लगता है और चेहरे पर रक्त का दौर बढ़ जाता है।

मादकता की स्थिति गहरी नींद में खत्म होती है। इस निद्रा से मनुष्य को जगाना मुश्किल होता है। इस प्रकार, हलकी मादकता से भी तीव्र और जल्दी ठीक होने वाला मानसिक विकार होता है।

नियमित रूप से मद्यपान करने से **चिरकारी मदात्यय** हो जाता है। इस स्थिति में कायिक असामान्यता होने के अलावा मानसिक विक्षोभ भी हो जाता है। ऐसे रोगियों में बहुधा पेट और यकृत के चिरकारी शोथज रोग हो जाते हैं या नपुंसकता हो जाती है अथवा बुढ़ापा जल्दी आ जाता है। व्यक्तिगत व्यवहार का विवेक कम हो जाता है और वह अनुचित अंतरंगता बढ़ा लेता है तथा उसका विनोद अश्लील और दोषान्वेषी हो जाता है। बिना किसी संकोच के और यहाँ तक कि बड़ी शेखी बघारते हुए रोगी बड़ी शान से कहता है कि उसने इतनी शराब पी है। उसमें इस बात की तनिक भी इच्छा नहीं होती है कि वह मद्यपान से दूर रहे। यहाँ तक कि वह मदिरा खरीदने के लिए अपने निकटम संबंधी के धन की चोरी भी कर सकता है। उसकी कार्य-क्षमता तेजी से घटने लगती है। मद्यपी यदि कार्य करने से पूर्व मद्यपान न करे या बीच में मद्यपान न करे तो वह कार्य नहीं कर सकता है, क्योंकि मद्यपान किए बिना उसे बहुत कमजोरी महसूस होती है तथा उसे बेचैनी, चिंता और अवसाद होने लगता है। जठर आंत्रिक विक्षोभ और हृदय में पीड़ा होने लगती

है। इस स्थिति को अवशिष्ट दुष्प्रभाव कहते हैं और इस दशा में औषधि (कैफीन, कैंफर और ब्रोमाइड) देने की आवश्यकता होती है। मदिरा का दुरुपयोग करने से परिवार में कलह, दैनिक जीवन और कार्य में संघर्ष अवश्यंभावी है। चिरकारी एल्कोहल मादकता का परिणाम इस बात पर निर्भर करता है और अत्यधिक मद्यपान की अवधि कितनी है और कितना मद्यपान किया गया है और इसके अनुषंगिक हानिकर प्रभाव (सिर की चोट, संक्रमण) किस हद तक हैं। बहुत से ऐसे रोगी दैहिक रोगों (न्यूमोनिया, इन्फ्लूएंजा इत्यादि) से मर जाते हैं, क्योंकि उनके निर्बल शरीर में रोग-प्रतिरोधी शक्ति घट जाती है।

मद्यपान उन्माद (अधिक मद्यपान करने के नियतकालिक आवर्ती दौर) चिरकारी मदात्यय का विशिष्ट रूप होता है। इसमें दौरा पड़ने से पहले विषादीय और अवसादित मनोदशा होती है। इन दौरों (आक्रमणों) के बीच में रोगी मदिरा पान नहीं करता है। इस प्रकार के रोग बहुधा मनोविकृति लोगों में होते हैं।

इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि बालकों और किशोरों की काया पर मदिरा का हानिकर प्रभाव विशेष रूप से होता है। ऐसी दशा में मदिरा की लत बहुत जल्दी पड़ जाती है तथा उनका शारीरिक और मानसिक विकास कम होने लगता है।

चिरकारी मदात्यय से पीड़ित व्यक्तियों को विशेष उपचार की आवश्यकता होती है।

मद्यपान रोकने की रोगी की इच्छा बहुत महत्त्वपूर्ण होती है, जिसे कार्य-स्थल पर और सार्वजनिक संगठनों में रोगी के सहकर्मियों के सकारात्मक प्रभाव द्वारा और मद्यपान की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाले वातावरण से दूर रह कर मजबूत बनाया जा सकता है। इस रोग में विशेष मानसिक संस्थल में उपचार की सलाह दी जाती है।

उपचार की सबसे पुरानी विधि यह है कि एपोमोरफीन द्वारा अलकोहल की प्रतिवर्त नकारात्मक स्थितियाँ निम्न प्रकार से पैदा कर दी जाती थीं। 0.5 प्रतिशत एपोमोरफीन घोल के 0.5 मि. ली. का अधस्त्वक इंजेक्शन देने के बाद रोगी को मदिरा सुँघाई जाती है और उसे कायल किया जाता है कि मदिरापान से उसे मितली आएगी और उलटी होगी और यह कि अब वह उसे नहीं पी सकेगा। 5-10 मिनट बाद जब एपोमोरफीन से उलटी आने को हो, तो रोगी को मदिरा का एक गिलास दिया जाता है और पुनः उसे इस बात का कायल बनाया जाता है कि उसे उलटी होगी। निश्चय ही, मितली और उलटी वास्तव में होने लगती हैं। इस प्रक्रिया को 10 से 30 दिन तक प्रतिदिन या एक दिन छोड़ कर दोहराया जाता है। प्रक्रिया का कार्यकाल इस बात पर निर्भर करता है कि कितनी जल्दी मदिरा के प्रतिवर्त उलटी होती है। उपचारिकाएँ इस उपचार कार्य में सक्रिय भाग लेती हैं।

टेटूरम (टेट्राएथाइल डाइसल्फाइड), जिसे मद्य-परहेज, टेट्राडिन, संयमकारी प्रत्युकुप्रयोगी और टेका भी कहा जाता है, का प्रयोग चिरकारी मदात्यय का सफलतापूर्वक उपचार करने के लिए किया जाता है। भौतिक चिकित्सा के साथ-साथ इसके अंतर्गत अल्कोहल के प्रति अनुकूलित नकारात्मक प्रक्रिया पैदा की जाती है। टेटूरम द्वारा उपचार चिकित्सक की देख-रेख में भली-भाँति प्रशिक्षित उपचारिकाओं द्वारा किया जाना चाहिए। अंतरंग रोगियों का उपचार निम्नलिखित ढंग से किया जाता है। टेटूरम की 0.5 ग्राम की खुराक सुबह-शाम रोगी को दी जाती है। और धीरे-धीरे यह खुराक घटाकर 0.15 ग्राम कर दी जाती है। दो या तीन दिन तक रोग को प्रतिदिन (दिन के समय) 15 से 30 मिल ली. मदिरा पीने को दी जाती है। मदिरापान से 10 या 15 मिनट बाद वर्धी रक्तधर में विकार उत्पन्न हो जाता है, जो कि मुख और स्कंध के ऊपरी भाग में अतिरक्तता के रूप में प्रकट होता है और रोगी को गर्मी लगने लगती है, श्वास लेने में कठिनाई होती है, हृदयक्षिप्रता और भय की अनुभूति होती है। जॉच करने पर पता चलता है कि नाड़ी तेज चलती है और रक्त की मात्रा कम होती जाती है तथा धमनी दाब नियमित रूप से तेजी से घट जाता है। टेटूरम के औषधि प्रयोग से एसेटिक एल्डीहाइड के रक्त में जमा हो जाने से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसे रोगी सहन नहीं कर पाता। यह स्थिति एक घंटे या उससे अधिक समय तक रहती है। एसेटिक एल्डीहाइड अल्कोहल के पूर्ण दहन के कारण बनता है। बारंबार यह क्रिया करने से अल्कोहल के प्रति प्रतिवर्त अरुचि स्थायी बन जाती है।

उपचारिकाओं को इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर वर्णित वर्धी रक्तधर की प्रतिक्रियाएँ कभी-कभी गंभीर विकार का रूप धारण कर सकती हैं। ऐसे में रोगी के जीवन को बचाने के लिए आपातकालीन सहायता देनी चाहिए। इसीलिए उपचारिका या चिकित्सक के सहायक का यह कर्त्तव्य है कि वह ऐसी आवश्यक औषधियों को तैयार करके रखे जिनकी आवश्यकता जटिलता के खतरनाक लक्षण होने पर पड़ सकती है। इन औषधियों में कैफीन, कैंफर, एफीड्रीन और लोबेलीन अवश्य ही शामिल होनी चाहिए। उपचार करते समय उपचारिका को चाहिए कि वह तब तक रोगी के पास रहे जब तक चिकित्सक उसे जाने की अनुमति न दे दे। उपचारिका को कृत्रिम श्वसन की तकनीक में दक्षता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

'प्रोत्तेजना' के बाद रोगी को कई घंटों के लिए शय्या विश्राम देना चाहिए, ऐसा न हो कि कहीं और जटिलता पैदा हो जाए। इस काल में रोगी और उसके व्यवहार की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी उपचारिका पर होती है। चिकित्सा केंद्रों में कार्य करने वाली उपचारिकाओं को मदिरा के कुप्रयोगों की नैदानिक जानकारी होनी चाहिए, जो टेटूरम से उपचार करने के बाद मदिरा पान करने पर रोगी को दुबारा हो सकते हैं। उपचार पूरा होने पर मदिरा को देखने और सूँघने मात्र से रोगी को

उलटी और मतली होने लगती है और रोगी मद्यपान बंद कर देता है। बहुत से रोगियों में इस उपचार के परिणाम बहुत अच्छे होते हैं।

टेटूरम पाउडर और गोलियाँ रोशनी से बचाकर दवाइयों की आलमारी में रखी जाती हैं

चिरकारी मदात्यय से निरोध हेतु स्वास्थ्य शिक्षा, यानी मदिरा के दुरुपयोग के विषय में रोगी और उसके संबंधियों से वार्तालाप बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। इस प्रकार की स्वास्थ्य शिक्षा वार्ताएँ चिकित्सकों या उपचारिकाओं द्वारा दी जाती हैं।

चिरकारी मदात्यय में गंभीर मनोविक्षिप्ति, सकम्प प्रलाप और मद्यप विभ्रम हो सकते हैं।

सकम्प प्रलाप ऐसी तीव्र मनोविक्षिप्ति को कहते है। जो दीर्घ काल तक मदिरा का सेवन करने से हो जाती है। यह लक्षण चिरकारी मदात्यय रोगी में गंभीर शारीरिक रोग (न्यूमोनिया, इन्फ्लूएंजा इत्यादि) के बाद अथवा स्थानिक और सार्वदेहिक संज्ञाहरण औषधि देकर शल्यचिकित्सा किए जाने के बाद, प्रकट हो सकते हैं। सकम्प प्रलाप अधिकतर ऐसे रोगियों को होते है। जो कि कायिक चिकित्सालयों में रहते हैं। इस स्थिति में यह आवश्यक है कि इन रोगियों को चिकित्सा कर्मी की सख्त निगरानी में रखा जाए क्योंकि इस हालत में ये रोगी स्वयं के लिए तथा दूसरों के लिए खतरनाक होते हैं।

चित्र 28. सकम्प प्रलाप। रोगी छोटे-छोटे काल्पनिक जीवों को पकड़ रहा है।

सकम्प प्रलाप सामान्य हालत में गिरावट आने, बढ़े हुए प्रस्वेदन, अनिद्रा, डरावने दुःस्वप्नों, बेचैनी और विशेषकर सायंकाल में महसूस किए जाने वाले भय द्वारा लक्षित होते हैं। इन लक्षणों का प्रकटीकरण होने पर रोगी पर सतत निगरानी रखी जाती

है और मनोविकार विज्ञानी को बुलाया जाता है। संकप प्रलाप के तीव्रतापूर्ण रूप का पता संज्ञा के धूमिल पड़ जाने, स्थान, समय और वातावरणगत यथार्थ के बारे में स्थिति भ्रांति से चलता है। रोगी को दृष्टि के, और कभी-कभी श्रवण के विभ्रम होते हैं, जो मुख्यतः डरावने किस्म के होते हैं। (देखिए चित्र 28)। रोगी को चूहे, मूपक और अपने पर आक्रमण करने वाले विकराल किस्म के प्राणी दिखाई देते हैं। कभी-कभी उसे धमकियाँ और आदेश सुनाई देते हैं, डर लगता है और उत्पीड़न तथा अनावरण की भ्रांति का अनुभव होता है। इन डरावने दृश्यों से बचने के लिए रोगी अपने आस-पास के लोगों पर आक्रमण कर सकता है, खिड़की से बाहर कूद सकता है, किसी भी तरीके से आत्महत्या कर सकता है। रात में भय और बेचैनी ज्यादा महसूस होती है।

सकंप प्रलाप वाले रोगी को विभ्रम बहुत आसानी से संसूचित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, उसे एक साफ कागज का टुकड़ा दिया जाए और बताया जाए कि उसे इसमें क्या दिखलाई पड़ता है तो वह अपने विभ्रम अनुभव का वर्णन करना प्रारंभ कर देता है।

सकम्प प्रलाप में उँगलियाँ, जिभ, आँख की पलकें और पूरा शरीर तक हिलने लगता है। इसीलिए इसे सकंप प्रलाप कहते हैं। चेहरा अतिरिक्तता से भर जाता है। होंठ नीले पड़ जाते हैं, नाड़ी कमजोर और तेज हो जाती है, हृदय की आवाज मंद पड़ जाती है तथा अत्यधिक स्वेदन होता है। तंत्रिका तंत्र की स्थिति का पता रोगी की पुतलियों पर प्रकाश की प्रक्रिया, तथा बढ़े हुए कंडरा प्रतिवर्त से चलता है। शरीर का ताप बहुधा बढ़ जाता है। बहुत से रोगियों में विक्षिप्ति के लक्षण तीन से सात दिन की गहरी निद्रा के पश्चात् लुप्त होते हैं। रोग कभी-कभी हृद्अपूर्णता के कारण जटिल हो जाता है। यकृत की क्रिया में विघ्न आने से सकंप प्रलाप होने लगते हैं। अधिक समय तक मदिरा के कुप्रयोग से यकृत की क्रिया में दोष आ जाता है और वह चयापचय के विषालु पदार्थों का निर्विषीकरण नहीं कर पाता है।

उपचार : मदिरा का दुर्व्यसन करने वाले उस रोगी को, जिसे सायंकाल तथा रात्रि में अनिद्रा तथा चिंता रहती हो, तत्काल आपत्कालीन चिकित्सा दी जानी चाहिए। सकंप प्रलाप वाले रोगी को अलग से देखभाल तथा निरंतर निगरानी की जरूरत होती है। प्रलाप की स्थिति प्रायः तीन से पाँच दिन तक रहती है और उसके बाद नींद आ जाती है। ऐसे में प्रभावशाली निद्रायक औषधि के रूप में दिए जाते हैं। 6 प्रतिशत क्लोरलहाइड्रेट के 50 मि.ली. घोल का एनिमा देने की सलाह दी जाती है या यदि रोगी पी सके तो उसे क्लोरलहाइड्रेट दिया जाता है। हृदय उद्दीपक निश्चित रूप से दिए जाते है, इनमें ऐडोनिलीन (एडोनिस का सत्व) 15 से 20 बूंद की खुराक दिन में तीन बार लेने की सलाह दी जाती है। हृदपात की स्थिति में कॉर्डियामिन

(निकेथार्मीन), कैफीन, एड्रेनिलीन, आदि के इंजेक्शन कारगर सिद्ध होते हैं। सकंप प्रलाप की स्थिति में डाइजेपाम (0.005 ग्राम दिन में तीन बार या 0.5 प्रतिशत घोल को 2.0 मि. की मात्रा में अंतर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है) से मनः प्रेरक उत्तेजना में आराम मिलने के साथ अच्छा प्रभाव पड़ता है; एमिनाजीन का भी प्रयोग किया जा सकता है (एक बार या तीन बार 0.025 ग्राम मुख से, या 2.5% घोल का 2.0 से 4.0 मि.ली. का अंतरपेशीय इंजेक्शन दिया जाता है। इंजेक्शन की मात्रा उत्तेजन की डिग्री पर निर्भर करती है)। कभी-कभी मनोविक्षिप्ति दिन के समय शांत हो जाती है और रात्रि में फिर से हो जाती है।

मारफीनता अफीम के क्षाराभ—मारफीन—के चिरकाली प्रयोग से उत्पन्नतल है। इसका संबंध भिन्न कायिक रोगों में पीड़ाहर के रूप में मारफीन के बारंबार प्रयोग से है। इसीलिए मारफीन को दवा के रूप में लंबे समय तक निर्दिष्ट करना इष्ट नहीं है, विशेषकर यदि रोगी की मानसिकता अस्थिर हो। ज्ञात है कि मारफीन मूड अच्छा करता है, सुखबोध उत्पन्न करता है और थोड़े समय के लिए स्फूर्ति प्रदान करता है, इसीलिए रोगी को बारंबार इसे ग्रहण करने की इच्छा होती है।

मारफीन का आदी होने पर रोगी उसकी और अधिक मात्रा में आवश्यकता महसूस करता है और दिन में कई ग्राम तक का प्रयोग कर सकता है। वह मारफीन के बिना जी नहीं सकता। पैंटोपोन, अफीम, एथीलमोर्फीन हाइड्रोक्लोराइड, कोडेईन जैसे पीनक पदार्थों का भी आदी होना संभव है। पीनक पदार्थों का प्रयोग छोड़ने वाले रोगी में त्यजन नामक अवस्था उत्पन्न होती है, जिसमें सामान्य दुर्बलता, सर-दर्द, उल्टी, दस्त, खाँसी तेज नब्ज होती है और साँस घट हो जाता है, धमनी दाब धीमा पड़ जाता है। आतंक, भय और अनिद्रा के साथ अवसाद हो जाता है। मारफीन व्यसनी ऐसी स्थिति आने पर स्वापक प्राप्त करने के लिए सब कुछ कर सकता है। वह इसे प्राप्त करने के लिए औषधि की पेटी से चोरी तक कर सकता है।

त्यजन की स्थिति में रोगी पर उपचारिका को कड़ी नजर रखनी चाहिए। उसे केवल डाक्टर द्वारा निर्देशित औषधियाँ ही दी जानी चाहिए। यदि हृदक्रिया कमजोर हो तो चिकित्सक को फौरन बुलाना संभव न हो, तो उपचारिका को कोर्डीमीन, कैफीन या कैंफर अथवा अन्य किसी हृद उद्दीपक का इंजेक्शन देना चाहिए। इसकी खुराक आम प्रयोग की होनी चाहिए।

चिरकारी मारफीन विषाक्तता के रोगी की भूख और वजन घट जाते हैं। उनकी त्वचा और श्लेष्मल कला सूख जाती है। नब्ज तेज हो जाती है। शोफ हो जाता है। धमनी दाब बढ़ जाता है। कंडरा प्रतिवर्त अतिशयित हो जाता है और उँगलियों में कम्प हो जाता है। मारफीन व्यसनी क्षीण और कमजोर संकल्पी होता है तथा उसकी स्मृति ठीक नहीं होती है। मारफीन व्यसनी स्वयं ही स्वापक का इंजेक्शन लगा लेता है और वह अपूति के नियमों का भी पालन नहीं करता है। जहाँ इंजेक्शन

लगा हो, उस जगह पर त्वचा में विद्रधि के निशान पड़ जाते हैं।

और भी कई प्रकार के स्वापक व्यसन होते हैं, जैसे बारबीटुरेट का स्वापक व्यसन, जो कि बारबिटुरिक अम्ल से बने पदार्थ (बारबिटल सोडियम, पेंटाबारबिटलसोडियम, बारबिटल) के कुप्रयोग से होता है। इसका नैदानिक चित्र मद्य मादकता से मिलता-जुलता है। उसकी मनोदशा असामान्य प्रसन्नता की होती है। उसकी गति में समन्वय नहीं होता है तथा उसमें उच्चारण दोष भी हो जाता है। बारबिटुरेट स्वापक व्यसन होने पर बारबिटुरेट औषधि के रूप में नहीं दिए जाते हैं। इन रोगियों का उपचार ग्लूकोस, विटामिन और हृद् उद्दीपकों के इंजेक्शनों से किया जाता है। ऐमिनाजीन तथा अन्य मनोवियोजी औषधियाँ भी स्वापक व्यसन में नहीं दी जाती हैं, क्योंकि इनसे स्वापकों का प्रभाव बढ़ता है।

ऐट्रोपीन से (खुराक से अधिक देने पर) होने वाली विषाक्तता की संभावना को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। मुँह का सूखना, पुतलियों का फैल जाना, उच्चारण दोष, त्वचा का सूख जाना, निगलने में कठिनाई होना, मनोप्रेरक उत्तेजना, भ्रांति और विभ्रम इसकी अभिव्यक्तियाँ हैं। दुःसाध्य रोगियों में आक्षेप और सन्यस्त की दशा आ जाती है। धमनी दाव घट जाता है। नाड़ी कमजोर हो जाती है और श्वसनघात होने से मृत्यु हो जाती है। आपत्कालीन चिकित्सा में जठर-धावन, 1% पिलोकार्पिन घोल के 1.0 मि.ली. का इंजेक्शन या 0.05 प्रतिशत प्रोसेरीन (न्योस्टीगमाइन) घोल का 1.0 मि. ली. का (अधस्त्वक) इंजेक्शन दिया जाता है। मनोप्रेरक उत्तेजना को 2.5 प्रतिशत एमिनाजीन घोल के 2.0 मि.ली. इंजेक्शन देकर ठीक किया जाता है। यह इंजेक्शन पेशी में दिया जाता है, या फिर 1 प्रतिशत प्रोमेडील घोल के 2.0 मि. ली. का इंजेक्शन (अधस्त्वक) दिया जाता है।

निकोटीन व्यसन सबसे अधिक प्रचलित खराब आदतों में से है। निकोटीन से प्रमस्तिष्क और परिसरीय वाहिकाओं का आकुंचन हो जाता है। इससे विलोपन भी हो सकता है, तथा लोपक अंतरधमनीशोथ भी हो जाता है। निकोटीन व्यसन में मानसिक क्रिया कमजोर हो जाती है तथा तान घट जाती है। यह उपचारिका का कर्त्तव्य है कि रोगी को धूम्रपान न करने दे।

प्रगामी घात तंत्रिका तंत्र के सिफिलिस का अग्रवर्ती चरण है। कपाल प्रमस्तिष्क की चोट, मदात्यय और संक्रमण जैसे हानिकर कारकों से यह घात बढ़ता है। रोग की प्रारंभिक अवधि में तंत्रिकावसाद के लक्षण प्रमुख होते हैं। जैसे चिड़चिड़ाहट, ध्यान लगाने में थकान और घटी हुई कार्यक्षमता। अपने व्यवहार, मनोदशा और कार्यक्षमता में हुए परिवर्तनों को समझे बिना रोगी इन परिवर्तनों को थकान के कारण हुआ समझता है और डॉक्टर की सलाह नहीं लेता। गतिशय सुखाभास, इच्छावरोधन न कर पाना, हास्यास्पद व्यवहार करना आदि मनोविकृति प्रगामी घात के पूर्व लक्षण हैं। रोगी विचारहीन, चिड़चिड़ा और अपव्ययी हो जाता है, जो कि अनावश्यक चीजों

पर ध्यान व्यय करता है। दैहिक तथा तंत्रिका विज्ञानी परीक्षण से अरजाइल रौबर्टसन के लक्षणों का पता चलता है। आँखों की पुतलियों पर प्रकाश की अनुक्रिया नहीं होती है, पर समंजन की अनुक्रिया होती है। नासा प्रोष्ठावलि लुप्त हो जाती है तथा कंडरा प्रतिवर्त घट-बढ़ जाता है और असमतल हो जाता है। उच्चारण दोष प्रगामी घात का पूर्व तंत्रिकीय लक्षण है। इसका पता रोगी की जिभ को तोड़-मरोड़ कर बोलने वाले वाक्यों का उच्चारण करवा कर लग सकता है। लिखने की क्षमता भी कमजोर हो जाती है : उसका सुलेख विषम होता है। रोगी या उसे अक्षरों और मात्राओं को लिखते समय छोड़ जाता है या बार-बार लिख जाता है। इस रोग का काल कुछ हफ्तों से लेकर दो-तीन महीनों तक का होता है।

प्रगामी (वर्धमान) घात की दूसरी और तीसरी अवधियों का विशेष लक्षण यह है कि इसमें मनोभ्रंश बढ़ता जाता है और चरम सीमा तक पहुँच जाता है। रोगी अस्पष्ट स्वर में बोलता है ओर धीरे-धीरे अचल हो जाता है। इच्छा न होते हुए भी मूत्र और मल त्याग हो जाता है। शारीरिक कृशता तेजी से होने लगती है। रोगी एकदम असहाय हो जाता है और अपने को सँभाल नहीं पाता है। उसे शय्यात्रण आसानी से हो जाते हैं। यह जरूरी है कि उपचारिका इस हालत वाले रोगियों की विशेष देखभाल करे।

बाल प्रगामी अंगघात 7 से 15 साल तक के बच्चों को होता है और बहुधा यह जन्मजात सिफिलिस के परिणामस्वरूप होता है। मानसिक और शारीरिक विकास का कम होना इस रोग के मुख्य लक्षण हैं। यह रोग चार से छः साल तक रहता है और देखभाल की आवश्यकता है। उपचारिकाओं और उनके सहायकों को ऐसे रोगियों को भोजन कराना चाहिए तथा उनकी शारीरिक हालत पर नजर खनी चाहिए।

उपचार : सन् 1875 में रूसी मनोविकार विज्ञानी ए. रोजेनब्लूम ने पहली बार प्रगामी घात की चिकित्सा करने का प्रस्ताव रखा। यह चिकित्सा पुनरावर्ती ज्वर प्रतिरक्षीकरण के द्वारा की गई। बाद में रोगियों को इसी विचार से मलेरिया से संक्रमित किया गया। हृदपात वाले रोगियों को शुद्ध गंधक, सल्फाजीन (सल्फाडायजीन) के 1 प्रतशत घोल का अधस्त्वक इंजेक्शन दिया जाता है, इससे शरीर का ताप 30-40 सेंटीग्रेड तक हो जाता हैं। बाद में प्रगामी अंगघात का उपचार पेंसिलीन और मलेरिया की चिकित्सा मिलाकर किया जाता है। यदि यह उपचार जल्दी किया जाए तो अधिकांश रोगी इस संयुक्त उपचार से विल्कुल चंगे हो जाते हैं, अथवा इसके विसर्ग का अंतराल बढ़ जाता है।

विखंडित मनस्कता

यह सबसे अधिक मिलने वाला रोग है और 17-35 की उम्र में विकसित होता है। इसका नाम ब्लेइलेर द्वारा दिया गया था, और अभी भी इसे 'ब्लेइलेर रोग' कहा

जाता है। इस रुग्णावस्था की नैदानिक अभिव्यक्तियाँ लक्षणों और इसके दौर, दोनों में बहुरूपता रखती है। विखंडित मनस्कता के निम्नलिखित चार प्रमुख नैदानिक रूप गिनाए जाते हैं: तान प्रतिष्टंभ, हैबिफ्रेनिया, साधारण विखिंडित मनस्कता और विभ्रमित पैरानोयड विखंडित मनस्कता है।

कैटाटोनिया (तान प्रतिष्टंभ) की अभिव्यक्ति दो मुख्य संलक्षणों, कैटाटोनिक जड़िमा और कैटाटोनिक उत्तेजना, से होती है। कैटाटोनिक जड़िमा में रोगी दुराग्रहपूर्ण और कभी-कभी विचित्र और बेढंगी स्थिति अपनाए रखता है। उदाहरण के लिए, हाथ और पैर मोड़े हुए पड़े रहना और ठोड़ी को सीने की ओर दबाए रखना तथा सिर को तकिए पर उठाए रखना (कैटालेप्सी या पेशी प्रतिष्टंभ) (चित्र 29)। यह स्थिति, भले ही उसे कही हुई बात को समझने में रुकावट नहीं डालती है, वह स्वयं अपनी रुग्ण अवस्था को समझता है और कभी-कभी अपने आसपास की चीजों को

चित्र 29. विखंडित मनस्कता के तानप्रतिष्टम्भ का रोगी पेशीय प्रतिष्टम्भ की दशा में।

सही ढंग पर तथा सूक्ष्मता से आँकता है। जड़िमा रोग से स्वस्थ होने के बाद रोगी की बातचीत से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आसपास की चीजों को समझता है। कैटाटोनिया का बारंबार होने वाला एक लक्षण नकारात्मकता है। इस दशा में रोगी को जो करना चाहिए वह उसके विपरीत करता है। उसे जब जीभ दिखाने को कहा जाता है तो वह अपने जबड़े कस कर बंद कर लेता है। अपने हाथ को उठाने के बजाय पीछे खींच लेता है। जब उसे कमरे में जाने को कहा जाए, तो वह विरोध करता है। रोगी को जब खाना खिलाने का प्रयास किया जाता है तो यह अपना मुँह भोजन से फेर लेता है और मुँह कस कर बंद कर लेता है, पर यदि उसे खाना खिलाने वाला व्यक्ति भोजन उसके पास छोड़ कर चला जाए तो फिर वह स्वयं ही

भोजन कर लेगा।

कैटाटोनिया के नैदानिक चित्र में **शब्दानुकरण, क्रियानुकार** और **नियत मोटर उत्तेजना** विशिष्ट है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि शब्दानुकरण में रोगी उन्हीं शब्दों को दोहराता है जो उसको कहे गए हैं और उसी स्वर शैली में दोहराता है। उदाहरण के लिए जब चिकित्सक उससे पूछता है—"आपकी तबीयत कैसी है ?" तो वह उत्तर में कहता है : "आपकी तबीयत कैसी है ?" क्रियानुकरण रोगी अपने पास के लोगों की चाल तथा गति की नकल करता है।

कैटाटोनिया के ऊपर वर्णित लक्षण—प्रतिष्टंभ, मूकता, नकारात्मकता, शब्दानुकरण, क्रियानुकरण और रूढ़िवधिता—पेशी विखंडित मनस्कता के अन्य रूपों में भी हो सकते हैं। कैटाटोनिया उत्तेजना या जड़िमा की घटना के साथ विसर्गरहित कैटाटोनिया की अपेक्षा अधिक अनुकूल मार्ग लेती है। विसर्गरहित कैटाटोनिया में व्यक्तित्व खराव होता जाता है।

कैटाटोनिक उत्तेजना नियमित रूप से एकाएक होती है। रोगी कहीं भाग जाने का प्रयास करता है और नीरस, उद्देश्यहीन चाल चलता है तथा काफी समय तक लगातार हाथों को अनियमित चलाता रहता है और एक शब्द भी नहीं बोलता है। और न हो अपनी धुरी पर घूमता है। उसकी बातचीत में टूट-फूटे मुहावरों और शब्दों का गड्डमड्ड रहना है। उसका व्यवहार आवेगात्मक होता है। एक रोगी जो कि अभी तक चुपचाप लेटा हुआ है एकदम उछल कर अपने पीछे के रोगी पर या और किसी पर गिल पड़ता है। उसे धक्का देकर फिर लेट जाता है और दृढ़ हो जाता है।

कैटाटोनिया में वर्धी विकार बहुत ही प्रत्यक्ष होते हैं, इसमें चेहरा चिकना होता है। हथेलियों और पैरों पर पसीना आता है, नाड़ी सुस्त होती है और धमनी दाव घट जाता है।

हैबीफ्रेनिया या विखंडित मनस्कता का बाल रूप : इस प्रकार की विखंडित मनस्कता में विनोदप्रियता, मैत्री पूर्ण व्यवहार तथा विचारों का अशांत प्रवाह आदि नैदानिक लक्षण हैं। बहुधा इस रोग का अनपेक्षित रूप से तव पता चलता है जबकि रोगी कोई बेतुका काम करता है। उदाहरण के लिए, एक पुरुष रोगी को मनोविकारी अस्पताल में भर्ती कराने के पूर्व कई बार पुलिस स्टेशन ले जाना पड़ा, क्योंकि वह सार्वजनिक स्थान पर "बचाओ, बचाओ" चिल्लाया और दूसरी बार उसने एक अनजान स्त्री के मुँह पर थूक दिया। इस रोग से पीड़ित रोगी मूर्खतापूर्ण व्यवहार करता है, मुँह चिढ़ाता है और

चित्र 30. विखण्डित मनस्कता (हैवोफ्रेनिया) के रोगी की मुख-विकृति

बेवकूफ बनाने का प्रदर्शन करता है और एकाएक हँसने लगता है या अपनी जीभ दिखाता है या मूढ़ की सी मुद्रा बना लेता है (चित्र 30)। उसके विचार असंबंध और असंगत होते हैं। उदाहरण के लिए जब उससे पूछा जाता है कि वह कैसा है, तो वह उत्तर देता है "मेरे दाँत में दर्द है, कागज पियानो पर है, रुक जाओ"। उसकी वार्ता शब्दों के सलाद जैसी होती है : "बड़ा वातावरण, क्रिया के नियम, मुर्गी का चूजा, नीला रोशनदान"। कभी-कभी रोगी को विभ्रम होता है और वह भ्रमित विचारों के खंड अभिव्यक्त करता है। निरंतर प्रेरक उत्तेजना के कारण उसका व्यवहार मूर्खतापूर्ण और आक्रामक होता है। ऐसे रोगियों की चौकस निगरानी की जानी चाहिए।

विखंडित मनस्कता का साधारण रूप : धीरे-धीरे बढ़ती हुई जड़ता, भाव-हीनता, वातावरण से उदासीनता, कोरी दार्शनिकता के रूप में विकसित विचार, केटाटोनिया के बिना असंबद्ध विचार, हैबिफ्रेनिक या विभ्रम की भ्रांति की चित्र तथा सामाजिक और कर्मी कार्यों में भाग लेने की क्षमता की हानि आदि यदि नैदानिक चित्र में प्रधान हों तो ऐसी विखंडित मनस्कता को साधारण रूप वाली विखंडित मनस्कता कहा जाता है। यह धीरे-धीरे विकसित होती है और रोगी का व्यवहार काफी समय तक ठीक रहता है। इस रोग में एक लड़का (या लड़की) जो कभी सक्रिय और मिलनसार था, अपने मित्रों से दूर रहने लगता है और अपना अधिक समय शय्या पर बिताने लगता है तथा अपने निकट संबंधियों की चिंताओं के प्रति विमुख हो जाता है। अपने माता-पिता के लिए नफरत से भरी बातें करता है और यहाँ तक कि उनकी (माता, पिता की) हत्या का विचार भी प्रकट करता है। रोग का भीषण आक्रमण होने के पूर्व काल में पहले तो परिस्थितियों के प्रति भावात्मक प्रक्रिया अपर्याप्त होती है और फिर भाव का सर्वथा अभाव हो जाता है। उदाहरण के लिए, किसी शोकपूर्ण घटना पर वह हँसता है या अपने खराब स्वास्थ्य पर बातचीत करते-करते हँसने लगता है। एक युवक को, जो कि अपने माता-पिता की एकमात्र संतान था, विखंडित मनस्कता का रोग हो गया और अब उसकी चिंतित माँ ने उससे पूछा कि उसे क्या तकलीफ है, वह क्यों अन्यमनस्क और विचलित रहता है तो उसने उत्तर दिया कि "मैं आत्महत्या करने के तरीके पर विचार कर रहा हूँ क्योंकि मैं अपने चारों ओर की चीजों की ओर से भावहीन और संवेदनहीन हो चुका हूँ।" इन रोगियों में बहुधा बोधी विचार नहीं होते तथा इनमें मनःप्रेरक उत्तेजना नहीं होती है।

बीमारी के बहुत बढ़ जाने पर रोगी का ध्यान केवल भोजन करने, सोने और शौच में रहता है। वे अपने चारों ओर घटने वाली घटनाओं से सर्वथा उदसीन रहने लगते हैं।

विखंडित मनस्कता के विभ्रमित-पैरानोयड रूप के लक्षण विभ्रम और भ्रांति है। यह रोग बहुधा उन लोगों को होता है जो 30 वर्ष की अवस्था के हो चुके हैं। रोगी व्यक्ति को आदेशात्मक और धमकाने वाली आवाजें नियमित रूप से सुनाई देती है।

विभ्रम के अंश से रोगी के व्यवहार का पता लगता है। आज्ञार्थक श्रवण विभ्रम के प्रभाव से रोगी भोजन करने से मना कर सकता है, वह खिड़की के बाहर कूद सकता है, अपने आपको तथा अपने आस-पास के लोगों को चोट पहुँचा सकता है। रोगी जो कुछ सोचता है, वही उसे वहुधा सुनाई देता है (विचारों की ध्वनि गूँजती रहती है)। बहुधा रोगी को अधिकाधिक आवाजें सुनाई देती हैं, जबकि उनके बिंब उसके बाहर नहीं, वल्कि अपने अंदर दिखाई देते हैं, जैसे कोई उसके सिर या पेट में बैठ कर बोल रहा हो। रोगी कहता है कि किसी बुरा चाहने वाले ने उसे उसके अंदर घुसा दिया है। विखंडित मनस्कता वाले रोगी को बहुधा शरीर के विभिन्न भागों में अजीब तरह के संवेदन महसूस होते हैं : जैसे ठंड लगना, सूजन होना, शरीर में धारा सी प्रवाहित होना, जलन महसूस होना (स्पर्श विभ्रम होना), ऐसा महसूस होना कि भोजन में ये अरुचिकर गंध आ रही है और कभी-कभी रोगी को अपने स्वयं में से दुर्गंध आती महसूस होती है (इसे घ्राण विभ्रम कहते हैं)। विखंडित मनस्कता में दृष्टि विभ्रम वहुत कम होता है। भ्रांतियाँ विभिन्न लक्षणों वाली होती हैं और इनके साथ बहुत विभ्रम होते हैं। परंतु भ्रांति विभ्रम के बगैर भी हो सकती है। रोगी बहुधा इस वात का दावा करता है कि उसके इर्द-गिर्द की स्थिति उसके प्रति नकारात्मक है (इसे संदर्भ की भ्रांति कहते हैं)। उसे ऐसा विश्वास होता है कि कोई उनकी निगरानी कर रहा है या कोई उसे विष देना चाहता है, या उसे विशेष किरणों या विद्युतधारा के प्रभावधीन कर देना चाहता है (उत्पीड़न की भ्रांति होती है)। यदि रोगी को यह विश्वास हो जाए कि उसके आंतरिक अंग सड़ रहे हैं और आपस में जुड़े जा रहे हैं तथा उसे असाध्य रोग है तो यह रोगभ्रमी भ्रांति का रोग है।

विखंडित मनस्कता का निदान वहुत कठिन हो सकता है और विशेषकर अव कि इसके प्रारंभ में सामान्य लक्षणों (सिर दर्द, हृदय, पेट या आँतों में अरुचिकर संवेदन) की शिकायत हो और रोग के लक्षण धीरे-धीरे बढ़ते जाएँ। ऐसी दशा में रोगियों का उपचार चिकित्सा के अन्य विशेषज्ञों द्वारा बहुत दिनों तक चलता रहता है और उससे कोई लाभ नहीं होता है। कई बार विखंडित मनस्कता के ऐसे रोगी मिलते हैं जो कि कायिक चिकित्सालयों के विभिन्न विभागों में जठरशोथ, वृहदांत्र शोथ, कृमि पर्याक्रमण और तंत्रिकावसाद इत्यादि के उपचार के लिए भर्ती रहते हैं। विखंडित मनस्कता के प्रारम्भ में रोग की गतियाँ ही निदान का निश्चायक कारक होती हैं : एकांतवास की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, सांसारिक रुचियों से खिंचाव, अपने व्यक्तिगत अनुभवों की दुनिया में खोए रहना (स्वपरायणता), शारीरिक और मानसिक क्षेत्र के रोगों में सुधार न होने की शिकायत जैसी भावहीनता, कार्यकारी क्षमता और स्वतः प्रेरणा का प्रभाव होना।

अन्य दशाओं में रोग एकाएक और तेजी से प्रकट होता है। संभ्रम, अपार और एकदम निराधार भय तथा भ्रांति के लक्षण मिलते हैं। रोगी कमरे में चक्कर

खाता रहता है और अपनी दशा को बहुधा शब्दों में इस प्रकार समझता है कि "मैं तो पागल होता जा रहा हूँ"। बढ़ती हुई प्रेरक उत्तेजना के साथ-साथ संभ्रमित चेतना और तीव्र विषालुता के लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे—शरीर का बढ़ा हुआ तापमान, श्लेष्मलकला का सूखना, मूत्र का दिन ब दिन कम होना, तेज और अनियमित नाड़ी चलना आदि। इस प्रकार का प्रारंभ विखंडित मनस्कता का नियत, कालिक या प्रवेगी रूप होता है।

रोग के अन्य रूपों की तरह, इस प्रकार के रोग से पीड़ित रोगी को फौरन मनोविकारी चिकित्सालय में भर्ती करा दिया जाना चाहिए।

विखंडित मनस्कता का रोग पूर्वबाल्यावस्था, किशोरावस्था और यौवनारंभ अवस्था में भी हो सकता है। विकारी पारिवारिक इतिहास स्कूल पूर्व की अवस्था वाले बच्चों में विखंडित मनस्कता के प्रारम्भ होने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है। दो से चार वर्ष की अवस्था वाले शिशुओं में सक्रियता का अभाव होना और अकेलेपन में रहने के लक्षणों से विखंडित मनस्कता का निदान किया जाता है। शिशु को खिलौने में कोई रुचि नहीं रह जाती है और वह हर चीज से विमुख हो जाता है। इस अवस्था में रोग के अनुतीव्र होने की अभिव्यक्ति निराधार भय से होती है। शिशु को अपने प्रिय खिलौने से, पुस्तक के चित्र से तथा अपने माँ-बाप तक से डर लगने लगता है। उसे ऐसा डर लगता है कि वह स्वयं या अन्य कोई मर जाएगा और या किसी अन्य प्रकार की महाविपत्ति (जैसे आग लगना, भवन का ढह जाना) आ जाएगी। उसे कालिक विभ्रम होते हैं। उसे अपने विस्तर में बहुत से जीव-जंतु रेंगते दिखाई देते हैं। बच्चे को शरीर के विभिन्न अंगों में पीड़ा का अनुभव होता है। शिशुओं में वाक्‌विकार होना इसका प्रथम लक्षण है : बच्चा बोलना बन्द कर देता है (मूक हो जाता है) या एकाएक कुछ नए और अजीब से शब्द बोलता है। जिन बच्चों को यह रोग बहुत कम उम्र में हो जाता है उन्हें अपने स्वयं की फिक्र नहीं रहती है, वे नहाते-धोते नहीं हैं तथा बेढंगे से हो जाते हैं। बहुधा इन बच्चों में जड़िमा और नकारात्मकता जैसे कैटाटोनिक लक्षण मिलते हैं, जो कालिक कैटाटोनिक उत्तेजना का रूप धारण कर लेते हैं। विखंडित मनस्कता का रोग जितनी कम उम्र में हो जाता है, बालक की प्रतिभा के विकास पर उसका उतना ही अधिक अवरोधक प्रभाव होता है। इस रोग (विखंडित मनस्कता) का पैरानोयड रूप प्रारंभिक बाल्यावस्था में बहुत कम होता है। विखंडित मनस्कता में कैटाटोनिक लक्षणों की प्रधानता को छोटे बच्चों में मंद और प्रतिकूल गति से पहचाना जाता है। बाल्यावस्था में विखंडित मनस्कता के अन्य रूपों में अनुकूल परिणाम हो सकता है।

उपचार : विखंडित मनस्कता के उपचार के विभिन्न तरीकों में से इंसुलीन-कोमाटोज पद्धति अब तक सबसे अच्छी समझी जाती है; और विशेष रूप से उन रोगियों में जिनका रोग पुराना न हो (एक वर्ष से कम का हो)।

पिछले दशकों में मनोविकार चिकित्सा की कई नई पद्धतियाँ निकाली गई हैं जिन्हें व्यापक मान्यता प्राप्त हुई। इन तरीकों में से अवताप जीवी जीवाणु (मनोवियोजी औषधि वर्ग) पदार्थ--द्रमिनाजीन (क्लोरप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड) और प्रोपाजीन--को धीरे-धीरे या जल्दी-जल्दी खुराक बढ़ा कर प्रयुक्त किया जाता है। रोग के एकाएक प्रारंभ होने पर मनोवियोजी औषधि वर्ग से उपचार किया जाता है। मनोवियोजी औषधि वर्ग में मिनाजीन या लेवोप्रोमाजीन की पहली खुराक 25 से 50 मि.ग्रा. की होती है। उत्तेजना होने पर 2.5 प्रतिशत घोल वाली इस औषधि को 1.0 से 2.0 मि.ली. प्रोकीन हाइड्रोक्लोराइड के साथ मिला कर नितंब के ऊपरी पार्श्व चतुर्थांश में अंतरपेशीय इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है। रोग के प्रारम्भ में मोटर और वाक उत्तेजना होती है तथा रोगी का झुकाव आक्रामक, सामाजिक रूप से खतरनाक गतिविधियों की ओर होता है। औषधि की शरीर पर प्रक्रिया को देखते हुए औषधि की खुराक को विभिन्न दर से बढ़ाया जाता है (इष्ट मात्रा 100 से 300 मि.ग्रा. है)। अन्य औषधियों में रूसी योग ट्रिफ्टाजीन (ट्राइफ्लूपेराजीन हाइड्रोक्लोराइड) उल्लेखनीय है। दीर्घकालिक रोग में विभ्रम और भ्रांतियाँ होती हैं और उसमें 2.0 से 50 मि.ग्रा. (या अधिक) प्रति खुराक निर्धारित की जाती है। विखंडित मनस्कता में जब एक औषधि से लाभ नहीं होता है तो एमिनाजीन और ट्रिफ्टाजीन का मिश्रण प्रभावकारी होता है। विभ्रम-भ्रांति के लक्षण होने पर हैलोपेरीडाल गोली की 5.0 से 20 मि.ग्रा. मात्रा प्रतिदिन लेने की सलाह दी जाती है। कैटाटोनिया होने पर मेझाप्टिल (थायोपेराजीन) की गोलियाँ (45 से 70 मि.ग्रा. प्रतिदिन की खुराक) दी जाती है। विखंडित मनस्कता के अवसाद सहित होने पर एमिनाजीन और इमीजीन (इमीप्रामीन) की खुराक 25 से 75 मि. ग्रा. तक की दी जाती है।

ऐसे रोगियों की देखभाल के लिए जिम्मेदार उपचारिकाओं और उनकी सहायिकाओं को भली-भाँति यह ज्ञात रहना चाहिए कि इन औषधियों के प्रयोग के पहले कुछ दिनों में कौन-कौन से इतर प्रभाव हो सकते हैं, और इसलिए सभी रोगियों के लिए 15 से 20 बूँद कोर्डामीन और 0.03 ग्राम डाइमेड्राल की प्रतिदिन एक या दो खुराकें निर्धारित की जाती हैं।

विखंडित मनस्कता के रोगियों को मानसिक रोग चिकित्सालय से छुट्टी देने के बाद भी उनकी निगरानी बहिरंग चिकित्सा केंद्र में करते रहनी चाहिए और उनको संरक्षण चिकित्सा मिलती रहनी चाहिए, ताकि रोग की पुनरावृत्ति न हो। रोग की अपवृद्धि को घर पर ही रोकना चाहिए। इस प्रकार के उपचार के संवहन में उपचारिकाओं की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। अवतापजीवी जीवाणुओं द्वारा चिकित्सा से निपात भी हो सकता है। यदि ऐसा हो तो रोगी को उसकी पीठ के बल लिटा दिया जाता है और उसके सिर के नीचे कोई तकिया नहीं रखा जाता, तथा उसकी टाँगें थोड़ी उठी हुई रखी जाती हैं। 10 प्रतिशत के 1 मि.ली. कैफीन

घोल का इंजेक्शन फौरन लगाया जाता है या उसे पीने को तेज चाय दी जाती है। इसलिए उपचारिका को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अवतापजीवी जीवाणु औषधि देने के बाद रोगी एक दो घंटे तक बिस्तर पर पड़ा रहे। उपचार आरंभ करने पर यह बिल्कुल अनिवार्य है। गंभीर मनोविक्षिप्त स्थिति के उपशमन के लिए इंसुलीन द्वारा चिकित्सा निर्धारित की जाती है। उसी क्षण से इंसुलीन कोमाटोज विधि द्वारा मनोवियोजी औषधि वर्ग से विखंडित मनस्कता का मिश्रित उपचार प्रारंभ किया जाता है। इंसुलिन सुबह और शाम को (अधिकतर सोने के समय) दी जाती है। उपरोक्त वर्णित मनोवियोजी औषधि में से एक को छोटी खुराक में मुँह से या इंजेक्शन के रूप में दिया जाता हैं

उपचार की सारिणी इस प्रकार है : इंसुलिन को प्रतिदिन खाली पेट दिया जाता है। इसकी खुराक 4 इकाई से शुरू कर धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है (उपचारार्थ खुराक से शुरू करके कोमा प्रेरित करने वाली खुराक लगभग 80 से 120 इकाई तक)। इंसुलिन की खुराक बढ़ाने से अधो शर्करा रक्तता के लक्षण पैदा होने लगते हैं और यह क्रम कोमा की स्थिति में समाप्त होता है।

सन्यस्त की स्थिति रक्त में शर्करा की मात्रा में 20-10 मि.ग्रा. प्रति 100 मि. ली. (सामान्य स्तर 100-120 मि.ग्रा./100 मि.ली.) की गिरावट के कारण होती है और इसकी नैदानिक अभिव्यक्ति चेतना की कमजोरी और कायिक तथा वर्धी विकारों के रूप में होती है। रोगी पीला पड़ जाता है और वह बुलाने, छूने या चुभाने पर भी अनुक्रिया नहीं प्रकट करता, उसे पसीना बहुत आता है, श्वसन खर्राटेदार होता है, आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं, जिन पर प्रकाश की प्रतिक्रिया नहीं होती। कभी-कभी चेहरे और अंगों की पेशियों में फड़कन होती है और अपस्मार-रूपी दौरे पड़ते हैं। रोगी अधिक-से-अधिक 30 से 50 मिनट तक कोमा की स्थिति में रहता है, उसके बाद 40 प्रतिशत ग्लुकोस घोल 10 से 20 मि.ली. की मात्रा में अंतःशिरा इंजेक्शन से दिया जाता है। रोगी जैसे ही प्रश्नों के उत्तर देने योग्य होता है उसे फौरन ही तेज शक्कर का घोल (200 ग्राम चीनी प्रति 100 मि.ली. पानी या चाय के साथ) पिलाया जाता है। उसके थोड़ी देर बाद उसे ऐसा भोजन दिया जाना चाहिए, जिसमें विशेष रूप से कार्बोहाइड्रेट हो, इससे उसकी रक्त-शर्करा का स्तर ठीक हो जाता है।

इंसुलीन-कोमाटोज चिकित्सा विशेष वार्ड में दी जाती है, जिसमें 8 से 10 या अधिक रोगी हों। इन रोगियों की व्यवस्था करना उपचारिकाओं और उनके सहायकों की जिम्मेदारी होती है और उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस उपचार-विधि के सभी नियमों का भली-भाँति पालन हो। ऐसे रोगियों को इंसुलिन का टीका लगाने के बाद पूरे समय तब तक वार्ड में रखना चाहिए, जब तक वे इंसुलिन कोमा से स्वस्थ न हो जाएँ।

उपचारस्वरूप रोगी को 30 से 40 बार तक कोमा प्रेरित किया जाता है। इसके अलावा रोगी को सोते समय प्रतिदिन 35 से 200 मि. ग्रा. एमिनमजीन या लेवोप्रोमाजीन दिया जाता है। इंसुलीन और मनोवियोजी औषधि वर्ग के मिश्रित प्रयोग से मनःप्रेरक उत्तेजना घट जाती है। ऐसी उत्तेजना इंसुलिन अल्प ग्लुकोस रक्तता या कोमा की स्थिति में होती है। उत्तेजना घटने से उपचार काल घट जाता है और अत्यधिक शिथिलता आ जाती है।

अल्प ग्लुकोस रक्ताल्पता के द्वारा होने की संभावना (विशेषकर दिन को दोपहर के पहले) को ध्यान में रखना चाहिए। इसके पूर्व लक्षण भी वही हैं : कमजोरी, अन्यधिक पसीना और जड़िमा। यदि ऐसे लक्षण हों तो फौरन 40 प्रतिशत वाला ग्लुकोज का घोल 10 से 20 मि.ली. तक शिरा में देना चाहिए। हल्की अल्प ग्लुकोज रक्ताल्पता होने पर रोगी को 100 से 200 मि.ली. रोज चीनी का घोल पिला देना ही काफी होगा। 100 मि.ग्रा. एमिनाजीन या लीवोप्रोमाजीन सोते समय लेने से शामक (प्रशांतक) प्रभाव पड़ता है जिससे तनाव या चिंता से आराम मिल जाता है तथा अच्छी नींद आ जाती है। विखंडित मनस्कता के रोगियों के उपचार के सभी साधन चिकित्सक के निर्देश के अनुकूल ही होने चाहिए।

चिरकारी विखंडित मनस्कता का उपचार मनोवियोजी औषधि वर्ग, एमीनाजीन, ट्रिफ्टाजीन (1.0 से 50 मि.ग्रा.) या हैलोपेरीडाल (5.0 से 20 मि.ग्रा.) या इनके मिश्रण के दीर्घकालीन प्रयोग द्वारा किया जाता है। मानसिक रोग चिकित्सालय से छुट्टी मिलने के बाद भी रोगी को संरक्षण चिकित्सा मिलती रहनी चाहिए।

विखंडित मनस्कता रोग के मामलों में बहिरंग चिकित्सा की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि चिकित्सा का संगठन कार्य नियमनिष्ठ रूप से किया गया है। इसमें उपचारिका की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है, वह रोगी को उसके घर देखने के लिए नियमित रूप से जाती रहती है, और यह देखती है कि रोगी मनोवियोजी औषधि लगातार ले रहा है तथा चिकित्सक की सलाह का पूरी तरह अनुपालन कर रहा है।

दीर्घकालिक मनोवियोजी औषधि चिकित्सा में इंजेक्शन लगने की जगह पर अंतःसंचरण हो जाता है। पेशी ऊतक के वियोजन से होने वाले फोड़े को बनने से रोकने के लिए आवश्यक है कि एमीनाजीन इंजेक्शन लगाने वाली जगह को प्रतिदिन ध्यानपूर्वक देखा जाए। यदि मामूली सी भी अतिरिक्तता हो तो नितंबों को अति उच्च आवृत्ति धारा के प्रभावाधीन करने की सलाह दी जाती है। अमीनाजीन को, विशेषकर ट्रिफ्टाजीन को, काफी समय तक लेते रहने से पेशी कठोरता, हाथों में कंप और अत्यधिक लार आने लगती है (अर्थात् पारकिन्सनता के संलक्षण होते हैं) अथवा इसके विपरीत, प्रेरक (मोटर) की बेचैनी की स्थिति आ जाती है, जिसमें कि नींद ठीक नहीं आती। 1.0 मि.ग्रा. बेंजोक्सोल कई दिन तक लेते रहने से कठोरता

ठीक हो जाती है। प्रेरक की बेजैनी कैफीन (0.1 ग्रा. दिन में एक या दो बार) लेने से या कोर्डीमीन (15 से 20 बूँद) और डाइमेड्रोल (0.03 ग्राम दिन में एक या दो बार) लेने से ठीक हो जाती है।

उन्माद-अवसादी मनोविक्षिप्ति

आवर्ती मनोविक्षिप्ति विकास से कभी उन्माद, तो कभी अवसाद होता है। इस रोग में पूरे समय तक कभी एक स्थिति तो कभी दूसरी स्थिति या केवल अवसादी अथवा केवल उन्मादी स्थिति की प्रक्रिया होती रहती है। रोग के एक चरण से दूसरे चरण तक रोग रहित अंतराल भी होता है तथा कार्यक्षमता भी पुनः पूरी तरह वापस आ जाती है और रोगी पहले की तरह अपना कामकाज करने लगता है, क्योंकि रोग में कोई भी असामान्य मानसिक प्रभाव नहीं होता है।

चित्र 31. रोगी वर्तुल मनोविक्षिप्ति के उन्मादी चरण में।

उन्मादी चरण में (चित्र 31) रोगी अतिशयित, सुखाभास सहित अच्छी मनोदशा में रहता है तथा उसमें विचारों की धारा तेजी से बहती रहती है। मन में विचार बहुत तेजी से आने के कारण रोगी अनवरत रूप से जोर-जोर से बोलता रहता है या गाता रहता है अथवा अपनी स्वयं की कविताओं का पाठ करता रहता है। वह बहुत चंचल रहता है। एक जगह पर एक मिनट तक के लिए बैठ नहीं सकता और हर समय कुछ-न-कुछ करते रहने का प्रयास करता है, वह आजिज करता रहता है, हर बात में टाँग अड़ाता है। वह हर बात को गौर से देखता है और हर कुव्यवस्था की मीन-मेख निकालता है। यह उत्तेजना एक दिन और रात तक रहती है। रोगी दो से चार घंटे तक सोता है और कभी-कभी सारे समय जागता रहता है। यद्यपि ऐसे रोगी बराबर चलते रहते हैं पर उनका वजन कम नहीं होता है। बहुधा वे अपनी स्थिति को ठीक तरह से समझ नहीं पाते हैं और अनोखे व्यावसायिक अवसरों की बात करते रहते हैं। वे अपनी योग्यता (महान होने की मिथ्या भ्रांति) या अपने

आप के बहुत सुंदर होने की बात सोचते हैं।

अवसाद की स्थिति में रोगी की हालत उन्मादी स्थिति के बिल्कुल विपरीत होती है। उसकी मनोदशा अवसादग्रस्त हो जाती है। रोगी को गुस्सा चढ़ा रहता है और उसे स्थिति से निपटने का रास्ता नजर नहीं आता है तथा वह लगातार आत्महत्या करने का प्रयास करता रहता है। रात्रि में भी उसे शांति नहीं मिलती। रोगी सो नहीं पाता। सोचने की शक्ति की मन्दता के कारण वह प्रश्न का उत्तर देर से और केवल एक शब्द में देता है। रोगी व्यक्ति के चेहरे पर दीर्घकालिक पीड़ा का स्थायी भाव झलकता है (चित्र 32)। वह या तो सिर लटकाए बैठा रहता है या सारे समय लेटा रहता है। उसकी चाल बहुत ही धीमी होती है। रोगी अपने आप न तो उठ सकता है और न स्वयं हाथ-मुँह धो सकता है, न कपड़े पहन सकता है और न ही बिना किसी की सहायता के स्वयं भोजन ही कर सकता है। वह दावा करता है कि वह स्वयं अपराधी है, और अपने को किसी को मुँह दिखलाने के काबिल नहीं समझता और भोजन करने से इन्कार करता है। रोग के इस चरण में गंभीर कायिक विकार हो जाते हैं। त्वचा सूख जाती है। धमनी दाब बढ़ जाता है, भूख घट जाती है। पेट और आँतें सिकुड़ जाती हैं, जिससे कि कोष्ठबद्धता हो जाता है। रोग के प्रथम लक्षण बाल्यकाल में भी (5 से 10 वर्ष की अवस्था तक) पहचाने जाते हैं। अवसाद विशेषकर बालकों में तीव्र होता है। उन्मादी स्थिति की अभिव्यक्ति व्यवहार, अस्थायी मनोदशा, चिड़चिड़ेपन और विचारों के प्रवाह में गतिहीनता से होती है। अवसादी और उन्मादी

चित्र 32. रोगी अवसाद की दशा में।

स्थिति वाले बच्चों को ऐसे मनोविकार विज्ञानी की देखरेख में रखना चाहिए जिसने बाल रोग में विशेषज्ञता प्राप्त की हो। अवसादी स्थिति वाले बच्चे को निश्चित रूप से चिकित्सालय में भर्ती कराया जाना चाहिए। इनकी उपचार विधि भी बड़ों की उपचार विधि के समान होती है। प्रतिअवसादी औषधि की खुराक बच्चों के लिए बड़ों की अपेक्षा आधी या उससे भी कम होती है।

उपचार और देखभाल : अवसाद के उपचार के लिए प्रतिअवसादी औषधियों का प्रयोग अधिकतर होता है। ये औषधि हैं, इमाइजीन (इमीप्रामीन) जो पहले 25 मि.ग्रा. की खुराक में निर्धारित की जाती है और धीरे-धीरे इसकी खुराक बढ़ाते-बढ़ाते 100 से 200 मि.ग्रा. तक कर दी जाती है तथा 10 मि.ग्रा. की खुराक में एमाइट्रिप्टलीन दिया जाता है। अवसाद और संताप से थोड़ा आराम तो औषधि लेने के पहले दिन से ही महसूस होने लगता है। हृद क्षिप्रता और कमजोरी की संवेदना इतर प्रभाव के रूप में हो सकती है। इसका उपचार एक महीने से दो महीने तक चलता है। हल्के अवसाद के उपचार के लिए प्रयुक्त हल्के उद्दीपक समूह की रूसी औषधियों में मेरीडिल (मेथाइल फेनीडेट) उल्लेखनीय है जिसकी 10 से 15 मि.ग्रा. की दो या तीन खुराकें प्रतिदिन दी जाती हैं। दूसरी औषधि है एजेक्सोडोन जिसकी प्रतिदिन 25 से 100 मि.ग्रा. तक खुराक है। अन्द्रिा को रोकने के लिए प्रतिअवसादी औषधि प्रातःकाल और दिन में ली जाती हैं। यदि प्रति अवसादी औषधियां प्रतिदिष्ट हैं (जिगर या तिल्ली तथा धमनी अतिरिक्त दाब के रोगों में) या रोगी इन्हें सहन नहीं कर पाता है तो अफीम के योग, शिवर में आक्सीजन अभिश्वसन और 15 मिनट के गर्म स्नान (30^0 सें.) की सलाह दी जाती है।

कर्मचारी वर्ग को रोगी की शारीरिक स्थिति, उसके पोषण और आंत्रक्रिया पर ध्यान रखना चाहिए और देखना चाहिए कि रोगी अपने हाथ-पैर धोते हें, मुंह दांत साफ करते हैं तथा अपना मुँह साफ करते हैं या नहीं रोगी व्यक्ति को बहुधा चम्मच से खिलाना पड़ता है और पेट की सफाई के लिए रोज एनीमा देना पड़ता है।

अवसादी चरण में रोगी पर लगातार चौबीसों घंटे नजर रखना आवश्यक है, क्योंकि रोगी में आत्महत्या करने का विचार बना रहता है। चिकित्सालय में भरती करना आवश्यक होता है।

उन्मादी स्थिति वाले रोगी को मनोवियोजित औषधि वर्ग का उपचार देना चाहिए। इसकी प्रारंभिक खुराक 25 से 50 मि.ग्रा. के बीच होती है जो धीरे-धीरे बढ़ा कर 200-300 मि.ग्रा. तक की जाती है। दो से चार घंटे तक टब में स्नान लेने का हितकर प्रभाव होता है, पर हृदय की क्रिया पर कड़ी नजर रखी जाती है। ब्रोमाइड यौगिक (10 प्रतिशत सोडियम ब्रोमाइड घोल का एक चम्मच दिन में तीन बार दिया जाता है) और 2.5 प्रतिशत मैग्नीशियम सल्फेट घोल की 5.0 मि.ली. मात्रा के अंतरपेशीय इंजेक्शन से मनःप्रेरक उत्तेजना घट जाती है।

अनिद्रा में मनोवियोजित औषधि (लेवोप्रोमाजीन और निट्राजेपाम) 5.0 से 10.0 मि.ग्रा. दी जाती है। चिंता अवसाद होने पर हल्का प्रशांतक (5.0 मि.ग्रा. डाइजापाम दिन में दो या तीन बार) लेने की सलाह दी जाती है।

रक्तधर वाहिकाओं के रोगों से मानसिक विकार

50 से 60 वर्ष की आयु में, और विशेषकर पुरुषों में, प्रमस्तिष्क वाहिका के थिरोकाठिन्य से संबंधित मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं। सिर की चोट, मदात्यय, संक्रमण और धूम्रपान से यह रोग बढ़ सकता है। यह धीरे-धीरे बढ़ता है। प्रमस्तिष्क थिरोकाठिन्य के पूर्व लक्षण हैं—अपसामान्य थकावट, अनिद्रा, चिड़चिड़ाहट, सिर में भारीपन और टिनिटस (कानों में शोर)। आवेश अस्थिरता इसका नियमित और पूर्व लक्षण है। मामूली सी बात पर रोगी रोने लगता है और फिर आसानी से रोनेग की मुद्रा से विनोदी भाव की मुद्रा में आ जाता है। इन लक्षणों के साथ ही जल्दी की भुलक्कड़पन के लक्षण भी दिखने लगते हैं। रोगी अपने परिचितों, चीजों के नाम और घटनाओं तक को भूल जाता है। यहाँ तक कि ऐसी घटनाओं को भी भूल जाता है जो कि अभी-अभी या थोड़ा पहले घटी हों। स्मृति की प्रगामी अवनति से रोगी की काम करने की क्षमता घटती जाती है और उसे सिर में तेज पीड़ा और घुमनी का अनुभव होता है। रोगी को बहुधा अपनी विकारी स्थिति का ज्ञान होता है और वह अपनी कार्यक्षमता की अवनति पर विचार करता रहता है। बहुधा अवसाद बढ़ता जाता है और रोगी आत्महत्या करने की सोचता है। थिरोकाठिन्य वाला रोगी चिड़चिड़ा हो जाता है, इसलिए उस पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिए। रोग की प्रथम अवस्था में यदि रोगी कार्य और आराम का रोग निरोधी विधान बरतता रहे तथा आयोडीन के यौगिक लेता रहे तो रोगी की दशा काफी अच्छी रहती है।

मस्तिष्क के वाहिका रोगों, थिरोकाठिन्य का लक्षण 'अस्थिर' है, जिससे कि रोगी की हालत दिन में, कभी-कभी घंटों में और मिनटों में बदलती रहती है। यदि स्थायी पक्षाघात, आंशिक घात, या अपस्मारी दौरे और मनोभ्रंश का आघात हुआ हो तो प्रमस्तिष्क थिरोकाठिन्य की तीव्र दशा में जटिलता आ जाती है। कुछ कायिक विकार भी देखे जाते हैं : जैसे कैचेक्सिया (क्षीणता), शय्याशोथ और हृद क्रिया का निर्बल होना।

उपचार : रोग की प्राथमिक अवस्था में रोगी को दूध और सब्जी की खुराक लेने की सलाह दी जाती है तथा मदिरा और धूम्रपान वर्जित किया जाता है। आयोडीन यौगिक (आयोडीन टिंचर की दूध में छः से आठ बूँदें भोजन के बाद दिन में दो बार) और कालर क्षेत्र में पोटैशियम आयोडीन लगाकर आयन संचालन करने का निर्देश दिया जाता है। हंगेरियन दवा रेतावोलील (अंतर्राष्ट्रीय नामः नांड्रोलोनी डेकानोआस) के अंतर्पेशी इंजेक्शन का दौर भी लाभकर होता है। मस्तिष्क में रक्त परिसंचार ठीक

करने के लिए स्तुगेरोन (सिन्नारिजीन), काप्लामीन, कावितोन, त्रेंताल प्रयुक्त होते हैं। खनिज जल से चिकित्सा विधियों में कार्बन डायक्साइड स्नान का व्यवहार करते हैं। यदि धमनी दाब बढ़ता है तो वाहिका-विस्फोटक डाइबाजोल (हेट्रोसाइक्लिक मिश्रण के साथ बेंजीन रेडिकल वाला हाइड्रोक्लोराइड लवण), पापावेरीन और नोस्पानुम, राउनाटीन लेने की सलाह दी जाती है। अवसाद में डाइजापाम (5.0 मि. ग्रा. दिन में एक या दो बार), माइट्रिप्टालीन (1.0 मि.ग्रा. या इमाइजीन 15.9 मि.ग्रा.) का औषधि निर्देश दिया जाता है। दीर्घ स्थायी अनिद्रा में सोने से पूर्व 5.0 मि.ग्रा. मिनाजीन लेने की सलाह दी जाती है।

प्रत्यावर्तनी मनोविक्षिप्ति

ह्रास काल में होने वाले जटिल परिवर्तन प्रत्यावर्तन के अंतर्गत आते हैं। प्रत्यावर्तनी प्रकृति के मानसिक परिवर्तन बहुधा महिलाओं को होते हैं। जरा-पूर्व मनोविक्षिप्ति का नैदानिक लक्षण अवसाद या पैरानोइक प्रलाप और जरा मनोविक्षिप्ति है।

प्रत्यावर्तनी अवसाद में अवसादी मनोदशा और तीव्र चिंता के साथ विपाद होता। रोगी सो नहीं सकता है। वह बराबर कुछ-न-कुछ, भयावह वेदना के बारे में सोचता रहता है और उसे अपने नजदीकी रिश्तेदारों के सिर पर संकट मंडराता दिखाई देता है। वह एकदम निराधार निष्कर्ष पर पहुँचा है कि उसके संबंधी मर जाएंगे और वह स्वयं इस भावी विनाश का कारण है। अपने जीवन पर विचार करते हुए रोगी स्वयं को इस विनाश के लिए दोषी समझता है। रोग के तीव्र रूप में होने पर रोगी को स्वयं दोषी समझने का विभ्रम होता है। रोगी अपने को इस योग्य नहीं समझता है कि उसकी देखभाल की जाए या उसका ध्यान रखा जाए और वह कर्मचारी वर्ग की सहायता लेने से, यहाँ तक कि दवाई खाने से और भोजन करने तक से, इन्कार कर देता है। उसके व्यवहार का पता उसकी अवसादपूर्ण मनोदशा और अपराधी होने के विचार से लगता है। ऐसा रोगी लगभग सदैव ही प्रेरक उत्तेजना की स्थिति में रहता है, विभाग में इधर-से-उधर घूमता रहता है और अपने सिर को हाथों से दबाए रहता है। इस प्रकार से वह अपने अपराध के लिए सुनिश्चित सजा के खतरे और भयावह अपरिहार्य पीड़ाओं के भय को प्रकट करता है। जरा अवसाद के रोगी में आत्महत्या के विचार बहुत आते हैं। बहुधा वह अपनी मृत्यु का विचार अपने तक ही सीमित रखता है और पहले ही मौके पर आत्महत्या करने का प्रयास करता है। यह आवश्यक है कि चिकित्सा कर्मी कड़ी नजर और निगरानी रखें।

यदि रोगी भोजन करने से इन्कार कर दे तो उसे भोजन कराने का प्रयास करना चाहिए, लेकिन यदि यह प्रयास सफल न हो तो नली द्वारा कृत्रिम पद्धति से उसे खाना दिया जाना चाहिए। इस विधि की तकनीक मनोविकारी रोगियों की देखभाल वाले प्रकरण में दी गई है।

जरा पैरनोइड : अवसाद और चिंता की पृष्ठभूमि में रोगी को ईर्ष्या और उत्पीड़न के विभ्रम का अनुभव होता है। ऐसे रोगियों का यह विश्वास होता है कि कोई उन्हें मार डालना चाहता है या विश देना चाहता है। अधिकतर इन विभ्रमित अनुभवों में पड़ोसी, परिचितों और यहाँ तक कि अपने परिवार के सदस्यों तक से रोगी को भय लगा रहता है। ऐसे रोगियों में श्रवण भ्रांति और विभ्रम होते रहते हैं। रोगी को द्वार खटखटाने की, धक्का देने की और बातचीत की आवाजें सुनाई देती हैं।

उपरोक्त वर्णित मानसिक विकार कुछ महीने से लेकर तीन से चार वर्ष तक रहते हैं और कुछ रोगी एकदम चंगे हो जाते हैं और उनमें इस रोग का तनिक भी चिह्न नहीं रह जाता। ऐसे जरा मनोविक्षिप्ति वाले रोगों के साथ यदि प्रमस्तिष्क ऐथिरोकाठिन्य भी हो जाए तो यह बहुत समय तक चलता रहता है।

उपचार : जरा अवसाद और भ्रांति वाले रोगियों के उपचार हेतु मनोविकारी चिकित्सालय में भेजना चाहिए। यह जरूरी है कि उनकी शारीरिक हालत की ध्यानपूर्वक देखभाल की जाए और यह निश्चित किया जाए कि रोगी पर्याप्त भोजन करे तथा उनका पेट साफ रहे। उत्तेजना और चिंता होने पर समोष्ण जल स्नान लेने की सलाह दी जाती है और प्रति खुराक साइकोट्रोप औषधियाँ 5.0 मि.ग्रा. डाइजेपाम दिन में एक से तीन बार; लेवोप्रोमाजिन (25 मि.ग्रा.) या एमीनाजीन (25 मि.ग्रा.) सोने से पहले निर्देशित की जाती है। प्रत्यवसादक औषधियों का आजकल सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाता है : जैसे इमाइजीन की दैनिक खुराक 25 से 100 मि.ग्रा. और 200 मि.ग्रा. एमिनार्जीन से मिला कर दिया जाता है।

तेजी से बढ़ता हुआ मस्तिष्कशोथ जरा मनोविक्षिप्ति के अंतर्गत आता है और इस से मनोभ्रंश होता है। जरा मनोविक्षिप्ति अपेक्षाकृत कम पाई जाती है। पहले स्मृति कम होती है। रोगी अन्यमनस्क और भुलक्कड़ हो जाते हैं। उनको हाल की सूचना भी याद नहीं रहती है। वे तिथियाँ, लोगों और चीजों के नाम तक भूल जाते हैं। वे हाल में घटी घटनाओं को याद नहीं कर पाते। वे अपने और अपने संबंधियों तक को नहीं पहचान पाते। स्मृति के अंतरालों को गल्पन से भरा जाता है। रोगी अपनी हालत की विवेचना नहीं कर पाता है और उसे गंभीर मनोभ्रंश हो जाता है। उसका व्यवहार बेतुका हो जाता है : रोगी गड़बड़ी करने वाले हो जाते हैं। वे जूठन और कूड़ा-कबाड़ एकत्रित करने लगते हैं। आवेश क्षेत्र में भी परिवर्तन हो जाता है, उच्च्य और सूक्ष्म आवेशों का अभाव हो जाता है। रोगी अपने आचरण में अकुशल, स्वार्थी तथा दूसरों की आवश्यकताओं के प्रति उदासीन हो जाता है। वह अपने लुटे जाने की मिथ्या भ्रांति व्यक्त करता है, या रोग भ्रमी आचरण करता है तथा घोषित करता है : "मेरे शरीर के सभी अंग विघटित हो गए हैं, मेरे पेट और अंतड़ी ही नहीं है।" बढ़ती हुई क्षीण बुद्धिक्षमता के साथ शारीरिक जराक्षीणता भी होती जाती हैं सामान्य कशकायता विकसित होती है तथा अस्थि भंगुरता होती है। ऐसे रोगियों

की देखभाल करनी चाहिए क्योंकि वे ढीले-ढाले होते हैं तथा उन्हें शय्या शोथ हो सकता है।

रोग के किसी भी चरण में होनेवाली मनोप्रेरक उत्तेजना होने पर 25 से 50 मि.ग्रा. एमिनाजीन का इंजेक्शन देने से आराम मिलता है।

अपस्मार

हाल के वर्षों में 'असली' अपस्मार की धारणा काफी सीमित हो गई है। यह उन रोगों में होता है जिन में कभी-कभी पड़ने वाले दौरों के साथ व्यक्तित्व का अधिकाधिक अपकर्ष होता है। ये दौरे बचपन में अकारण शुरू हो जाते हैं। बहुत से रोगियों में अपस्मार इस बात का लक्षण है कि मस्तिष्क में अर्बुद है या अभिघात, तानिका शोथ और मस्तिष्क शोथ का अवशेषी प्रभाव है। अपस्मार का मुख्य लक्षण है आक्षेपी दौरा पड़ने के साथ चेतना का लोप या अक्षचेतन स्थिति का होना।

अपस्मारी रोग के कारण अभी तक एकदम स्पष्ट नहीं है। कई मामलों में जन्म के समय लगी चोट के कारण या अंतर्गर्भाशय जीवन में या शैशवावस्था में हुए मस्तिष्क शोथ के कारण पड़ते हैं। अक्सर अपस्मारी रोगी के माता-पिता में तंत्रिका मानसिक रोग का या मद्यात्यय का इतिहास मिलता है। यह सुझाया गया है कि चयापचयी विकार और वर्धीवाहिका तंत्र में होने वाले विचित्र परिवर्तन अपस्मारी की क्रिया-विधि को विकसित करने में सहायक होते हैं। कुछ शोधकर्ता अपस्मारी दौरे के मूल और प्रमस्तिष्क वाहिका के आकर्ष में संबंध बैठाते हैं, जिसकी पुष्टि अपस्मारी रोगियों के मस्तिष्क की शल्य चिकित्सा के दौरान की गई।

अपस्मारी के रोगी का मुख्यतः आडंबरपूर्ण, हुज्जती और उकताऊ किस्म का चरित्र होता है। प्रमुख बातों को गौण बातों से अलग कर पाने में अक्षम होने के कारण वे नगण्य सी बातों पर अटक जाते हैं, हर बात में हस्तक्षेप करते हैं और मुँह से किसी काल्पनिक न्याय की लगातार वकालत करते हैं। चरित्र की ये प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हो सकती हैं कि रोगी व्यक्ति रोज-ब-रोज के जीवन में असहनीय हो जाय। अपस्मार के रोगी व्यक्तित्व में होने वाले विशिष्ट परिवर्तन अक्सर तब रोग का निदान करने में सहायक होते हैं, जब उसके दूसरे लक्षण, दौरे, अस्पष्ट होते हैं।

निष्क्रियता अपस्मार के रोगी के चरित्र की प्रवृत्तियों में से एक है। रोगी के लिए अपनी पुरानी आदतों, पुरानी चीजों और पुराने विचारों को छोड़ना कठिन होता है और वह उन्हीं एक ही तरह के प्रभावों और भावनात्मक अनुभवों से चिपका रहता है। उसकी रुचियों का दायरा धीरे-धीरे संकुचित होता जाता है और उसकी मेधा में गिरावट आती है।

अपस्मारी रोगी बहुधा अत्यधिक नम्र, मधुर और मिटबोले होते हैं, पर वास्तव में वे भावशून्य, स्वार्थी, विद्वेषी, ईर्ष्यालु, प्रतिशोधी और अत्यंत क्रोधी होते हैं। वे

बहुधा बहुत ही धर्मनिष्ठ होते हैं तथा उनका झुकाव अंधविश्वास और रहस्यवाद की ओर होता है। इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि व्यक्तित्व में ऐसे गंभीर परिवर्तन अपस्मार वाले सभी लोगों में नहीं होते।

अपस्मार का दौरा चेतना के एकाएक लोप हो जाने के बाद शुरू होता है। रोगी व्यक्ति जमीन पर गिर पड़ता है और बहुधा मुँह के बल गिरता है और उसे चोट लग सकती है। तान के साथ प्राक्षेपों का दौरा पड़ता है। ऊपरी और निचले अंगों की पेशियाँ तन जाती हैं। इसके बाद अवमोड़न चरण आता है, अंगों की गति का तीव्र आक्षेपी आकुंचन और प्रसार होता है, चेहरे और जिह्वा की पेशियों में आकर्ष होता है और जीभ कट जा सकती है तथा मुँह में लार इकट्ठी हो जाती है जो कि झाग बनकर मुँह से बाहर निकलती है। यदि रोगी अपनी जीभ काट लेता है तो लार में खून के दाग होते हैं। आकर्ष से श्वसन पेशियाँ भी प्रभावित होती हैं और श्वसन में कठिनाई होती है; पहले तो रोगी का चेहरा पीला पड़ जाता है और उसके बाद श्याव हो जाता है। उसकी आँखों की पुतलियाँ फैल जाती हैं और उन पर प्रकाश की प्रतिक्रिया नहीं होती। दौरा पड़ने पर मूत्र और कभी-कभी मल भी निकल जाता है। दौरा बहुधा डेढ़ मिनट तक रहता है और इसके बाद विसारित संदमन होता है। निद्रा कई घंटों तक चलती है। रोगी जब जागता है तो उसे प्रायः यह याद नहीं आता है कि उसके साथ क्या हुआ है। कुछ रोगी दौरा पड़ने के बाद दो-तीन दिन तक चिड़चिड़े और क्लांत रहते हैं। वे जल्दी थक जाते हैं और उनको सिर दर्द होता है तथा मानसिक क्रिया विलंब से होती है।

कभी-कभी अपस्मारी दौरा केवल रात में पड़ता है जब रोगी सो रहा हो। उसे अपने दौरा पड़ने का पता तभी चलता है, जब कोई उसे इस बात को बताए।

बहुधा दौरा पड़ने के कुछ सेकेंड पहले रोगी को गर्मी लगती है उसे **अपस्मारी पूर्वाभास** का अनुभव होता है, जो नानाविध संवेदनों के रूप में होता है। इस या उस भाग में अरुचिकर अपसंवेदन, निश्चित गंध, दृष्टि या श्रवण के संवेदन। कभी-कभी पूर्वाभास के दौरान अपने आस-पास की चीजें अपने असली आकार की अपेक्षा छोटी या बड़ी या फिर विरूपित लगती हैं। पूर्वाभास में थोड़ी देर के लिए श्रवण शक्ति एक या दूसरे कान में कमजोर हो जाती है। कानों में सीटी का संवेदन होता है या रोगी कल्पना करता है कि कोई उसका नाम लेकर पुकार रहा है। अंततः, पूर्वाभास का विचित्र अनुभव होता है। रोगी को यह लगता है जैसे कि उस जगह को उसने पहले भी कभी देखा है, और उसके आसपास की चीजें उसी तरीके से व्यवस्थित की गई हैं और वही बातचीत पहले भी हो चुकी है तथा यह कि उसे ऐसा ही अनुभव इससे पहले भी हो चुका है। उसे ठीक से याद नहीं आता है कि यह घटना ठीक-ठीक कब और कहाँ घटी थी। पूर्वाभास बहुधा कुछ सेकंड तक रहता है, और कभी-कभी ज्यादा देर तक भी। रोगी को पूर्वाभास में इतना समय मिल जाता है कि वह अपने

बिस्तर तक पहुँच सके या अपने दौरे पड़ने की पूर्व-सूचना वह अपने आसपास के लोगों को दे सकें। कभी-कभी यह पूर्वाभास तक ही सीमित रह जाता है और दौरा नहीं पड़ता है।

अपस्मारी दौरे की क्रिया-विधि बहुत ही जटिल है और इससे संबंधित अधिकतर बातें अभी तक स्पष्ट नहीं हैं। व्यक्ति के मन विश्लेषक का प्रांतस्था भाग अपस्मार होने पर उत्तेजना की स्थिति में होता है। किसी अतिरिक्त उद्दीपक के प्रभाव से यह बढ़ी हुई आक्षेपी सतर्कता अपस्मारी दौरे में बदल जाती है। प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में उत्तेजना प्रक्रिया की प्रचंडता और विस्फोटकता अपस्मार के रोगी का लक्षण है।

अपस्मार के बड़े आक्षेपी दौरे के अतिरिक्त, हल्के दौरे भी पड़ सकते हैं, जो अपने स्वरूप में अत्यंत विविधतापूर्ण होते हैं। रोगी के आस-पास के लोग यह देखते हैं कि उसने कुछ सेकेंडों के लिए बोलना एकदम बंद कर दिया है, फिर किसी बिंदु पर खाली निगाह जमाता है, जैसे कि वह वहाँ मौजूद ही नहीं और उसके कुछ देर बाद फिर बातचीत ऐसे शुरू कर देता है जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। बहुत ही कम रोगियों को छोटा दौरा पड़ने के बाद थकान और कमजोरी महसूस होती है।

बड़े और छोटे दौरे के बीच विभिन्न प्रकार के अंतवर्ती रूप होते हैं। कभी-कभी रोगी एकाएक मूर्च्छित हो जाता है, जमीन पर गिर पड़ता है और उसके चेहरे तथा अंगों की पेशियों में आक्षेप होता है। दौरे में कभी-कभी चेतना लुप्त हो जाती है और रोगी इधर-उधर भागने का प्रयास करता है।

अपस्मारी रोगी में काफी समय के लिए अर्धचेतन स्थिति भी रह सकती है, जिसमें रोगी बिना समझे-बूझे कार्य करता रहता है। यह सबके सामने अपने कपड़े उतार सकता है या कपड़े पहने हुए पानी में कूद सकता है, आदि। अर्धचेतन स्थिति में रोगी किसी दूसरे नगर को चला जा सकता है, या वह अपने को किसी अपराध का भागी बना सकता है, जैसे रास्ता चलते समय किसी आदमी को मारना या किसी घर में आग लगा देना। अर्धचेतन स्थिति से उबरने के बाद रोगी को कुछ याद नहीं रहता है। अर्धचेतन स्थिति की अभिव्यक्ति तेज मन प्रेरक उत्तेजना से होती है। इसमें अथाह डर लगता है या डरावने सपने आते हैं जो रोगी को आक्रामी कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं। यह स्थिति कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक रहती है।

अपस्मारी रोगियों में आवेशी विकार भी हो सकते हैं, रोगी एकाएक, अकारण ही द्विवेषी बन जाते हैं और साथ ही दोषान्वेषी, बहुत ही चिड़चिड़े और आक्रामक हो जाते हैं। उदारहण के लिए एक पुरुष रोगी, जो मृदुभाषी और अत्यंत विनम्र था, कभी-कभी उत्तेजित हो जाता था और थूकता था। वह कहता था कि वह गुस्से से भरा हुआ है। वह अपनी मुट्ठियाँ जकड़े हुए गलियारे में इधर-उधर घूमता था या अपने बिस्तर पर पड़े-पड़े कहता था, "मेरे पास मत आओ, नहीं तो मैं तुम्हें जान से मार दूँगा"। कुछ समय के बाद सब शांत हो जाता था, उसे अपने सारे शरीर

में मचक सी महसूस होती थी और वह सो जाता था।

सोने के लिए अनियंत्रित इच्छा, तंद्रालुता के दौरे अनुकूल अवस्था समझी जाती है। रोगी को निद्रालुता की विचित्र अवस्था का अनुभव होता है। यह अनुभव कभी-कभी दिन में भी होता है, जिसका रोगी दमन नहीं कर पाता है। कुछ मिनट या सेकेंडों तक वह अपनी आँखें बंद करके अचल रहता है। वह अपनी हालत का विस्तार से वर्णन करता है।

यदि अपस्मारी दौरे एक के बाद एक पड़ते रहें और दो दौरों के बीच अंतराल इतना कम हो कि रोगी की चेतना वापस न आए तो सतत अपस्मार हो जाता है जो कि घंटों से लेकर कई दिनों तक रह सकता है। यह अवस्था बहुत ही खतरनाक है और ऐसे में आपत्कालीन उपचार की आवश्यकता होती है।

अपस्मारी रोगी दौरे के अंतराल में पूर्ण रूप से स्वस्थ होते हैं, शारीरिक और मानसिक दोनों ही रूपों में। यह अधिकतर ऐसे रोगियों पर लागू होता है जिन्हें दौरा कभी-कभी पड़ता है। जिन रोगियों को दौरा जब-तब पड़ता रहता है, उनमें विशेपकर मानसिक विकार देखे जाते हैं।

यदि अपस्मार रोग बाल्यकाल में हो तो तेज दौरा न पड़कर वृद्धि रोधी दौरे का दवदवा रहता है, जिसमें अभ्रसंज्ञा की पृष्ठभूमि में आक्षेप बहुधा होते हैं। परंतु तानो आक्षेप की अवमोड़नी आक्षेप स्थान्नापन्न नहीं करते हैं। बच्चे में अपस्मारी दौरा रूढ़िबद्ध गति वाली मूर्च्छा के समान होता है यानी वह अपने धड़ को अक्ष पर मरोड़ता रहता है। एक ही शब्द को बार-बार दोहराता रहता है।

बच्चों में अपस्मारी दौरे के तुल्य की अभिव्यक्ति मनोदशा में होने वाले आकस्मिक तीव्र परिवर्तनों से होती है। बच्चा सनकी और विद्वेषी हो जाता है। वह डर की अनुभूति के साथ जागता है और कहीं दूर भाग जाने का प्रयास करता है।

उपचार : अपस्मार के उपचार में ऐसी औपधियों का प्रयोग होता है जो तंत्रिकातंत्र की उत्तेजना को कम करती है और जिनका आक्षेपरोधी प्रभाव पड़ता है। ये औपधियाँ हैं फेनोवारबिटल (0.05 से 0.1 ग्रा. सोने के पहले या सुवह और शाम), डाइफेनाइन (डाइफेनाइल हाइडेंटोन सोडियम) (0.1 ग्रा. दिन में तीन बार प्रति दिन), क्लोराकोन (1.0 ग्रा. प्रतिदिन तीन बार)। हाल ही में, हैक्सामिडीन (प्रिमीडोन) (0.25 ग्रा. प्रतिदिन तीन बार) और कार्बामाजेपीन (100 से 200 मि.ग्रा. दिन में एक या दो बार) दिए जाते रहे हैं।

अपस्मार के उपचार में निम्न दवाएँ भी कारगर होती हैं : क्लोनाजपाम, फेनोबारबिटल, बेंजोनाल, क्लोराकोन। रोगी को निर्जलकारी साधन अवश्य देते हैं (डियामोक, हाइपोटियाजीड आदि)। कभी-कभी विषहारी इलाज भी करते हैं। इसके लिए टियोसोडियम टियोसल्फेट, उनितोल, ग्लुटामीन अम्ल आदि देते हैं और साधारण नमक के प्रयोग का प्रतिबंध लगाते हैं।

अपस्मार का उपचार कई वर्षों तक चलता है। इसका मुख्य सिद्धांत है कार्यविधि का विशिष्टीकरण करनातथा सर्वाधिक प्रभावी औषधि को चुनना, तथा उपचार में क्रमभंग न होने देना।

अपस्मारी रोगियों का विशेष पथ्यापथ्य नियमों का पालन करना चाहिए, जिन्हें अत्यधिक थकान, रात्रि में कार्य करने धूम्रपान से बचना चाहिए, भोजन में मिर्च मसाले नहीं लेने चाहिए तथा मदिरापान नहीं करना चाहिए। ठीक दिनचर्या और नियमित उपचार से रोगी की हालत में सुधार होता है और अपस्मारी दौरे की संख्या घट जाती है।

जब कोई बड़ा अपस्मारी दौरा पड़ता है, तो रोगी के कपड़े ढीले कर देना आवश्यक है (जैसे कालर और पेटी आदि) और उसके सर के नीचे कुछ मुलायम चीज रखनी चाहिए जिससे कि कोई गंभीर चोट न लग सके। रोगी को पकड़कर बैठाना निषिद्ध है। जब आक्षेप खत्म हो तो रोगी को बिस्तर पर लिटा देना चाहिए।

मनः प्रेरक उत्तेजना वाली अर्धचेतन दशा वाले रोगी को आपत्कालीन उपचार देना चाहिए। क्लोरल हाइड्रेट (2 से 3 ग्रा. प्रति 50 मि.ली. जल में दिन में एक या दो बार) या हैक्सानल (25 मि.ली. जल मे 1 ग्राम गुदा द्वारा या 10 मि.ली. डिस्टिल्ड जल में 1 ग्राम अंतरशिरा से) देने की सलाह दी जाती है। 0.5 प्रतिशत सेडुक्सीन का 4-6 मि.लि. (20-30 मि.ग्रा.) का अंतर्शीरा साधन भी लाभकर है। बच्चों के लिए इसकी मात्रा होगी—10 मि.ग्रा., पर इसके साथ 40% ग्लुकोज घोल का 20 मि. लि. अवश्य देना चाहिए। यदि ये उपाय निरर्थक सिद्ध हों आर दौरे खत्म नहीं हों तो कटिवेधन करना पड़ता है।

आक्षेपी दौरों की अभिव्यक्ति बहुधा मस्तिष्क की विभिन्न कायिक क्रियाओं से होती है। उदाहरण के लिए, मस्तिष्क में अर्बुद होने पर या प्रमस्तिष्क कपाल की चोट होने पर आक्षेपी दौरे लाक्षणिक होते हैं। ऐसे रोगियों में पेशी समूह में ऐंठन शुरू होने के साथ दौरा पड़ता है, यानी चेहरे पर, ऊपरी ओर निचले अंगों में चेतना का लोप हुए बिना ऐंठन होती है। प्रांतस्था में उद्दीपन धीरे-धीरे प्रदीप्त होना है और विभिन्न पेशियाँ आक्षेपों में भाग लेती हैं जिसके फलस्वरूप सामान्य दौरा पड़ सकता है। इस दौरे को जेक्सन का अपस्मारी दौरा कहते हैं। इन रोगियों में मस्तिष्क के अर्बुद या मस्तिष्क अथवा तानिकाओं में पश्चअभिघातज क्षत चिह्न द्वारा प्रेरित उत्तेजना का सीमित फोकस होता है। दौरे के मुख्य कारक (अर्बुद, क्षतचिह्न, या आगंतुक शल्य) को निकाल कर और अति आक्षेप औषधि चिकित्सा द्वारा उपचार किया जाता है।

चिकित्सा कर्मचारियों को हिस्टीरिया आक्षेप से अपस्मारी दौरे के अंतर को पहचानना चाहिए, क्योंकि अपस्मारी के लक्षण बहुधा स्पष्ट नहीं होते।

अपस्मारी दौरे में पूरी तरह से चेतना लोप हो जाता है। जमीन पर गिरने से

रोगी को चोट लग सकती है, वह अपने आपको जला सकता है या खुद को कोई और चोट लगा सकता है। अर्धचेतन स्थिति में होने के कारण रोगी बेवकूफी के कार्य करता है जो उसके अपने लिए तथा दूसरों के लिए खतरनाक हो सकते हैं। यह स्पष्ट है कि अपस्मार रोगी की चिकित्सा कर्मियों को निरंतर देखभाल करनी चाहिए। यदि रोगी की पुतली पर प्रकाश की अनुक्रिया न हो, पुतली प्रकाश पड़ने पर संकुचित न हो तो यह रोगी के अचेत होने का यथार्थ प्रमाण है।

हिस्टीरिया के दौरे में रोगी की चेतना का लोप नहीं होता और नेत्र की पुतली पर अनुक्रिया होती है। वह जमीन पर नहीं गिरता और मलमूत्र त्याग अनैच्छिक रूप से नहीं होता और न ही रोगी अपनी जीभ काटता है। हिस्टीरिया का दौरा काफी देर के लिए होता है, इसमें रोगी बड़बड़ाता रहता है या चिल्लाता रहता है। चिकित्सा कर्मियों की मौजूदगी में अवमोटनी आक्षेप के अतिरिक्त कृत्रिमता और घनीभूतीकरण होता है। अस्वाभाविक गतियों का निश्चित अर्थ और रूप होता है और इससे रोगी के आवेश प्रकट होते हैं। हिस्टीरिया के दौरे के बाद गहरी नींद नहीं आती है। दौरे और उससे पूर्व के आवेश अभिघात के संबंध को सदैव ही नैदानिक संकेत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि कभी-कभी अपस्मारी दौरा भावावेशों द्वारा प्रेरित होता है।

अपस्मारी दौरा पड़ने के बाद रोगी संभ्रमित और आचरण की सीमा से परे होता है। उसके लिए बोल पाना कठिन होता है और उसकी निगाह एक बिंदु पर टिकी रहती है। हिस्टीरिया में रोगी आँखों का सफेद दाग दिखलाता है और पुतली को आँखों के किनारे की ओर घुमाता है। उसकी पलकों को उठाया नहीं जा सकता है, क्योंकि वह बलपूर्वक इसे बंद रखता है।

शिशुओं में अपस्मारी संलक्षण विभिन्न घटकों के कारण आसानी से सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिए शिशुओं में पराथाइराइड ग्रंथि की अपूर्णता होने पर चयापचयी विकारों के द्वारा तानी और अवमोटनी आक्षेप प्रेरित किए जा सकते हैं। इस रोग को स्पास्मोफीलिया कहते हैं, जो कि शिशुओं को होता है। तीन वर्ष की अवस्था तक पहुँचने पर बच्चा इस रोग से पूरी तरह स्वस्थ हो जाता है और रोग का कोई अवशेष नहीं रह जाता है। स्पास्मोफीलिया से पीड़ित रोगी का उपचार कोडलिवर आयल, फास्फारेस योग और विटामिन ए. बी. सी. और डी. से किया जाता है।

आक्षेपी दौरों के साथ बहुधा तीव्र संक्रमण विभिन्न प्रकार की मादकता और कृमि का प्रहार होता है। अंततः आक्षेपी दौरे के साथ-साथ तंत्रिकातंत्र के कायिक रोग भी हो सकते हैं (मेनिंगो मस्तिष्क शोथ, जल तानिकाशोथ)। जिस सरलता से आक्षेपी संलक्षण बाल्यकाल में मिलते है। उसका संबंध संदमन क्रिया के अपूर्ण विकास से और प्रमस्तिष्क प्रांतस्था की उत्तेजना के विकरण से होता है।

विक्षिप्ति

विक्षिप्ति का मूल कारक मनोवृत्ति की अव्यवस्था है, जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न विकारी स्थितियों द्वारा होती है। ये स्थितियाँ ऐसे हालात के कारण होती हैं जो मानस पर अभिघातज प्रभाव डालती हैं। विक्षिप्ति को आधिज रोग समझा जाता है। मानसिक रोगों के अंतर्राष्ट्रीय वर्गीकरण के अनुसार विक्षिप्ति रोग समूहों को पृथक किया जाता है। इनमें से तीन रूप महत्त्वपूर्ण है—तंत्रिकावसाद, मनोग्रस्ति विक्षिप्ति और हिस्टीरिया।

तंत्रिकावसाद का रोग तंत्रिका तंत्र के प्रति आभास के कारण होता है। इसके नैदानिक चित्र में एक ओर तो बढ़ी हुई उत्तेजना के लक्षण होते हैं और दूसरी ओर क्लांति होती है। एक रोगी में बढ़ी हुई उत्तेजना के और दूसरे में थकान के लक्षण हो सकते हैं। इस प्रकार की तंत्रिका उत्तेजनों के लक्षणों में चिड़चिड़ापन, अपसामान्य क्लांति अश्रुपूर्णता होती है। तंत्रिकावसादी रोगियों के लिए अपने आवेश को दबा पाना अत्यंत कठिन होता है। उनके लिए किसी बात की प्रतीक्षा करना असहनीय होता है। प्रकाश और ध्वनि के जिन उद्दीपकों का स्वस्थ मनुष्य आदी होना है तंत्रिकावसादी रोगी उनके प्रति अतिसुग्राही होता है : दरवाजों का भड़भड़ाना, चलने की आवाज, सड़क का शोर, दूसरे रोगियों की बातचीत, तेज संगीत, चमकीला प्रकाश और ठंडी तथा गर्म चीज का स्पर्श तंत्रिकावसादी रोगी के लिए सह पाना कठिन होता है।

निद्राविकार तंत्रिकावसाद का एक सर्वाधिक आम लक्षण है। शाम के समय रोगी सो नहीं सकता है, उसके मस्तिष्क में पुरानी घटनाओं के विचार घिरे रहते हैं। दिन की अनावश्यक और छोटी-सी-छोटी घटना पर उसको लगातार खयाल आते रहते हैं, कभी-कभी उसके दिमाग में कोई भी उलझन वाले विचार नहीं आते हैं और वह सो जाना चाहता है पर कई घंटों तक वह सो नहीं पाता है। आखिरकार जब वह सो जाता है, तब तनिक सी आवाज या सरसराहट से जाग जाता है और फिर जागता ही रहता है। उसकी नींद हल्की और मुसीबतों भरी होती है, बहुधा अप्रिय स्वप्न आते रहते हैं। इससे रोगी के मन में प्रसन्नता या फुर्ती नहीं होती, जो आराम करने के बाद मिलती है; और वह सारे दिन उनींदा और थका-सा रहता है।

तंत्रिका विज्ञान परीक्षण से कंडरा और श्लेष्मलकला से प्राप्त अतिशयित प्रतिवर्त और उँगलियों तथा पलकों के कम्प का पता चलता है। चेहरे और गले की त्वचा लाल धब्बों से ढक जाती है, हथेली, पैरों और शरीर के अन्य भागों में तेजी से पसीना आता है तथा नाड़ी तेज चलती है। तंत्रिकावसादी शरीर के विभिन्न भागों में अप्रिय संवेदन की शिकायत करता है, जैसे दिल में भारीपन, पेट या आँतों में दर्द, सिरदर्द और घुमनी महसूस होना। तंत्रिका की अति उत्तेजना के साथ अत्यंत मानसिक थकान के लक्षण बहुधा मिले हुए होते हैं जो जल्दी थकान, ध्यान की शीघ्र क्लांति और

अस्थिरता तथा कार्य करने की क्षमता कम होने में अभिव्यक्त होते हैं। रोगी के लिए अपने दैनिक कार्य पर ध्यान केंद्रित करना कठिन होता है। उसका ध्यानांतरण आसानी से हो जाता है और जो कुछ भी वह पढ़ता है, वह उसे याद नहीं रहता। इस अवस्था से उसे चिंता हो जाती है, क्योंकि वह समझता है कि उसकी 'स्मृति का लोप' हो गया है और वह अब काम नहीं कर सकता। इस आवेशीय अवस्था में वह अपना ध्यान केंद्रित करने में और अधिक अक्षम हो जाता है। बातचीत के दौरान अपने व्यक्तिगत जीवन या सामाजिक घटनाओं का कालक्रमिक ढंग से वर्णन करने में या अपने परिचितों के नाम याद करने में उसे बहुत कठिनाई होती है। अवसाद और चिंता तथा स्थिति के अनुकूल परिणाम के प्रति चिंता के साथ-साथ इसमें घटी हुई कार्य-क्षमता, क्षीण निद्रा, शरीर के विभिन्न अंगों में अप्रिय पीड़ा वाले संवेदन, घटी हुई काम सक्रियता (नपुंसकता), के लक्षण होते हैं। तंत्रिकावसाद बच्चों में भी हो सकता है। ऐसा बच्चों में अपसामान्य मानसिक और शारीरिक जोर पड़ने से होता है। ऐसा जोर बच्चों पर तब पड़ता है जब माता-पिता अपने बच्चों में पाठ्येतर प्रतिभा जगाने हेतु जोर डालते हैं (जैसे अतिरिक्त विदेशी भाषा का पढ़ाना, संगीत के पाठ देना, स्केटिंग तथा अन्य क्रीड़ाएँ, जो उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता से बाहर होते हैं)। बच्चों के तंत्रिकावसाद के लक्षणों में दीर्घ स्थायी अनिद्रा, आवेशअस्थिरता, चिड़चिड़ापन, शरीर का भार कम होना, भूखा मर जाना और कभी-कभी धड़कन की शिकायत भी शामिल है। तंत्रिका अवसादी बच्चे की हालत तब लाजिमी और गंभीर रूप से बिगड़ जाती है जब घर या स्कूल में ऐसी स्थिति हो जिससे बच्चे के मानस पटल पर हानिकारक प्रभाव पड़ता हो, उसे अतिरिक्त काम दिया जाए, या स्कूल की परीक्षा में खराब अंक प्राप्त हों, उसे दंडित किया जाए या स्कूल के अध्यापक अथवा अन्य बच्चों से उसका झगड़ा हो। उनको हृदक्षिप्रता, अत्यधिक प्रस्वेदन, भूख का लोप हो सकता है और वे हकलाने लग सकते हैं या उनके चेहरे तथा अंगों की पेशियों में स्वभावाकर्ष (टिक) हो सकते हैं। स्वाभाव कर्ष बहुधा विशेषकर 6 और 7 वर्ष की अवस्था के बच्चों में और यौवनारंभ (11 से 13 वर्ष) में होता है। तंत्रिकावसाद के उपचार के लिए उन परिस्थितियों को हटाना चाहिए जिनसे कि अतिक्लांति हो और जिनका बच्चे के मानस पर हानिकर प्रभाव हो। ऐसे में विटामिन और शक्तिदायक औषधियों का निर्देश दिया जाता है, बच्चे को खेलकूद के लिए भेजने की सलाह दी जाती है। ऐसे में बहिरंग उपचार अधिक उपयुक्त होता है।

तंत्रिकातंत्र पर अतिक्लांति पैदा करनेवाले कारकों को दूर करने के लिए टहलने और उपचारार्थ शारीरिक अभ्यास और विभिन्न जल चिकित्सा पद्धतियों (कैल्शियम क्लोराइड वाला गैल्वानीकालर, जैट धोवन) से चिकित्सा की जाती है।

औषधि चिकित्सा में, ब्रोमाइड लवणों, वालेरियान टिंचर, कोडीन, कैफीन से बहुत सफलता मिली है। डाइजेपाम और एलीनियम जैसे प्रशांतक की 5 से 10

मि.ग्रा. मात्रा तक की छोटी खुराकें दिन में एक बार से तीन बार तक दी जाएँ तो चिंता पर इसका काफी प्रभाव पड़ता है। यौनक्रिया शक्ति घट जाने पर स्थिति को समझाने वाली वार्ता और सांत्वना के शब्दों (और कभी-कभी सम्मोहन) के साथ स्पर्माइन या पेंटोक्राइन (केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के लिए उद्दीपक के रूप में अस्थि-रहित मृगश्रृंग से निकाले गए तरल का प्रयोग किया जाता है) लेने की सलाह दी जाती है।

मनोग्रस्ति विक्षिप्ति : इस रोग के नैदानिक चित्र में मनोग्रस्तियाँ होती हैं, जो अपनी अंतर्वस्तु तथा स्थिरता में भिन्न-भिन्न होती हैं और ये मानसिक अभिघात की पृष्ठभूमि में तथा अवसन्नता या अधिक समय तक रहनेवाले शारीरिक रोगों में विकसित होती हैं। रोगी के मस्तिष्क पर विभिन्न तरह के डर और आशंकाएँ छाई रहती हैं। हृदपेशी रोगगलन (हृदभीति) से अचानक मृत्यु का भय, और प्रमस्तिष्क रक्तस्राव, या कैंसर होने का तथा किसी अन्य असाध्य रोग होने का भय लगा रहता है। बहुधा रोगी भीड़ के भय से, सड़कों को पार करने के भय से तथा ऊंचाई के भय से मनोग्रस्त रहते हैं। डर की मनोग्रस्ति के साथ वर्धी-वाहिकायम विकार—हृदय की धड़कन तेज होना, चेहरे पर पांडुरता या लाली होना, या उच्च धमनी दाब, श्लेष्मा का सूख जाना तथा श्वसन में कठिनाई—होते हैं। भय से मनोग्रस्त होने पर रोगी फौरन चिकित्सा सहायता के लिए दौड़ता है। कभी-कभी उसे यह सांत्वना और विश्वास दिलाया जाता है कि उसे कोई गंभीर रोग नहीं है और उसकी सारी आशंकाएं और भय मस्तिष्क की अतिश्रांति के फलस्वरूप हैं। मनोग्रस्ति वाले अधिकतर रोगियों का उपचार कई वर्षो तक चलता है। आधुनिक शोध से यह पता लगा है कि यह रोग बहुधा दीर्घकालिक होता है। बीमार होने से पूर्व रोगी के स्वभाव में बेचैनी और चिंता का दौर होने से उसके मस्तिष्क पर हानिकर प्रभाव होता है जिससे रोग बढ़ता है। हानिकारक स्थिति को हटा लेने के बाद भी ऐसे रोगी में विक्षिप्ति के लक्षण (डर, आशंका) बने रहते हैं। केवल उस स्थिति का उल्लेख करने मात्र से, जिससे रोगी को भीति हुई हो, रोगी फिर उसी भय में जकड़ जाता है। हृदपेशी रोध गलन (जिस में भय की विक्षिप्ति हो) में डर की विक्षिप्ति होने पर रोगी को दीर्घकालीन उपचार हेतु मानसिक रोग चिकित्सालय में भर्ती कराना चाहिए। मनोग्रस्ति विक्षिप्ति की रोग संप्राप्ति बहुत जटिल होती है। संदमन क्रिया की घटी हुई गतिशीलता की पृष्ठभूमि में प्रांतस्था पर निश्चल उत्तेजना होती है, जिससे मनोग्रस्ति की स्थिरता का पता चलता है। यह प्रमाणित हो चुका है कि शरीर में चयापचर्या (केटेकोलामीन) विकार तथा सीमांततंत्र में शोथ से स्थायी भीति का विकास होता है। इससे उपचार की आधुनिक विधि का पता चलता है। अधिक समय तक रहने वाली भीति को सदैव बुद्धिसंगत मनश्चिकित्सा से वांछित आराम नहीं मिलता। ऐसे रोगियों को जल्दी प्रतिभीति प्रभाव देनेवाली औषधियाँ दी जाती हैं जैसे, डाइजेपाम (5.0 मि.ग्रा. दिन में छः बार)। सोडियम

ब्रोमाइड (3 से 6 प्रतिशत) को वैलोकोर्डीन और वालेरियान टिंचर (10 से 15 बूँद) और कोडीन (0.01 ग्रा. से 0.02 ग्रा.) कोलियोनारस के क्वाथ में मिलाकर लेने के औषधि-निर्देश दिए जाते हैं। यह उपचार बहिरंग रोगी विभाग में दिया जाता है।

शिशुओं में मनोग्रस्ति विक्षिप्ति की अभिव्यक्ति विशेष रूप से किसी चीज की गणना करने की अनियंत्रणीय इच्छा में (जीने की सीढ़ियाँ, खिड़कियाँ व शब्दों के अक्षर गिनना, इत्यादि), या किसी शब्द या मुहावरे को तब तक दोहराते रहने में, जब तक कि नींद न आ जाय, और यह कहते रहने में होती है कि कहीं स्वयं उसे या उसके रिश्तेदारों को कुछ न हो जाय। ऐसे शिशुओं को बहुधा तब मनोग्रस्ति संदेह हो जाते हैं जब अध्यापक उन्हें पाठ लिखाने के लिए श्यामपट्ट पर बुलाता है। डर के मारे उनका चेहरा लाल हो जाता है अथवा दूसरे बच्चों के लिए वे हास्यास्पद बन जाते हैं। उन्हें संक्रमण होने, हाथों के दूषित होने, चीजों को छूने में भी डर लगता है।

उपचार में मनश्चिकित्सा संबंधी वार्ता और स्वास्थ्यकर विधान की स्थापना भी सम्मिलित होती है। ऐसे रोगियों को समूह में रखने तथा उन्हें खेलने के लिए प्रोत्साहित करने से भी हितकारी प्रभाव होता है। मनोग्रस्ति को दूर करने के लिए मनश्चिकित्सा से संबंधित चिकित्सा-कर्मियों और अध्यापकों को बहुत धैर्य की आवश्यकता होती है।

हिस्टीरिया : इस मनोग्रस्ति का नैदानिक चित्र बहुत असमान होता है। हिस्टीरिया के सभी लक्षणों को रस्मी तौर पर मनोविकृतजन्य और शारीरिक दो भगों में बाँटा जाता है। पहले समूह में हिस्टीरिया का दौरा, हिस्टीरिया की मंदद्युतिक स्थिति, हिस्टीरिया, कूट मनोभ्रंश, बलिशता और जड़िमा सम्मिलित हैं; दूसरे समूह में हिस्टीरिया आंशिकघात और अंगघात, स्वर हानि, बधिरता, मूकता, अन्धापन और मलमूत्र का अवधारण होना आते हैं।

हिस्टीरिया पुट के स्वभाव वाले लोगों में उपरोक्त लक्षण मिलते हैं। हिस्टीरिया के कुछ लक्षणों से गंभीर शारीरिक रोग के होने का पता चलता है।

हिस्टीरिया के उच्च लक्षण अब बहुत कम पाए जाते हैं। **हिस्टीरिया का दौरा** बहुधा दिन में पड़ता है जब कि अन्य लोग भी मौजूद हों। इसके पहले आवेश और मस्तिष्क के लिए अहितकर परिस्थितियाँ आती हैं। उपचारिका को हिस्टीरिया और अपस्मारी दौरे के बीच भेद को समझने में सक्षम होना चाहिए।

उपचारिका को दौरे के सभी लक्षणों का वर्णन करना चाहिए ताकि चिकित्सक इसके लक्षणों को भली-भाँति समझ सके। हिस्टीरिया के रोगी की गिरने से चोट नहीं लगती। अपस्मारी आक्षेप से भिन्न, हिस्टीरिया मूल के दौरे उत्पाती, नाटकीय और अडंबरपूर्ण होते हैं, इनमें पीड़ा प्रकट करने वाली मुख-विरूपता की भावबोधक गति होती है, रोगी अपने आस-पास के लोगों की सहानुभूति पाने तथा अपनी ओर उनका ध्यान आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ बनाता है (चित्र 33)।

चित्र ३३. हिस्टीरिया में पीठ को मोड़ना।

हिस्टीरिया का दौरा कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों तक रह सकता है। लघुकालिक अपस्मारी दौरे से स्वस्थ होने के बाद रोगी पहले तो भैंचक्का-सा रह जाता है और उसके बाद बहुत देर तक सोता रहता है, दीर्घ-कालिक हिस्टीरिया का दौरा पड़ने के बाद या लगातार दौरा पड़ने से रोगी भौंचक्का नहीं होता, उसका स्मृतिलोप नहीं होता, लेकिन दौरे से स्वस्थ होने के बाद रोगी कुछ अंतरायित कार्य करता है जैसे कि कुछ हुआ ही न हो।

हिस्टीरिया द्वारा चेतना क्षति किसी विषय पर विचारों और एकाग्रता के सीमित होने से प्रकट होती है जो कि मानस पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए, अपने पुत्र को खोनेवाली माता में मंदूद युतिक (अर्धचेतन) अवस्था आ जाती है जिसमें कि उसे स्थिति भ्रांति हुई हो। वह लगातार कोई चीज खोजती रहती है। तकिए को बच्चे के कंवल में बार-बार लपेट लेती है और उसे अपनी बांहों में लेकर कमरे में झुलाती रहती है और लोरी सुनाती रहती है। ऐसी स्थिति में वह कुछ घंटों से लेकर कुछ दिनों तक रहती है और वह फिर स्वस्थ हो जाती है।

हिस्टीरिया की मूक-बधिरता में रोगी न सुन सकता है और न बोल सकता है। वह स्थिति कुछ महीनों तक रह सकती और स्वस्थ होने पर इसका कोई अवशेष नहीं रहता है। कभी-कभी मूकता। (बोलने की असमर्थता) हकलाने में बदल जाती है।

मूक-बधिरता या जड़िमा के रूप में होने वाली हिस्टीरिया प्रक्रिया विसंज्ञा या कोमा की स्थिति में प्रकट हो सकती है। इसके निदान संबंधी निर्णय रोगी के चिकित्सकीय इतिहास और उसकी हालत पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए, जड़िमा, जिसे कायिक प्रमस्तिष्क विक्षति समझा जाता है, यदि हिस्टीरिया प्रकृति की हो तो

रोगी प्रश्नों के उत्तर नहीं देता है, पर साथ ही दर्धी और आवेश प्रतिक्रियाओं तथा मुखविरूपता से भाव प्रकट करता है, जबकि उससे उसके रोग के प्रारंभ होने या रोग के कारणों के विषय में पूछा जाता है, तो रोगी का चेहरा लाल या पीला हो जाता है और उसकी नाड़ी तेज हो जाती है। रोगी से संपर्क बहुधा लिखकर या इशारे से किया जाता है। मूत्र और रक्त परीक्षण तथा तंत्रिका तंत्र के परीक्षण से किसी ऐसी कायिक क्षति का पता नहीं चलता है, जिससे कि इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके कि रोग कायिक प्रकृति का नहीं है।

हिस्टीरिया मूल के विभिन्न विकारों में अंगघात, आंशिकघात, अंधापन, वमन और मल मूत्रावधारण होता है।

हिस्टीरिया के अधरांग घात (दोनों निचले अंगों का अंगघात), एकांगघात (ऊपर या नीचे के एक अंग का अंगघात) या असाधारण पक्षाघात में पेशीय तान सामान्य रहता है और कोई विकृतिजन्य परावर्त नहीं होता। इस हालत का पता स्थान-स्थान पर संवेदन के लुप्त होने से या पक्षाघात से जिसका संबंध न तो संवहन से होती है और न ही मूल विकार से चलता है। कंडरा परावर्त सामान्य होते हैं।

हिस्टीरिया की स्थिति में असमर्थता और चलन अक्षमता में रोगी खड़े होने और चलने में असमर्थ होता है, हालाँकि उसके निचले अंग (पैर) काफी मजबूत होते हैं और उनकी गति के समन्वय में कोई विघ्न नहीं होता।

हिस्टीरिया के अंधापन में आँखों के परीक्षण से किसी प्रकार की कायिक विक्षति का पता नहीं चलता। रोगी केवल दूरस्थ चीजों को नहीं देख पाता है या उसे दो उँगलियों में से एक, या तीन में से केवल दो दिखाई देती हैं। हिस्टीरिया के रोगी की जिस चीज को देखने को कहा जाय वह हठपूर्वक उस चीज पर अपनी निगाह नहीं गड़ाता या फिर वह उसके आस-पास देखता है।

हिस्टीरिया वमन। समय-समय पर वमन होने से गंभीर कैचेक्सिया (क्षीणता) हो सकती है, जिससे विभिन्न प्रकार के कायिक रोग मालूम होते हैं। रोगी की मानसिक दशा की क्षतिपूर्ण स्थिति में वमन अधिक बारंबारता में होता है।

यह जरूरी है कि प्रत्येक चिकित्सा-सहायक या उपचारिका हिस्टीरिया के नैदानिक चित्रण में भली-भाँति परिचित हो, क्योंकि इस स्थिति में वह रोग को उसकी प्रारंभिक अवस्था में पहचानने में डाक्टर की सहायता कर सकेगी और समय पर उपचार किया जा सकेगा।

अप्रिय आवेश अनुभव होने के बाद एकाएक हिस्टीरिया होना हिस्टीरिया का विशिष्ट लक्षण हैं। स्थिति को ठीक तरह समझने के बाद या प्रभावकारी उपचार देने के बाद इन लक्षणों का प्रतिगमन होता है और सारी शारीरिक क्रियाएँ पूरी तरह ठीक हो जाती हैं।

हिस्टीरिया के स्वभाव को आवेश अस्थिरता से पहचाना जाता है। इसमें रोगी

अपनी भावनाओं को क्रोधावेश में प्रकट करता है और उसका एक भाव आसानी से उसके एकदम प्रतिकूल दूसरे भाव में बदल जाता है। रोगी जोर-जोर से हँसता है और एकाएक पसंद के भाव के उत्तेजना में बदल जाने से फफक-फफक कर रोने लगता है। रोगी अपनी रुग्ण अनुभूति को बढ़ा-बढ़ा कर बताता है और उनका वर्णन उसके ठीक नाम से करता है (जैसे यंत्रणा, भय, पीड़ा, तीव्र, मलिन, विषाद इत्यादि) और अपने भाव को नाटकीय मुद्रा से स्पष्ट करता है। स्वार्थपरता, अहंकेंद्रिता, हर व्यक्ति के ध्यानाकर्षन बिंदु होने की ललक, झूठ बोलने की प्रवृत्ति, सनक और अपसामान्य सुझाव ग्राहिता यह सब चरित्र की हिस्टीरिया-वर्ण रेखाएँ है। हिस्टीरिया रोगी जल्दी ही टकराव उकसा लेते हैं और उनसे संपर्क रखना जोखिम वाला काम होता है।

शिशुओं में, और विशेषकर मंदबुद्धि के बच्चों में, हिस्टीरिया की अभिव्यक्ति बहुधा होती है। शिशुओं में भी नेदानिक लक्षण उसी प्रकार परिवर्तित होते हैं जैसे कि बड़ों में। स्वर हानि, मूकता, हकलाना, स्थिति-असमर्थता और चलन अक्षमता और दौरा पड़ना बहुत आम बात है। हिस्टीरिया वाली लड़कियों में दीर्घकलिक अरुचि हो जाती है। रोगी होने की अतिकल्पना की प्रवृत्ति, कल्पना, झूठ और जिद्दी होने की ऐसी प्रवृत्ति होती है, जो कि उस उम्र में बहुधा संभाली नहीं जा सकती। बच्चों में हिस्टीरिया को अनुकूल क्रम से ठीक किया जाता है। दैनिक अनिवार्य आहार-विधान, परिवार में ठीक-ठीक पालन-पोषण तथा सामाजिक रूप से लाभदायक कार्य में लगे रहने से हिस्टीरिया का आविर्भाव बिल्कुल ठीक हो सकता है। बहिरंग की उपचारिकाओं और परिचारिकाओं को चाहिए कि यह देखें कि हिस्टीरिया प्रक्रिया वाले बच्चे निर्धारित—आहार-विधान के अनुसार चलें। चिकित्सा कर्मियों को हिस्टीरिया के रोगियों के प्रति कठोर रुख अपना चाहिए। औषधि उपचार में ब्रोमाइड, वालेरियान और कभी-कभी प्रशांतक (डाइजेपाम) नुस्खे शामिल हैं।

हिस्टीरिया विकारों के औषध प्रयोग की सफलता अधिकतर उपचारिका की युक्तिपूर्ण कार्यविधि पर निर्भर करती है। हिस्टीरिया का दौरा पड़ने पर कमरे में मौजूद हर आदमी को कमरे से बाहर निकाल देना चाहिए तथा किसी प्रकार की उत्तेजना या घबराहट नहीं दिखानी चाहिए। हिस्टीरिया की दूसरी अभिव्यक्तियों में स्वास्थ्यकर आहार विधान निर्धारित किया जाता है, रोगी को किसी तरह का काम करने के लिए दिया जाता है और हर प्रयास किया जाता है कि ऐसी स्थिति न आने दी जाए जिससे रोगी के मस्तिष्क पर अहितकारी प्रभाव पड़े। मंददयुतिक अवस्था और वमन होने पर एमीनाजीन (25 से 50 मि.ग्रा. कई दिन तक) या डाइजेपाम (0.5 प्रतिशत घोल के 1.0 मि.ली. का अंतर्पेशीय इंजेक्शन) का निर्देश दिया जाता है।

प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति

किसी संबंधी की मृत्यु, आपदा, आदि जैसे अचानक और गंभीर मानसिक

अभिघात से होने वाले मानसिक विकार को प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति कहते हैं। गंभीर प्रतिघातक मनोविक्षिप्तियों को, जिनमें मनोविकृत जड़िमा हो सकती है, पहचाना जाता है। रोगी किसी भी परिस्थिति में हठी हो जाता है। संपूर्ण दृढ़ता के अतिरिक्त, मोटर प्रक्रिया भी हो सकती है। रोगी प्रश्नों के उत्तर नहीं देता, लेकिन उद्देश्यपूर्ण चेष्टाएँ करता है। धूमिल चेतना की पृष्ठभूमि में होनेवाली मोटर उत्तेजना एक अन्य प्रकार की गंभीर मनोविकृति प्रक्रिया है।

दीर्घकालिक प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति में, और विशेषकर प्रत्यावर्ती मानसिक अभिघात की स्थिति में तथा मंद प्रतिकूल पस्थितियों में होने वाले मानसिक विकार बहुधा मनोविकृत अवसाद का रूप ले लेते हैं। रोगी अवसादी होता है, और अपनी मनोदशा के लिए दूसरों को दोषी ठहराता है तथा बराबर उस स्थिति का वर्णन करता रहता है जिससे कि उसकी विकार स्थिति का संबंध है। चिंता की जगह बहुधा आशंका ले लेती है।

उन्मादी अवसाद मनोविक्षिप्ति में होने वाले अंतर्जात अवसाद से अलग, प्रतिघातक मनोविक्षिप्ति तब जल्दी से शांत हो जाती है, जब उन परिस्थितियों को हटा दिया जाय जिनके कारण मनोविक्षिप्ति हुई हो, अर्थात उस परिस्थिति को हटा दिया जाय जिसके कारण मस्तिष्क को अभिघात हुआ हो।

ऐसे दीर्घकालिक संघर्षो के कारण, जो बहुत लंबे समय तक तय नहीं होते, अधिज पैरानोयड, अर्थात झगड़ालू स्वभाव का प्रलाप हो जाता है। रोगी का मस्तिष्क इस विचार पर केंद्रित हो जाता है कि उसके हितों का अतिलघन हुआ है और वह अपनी सारी माँगों की संतुष्टि के लिए आग्रह करता है और सभी प्रकार के संगठनों को लिख कर माँग करता है कि उसके बुरा चाहने वालों को दंड दिया जाय। आम तौर पर ऐसे रोगियां को उनके विचारों से अलग करना असंभव होता है, इसलिए औषधज चिकित्सा देनी पड़ती है जोकि बहुधा अंतरंग चिकित्सा केंद्रों में दी जाती है।

तीव्र प्रतिघातक अवस्था वाले रोगियों को मनोविकारी चिकित्सालयों में 25 से 50 मि.ग्रा. एमीनाजीन की खुराक मुँह से या फिर अंतरपेशी इंजेक्शन द्वारा दी जाती है। रोग के हल्के रूप में प्रशांतक दिए जाते हैं : डाइजेपाम 5.0 से 10.0 मि. ग्रा., ट्राइओक्साजीन 200 से 400 मि.ग्रा. मुँह से। मनश्चिकित्सा या एरगोचिकित्सा की सलाह दी जाती है। दीर्घकालिक प्रतिघातक स्थिति में (विशेष रूप से पैरानोइड में) ट्रिफ्टाजीन (5.0 से 20 मि.ग्रा. प्रतिदिन) या हैलोपेरीडाल (1.0 से 1.5 मिलीग्राम दिन में एक या दो बार) दिया जाता है। प्रतिघाती अवसाद में इमाइजीन (50 से 100 मि.ग्रा. प्रतिदिन) या डाइजेपाम (25 से 50 मि.ग्रा. प्रतिदिन) दिया जाता है।

बच्चों में प्रतिघाती अवस्था की अभिव्यक्ति डर से होती है जिसके साथ में वर्धी विकार, जैसे पांडुता और स्वेदन होते हैं। इसके अतिरिक्त मोटर उत्तेजना भी

हो सकती है जो कि मोटर झंझा का रूप ले सकती है, जिसमें रोगी कहीं भाग जाने का प्रयास करता है या विनाशकारी कार्य करता है। यौवनारंभ में (10 से 12 वर्ष की आयु के बीच) बच्चे अभिघातज स्थिति से प्रतिक्रिया दिखाते हैं और बहुधा हकलाते हैं या मूक हो जाते हैं। 13 या 14 वर्ष की अवस्था के बाद प्रतिघातक अवसाद में बच्चे भोजन करने से मना कर देते हैं, जिसमें उन्हें चिकित्सालय में रखना जरूरी हो जाता है।

हल्के अवसाद का बहिरंग में उपचार लेने वाले शिशुओं पर उपचारिकाओं और उनके सहायकों को कड़ी नजर रखनी चाहिए और उनको धैर्य एवं चतुराई से सँभालना चाहिए। इनके उपचार में विटामिन और वालेरियान के साथ ब्रोमाइड के नुस्खे दिए जाते हैं। उन अंतरंग रोगियों को प्रति अवसादी (इमाइजीन) या प्रशांतक (डाइजेपाम) दिए जाते हैं, जो दीर्घकालिक प्रतिघाती अवस्था में होते हैं।

मनसतंत्रिका सेवा का संगठन

बहिरंग मनोविकारी सेवा मनसतंत्रिका औषधालय* द्वारा दी जाती है। मानसिक रोग वाले रोगियों को किसी भी विशेषज्ञ (तंत्रिका विज्ञानी या आंतरिक रोग विशेषज्ञ) द्वारा औषधालय भेजा जाता है। ये वे विशेषज्ञ हैं जिन्हें रोगी सबसे पहले मिलता है। मनसतंत्रिका औषधालय के काम का संगठन जनपद स्तर पर किया जाता है। जिला चिकित्सक, मुख्य उपचारिका और कायिक बहिरंग की जनपद उपचारिका का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने यहाँ के सभी मानसिक रोगियों को उसी प्रकार जानें जैसे वे कायिक रोगियों को जानते हैं, जो कि उस जनपद में रहते हैं। जनपद चिकित्सक बहुधा कस्बों और गाँवों में काम करते हुए अपने जिले के लोगों से मिलते हैं और उन्हें मानसिक रोग के नए रोगियों का पता चल जाता है और पहले से जाने हुए मानसिक रोगी की गंभीर स्थिति होने का भी पता चल जाता है और फौरन जनपद मनश्चिकित्सक को बुलाने की कार्रवाई करता है। निष्कर्ष यह है कि मानसिक रोग की रोकथाम, मनोविक्षिप्ति को उसके पहले चरण में पहचानना, ताकि समय से उसका उपचार हो सके, ज्यादातर इस बात पर निर्भर करता है कि जनपद चिकित्सक तथा जनपद मनसतंत्रिका औषाधालय के मनोविकार विज्ञानी के कार्यो के बीच ठीक सामंजस्य हो। चिकित्सक के सहायक और उपचारिका की भूमिका का महत्त्व कम नहीं है, यह विशेषकर उस जनपद में कार्यरत कर्मचारियों के लिए लागू होता है क्योंकि यह उनके दैनिक कर्त्तव्य में शामिल है (चिकित्सक के निर्देशों का पालन करना, रोगी को उसके घर पर देखना) और वे रोगी के परिवार से जब-तब मिलते रहते हैं और उनके

---

*नियमित बहुमुखी चिकित्सीय परीक्षण, निरोधक उपायों का लागू करने और क्षय रोग, मानसिक रोगों, त्वचा और रतिज रोगों, आदि के लिए एक विशेषीकृत चिकित्सीय उपचार सुविधा।

साथ अधिक समय विताते हैं।

विलक्षण द्वारा अभिव्यक्त मानसिक विकार के प्रथम लक्षणों को रोगी के संबंधी सबसे पहले निरीक्षण करने वाली उपचारिका को बताते हैं। ये विलक्षण व्यवहार हैं—भोजन को मना करना, रात्रि में चिंता करना और लोगों से दूर रहने की इच्छा होना।

उपचारिका को चाहिए कि वह इन लक्षणों को गंभीरता से ले और तत्काल जनपद चिकित्सक को सूचित करे। उसकी सतर्कता और सावधानी से जनपद मनोविकार विज्ञानी को उसके कठिन काम में सहायता मिलती है।

ग्रामीण आबादी को मनोविकारी सेवा क्षेत्रीय (स्थानीय) मनस्तंत्रिक औषधालय और मानसिक रोग चिकित्सालयों द्वारा दी जाती है। मानसिक रोग चिकित्सालय इनके लिए औषधालय का काम करते हैं। इन चिकित्सालयों को नगर या ग्राम की जनपद बहिरंग निदानशाला से जोड़ देना चाहिए।

सुदूर वस्ती में इस संबंध को बनाए रखने की जिम्मेदारी चिकित्सक-सहायक की होती है। चिकित्सक या उसका सहायक रोगी को क्षेत्रीय या गणराज्य के मनस्तंत्रिक औषधालय के विशेषज्ञ से सलाह लेने के लिए भेज सकता है या यदि इस बीमारी के लक्षण सुस्पष्ट हों तो वह उसे मनोविकारी चिकित्सालय में भेज सकता है। क्षेत्रीय (प्रादेशिक) औषधालय में मनोविकार विज्ञानी का यह कर्त्तव्य है कि वह जनपद चिकित्सालयों को नियमित रूप से जाता रहे और वहाँ के चिकित्सकों से, मानसिक विकावाले रोगों की चर्चा करे तथा उनके रोगों का अध्ययन करे।

औषधालय उन सब रोगियों का रिकार्ड रखता है जो कि उससे सलाह पूछते हैं। उन रोगियों का 'व्यावहारिक' रिकार्ड रखा जाता है और उन पर विशेष ध्यान दिया जाता है जो गंभीर मानसिक विकार वाले तीव्र रोग से पीड़ित हों अथवा ऐसे रोगी जिन्हें हाल ही में मनोविकारी चिकित्सालय से छुट्टी दी गई है।

इस प्रकार के रिकार्ड को रखने के सिद्धांत और रोगियों को उनके निदान और मानसिक विकार की तीव्रता के अनुसार विभाजित करने के सिद्धांतों से उपचारिका को भली-भाँति परिचित होना चाहिए।

मानसिक रोग से पीड़ित रोगियों को जनपद मनोविकार विज्ञानी विशेष सेवा प्रदान करता है और इस बात का निर्णय करता है कि रोगी को औषधालय के बहिरंग में उपचार दिया जाना है या उसे फौरन मनोविकारी चिकित्सालय में भर्ती कराया जाना है। औषधालयों में बहिरंग उपचार ऐसे लोगों को दिया जाता है जिन्हें दीर्घकालिक चिरकारी कार्यविधि के बाद मनोविक्षिप्ति का प्रतिकारी रूप हो या जिनमें विक्षिप्ति प्रक्रिया हो या उनका व्यवहार मनोविकृत हो और उन्हें मनोविकारी चिकित्सालय में रखना आवश्यक न हो।

ग्रामीण बस्ती में ऐसे रोगियों को रोज देखना, मनोविकार-विज्ञानी के सभी

निर्देशों का पालन करना, और जहाँ कहीं आवश्यक हो वहाँ आपत्कालीन सहायता देना, रोगी को मनोविकारी चिकित्सालय में भेजना आदि उस स्थानीय चिकित्सा केंद्र के चिकित्सक और उपचारिकाओं की जिम्मेदारियाँ है।

विभिन्न मानसिक रोग वाले रोगियों की अनुरक्षण चिकित्सा के संचालन में औषधालय की उपचारिका की भूमिका अत्यधिक बढ़ गई है। इस प्रकार के उपचारों में ऐसी औषधियों का निर्देश देना शामिल है, जिसका विक्षुब्ध मानसिक क्रिया पर बहुमुखी प्रभाव हो। ऐसी औषधियों को साइकोट्रोपिक कहते हैं और इनमें मनोविज्ञानी औषधि वर्ग (मेप्रोटान, ट्रायोखाजिन, क्लोरडाइजेपोक्साइड, डाइजेपाम) और अति-अवसादी (इमाइजीन, ट्रिप्टीजोल) शामिल हैं। ये औषधियाँ 5.0 मि.ग्रा. (डाइजेपाम,) 10 मि. ग्रा. (क्लोरडाइजेपाक्साइड), 25, 50 और 100 मि.ग्रा. की, तथा मनोवियोजी औषधि वर्ग 1.0 से 5.0 मि.ग्रा. की खुराक में प्रति अवसादी 10 मि.ग्रा. (इमाइट्रिप्टालीन), 25 मि.ग्रा. (इमइजीन), को ड्रेजी के रूप में बनाई जाती हैं तथा एमाइनार्जीम 2.5 प्रतिशत घोल की 1.0 या 2.0 मि.ली. की ऐंपुल के रूप में मिलती है। मनोप्रेरक प्रभाव को पूरी तरह या काफी हद तक ठीक करने के लिए एमीनाजीन, लेवोप्रोमाजीन, ट्रिफ्टाजीन और हैलोपेरीडाल को कारक के रूप में प्रयुक्त करते हैं। चिंता, डर, और तंत्र की अवसादी दुर्बलता में प्रशांतक औषधि के रूप में दिए जाते हैं।

मनोवियोजी औषधियों का इतर प्रभाव हो सकता है, भले ही वे किसी भी रूप में दी गई हों। उपचारिकाओं और उनके सहायकों को इन इतर प्रभावों की जानकारी होनी चाहिए ताकि उन्हें रोका जा सके या जो प्रभाव हो चुके हैं उन्हें दूर किया जा सके। प्रशांतको को औषधि के रूप में प्रयोग करने के प्रथम दिवसों में धमनी दाब बहुत घट सकता है और इससे जुड़ी हुई स्थिति 'निपात' के रूप में जटिल बन सकती है।

इन हालात में रोगी पीला पड़ जाता है, वह ठंडा हो जाता है, उसे चिपचिपा पसीना आता है और बहुधा उसकी चेतना का लोप हो जाता है तथा नाड़ी कमजसेर पड़ जाती है। उसे उसकी पीठ के सहारे सिर के नीचे तकिए बिना लिटाना आवश्यक है। उसके पैर थोड़े से ऊपर उठे हुए होने चाहिए; उसे पीने को तेज चाय देनी चाहिए और 10 प्रतिशत कैफीन घोल के 1.0 मि.ली. का अंतरचर्म इंजेक्शन देना चाहिए या मुख से (0.1 से 0.2 ग्रा.) कैफीन पाउडर देना चाहिए तथा चिकित्सक को तुरंत उसकी हालत की सूचना देनी चाहिए। अन्य उल्लेखनीय इतर प्रभाव है मुख का, तथा नासाग्रसनी श्लेष्मा का सूखना, तंद्रा का बढ़ना। श्वसन की कठिनाई, अतिगतिकला, चेहरे, गर्दन और कभी-कभी निचले अंगों की पेशियों के समूह में आक्षेप। ऐसे हालत में उपचारिका को चिकित्सक से पूछना चाहिए कि उपचार जारी रखा जाय या नहीं। दीर्घकालिक उपचार होने पर शरीर का भार और भूख बढ़ जाती है। कब्ज और पीलिया हो जाता है तथा श्वेत कोशिका गणना घट या बढ़ जाती है। लोहित कोशिका और

हीमोग्लोबिन स्तर घट जाता है तथा ई.एस.आर. तेज हो जाता है। औषधि की बड़ी खुराक से पारकिन्सनता से मिलते हुए संलक्षण होते हैं, तथा मोटर दृढ़ता, इंगित प्रभाव, लार और उँगलियों में कंपन के लक्षण होते हैं। एमिनाजीन या ट्रिफ्टाजीन, हैलोपेरीडोल और थायोप्रोपेराजीन के दीर्घकालिक प्रयोग से कभी-कभी बजाय इसके कि सामान्य प्रशातक प्रभाव हो, मोटर उत्तेजना और चिंता पैदा हो सकती है। जब ये संलक्षण हों तो दवा की खुराक घटा दी जानी चाहिए या फिर उपचार बंद कर देना चाहिए।

मनोवियोजी औषधि वर्ग को लेने वाले रोगियों में होने वाले उपद्रवों को उपचारिका द्वारा विशेष दैनन्दिनी (डायरी) में दर्ज कर देना चाहिए। चिकित्सक को इनके बारे में अबिलंब सूचना देनी चाहिए। उपचार के दौरान केवल चिकित्सक ही नहीं, बल्कि उपचारिकाओं और उनके सहायकों को भी रोगी की भली-भाँति देखभाल करनी चाहिए। यह आवश्यक है कि रोगी की मानसिक और शारीरिक दोनों ही हालतों का बराबर ध्यान रखा जाय।

बहिरंग में चलने वाले उपचार से दीर्घकालिक प्रगति होती है और रोगी अपने परिवार और अपने योग्य काम पर लौट जाता है। निरंतर चलने वाले उपचार से रोग का प्रकोपन रुक जाता है तथा औषधि की खुराक बढ़ाते रहने से रोगी की हालत बिगड़ने से बचाई जा सकती है। चिकित्सा सेवा को सही ढंग से संगठित करके उपचार की सुरक्षा और प्रभावोत्पादकता से आश्वस्त हुआ जा सकता है। इसमें उपचारिका महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। चिकित्सक के शिक्षित सहायक या उपचारिका ग्रामीण क्षेत्र में रहनेवाले रोगियों को, यद्यपि चिकित्सक के नियंत्रण में ही, अनुरक्षण चिकित्सा दे सकते हैं। आधुनिक मनोवियोजी औषधि वर्ग आपात् मनोविकारी सेवा में, अर्थात् प्राकृतिक संकट या महाविपत्ति के दौरान, कुछ व्यक्तियों में होनेवाले तीव्र मानसिक विकारों के मामले में, अपरिहार्य हैं।

मनोतंत्रिका औषधालयों का सबसे प्रमुख कर्त्तव्य यह होता है कि वे रोगी को नित्य उसके घर देखने जाएँ और उन्हें संरक्षण में लेकर उनके अधिकारों की सुरक्षा करें। इस कार्य में निरीक्षण करनेवाली उपचारिकाएँ सक्रिय भाग लेती हैं।

चिकित्सा विशेषज्ञ का कार्य औषधालय का दूसरा महत्त्वपूर्ण क्रियाकलाप होता है। मनोविकार विज्ञानी मानसिक रूप से रोगी व्यक्तियों की कार्य करने की क्षमता, सैनिक सेवा के लिए योग्यता और उनके मानसिक स्वास्थ्य के विषय में महत्त्वपूर्ण निर्णय देते हैं।

नगर मनोतंत्रिका औषधालयों में ऐसे रोगियों के लिए उपचार और श्रम कार्यक्रम होते हैं, जिन्हें चिकित्सालय में तो नहीं रखना होता, परंतु वे अवशिष्ट मानसिक विकार के कारण अपने व्यवसाय में नहीं जा पाते। इन कार्यक्रमों के अंतर्गत वे नए विशिष्ट व्यवसाय में दक्षता प्राप्त करते हैं। स्वास्थ्य में सुधार होने पर रोगी ऐसा कुशल हो

जाता है कि उद्यम में कार्य हेतु उसकी सिफारिश की जा सकती है। रोगी चिकित्सक और उपचारिकाओं के नियंत्रण में काम करते हैं।

मानसिक रूप से रोगी व्यक्तियों की व्यवस्था के लिए बहिरंग और अतरंग सेवा अपृथक्करणीय कड़ियाँ हैं।

सही लक्षण मिलने पर चिकित्सक रोगी को मनोविकारी चिकित्सालय में भेजते हैं, साथ ही रोग का विस्तृत इतिहास भेजा जाता है, जिसमें रोग के सारे लक्षण और वहिरंग में दिए गए उपचार का विवरण होता है। अस्पताल से छूटने के बाद सभी रोगियों का पंजीकरण जनपद मनोविकार विज्ञानी के पास होता है और पूरी तरह स्वस्थ हो जाने तक रोगी उनकी देखभाल में रहता है।

सोवियत संघ में शिशुओं के लिए मनोतंत्रिका सेवा का प्रारंभ क्रांति के बाद के प्रथम वर्षों में हुआ और आज मनोतंत्रिका संस्थानों का पूरा एक ताना-बाना है। ये संस्थान विभिन्न प्रकार के हैं जिनमें मानसिक विकार के स्वभाव के अनुसार बच्चों को भर्ती किया जाता है। विक्षिप्ति वाले ऐसे बच्चे जिन्हें केवल स्वास्थ्य लाभ की आवश्यकता है, उन्हें विशेष चिकित्सा संस्थानों और सेनीटोरियम में भेजा जाता है। तीव्र और अनुतीव्र मानसिक विकार वाले शिशुओं को विशेष मनः तंत्रिका चिकित्सालयों में भर्ती कराया जाता है। विसर्जन के बाद उन्हें बहिरंग चिकित्सालय में निगरानी में रखा जाता है। तीव्र मानसिक क्षीणता वाले बच्चों (जन्मजात, अनुवांशिक या उपार्जित) को समीप की निगरानी, देखभाल या संगठन की अभिभावकता में रखा जाता है। ये संगठन वे हैं जो सामाजिक सुरक्षा के अंतर्गत विभिन्न संस्थानों में होते हैं।

जब उपचार पूरा हो जाता है तो मानसिक रोग चिकित्सालय उस आधार पर रोगी का विस्तृत इतिहास जनपद औषधालय को भेजता है, जिस आधार पर रोगी का वहाँ पंजीकरण हुआ हो।

मनोविकारी औषधालय में निम्नलिखित विभाग होते हैं :

1. **स्वागत विभाग :** यह चिकित्सालय में भर्ती होने वाले सभी रोगियों के हेतु होता है। यह आरामदेह, स्वस्थ और शांत होना चाहिए। स्नान करने के बाद रोगी वहाँ वापिस नहीं जाता है, बल्कि उसकी कायिक तथा मानसिक अवस्था के लिए उपयुक्त विभाग में उसे सीधा भेज दिया जाता है। उसके साथ उपचारिका या सहायक को जाना चाहिए।

कुछ स्वागत विभागों में दो उपविभाग होते हैं। यह शांत स्वभाववाले रोगियों के लिए, दूसरा ऐसे रोगियों के लिए जो उत्तेजना की स्थिति में हों। लगभग वे सभी रोगी, जो पहली बार बीमार हुए हों, वहाँ भर्ती किए जाते हैं। उन पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिए क्योंकि अब तक उनके बारे में पूरी जानकारी नहीं होती है और हो सकता है कि उनके अचानक और अप्रत्याशित आचरण से उनके व्यवहार का पता चले। यहाँ के कमरे घर के कमरों की तरह आरामदेह होने चाहिए, जिनमें कालीन

बिछे हो, संगीत के साज और तस्वीरें सजी हों, जिससे कि चिकित्सालय में ठहरने से रोगी की मनोदशा पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

2. **उत्तेजित रोगयों का विभाग** उन लोगों के लिए होता है जिन्हें विशेष देखभाल और कड़ी निगरानी की आवश्यकता होती है या जिनकी प्रवृत्ति आक्रामक और वृत्ति प्रलापी होती है। इसे कुछ विशेष आकृतियों से पहचाना जाता है। यहाँ की शय्याओं में कोने तेज नहीं होने चाहिए और ये अच्छी तरह लगे हुए स्प्रिंगों और लोहे की छड़ों से मुक्त होनी चाहिए। दीवारें एकदम चिकनी होनी चाहिए। इनमें कोई हुक, कील या कपड़े टाँगने के लिए रेक नहीं होना चाहिए और न ही इनमें आले और वर्हिवेशन होने चाहिए। सभी प्लेटें, तश्तरियाँ और प्याले मजबूत और हल्के होने चाहिए तथा अगर ये अलम्यूनियम के हों तो बेहतर है। मेज पर प्लेट, प्याला (या जग) और चम्मच लगाया जाता है। इन रोगियों को छुरी या कांटा नहीं दिया जाता है।

विभाग में ऐसे कोई भारी, तेज या काटने वाले औजार नहीं होने चाहिए जिनसे रोगी अपने आपको या अन्य किसी को चोट पहुँचा सके।

3. **शांत रोगियों के लिए विभाग** ऐसे लोगों के लिए है, जिन्हें निरंतर निगरानी की जरूरत नहीं होती। अधिकतर मामलों में ये रोगी विभिन्न प्रकार की विक्षिप्ति, प्रतिक्रियात्मक दशा, वाहिकामय विक्षिप्ति के हल्के रूप में, या अभिघातज विक्षिप्ति की अभिव्यक्ति और विरले अपस्मारी दौरे से पीड़ित होते हैं।

बहुत से मनोविकारी चिकित्सालयों में इन विभागों के अतिरिक्त, **कायिक रोगों से पीड़ित मानसिक रोगियों** के लिए भी विभाग होता है। एक **दिवा आवास** होता है, जिसमें रोगियों की एक विशेष टुकड़ी अपना सारा दिन बिताती है, तथा **बच्चों के विभाग** होते हैं।

चिरकारी प्रकार के रोगों से पीड़ित रोगियों को शहर से बाहर के चिकित्सालय में रखा जाता है जहाँ उन्हें व्यावसायिक चिकित्सा दी जाती है, आम तौर पर यह खेती-बाड़ी जैसा कुछ कार्य होता है।

मनोविकारी चिकित्सालयों में लक्षण-नैदानिक प्रयोगशाला होनी चाहिए, जिनमें जीव रासायनिक, विद्युत शरीरवृत्तिक और मनोवैज्ञानिक जाँच की जा सके। एक्सरे विभाग, भौतिक चिकित्सा विभाग ओर विकृति विज्ञानी विभाग होने चाहिए, जिसमें मरणोत्तर परीक्षण हो सके। चिकित्सीय न्यायपरक परीक्षण विशेष विभागों में किया जाता है।

मदात्यय और स्वापकोन्माद से पीड़ित रोगियों का उपचार बहिरंग में किया जाता है या उन्हें मनोविकारी चिकित्सालयों में भेजा जाता है।

मानसिक रोग वाले रोगियों की देख-भाल और उपचार

रोगी के प्रति उपचारिका का दृष्टिकोण मनःचिकित्सकीय होनी चाहिए। बातचीत में

रोगी का डर दूर करना और उसे अपने रोग से संघर्ष करने में सक्रिय बनाना चाहिए। इस तरह के संबंध सिर्फ रोगी के लिए ही नहीं, पूरे वार्ड के मानसिक वातावरण के लिए अच्छा होता है।

मनोरोगी की देख-भाल के पीछे दो बातें होती हैं : रोगी के लिए कोई खतरा न उठे और वह अपने को हिचकिचाहटों से मुक्त रख सके।

मनोरोगी की निगरानी और प्रेक्षण चिकित्सकीय सहायता का ही एक अंश है, क्योंकि इससे रोगी के बारे में अधिक जानकारी मिलती है, रोग की अभिव्यक्तियों के बारे में पता चलता है, दुर्घटनाओं की रोक-थाम हो सकती है, रोगी के खतरनाक कामों के प्रति सावधानी बरती जा सकती है।

तीन तरह की निगरानी हो सकती है, जो कड़ाई के अनुसार भिन्नता रखती हैं : कड़ी निगरानी, सतर्क प्रेक्षण, सामान्य प्रेक्षण। कड़ाई का स्तर डाक्टर निर्धारित करते हैं और निगरानी का कार्य उपचारिका व अन्य कर्मचारी करते हैं।

आक्रामक वृत्ति वाले, आत्महत्या का प्रयास करने वाले या अस्पताल से भागने की चेष्टा करने वाले रोगियों पर कड़ी निगरानी रखी जाती है। जिनकी बीमारी को और नजदीक से देखना है, या जिनमें रोग प्रचंड रूप लेने वाला हो, या जिनमें दवाओं से अन्य जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती हैं, उन पर सतर्क निगरानी रखी जाती है।

मानसिक रोगी का उपचार तभी प्रारंभ हो जाता है जब उसे स्वागत कक्ष में लाया जाता है, जहाँ उसकी मुलाकात होती है ड्यूटी पर मौजूद मनोविकार विज्ञानी, उपचारिका और सहायक से। स्वागत कक्ष के कर्मचारियों का काम कुशल और समन्वयपूर्ण होना चाहिए। क्योंकि उन्हें विभिन्न प्रकार के मानसिक विकारों के रोगियों के साथ काम करना पड़ता है। जो लोग उपचार लेना चाहते हैं उन्हें बहुधा मनोविकार विज्ञानी के आदेशानुसार, शांत रोगियों वाले विभाग में रखा जाता है। कुछ रोगियों को स्वागतकक्ष में उनके संबंधी लाते है तथा अन्य को आपातूकालीन मामले में बतौर एंबुलेंस में लाया जाता है। बड़े शहरों में उत्तेजित रोगियों को मानस रोगी के लिए बनी विशेष एंबुलेंस द्वारा लाया जाता है।

चिकित्सालय में उन्हें अलग-अलग विभागों में रखा जाता है। रोगियों के पास सही ढंग से आने से तथा उनसे आवश्यक संपर्क बनाए रखने से उनकी व्यवस्था तथा उपचार में सहायता मिलती है। यदि उपचारिका और चिकित्सा सहायक पर्याप्त आत्मनियंत्रण, समझ-बूझ, धैर्य और कोमलता न बरतें तो उनके और रोगियों के बीच संपर्क स्थापित नहीं हो सकता। बुखार देखने और आंतरिक अंगों की जाँच करने के अतिरिक्त रोगी के शरीर की परीक्षा करना भी चिकित्सा के लिए आवश्यक होता है। मनोप्रेरक उत्तेजना की दशा में भर्ती किए गए रोगी के शरीर पर खरोंच, नील और अस्थिभंग भी हो सकते हैं। जितनी भी चोटों का पता लगता है उनका वर्णन रोगी वृत्त में किया जाता है। उपचारिका चिकित्सा सहायक के साथ रोगी के कपड़े

तथा उसके द्वारा लाई गई चीजों का निरीक्षण भी करती है, और उन्हें रोगी से ले लिया जाता है और तथा उसे अच्छा पाजामा और ड्रेसिंग गाउन पहनने को दिया जाता है।

स्वागत कक्ष के कर्मचारियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी वार्ड में ऐसी कोई चीज न ले जा सके जिससे कि वह अन्य रोगियों, अपने आस-पास के लोगों को तथा स्वयं को चोट पहुँचा सकें। औषधि व्यसनी रोगियों का मुँह, सिर के बाल और कान देखना आवश्यक है, क्योंकि इनमें वे लोग स्वापक छिपा सकते हैं।

उपचारिका और चिकित्सा सहायक के काम का मुख्य सिद्धांत यह है कि चिकित्सा के निर्देशों का पालन तत्परता से हो। चिकित्सक की अनुमति के बिना कोई भी औषधि नहीं दी जा सकती। रोगी को दूसरे वार्ड या दूसरी शय्या पर बदला नहीं जा सकता और न उसे चलने-फिरने की अनुमति ही दी जा सकती है। फिर भी इसका यह मतलब नहीं है कि उपचारिका को कोई पहल नहीं करनी चाहिए या वह रोगी के संबंध में अपना कोई विचार प्रकट न करे। इसके उल्टे, रोगी की शय्या के साथ लगातार रहने से उपचारिका उसके व्यवहार और मनोदशा पर नजर रख सकती है और रोग के लक्षण नोट कर सकती है और अगर रोगी की हालत में कोई परिवर्तन होता है तो उसे चाहिए कि चिकित्सक को फौरन इसकी सूचना दे।

मनोविकार के मूल सिद्धांतों के ज्ञान के बिना मानसिक रोगी की देखभाल करना असंभव है। मनोविकारी चिकित्सालय के कर्मचारियों के उग्र और अहंकारी रुख से रोगियों को भारी हानि पहुँच सकती है और यहाँ तक कि यह किसी हिंसक घटना का कारण हो सकता है।

उदाहरण के लिए, एक मनोविकारी चिकित्सालय में निम्नलिखित घटना घटी। एक उपचारिका ने, जो अपने को मनोविकार चिकित्सा में दक्ष समझती थी, एक महिला रोगी को चिकित्सक की अनुमति के बिना ही बाग में सैर के लिए जाने दिया। इस रोगी ने ठीक ढंग से व्यवहार किया, सब प्रश्नों का उत्तर दिया, विधान का पालन किया और इस बात से इन्कार किया कि उसे विकारी आवेश है या कोई निराशापूर्ण विचार है। लेकिन दूसरे शब्दों में कहें तो उसने जानबूझकर अपने को छिपा कर रखा। ऐसी स्थिति का लाभ उठाते हुए जब उस पर किसी की कड़ी नजर नहीं थी, वह भाग खड़ी हुई और चलती गाड़ी के नीचे आ गई।

अतः यह अत्यंत आवश्यक है कि मनोविकारी चिकित्सालय में काम करने वाली उपचारिका को मनोविकार के मूल सिद्धांतों का ज्ञान हो, वहाँ कड़ा अनुशासन बनााए रखा जा सके और रोगियों के व्यवहार पर सतर्कतापूर्वक निगरानी रख सकें। और इसमें अतिविशिष्टता न हो।

मनोविकारी चिकित्सालय के कर्मचारी के कार्य में यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि

उसमें मानसिक और तंत्रिका रोग से पीड़ित रोगियों से ठीक संपर्क स्थापित करने की क्षमता हो। यह जरूरी है कि उपचारिकाओं और सहायकों का रुख संतुलित, शांत, सतर्क और चतुरतापूर्ण, लेकिन साथ ही बिना भेदभाव के सभी रोगियों के साथ कड़ा भी हो। उन्हें किसी रोगी के प्रति अपनी नापसन्दी या शत्रुता कभी नहीं दिखानी चाहिए, भले ही उनकी मानसिक स्थिति में अप्रिय अनुचिह्न हों। रोगी में थूकने की आदत होने, शत्रुता और यहाँ तक कि आक्रमण को भी उसकी बीमारी ही समझा जाना चाहिए और ऐसा न हो कि इससे कर्मचारी उत्तेजित हो जाय या नकारात्मक रुख अपना ले। किसी भी हालत में रोगी से न तो ऊँची आवाज में बोलना चाहिए और न ही उसके साथ कठोरता बरतनी चाहिए और न उसे भयभीत ही करना चाहिए। ऊँची आवाज की बातचीत जो दूसरे विभागों तक सुनाई दे, और रोगी की मौजूदगी में कर्मचारियों के बीच वाद-विवाद भी निषिद्ध हैं; इससे रोगियों में तनाव और प्रेरक उत्तेजना बढ़ती है और कर्मचारियों की प्रतिष्ठा घटती है। इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि तान प्रतिष्टंभ लक्षण वाले रोगियों पर, जो जड़िमा की स्थिति में होते हैं, जो कुछ हो रहा है उसकी कोई प्रतिक्रिया तो बाहर नहीं दिखाई देती, लेकिन उसे वास्तव में सब कुछ ठीक-ठीक याद रहता है। ऐसे रोगियों से संबंधित जो भी शब्द लापरवाही से बोले जाते हैं (जैसे कि "उसे चिकित्सालय भेजा जाना चाहिए" या "उसका रोग चिरकारी है") वे बहुत समय तक रोगी के स्मृति-पटल पर बने रहते हैं। तान प्रतिष्टंभ अवस्था से ठीक होते ही, रोगी कर्मचारियों के व्यवहार का आश्चर्यजनक सटीकता से ठीक-ठीक वर्णन करता है।

उपचारिका या परिचारक की अपेक्षा अक्सर ही चिकित्सक के लिए रोगी से संपर्क स्थापित करना ज्यादा कठिन होता है। उपचारिका और सहायक के सान्निध्य से रोगी उनका आदी हो जाता है और यह देखकर कि वे उसके शुभ चिंतक हैं रोगी उनको विकारी ध्यान और प्रलापी आवेशों में शायद ही सम्मिलित करता है। रोगी बहुधा अपनी अनुभूति को अपने परिचारक को तो बता देता है पर चिकित्सक को बताने में संकोच करता है। वह उसकी सलाह लेता है और किसी खास परिचारिका या सहायक से ही भोजन स्वीकार करता है। रोगी द्वारा दिखाए गए विश्वास को पोषित करना चाहिए : ये अक्सर चिकित्सक के लिए रोगी के प्रच्छन्न आवेशों को सामने लाने में सहायक होते हैं।

रोगी को कभी भी धोखा नहीं देना चाहिए या उसे झूठ बोलकर नहीं समझाना चाहिए। रोग के परिणाम ठीक होने की संभावना, चिकित्सालय से छूटने का समय, उपचार की पद्धति और उपचारार्थ नियंत्रण के शरीर पर प्रभाव संबंधी सभी प्रश्नों का चतुरता से उत्तर देने से बचना चाहिए और इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी उत्तेजित न हो जाए। कोई फरेब करने से या वचन तोड़ने से कर्मचारी की प्रतिष्ठा ही नहीं घटती है, बल्कि इससे रोगी का अविश्वास, तनाव और उसकी

प्रलापी मनोदशा पुष्ट होते हैं। यदि उपचारिका का परिचारक अपने को रोगी के किसी कठिन और जिदभरे प्रश्न का उत्तर देने में अक्षम हों तो बेहतर होगा कि वे चिकित्सक की सलाह लें।

रोगी के सभी अनुरोधों को नहीं मानना चाहिए, क्योंकि देखने में मामूली सी चीज (जैसे पत्र लिखने के लिए तेज की हुई पेंसिल और कलम) को भी रोगी अपने को या दूसरों को चोट पहुँचाने के लिए प्रयुक्त कर सकता है। पर साथ ही ऐसे किसी अनुरोध को, जो कि विभाग के नियमों के विरुद्ध न हो (जैसे पुस्तक के लिए प्रार्थना), वायदे के अनुसार पूरा कर देना चाहिए।

उपचारिका को ऐसे रोगियों के प्रति विशेष रूप से कोमल हृदय होना चाहिए जो भय से पीड़ित हों या जिनमें अपराध का विभ्रम हो। ये रोगी प्रेरक उत्तेजना से पहचाने जाते हैं, वे उपचारिका से बातें करते रहते है और उसके सम्मुख अपने कठोर दंडनीय अपराध के दोष को सिद्ध करते रहते हैं। उद्‌बोधन, समझाने बुझाने, भर्त्सना और रोगी को मना करने के प्रयास बहुधा विफल हो जाते हैं। रोगी का उस ओर से ध्यान हटाने से और उसे कुछ काम देने से उसे आराम मिल जाता है।

अवसाद और मोटर संदमन से पीड़ित और विपाद से व्यथित रोगियों में बहुधा बिस्तर पर से उठने, और अपने बिस्तर को ठीक करने, अपने बाल सँवारने तथा खाने की इच्छा नहीं होती। उन्हें कर्मचारियों की निरंतर सहायता की आवश्यकता होती है। ऐसे रोगियों में आत्महत्या करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिए इन पर लगातार दिन-रात निगाह रखनी चाहिए। यह ध्यान में रखना चाहिए कि अवसाद वाले रोगियों में अपनी चिंता छिपाने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए उनके लिए निर्धारित विधान में कोई परिवर्तन चिकित्सक के अनुमोदन के बाद ही करना चाहिए, भले ही उपचारिका इस बात का दावा करे कि रोगी की हालत बहुत सुधर गई है।

ऐसे रोगियों की भी निरंतर निगरानी करनी चाहिए जो ठीक बर्ताव तो करते हैं, लेकिन अपने चारों ओर होनेवाली बातों से भावहीन और उदासीन रहते हैं। रोगी को अपना बिछौना सिर पर डाल कर बिस्तर पर लेटे नहीं रहने देना चाहिए, ऐसी स्थिति में दूसरों के अनदेखे ही चादर या तौलियों में अपना सिर ढक कर रोगी अपनी कमीज की बाँहों से ही अपने गले में फाँसी का फंदा डालने का उपाय भिड़ा सकता है। ड्यूटी वाले कर्मचारियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सारे तौलिए ऐसी जगह रखें हो, जहाँ से वे दिखाई पड़ते रहें।

तान प्रतिष्टंभ संदमन की दशा में विखंडित मनस्कता, या विभ्रम के क्रमबद्ध रूप विशेषकर भयानक होते हैं क्योंकि ये दशाएँ एकाएक मनप्रेरक उत्तेजना वाले प्रयोजनरहित आक्रामी आचरण में बदल सकती हैं। ऐसे रोगियों को निरंतर निगरानी में रखना चाहिए।

विभ्रम वाले रोगी बहुधा अपने आसपास की वास्तविकता और अपने विचारों

के विकारी प्रकटीकरणों को छिपाए रहते हैं और अपने को स्वस्थ समझते है तथा सोचते हैं कि उन्हें चिकित्सालय में आकरण ही रखा गया है। वे चिकित्सालय से भाग सकते है या दूसरे रोगियों और उन कर्मचारियों के प्रति आक्रामी हो सकते हैं जो उनके विभ्रमों के समय उनके साथ रहते हैं। किसी को भी रोगी के विभ्रमों की पुष्टि नहीं करनी चाहिए और न ही उसके विकारी विचारों से सहमत होना चाहिए। रोगी के साथ मजाक करना या लापरवाही से फबती कसना एकदम निषिद्ध है। रोगी को चिढ़ाने वाली या उत्तेजित करने वाली बातचीत या ऐसी कोई बात नहीं करनी चाहिए जो उसके विभ्रमों को बढ़ाने में सहायक हो। रोगी द्वारा व्यक्त प्रलापी अभिशंसा पर कभी एतराज नहीं करना चाहिए। वह जब कभी भी अपने भावों को प्रकट करना चाहे, तो उसे धैर्यपूर्वक सुनना आवश्यक हैं उजडपन से ऐसा वातावरण बन जाता है, जिससे कि विभ्रम उग्र हो उठता है। उत्तेजना की हृदय तक पहुँचनेवाली मोटर-वाक बेचैनी और हड़बड़ी वाले रोगी के प्रति एक विशेष रुख अपनाने की जरूरत होती है। उन्मादी स्थिति वाले रोगी में, जिनमें कुछ-न-कुछ करने की सतत इच्छा होती है, हर बात में दखल देने, अवांछित आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करने की अदम्य इच्छा होती है, और ऐसे रोगी जो सतत बातचीन करते रहते हैं या गाते हैं, बहुधा अन्य रोगियों में विद्वेष की भावना और चिड़चिड़ापन पैदा कर देते हैं। उन्मादी रोगी जल्दी ही झगड़ने लगते हैं और मारपीट हो सकती है, लेकिन बहुधा वे अन्य रोगियों के आक्रमण का निशाना भी बन जाते हैं। कर्मचारियों को रोगियों से सांत्वनापूर्ण ढंग से बातचीत के जरिए और रोगियों को कुछ काम देकर उनका ध्यानांतरण करके वार्ड में तनाव कम करने में सक्षम होना चाहिए।

रोगियों को उनके विभिन्न वार्डो में रखना बहुत सोच-विचार का काम है। जल्दी उत्तेजित होने वाले, भावावेश विक्षुब्ध रोगी, मनोविकृत और लती को किसी भी हालत में एक वार्ड में नहीं रखना चाहिए। एक वार्ड में एक से अधिक ऐसे अपस्मारी रोगी नहीं रखने चाहिए जो विद्वेषी और सनकी हों। यह ध्यान में रखना चाहिए कि कुछ रोगियों की यह प्रवृत्ति होती है कि वे दूसरों की विकारी अभिव्यक्ति की नकल करते हैं। उदाहरण के लिए, एक रोगी के हिस्टीरिया के दौरे को देखकर अन्य को भी वैसे दोरे पड़ सकते हैं। बहुधा नकल करने की इचछा ऐसे मंदबुद्धि रोगियों में होती है जिनमें विवेचनशक्ति कम होती है या कभी-कभी ऐसे रोगियों में भी, जो विखंडित मनस्कता के शिकार होते हैं।

यदि वार्ड में लड़ाई शुरू हो जाय तो कर्मचारियों को क्या करना चाहिए ? सर्वप्रथम ड्यूटी वाले चिकित्सक को बुलाना चाहिए, विरोधियों को अलग-अलग कर देना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो उनमें से एक को दूसरे विभाग में (ड्यूटी पर स्थित चिकित्सक की अनुमति लेकर) स्थानांतरित कर दना चाहिए।

अपस्मारी रोगी की देखभाल बहुत कठिन है। आवेश, क्षेत्र की विचित्रताओं

के कारण ये रोगी बहुत निकृष्ट और कभी-कभी बहुत आक्रामक हो सकते हैं, भले ही कोई खास बात न हो (जैसे कोई उनकी शय्या को छू ले या उनके कंबल की तह लगा दे आदि)। यदि चिकित्सक, उपचारिका या सहायक अपस्मारी रोगी को दिए गए वचन को पूरा नहीं करता तो वह रोगी विशेष रूप से प्रतिशोधी हो जाता है।

रोगी के साथ 'मीठी बातें' करने या अतिसरल वार्त्तालाप करने से ,जैसे उसे बहुत बेतकल्लुफ़ी से पुकारने या किसी वयस्क रोगी को उसके प्रथम नाम से बुलाने से, बचना चाहिए। चिकित्सा-कर्मियों को उनका पहला नाम लेकर बुलाने से रोगी को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। रोगियों के साथ चतुर और नम्र संबंध. चिकित्सा-कर्मियों की प्रतिष्ठा को बनाए रखने, नियम-विधान के पालन, और विभाग में हर चीज को व्यवस्थित रखने में सहायक होते हैं।

चिकित्सालय के सभी विभागों, शांति और उत्तेजित दोनों तरह के रोगियों के लिए दिन का एक निश्चित विधान होता है। इसे ऐसा उपचारार्थ साधन समझना चाहिए जिसका उद्देश्य अस्वस्थ घटनाओं को रोकना और रोगियों का सही आचरण रखने में मदद करना होता। कर्मचारियों को यह देखना चाहिए कि प्रत्येक रोगी कड़े अनुशासन और विधान का ठीक-ठीक पालन करे।

चिकित्सा कर्मियों को अवश्य ही तत्परता और मित्रतापूर्ण सहयोग से काम करना चाहिए, जिससे चिकित्सालय में अच्छी व्यवस्था, तथा रोगियों द्वारा निश्चित विधान का अनुपालन सुनिश्चित हो सके।

दिन के सामान्य कार्यक्रम और सब रोगियों द्वारा निश्चित विधान के पालन के साथ-साथ कुछ ऐसे रोगियों के लिए विशेष विधान निर्धारित करना चाहिए, जिन्हें विशेष देखभाल और निकट से निगरानी की आवश्यकता होती है।

रोगियों की कठिन टुकड़ी होने के बावजूद भी विभाग की उपचार प्रक्रिया को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक जरूरी बात यह है कि चिकित्सा कर्मियों को विभिन्न वार्डों में सही ढंग से बाँटा जाय। भोजन के समय किसी चिकित्साकर्मी को दूसरी ड्यूटी पर लगाने, जैसे उन्हें संबंधियों द्वारा लाए गए भोजन को रोगियों को देने, वार्ड और कार्यालय को साफ करने, रोगियों को टहलाने के लिए ले जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। भोजन और मनोरंजन के समय कर्मचारियों को विशेष सतर्कता बरतनी चाहिए, विशेष रूप से ऐसे रोगियों के प्रति जिन्होंने कभी भागने का, आत्मपीड़न या आत्महत्या का प्रयास किया हो। ऐसे रोगी कर्मचारियों की तनिक सी भी असावधानी, हड़बड़ी और अनाड़ीपन का फायदा उठा कर अपना सुनियोजित कार्य और कभी-कभी आक्रामक कार्य पूरा कर डालते हैं। ड्यूटी वाले कर्मचारी को ऐसे रोगियों को वार्ड से चिकित्सक के पास या उपचार के लिए ले जाने से पहले चेतावनी अवश्य दे दी जानी चाहिए। कड़ी निगरानी में रखे जाने वाले रोगी को कभी भी अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। हठपूर्वक भोजन करने से मना करने वाले रोगियों को चम्मच से यह जबर्दस्ती

भोजन कराना चाहिए और अंतिम साधन के रूप में उन्हें नली से भोजन दिया जाना चाहिए।

मनोरंजन क्रियाकलापों के विशेष संगठनकर्ता द्वारा आयोजित सांस्कृतिक कार्यक्रम दैनन्दिन विधान और कार्यक्रम के अनुपालन में सहायक होते हैं। रोगियों को विभाग में बाजा बजाने और खेल (शतरंज, चेकर, डोमीनो) खेलने की, अखबार, पत्रिकाएँ और किताबें पढ़ने की एकदम अनुमति होती है। यहाँ तक कि वे उत्तेजित रोगियों के वार्ड में भी कुछ सांस्कृतिक सेवाओं (जैसे अखबार, पत्रिकाएँ और किताबें पढ़ने) की अनुमति है। शौकिया कला-प्रदर्शन, कन्सर्ट और फिल्म प्रदर्शन रोगियों का तनाव खत्म करने और उन्हें आराम पहुँचाने में भारी सहायक होते हैं। कुछ रोगी, विशेषकर उन्मादी दशा वाले रोगी, आमंत्रित किए जाने पर अपनी खुशी से वार्ड को स्वच्छ करने में, फर्श की झाड़ू-बुहारी करने तथा पालिश करने के दैनिक कार्य में सहायता करते हैं।

रोगियों के लिए उनके रिश्तेदारों द्वारा लाए गए पारसलों की सामग्री की पूरी सतर्कता के साथ जाँच करनी चाहिए। एक ऐसी भी घटना हुई है जब एक रोगी के जोर डालने पर उसकी पत्नी ने उसके लिए लाई गई रोटी में प्लास छिपाकर देने की कोशिश की, ताकि रोगी दरवाजे को जबर्दस्ती खोलकर अस्पताल से भाग सके। नशे की लत वाले रोगियों के लिए लाए गए पारसल को विशेष सावधानी से जाँचना चाहिए, क्योंकि ऐसी भी घटनाएँ हुई हैं संबंधियों ने चोरी-छिपे स्वापक लाने का प्रयास किया है।

चिकित्सा कर्मचारी का दिखदिखाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। उनके कपड़े सदैव स्वच्छ और सलीके से होने चाहिए। उन्हें कोई भी आभूषण, यहाँ तक कि जैसे पिन, अँगूठी, कान की बालियाँ और जड़ाऊ पिन जैसा साधारण गहना तक नहीं पहनना चाहिए तथा तेज नाखून पालिश नहीं लगानी चाहिए, विशेष रूप से तब जब कि वे जल्दी उत्तेजित होने वाले रोगियों की देखभाल कर रही हों। ऊपरी वस्त्र में बटन सदैव लगे रहने चाहिए और केशों पर टोपी या रूमाल होना चाहिए। चिकित्सा कर्मचारियों को हलके, कम एड़ी वाले जूते पहनने चाहिए, जिससे कि वे तेज गति से चल सकें तथा रोगी की सहायता के लिए दौड़ सकें, इत्यादि। नए रोगियों के प्रवेश के समय उनकी सिगरेटें और भोज्य पदार्थ उनसे ले लेने चाहिए और विभाग की मुख्य या ड्यूटी उपचारिका के पास जमा करा देने चाहिए।

जब बहुत ही उत्तेजित नए मरीज को नहला धुला कर उसका परीक्षण किया जाता है तब संबंधित विभाग की उपचारिका या सहायक को कार्यविधि में सहायता के लिए बुला लिया जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि विभिन्न अंशों की तीव्रता वाले कई रोगी स्वागत कक्ष में एक ही समय में आ जाते हैं : उत्तेजित रोगी, जिनमें वाक और प्रेरक उत्तेजना हो, तथा देखने में शांत विश्वास योग्य रोगी। ऐसे समय

में स्वागत कक्ष में काम करने वाले कर्मचारियों का कार्य बहुत कठिन हो जाता है। कर्मचारियों का ध्यान उनके काम से नहीं हटना चाहिए। उन्हें सतर्क निगाह रखनी चाहिए कि स्वागत कक्ष का दरवाजा हमेशा बंद रहे और कोई भी रोगी खिड़की के पास अकेला न बैठा हो। ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं कि रोगी स्वागत कक्ष से भाग निकलने में सफल हुए हैं।

मनोविकार चिकित्सालय के सामान्य नियमों के अनुसार किसी भी विभाग में भर्ती किए गए रोगी को पहले दो-तीन दिन तक शय्या विश्राम दिया जाता है, भले ही उसकी हालत कैसी भी हो। उस वार्ड में नियुक्त कर्मचारी को यह देखना चाहिए कि इस नियम का पालन ठीक तरह से हो। पहले कुछ दिनों तक बाहर टहलने की अनुमति नहीं दी जाती है। रोगी को पहले कुछ दिनों तक प्रेक्षण कक्ष में रखा जाता है, जहाँ तक कर्मचारियों की कड़ी निगरानी के तहत रहता है। कर्मचारी उसके व्यवहार की विचित्रताओं को नोट करते हैं। ड्यूटी वाली उपचारिका को यह ज्ञात रहना चाहिए कि उसके विभाग के सभी रोगियों के कुल नाम (बेहतर हो कि उनके पूरे नाम) क्या हैं तथा कौन रोगी किस वार्ड में है और वार्ड में उसका स्थान कहाँ है।

प्रत्येक विभाग में ड्यूटी वाली उपचारिका या चिकित्सक-सहायक के पास ऐसे रोगियों की सूची होनी चाहिए, जिन पर अतिरिक्त सतर्कता से नजर रखने की आवश्यकता है। ये रोगी बहुधा ऐसे होते हैं जिनमें आत्महत्या की प्रवृत्ति होती है, या जो हठपूर्वक भोजन को अस्वीकार करते हैं, भाग निकलने का प्रयास करते हैं और अपने को घायल करना चाहते हैं; ऐसे रोगी जो हिस्टीरिया और अपस्मारी दौरों से पीड़ित होते हैं। केवल उपचारिका ही नहीं, बल्कि सहायकों को भी रोगियों के नाम मालूम होने चाहिए। पारी बदलते समय अपनी ड्यूटी पूरी करने वाले कर्मचारियों को चाहिए कि वे रोगी की डायरी में पिछली पारी में देखी गई उसके आचारण की विचित्रता की लिखित रिपोर्ट छोड़ जाएँ। उन्हें ड्यूटी लेने वाले कर्मचारी को उन सब रोगियों की सूचना विस्तार से देनी चाहिए जिनकी हालत में परिवर्तन हुआ है या जिनकी हालत अभी तक गंभीर बनी हुई है। कड़ी निगरानी में रहने वाले रोगियों की उपचारिका या सहायक द्वारा अनवरत देखभाल की जानी चाहिए। जिस रोगी के बारे में मालूम हो कि वह आत्हत्या करना चाहता है या भागना चाहता है और बारंबार होने वाले उद्वेपकर दौरों से पीड़ित है, उसके शैचालय जाते समय उपचारिका या परिचारक को उसके साथ होना चाहिए। यदि रोगी को शौचालय में सामान्य से अधिक समय लगता है, तो उसे पर्यवेक्षक खिड़की से देखना जरूरी होता है, ताकि कहीं कोई अनहोनी घटना न हो। टहलने जाते समय, तथा भौतिक चिकित्सा, स्नान और प्रयोगशाला जाँच के समय भी रोगी पर कड़ी निगरानी रखी जानी चाहिए। नाई को रोगियों की हजामत सेफ्टीरेजर से ही बनानी चाहिए; वह भी सहायकों की उपस्थिति में।

भोजन अस्वीकार करने वाले रोगियों को समझाबुझाकर स्वयं कुछ खाने के लिए कहा जाता है। यदि इसमें सफलता नहीं मिलती है तो उन्हें अवश्य ही नली द्वारा कृत्रिम रूप से भोजन दिया जाना चाहिए। यह नली 0.5 से.मी. व्यास वाली मुलायम रबर की होती है। प्रयोग से पूर्व इस नली को उबलते हुए पानी में डुबोना चाहिए या गर्म पानी में सोडियम बाइकार्बोनेट डालकर धोना चाहिए। नली के छोर को गोल किया जाता है और इसमें किनारे पर छेद होता है। इसमें ग्लीसरीन या वैलीन चुपड़ी जाती है। नली का दूसरा सिरा खुला रहना चाहिए और इसमें कीप फिट कर दी जाती है। (चित्र 34)।
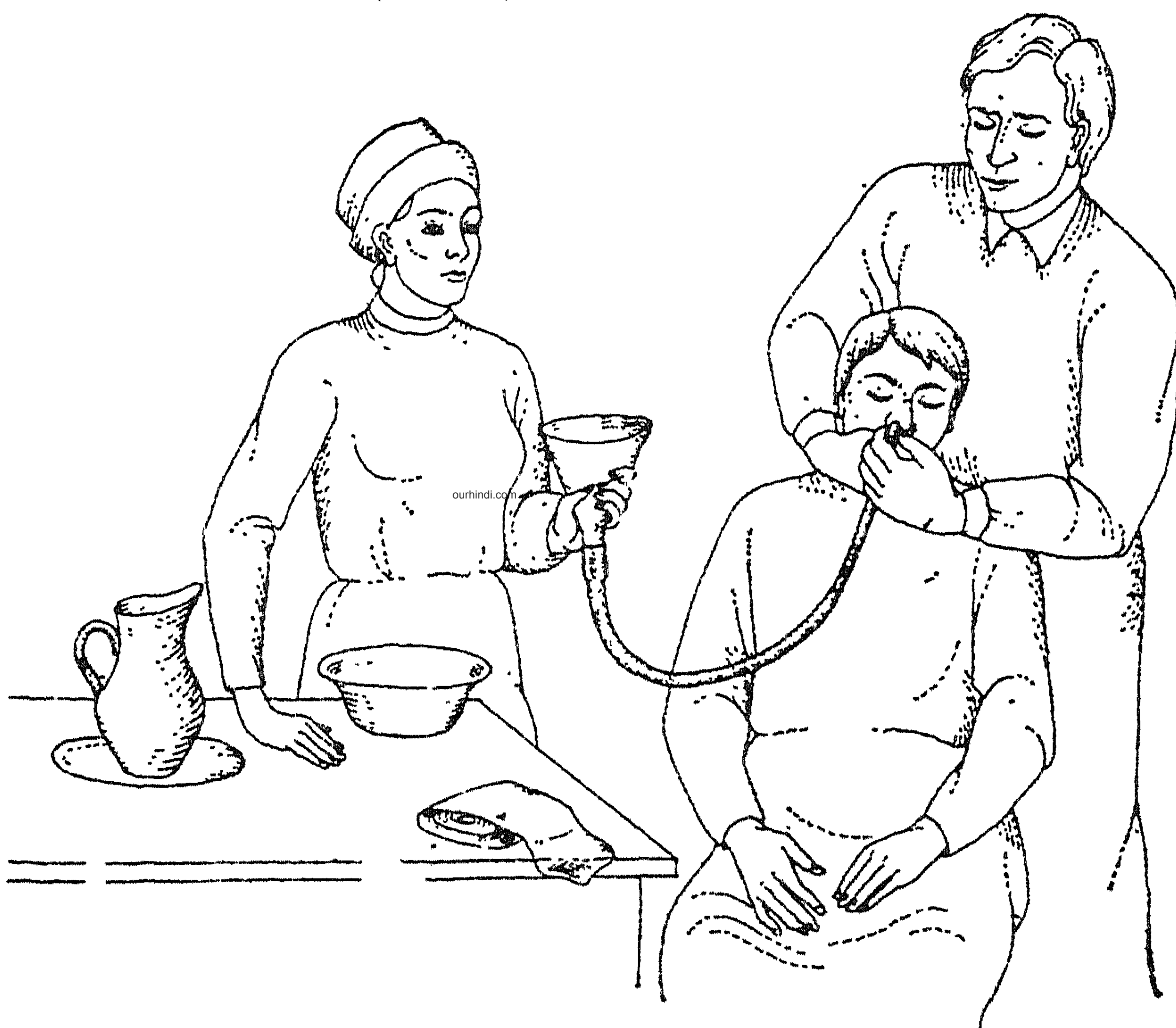
चित्र 34. रोगी को नाक स नली प्रवेशित करके खुराक देना।

रोगी को नली से भोजन केवल चिकित्सक द्वारा ही दिया जाना चाहिए या चिकित्सक की उपस्थिति में किसी अनुभवी उपचारिका द्वारा। बहुत से रोगी इसे हठपूर्वक रोकते हैं इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि ऐसी स्थिति को काबू में रखने के लिए सहायक मौके पर उपलब्ध रहें। नली द्वारा भोजन देते समय रोगी को उत्तान स्थिति में रखना चाहिए, यद्यपि रोगी को बैठने की स्थिति में खुराक पहुँचाई जा सकती है। ऐसी दशा में रोगी को खुराक पहुँचाने वाला व्यक्ति कुर्सी के पीछे

खड़े होकर रोगी का सिर थाम कर रखता है। नली को मुँह या नाक से प्रवेशित किया जा सकता है। यदि रोगी के मुँह-में-मुँह फैलाने वाला औजार न लगाया गया हो तो रोगी नली को चबा जा सकता है, यहाँ तक कि नली के सिरे को काट कर अलग तक कर सकता है। इसको बचाने के लिए नली का प्रवेशन नाक द्वारा किया जाता है और यह विधि श्रेयस्कर समझी जाती है। नली प्रवेशन से पहले यह देखना जरूरी है कि रोगी के नासा-पथ विचलित तो नहीं है या पीली पस तो नहीं है। ऐसा होने पर नली प्रवेशित न हो सकेगी। मुँह द्वारा खुराक देने से पहले रोगी का मुँह खोल कर देखा जाता है और निकलनेवाले कृत्रिम जबड़े को निकाल दिया जाता है। 50 या 55 सें. मी. नली प्रवेश करने के बाद इस बात से आश्वस्त होना चाहिए कि नली का सिरा वास्तव में पेट तक पहुँच गया है। यदि नली श्वसन नली में प्रवेशित की गई है तो रोगी का चेहरा स्याह (नीला) पड़ जाता है, श्वसन कठिन हो जाता है और रोगी क्रोधोन्मत होकर नली के और प्रवेशन का विरोध करता है। ऐसी हालत में नली को फोरन बाहर निकाल लेना चाहिए। जब नली सही ढंग से प्रवेशित की जाती है तो यह नाक ग्रसनी और भोजन नली से होते हुए अंततः पेट तक पहुँच जाती है। बहुधा प्रारंभ में कठिनाई होती है और रोगी बारंबार वमन के प्रयास करके नली को ग्रास नली के बाहर मुँह में धकेलता है। इस हालत में रोगी को नाक के द्वारा श्वास दिलाया जाता है।

यह कि नली में पहुँची है या नहीं, तब सुनिश्चित किया जा सकता है जब : (1) रोगी लगातार साँस ले रहा हो, (2) उसका चेहरा स्याह न पड़ गया हो, (3) गुरगुराहट जैसी कोई आवाज सुनाई दे, क्योंकि पेट में कुछ हवा चली जाती है; (4) नली के कीप में थोड़ा सा तरल पदार्थ (पानी के चौथाई से आधा गिलास) डालने पर धीरे-धीरे वह पेट में चला जाय।

पोषण देने वाला प्रभारी व्यक्ति जब इस संबंध में निश्चित हो जाता है कि नली टीक ढंग से लग गई है तब पोपण मिश्रण को धीरे-धीरे नली के कीप में उसे थोड़ा उठाकर डाला जाता है। एक बार या दो बार में प्रवेशित पोपण 300 ग्रा. से कम नहीं होना चाहिए। पोपण देने के वाद नली को एक झटके के साथ निकाल लेते हैं, जिससे कि नली में बचा हुआ पोपण मिश्र श्वसन पथ में न पहुँच जाय। मिश्रण के पेट में पहुँच जाने के वाद थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी चाहिए और फिर नली निकाल लेनी चाहिए।

नाक से नली निकालने के बाद रोगी को लिटाए रखना चाहिए, जिसमें रोगी भोजन मिश्रण को वमन करके निकाल न सके।

कृत्रिम पोपण के लिए पोषण मिश्रण में आवश्यक मात्रा में प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, विटामिन और लवण होने चाहिए। इसमें अधिकतर 500 ग्रा. दूध, 2 कच्चे अंडे, 50 गा. चीनी, 20 या 30 ग्रा. मक्खन, 1 से 5 ग्रा. तक नमक और

पोली विटामिन होते हैं। बहुधा ऐसी औषधियाँ भी जो रोगी लेने से मना करता है, इस मिश्रण में मिला दी जाती है। रोगी चूँकि कई महीनों तक भोजन अस्वीकार कर सकता है इसलिए पोषण के साथ-साथ 40 प्रतिशत ग्लूकोज घोल विटामिन सी सहित अंतर्शिरा द्वारा नित्य की खुराक के रूप में दिया जाता है। समय-समय पर नली द्वारा पोषण देने के बजाय पोषक एनीमा दिया जाता है, जिसमें 200 से 300 ग्रा. तक पोषक मिश्रण होता है, जिसमें दूध, अंडे, चीनी और वसा होती है। एनीमा द्वारा सफाई करने के बाद यह गुदा द्वारा प्रवेशित किया जाता है।

पोषण मिश्रण में आयोडीन टिंचर की कुछ बूँदें मिला दी जाती हैं जिससे कि गुदा द्वारा इसका शोषण तीव्र गति से हो सके। दो से पाँच बूँद तक अफीम का टिंचर भी मिला दिया जाता है, जिसके लिए एनीमा द्वारा दिए गए पदार्थ गुदा में रह सकें और पूरी तरह शोषित हो सकें।

कृत्रिम पोषण की बाद वाली विधि तकनीकी दृष्टि से अधिक सरल है परंतु थकान को रोकने के लिए पोषण पूरी तरह नहीं हो पाता है, क्योंकि बड़ी आँत में द्रव का शोषण अपूर्ण होता है। इसलिए नली की अपेक्षा एनीमा का प्रयोग कम किया जाता है। भोजन अस्वीकृत होने के प्रतिकर्म हेतु इन्सूलिन की छोटी खुराकें (4-8 यू. प्रति दिन) कभी-कभी औषधि निर्देश में दी जाती हैं। सभी ऐसे मामलों में जब रोगी सदैव पर्याप्त आहार न ले, यद्यपि वह सामान्य संदमन होने (उदाहरण के लिए वव्रुल अवसाद) या तीव्र कायिक विक्षिप्ति होने (रक्त-स्राव सहित ऐथरोकाठिन्य, जरा मनोविक्षिप्ति) के कारण, भोजन को अस्वीकार नहीं करता, उसे कर्मचारियों द्वारा नियमित रूप से प्रति दिन चम्मच से भोजन दिया जाना चाहिए। यदि रोगी दाँत न होने के कारण या सामान्य निर्बलता के कारण या फिर विभ्रमित चेतना के कारण भोजन को चबा नहीं पाता तो उसको भोजन मसल कर देना चाहिए या उसे दलिया जैसा भोजन दिया जाना चाहिए। यह देखना आवश्यक है कि रोगी भोजन निगलने के बजाय कहीं मुँह में जमा तो नहीं करता जा रहा है। चिकित्सा कर्मचारियों को ज्यादा भूख लगने वाले रोगी के खाने की आदतें देखनी चाहिए और उन्हें मंदित रोगियों के भोजन का हिस्सा खाने से रोकना चाहिए।

नकारात्मकता वाले रोगी की प्रवृत्ति भोजन अस्वीकार करने की होती है। इस हालत में रोगी के सामने भोजन छोड़कर अलग खड़े हो जाना चाहिए। कई बार रोगी सब कुछ स्वयं ही थोड़ी देर में खा जाता है। भोजन काल में कर्मचारी को ऐसी जगह बैठना चाहिए कि वह कड़ी निगरानी वाले सभी रोगियों पर नजर रख सके।

जैसे रोगी के भोजन पर निगाह रखनी चाहिए, उसी तरह रोगी के मूत्रण और मल त्याग पर भी निगाह रखनी चाहिए। रोगी अपने आप जो कहता है उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता है। चिकित्सा सहायकों को पूरी तरह से यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि रोगी की आँतें और मूत्राशय सामान्य रूप से काम कर रहे

हैं। बहुधा किसी विशेष मानसिक स्थिति के कारण (विशेष रूप से तान प्रतिष्टंभ में) रोगी शौच या पेशाब लगने पर उसे दबा जाते हैं। मुख्य शारीरिक क्रियाओं के कमजोर पड़ जाने, अन्य अंगों के अलावा आँत की संकुचनहीनता के फलस्वरूप, उन रोगियों को चिरकारी कब्ज हो सकती है जो अवसादी दशा से ग्रस्त हों। बिस्तर में बहुत देर पड़े रहने से तथा अफीम वाली औषधियाँ लेने से आँतों की प्रक्रिया शक्तिहीन हो जाती है और कब्ज रहने लगता है। आँतों की दैनिक सफाई के लिए साधारण साबुन या लवणी (अति तनाव) एनिमा लगाना आवश्यक है। मस्तिष्क की तीव्र कायिक क्षति से पीड़ित लोगों की प्रज्ञा (विवेचन, स्मृति) घट जाती है और साथ ही मूत्राशय ओर गुदा की सँवरणी क्रियाशीलता कमजोर पड़ जाती है, तथा शौच और मूत्र की असंयति हो जाती है। एसे रोगियों की खास तौर पर देख-भाल की जानी चाहिए।

बहुत समय तक शय्याग्रस्त तथा क्लांत रोगियों में शय्यात्रण हो जाना एक आम बात है। शय्यात्रण से बचने के लिए हवा भरे हुए रबर रिंग को गद्दी के रूप में रोगी को चादर के नीचे रखना चाहिए। खराब हुई चादरों को फौरन ही स्वच्छ चादर से बदल देना चाहिए और रोगी को जब तब शीघ्रातिशीघ्र स्वास्थ्यकर स्नान कराना चाहिए। नियमित समय पर रोगी को शय्या मूत्र-मल पात्र देना चाहिए और जो रोगी स्वयं चल फिर सकते हों उन्हें शौचालय ले जाना चाहिए। शय्यात्रण को रोकने के लिए रोगी की करवट बदलते रहनी चाहिए, बिस्तर के कपड़ों की जरा सी भी सलवट निकाल देनी चाहिए और खाने के टुकड़ों को बिस्तर से झाड़ देना चाहिए।

एक नियम के तोर पर मल और मूत्र की असंयति वाले रोगियों को निर्बल रोगियों वाले वार्ड में रखा जाता है। यदि इन वार्डो में दुर्गंध न हो तो यह समण्ना चाहिए कि सहायक अपने कर्त्तव्य को भली-भाँति निभा रहे हैं।

निर्वल मानसिकता वाले रोगियों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। यह देखना चाहिए कि उनकी आँतें और मूत्राशय खाली होते रहें, उनके हाथों, चेहरे और मुँह की स्वास्थ्य स्थिति पर नजर रखनी होती है तथा यह देखना होता है कि वे नियमित रूप से **भोजन** ले रहे हैं कि नहीं।

ऐसे मानसिक रोगी, जो अर्से से उत्तेजित रोगियों के विभाग में रह रहे हैं, बहुधा नए कर्मचारियों में डर पैदा करते रहते हैं। यदि उत्तेजित रोगियों की देख-भाल के लिए परिचारक कर्मचारी को सही ढंग पर काम का वितरण किया गया है और प्रत्येक कर्मचारी अपनी दी गई ड्यूटी को जिम्मेदारी और अंतर-विवेक से दक्षतापूर्वक निभाता है और यदि अनुशासन ठीक रहे तो भय की तनिक भी आशंका नहीं रहती। कर्मचारियों को मालूम होना चाहिए कि उत्तेजित रोगियों को कैसे संभाला जाय और उनका उपचार कैसे किया जाय।

विखंडित मनस्कता, वर्धमान घात, उन्मादी स्थिति में वृत्तीय मनोविक्षिप्ति, तीव्र

विषालुता और संक्रामक रोगों में (जैसे मद्यप प्रलापी कंपन या टाइफस के तीव्र रूप में अमनस्कता की स्थिति में) प्रचंड मनोप्रेरक उत्तेजना हो सकती है। मंदूदयुतिक स्थिति में होने पर अपस्मारी रोगियों में सर्वाधिक उत्तेज़ना होती है। प्रेरक उत्तेजना वाले अवसाद और सोद्वेग अवसाद में एमाइ—ट्रिप्टीलीन (इसे लैंट्रोन भी कहते हैं) 10 मि.ग्रा., या हालत पर निर्भर करते हुए एक या दो गोली), लीनोरस जड़ी के क्वाथ में बारबिटल, कोडीन, सोडियम ब्रोमाइड और वालेरियान का मिश्रण अत्यंत प्रभावशाली औषधियाँ हैं।

Rp. Inf.herbae Leonuri 6.0-200.0
Natrii bromidi 0.3
Codeini phosphatis 0.2
Barbitali-natrii 0.3
T-rae Valerianae 5.0
Sig. एक बड़ा चम्मच दिन में तीन बार।

पूर्ण गतिहीनता की स्थिति में फ्रेनोलोन (मेथोफेनारजीन) की 5.0 मि.ग्रा. की गोली दिन में एक या दो बार और एमाइट्रिप्टीलीन की 10 मि.ग्रा. की गोली सुबह तीसरे पहर और दिन में दी जाती है। मनोवियोजी औषधि वर्ग में थायोप्रोपेराजीन (मजेप्टील, थायोपेराजीन) भी दी जाती है।

जब रोगी मनःप्रेरक उत्तेजना की स्थिति में होता है और औषधि लेने से मना कर देता है तो उसे औषधि किस प्रकार दी जाय ? कभी-कभी तो रोगी को समझा-बुझाकर दवा पिलाना संभव होता है। यदि यह संभव न हो तो इंजेक्शन लगाए जाते हैं या एनीमा के द्वारा दवाई पहुँचाई जाती है। जब दवाई पहुंचाई जा रही हो तो रोगी को पीठ के बल बिस्तर पर लिटाया जाता है और अनेक सहायक उसके हाथ-पैरों को पकड़ कर रखते हैं, जिससे कहीं वह अपने हाथ छुड़ा न ले, उपचारिका के हाथ से सिरिंज और सुई को गिरा न दे, और किसी कर्मचारी पर प्रहार न कर दे। जब एनीमा द्वारा दवाई पहुँचानी हो तो रोगी को करवट के बल लिटाकर उसकी जंघाओं को उसके पेट से सटा दिया जाना चाहिए। ऐनीमा देने के बाद यह जरूरी होता है कि गुब्बारे या सिरे को कुछ क्षणों तक गुदा में रोके रखा जाय। जब इसे गुदा से निकाला जाता है तो नितंबों को थोड़ी देर तक हाथ से दबाए रखा जाता है।

मनोवियोजी ओषधि द्वारा चिकित्सा के प्रयोग से मनः प्रेरक उत्तेजना को नियंत्रित करने की समस्या हल हो चुकी है। मनोप्रेरक उत्तेजना धीरे-धीरे भी विकसित हो सकती है, और अकस्मात भी। इसे दूर करने के लिए निम्न दवाएँ हैं : अमीनाजीन (2.5 प्रतिशत वाला घोल), तिजरसीन (लेवोमेप्रोमाजीन हाइड्रोक्लोराइड) 3-6 मि. लि. की खुराकों में, हैलोपेरिडोल (0.5 प्रतिशत वाला घोल, 2-3 मि. लि.) ट्रिफ्टैजीन

(0.2% का घोल, 35 मि. लि.)। इनमें से किसी का भी उपयोग हो सकता है। अपस्मारी से पीड़ित यदि मनोप्रेरक उत्तेजना में हो, तो 0.5 प्रतिशत घोल वाले सेडुक्सीन को 2-4 मि. लि. की खुराक में देते हैं।

स्थिर भीतियाँ और विभ्रम में हैलोपेरीडोल (हंगेरी की शामक औषधि) दी जाती हैं। किसी भी हेतुकी के अवसाद में प्रतिअवसादी औषधियाँ दी जाती हैं। मंद अवसाद में चिमाइजीन 25 ग्रा. की खुराक दिन में एक बार से लेकर तीन बार तक दी जाती है और संत्रास में 10 मि.ग्रा. एमाइट्रिप्टालीन की खुराक दिन में दो से तीन बार दी जाती है।
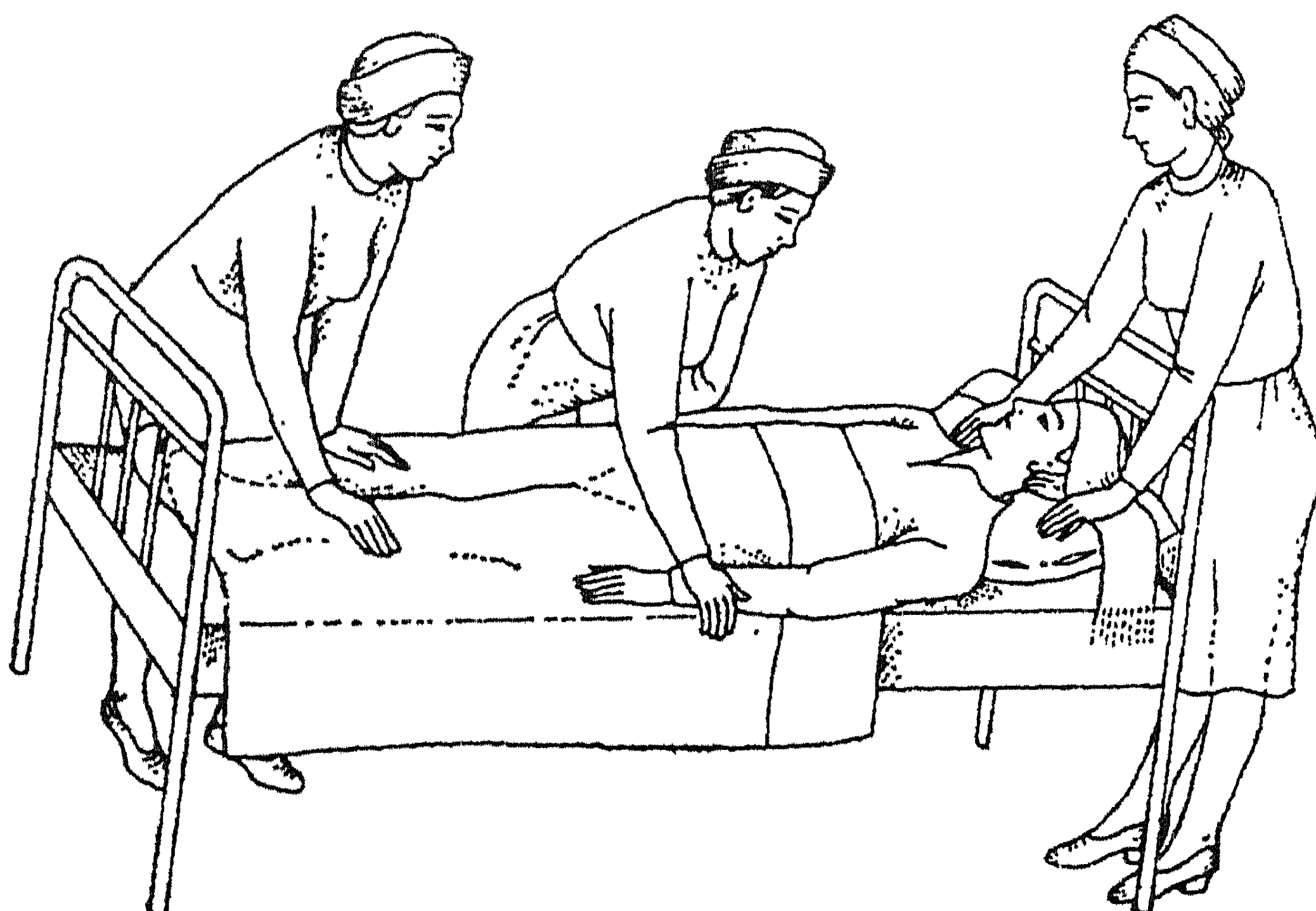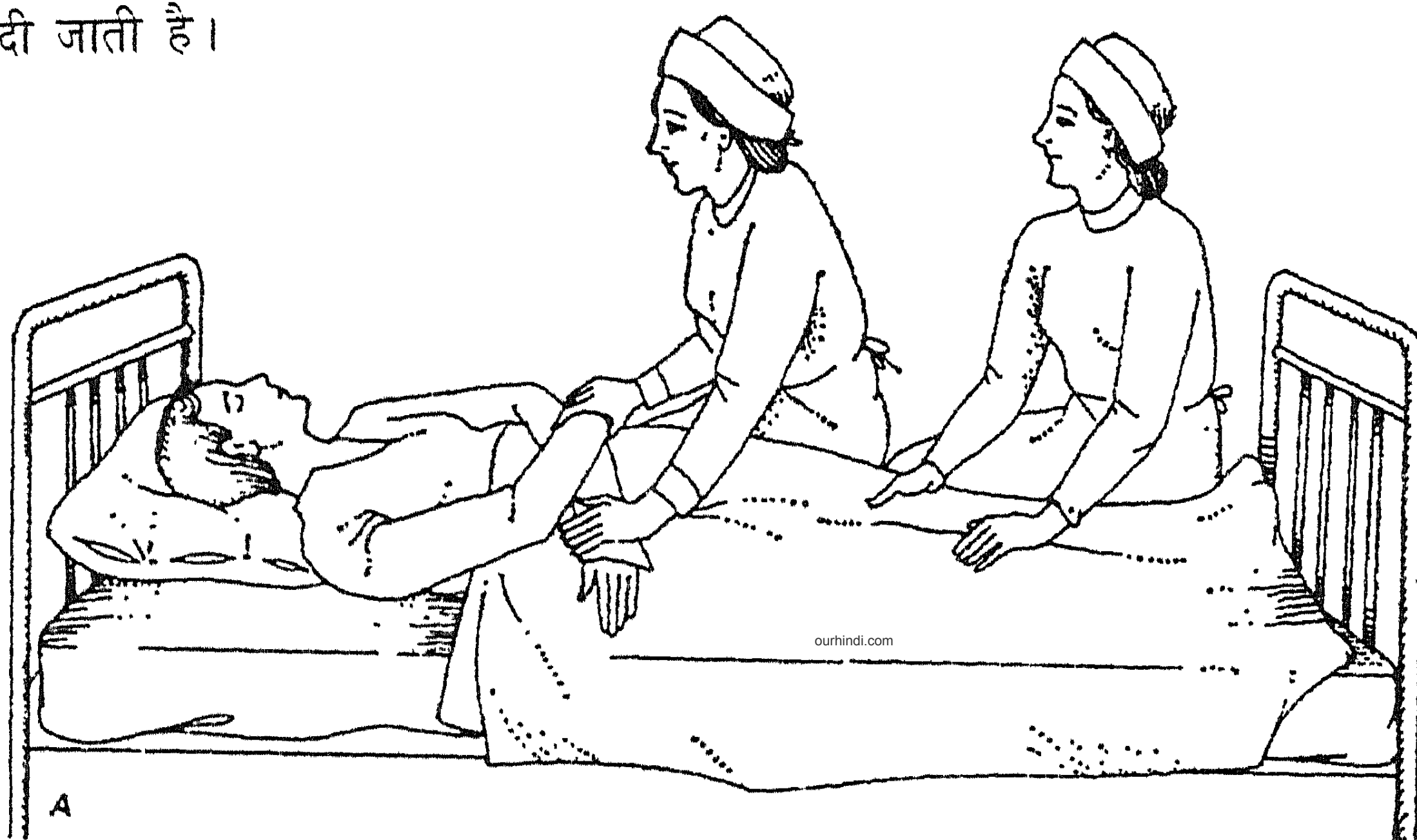
चित्र 35. उत्तेजित रोगी को पकड़ने की विधियाँ (A, B)।

उपरोक्त औषधियों के अलावा गर्म जल स्नान (35 से 37^0 सें.) का सुखदायक प्रभाव होता है। उन्मादी उत्तेजना में देर तक के (एक घंटे या इससे ज्यादा) स्नान की सिफारिश की जाती है। अधिक समय तक स्नान वाले रोगी की हृदक्रिया पर निगाह रखना जरूरी है। देर तक स्नान की विधि में जल का तापमान 35^0 सें. से नीचे नहीं गिरने देना चाहिए। मनःप्रेरक उत्तेजना को शांत करने के लिए स्नान, देर तक स्नान की विधि चिकित्सक की सलाह पर दी जाती है।

इर्द-गिर्द के लोगों के प्रति आक्रमणशील क्रिया की प्रवृत्ति के साथ अचानक उत्तेजना होने पर चिकित्सक के आने तक रोगी को रोके रखना आवश्यक है। इस काम को करने के लिए कम-से-कम दो लोगों की जरूरत होती है : एक रोगी को पैर से पकड़ता है और दूसरा उसके हाथ (चित्र 35a)। जब तीन लोग होते हैं तो एक रोगी का सिर थामता है, दूसरा कलाई से उसके हाथ पकड़ता है और तीसरा रोगी के दोनों पैर पकड़ता है (चित्र 35 b)। यदि उत्तेजित रोगी को एक वार्ड से दूसरे वार्ड में ले जाना हो या चिकित्सक के कमरे में ले जाना हो तो निम्नलिखित पद्धति अपनाई जाती है : रोगी के पीछे से जाकर उसकी कलाइयों को पकड़ कर उसके हाथों का क्रास बना दिया जाता है (चित्र 36)। अच्छा हो कि रोगी के बराबर चला जाय और एकदम उसके आगे या पीछे नहीं, क्योंकि वह पीछे की तरफ लात चला सकता है या सिर से आगे टक्कर मार सकता है। ऐसी टक्कर से बचने के लिए रोगी की क्रास की हुई बाँहों को यथासंभव ऊँचा रखा जाता है। यदि दो परिचारक रोगी के साथ हों तो उनमें से प्रत्येक रोगी की कलाई आगे से और उसी बाँह को कोहनी के ऊपर से पिछली तरफ से पकड़ कर ले जाते हैं। रोगी की बाँहों को यथासंभव, दूर फैलाकर और कंधों तक उठाकर पकड़ते हैं, जिससे कि रोगी सिर से हमला न कर सके।

चित्र 36. उत्तेजित रोगी का अनुरक्षण

यदि रोगी चरम सीमा तक उत्तेजित हो जाय और उसे कोई ऐसी चीज मिल जाय जिसका इस्तेमाल वह अपनी रक्षा करने व दूसरे पर आक्रमण करने के लिए कर सके, तो ऐसे रोगी के साथ सामने से कंबल लेकर जाया जाता है और एक क्षण में रोगी के सिर पर कंबल फेंका जाता है और रोगी को जबर्दस्ती बिस्तर पर लिटा कर 100 से 150 मि.ग्रा. एमिनाजीन अंतरपेशीय इंजेक्शन से
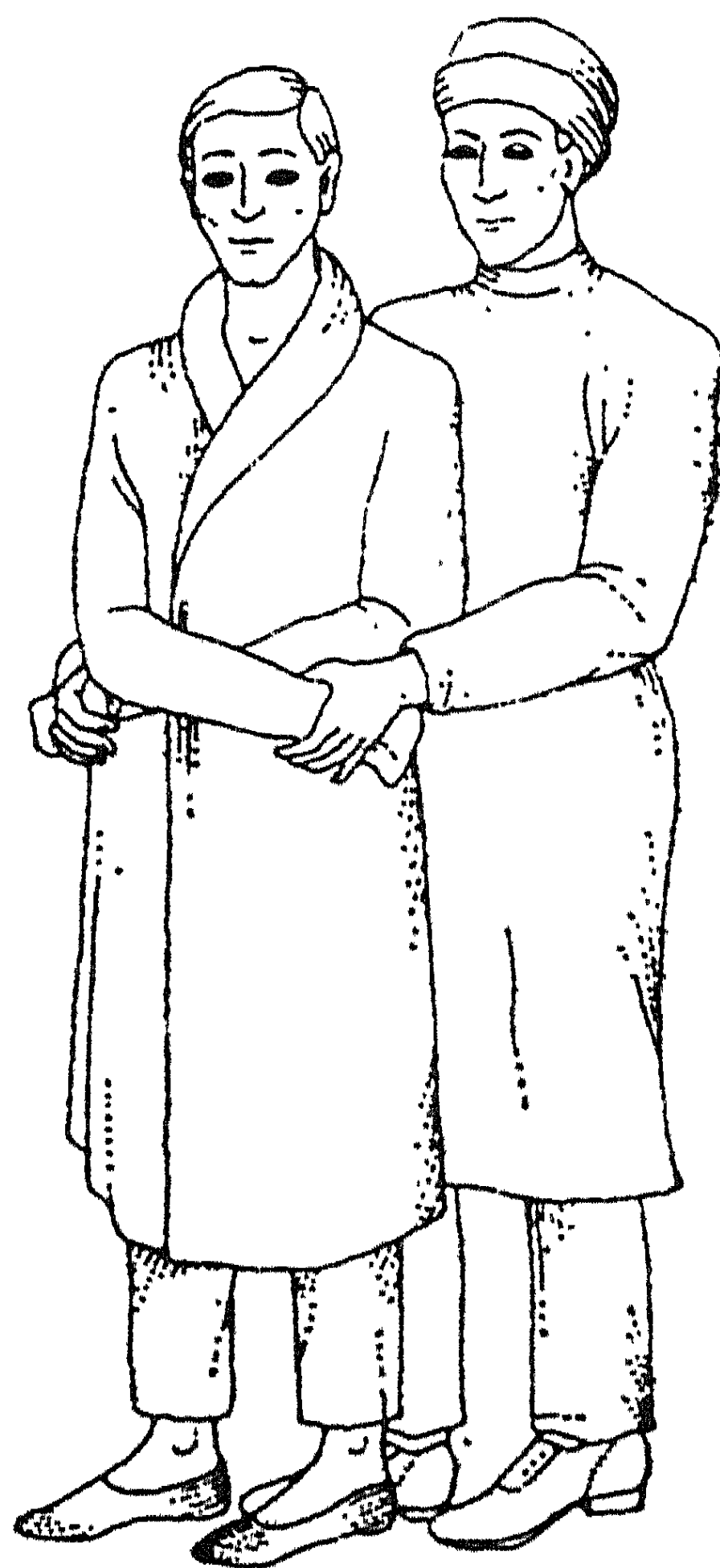
देते हैं।

अपस्मारी रोगी में मनोप्रेरक उत्तेजना होना उसके आस-पास के लोगों के लिए खतरनाक है, क्योंकि मानसिक संभ्रम की हालत में रोगी भयावह विभ्रम से पीड़ित होकर अपने बचाव के लिए पागलपन के दौरे में प्रचंड हो सकता है। ऐसे पागल आदमी को पाँच या छह लोग भी मुश्किल से ही काबू में रख पाते हैं। यदि वहाँ पर्याप्त सहायक उपलब्ध न हों तो स्वास्थ्यलाभ पाने वाले रोगियों की सहायता लेनी चाहिए।

पहले अति उत्तेजित रोगी को पार्थक्य में रखते थे। पर अब ऐसा नहीं किया जाता क्योंकि पार्थक्य से रोगी की उत्तेजना बढ़ती है और उसे बहुत गुस्सा हो जाता है तथा उसकी मानसिक हालत और भी खराब हो जाती है। अपस्मारी दौरे की तरह मद्‌द्युतिक अवस्था वाली उत्तेजना के दुखाभास को रोकने के लिए एमीनाजीन (100 से 200 मि.ग्रा. अंतरपेशीय) दी जाती है।

मनोविकारी चिकित्सालय में रात्रि के समय कर्मचारी को विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए। रात्रि के समय ड्यूटी वाले व्यक्ति को रोगियों के बीच घूमते रहना चाहिए, और विशेषकर ऐसे रोगियों के बीच, जिनको कड़ी निगरानी की जरूरत होती है। यदि रोगी रात में शौच या मूत्र के लिए जाय तो यह देखना चाहिए कि वह वार्ड में अपनी जगह पर वापस आ गया है या नहीं।

ड्यूटी वाले कर्मचारी, उपचारिका या चिकित्सक के सहायकों को चाहिए कि वे अवश्य ही हर रोगी के व्यवहार और हालत का रिकार्ड रखें। वार्ड में चक्कर लगाने से पूर्व हर चिकित्सक को चाहिए कि वह अवश्य ही इन डायरियों को पढ़ ले। रोगी की हालत में क्या परिवर्तन हुआ है, रोगी का कोई वक्तव्य जो रोगी के दिमाग में किसी स्वस्थ विचार की पुष्टि करे, उसके किसी इरादे को सामने लाए—इस सबका विवरण सहित वर्णन इन डायरियों में होना चाहिए। किसी दौरे का लिखित वर्णन चिकित्सक को यह निर्धारित करने के लिए पर्याप्त रूप से सटीक होना चाहिए कि रोगी को अपस्मारी दौरा था अथवा हिस्टीरिया का आक्षेप। विभाग में हुई किसी भी तरह की घटना को (रोगियों के बीच कलह, झगड़ा या किसी कर्मचारी पर हमला, उत्तेजना के आकस्मिक दौरे, और आत्महत्या के प्रयास) रोगियों की डायरी में नोट किया जाना चाहिए।

अपनी पारी छोड़ने से पहले ड्यूटी वाली उपचारिका को सब कर्मचारियों (चिकित्सक, उपचारिका, चिकित्सक के सहायक और परिचारक) की उपस्थिति में एक जबानी रिपोर्ट पढ़नी चाहिए, जिसमें उसकी पारी में घटित सभी घटनाओं का जिक्र हो और विशेष ध्यान रखे जाने वाले रोगियों का खास तौर से उल्लेख किया गया हो। ड्यूटी पर जाने वाली उपचारिका को यह देखना चाहिए कि औषधि की अलमारी में ताला ठीक ढंग से लगा हुआ है और आपातकालीन सहायता के लिए

अपेक्षित औषधियाँ तथा आवश्यक यंत्र भी मौजूद हैं।

मनतंत्रिका औषधालय और चिकित्सालयों में चिकित्सक के निकट संपर्क में आने वाली उपचारिकाओं और परिचारकों के कार्य को **सही ढंग से संगठित करके** बहुत से रोगियों को स्वस्थ किया जा सकता है और वे (रोगी) अपने सामान्य काम पर लौट सकते हैं।

2
त्वचीय और रतिज रोग

प्रस्तावना

रतिज और छूतज त्वचीय रोगों पर नियंत्रण बहुत हद तक उपचारिका की कार्यकुशलता व कर्त्तव्यनिष्ठता के साथ-साथ सभी कार्रवाइयों व हस्तोपचारों की पूर्णता पर भी निर्भर करता है।

रतिज रोग सामाजिक रोग हैं। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों में इन रोगों के समााजिक जड़ को दूर कर दिया गया है और इन रोगों की घटनाओं को कम करने के लिए विस्तृत संगठन तथा चिकित्सा संबंधी कदम उठाए गए हैं। लेकिन, रतिज रोग चूँकि अब भी होते हैं, इसलिए उपचारिकाओं को इन रोगों की अभिव्यक्तियों (लक्षणों), उनके संक्रामण के पथ, उनकी रोकथाम के उपायों से भली-भाँति परिचित होना चाहिए और उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि ऐसे रोगियों का (चिकित्सक के निर्देश के तहत) उपचार किस प्रकार किया जाता है। चिकित्साकर्मियों को चाहिए कि वे आकस्मिक संक्रामित रोगियों की हताश मनोदशा को आराम पहुँचाने के लिए अपनी शक्ति भर हर प्रयास करें और उन्हें स्वस्थ हो जाने पर आश्वासन दें तथा जिन रोगियों को यह रोग अनैतिक कर्म के कारण हुआ हो, उन्हें हालत की घातकता और गंभीर परिणामों की संभावना के बारे में समझाना चाहिए। सभी जरूरतमंद रोगियों के लिए निःशुल्क उच्चप्रशिक्षित चिकित्सा सेवा की उपलब्धि, साथ ही चिकित्सा के राजकीय और सामाजिक संस्थानों द्वारा रतिज रोगों की रोकथाम के सर्वव्यापी प्रयास—यही है रतिज रोगों के उन्मूलन में सफलता की गारंटी।

त्वचीय रोग मुख्यः आंतरिक अंगों, अंतःस्रावी ग्रंथियों और विशेषकर तंत्रिका तंत्र की क्रिया में विभिन्न प्रकार की गड़बड़ियों के कारण होते हैं। औषधियों के अविवेकी प्रयोग से तथा पूरे शरीर और त्वचा पर विभिन्न प्रकार के क्षोभकों के प्रभाव से बहुधा त्वचीय रोग होते हैं। कभी-कभी त्वचीय रोग व्यावसायिक प्रकृति के होते हैं। इनमें से कुछ सांसर्गिक होते हैं और इनके नियंत्रण के लिए निरोधक उपाय विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं। कुछ रोगियों में यह रोग आनुवंशिकता (जीनत्वक रोग) से निर्धारित होते हैं।

उपचारिकाओं को त्वचा रोग के लक्षणों से अवश्य ही परिचित होना चाहिए और इस प्रकार के रोगियों की देखभाल करने में (जिनकी हालत कभी-कभी बहुत खराब होती है) तथा चिकित्सक के निर्देशानुसार उनका उपचार करने में उन्हें समर्थ होना चाहिए।

सोवियत संघ में रतिज और त्वचा रोगों के निरोध को विशेष महत्त्व दिया जाता है। उपचारिकाओं को इन रोगों के नियंत्रण के लिए चलने वाले निरोधक अभियानों के कार्यान्वयन में अवश्य भाग लेना चाहिए।

I सामान्य

त्वचा की संरचना और उसके कार्य

त्वचा मानव शरीर की संपूर्ण सतह को ढके हुए हैं और प्राकृतिक द्वारों (मुँह, नाक, जननेन्द्रियों और गुदा के चारों ओर) के क्षेत्र में श्लेष्मा कला से जुड़ी हुई है। एक वयस्क की त्वचा की सतह 1.5 से 2.0 वर्ग मीटर तक होती है। त्वचा मनुष्य के शरीर को प्रतिकूल परिवेशी प्रभावों से बचाती है और चयापचयी प्रक्रिया में सक्रिय भाग लेती है।

त्वचा की शरीर रचना

त्वचा की तीन पर्तें होती हैं : (1) बाह्य त्वचा, ऊपर की पर्त, (2) त्वचा, या अंतःत्वचा, या असली त्वचा, (3) अधस्तक कोशिका ऊतक या अधस्त्वक (त्वचा का गहरा भाग) (प्लेट)। इन पर्तों के भ्रूणीय मूल में भेद हैं। बाह्य त्वचा बहिर्जनस्तर (प्राथमिक बीजांकुर-सतह के सबसे ऊपर के भाग) से और अंतस्त्वचा तथा अधस्त्वक वसा मध्यजनस्तर (बीच की प्राथमिक बीजांकुर-सतह) से उभरती हैं।

वाह्य त्वचा उपकलात ऊतक है और निम्नलिखित पाँच पर्तों से बनी होती है : (1) आधार-स्तर, (2) कंटक स्तर, (3) कणमय स्तर, (4) स्वच्छ स्तर, (5) शल्क स्तर या शृंगी स्तर (चित्र 37)। इनमें रक्त वाहिकाएँ नहीं होतीं और कोशिकाओं को पोषण अंतर्कोशिका रेखाछिद्रों की लसीका से प्राप्त होता है। बाह्य त्वचा में बहुत सी तंत्रिकाओं के छोर होते हैं।

आधार-स्तर बाह्य त्वचा की सबसे गहरी पर्त होती है और यह अंतस्त्वचा से जुड़ी होती है; यह स्तंभाकार कोशिकाओं की एक श्रेणी है। बाह्य त्वचा की कोशिकाएँ यहाँ विभाजित होती हैं। इन कोशिकाओं में भूरे वर्णक, मैलेनिन की कणिकाएँ होती हैं, जिनकी मात्रा त्वचा के रंग को निर्धारित करती है। गर्म देश के वासियों में मैलेनिन की मात्रा बहुत होती है, एक ही आदमी के विभिन्न त्वचा-क्षेत्रों में इनकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मैलेनिन कोशिका-केंद्रकों और गहरे ऊतकों पर पड़ने वाले पराबैंगनी किरणों के प्रतिकूल प्रभाव से जीव की रक्षा करती है।
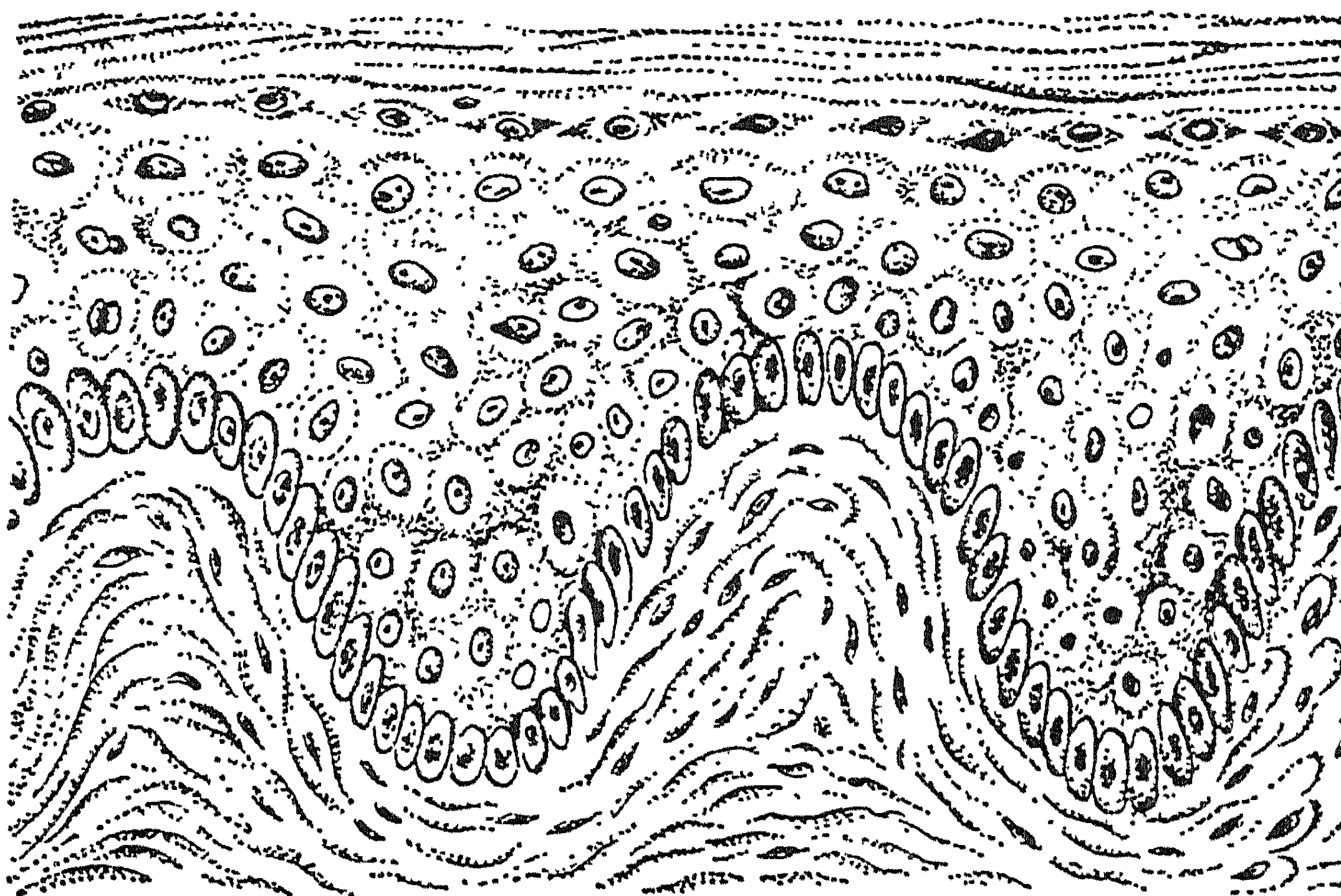
चित्र 37. वहित्वचा की संरचना जिसकी पाठ में चर्चा की गई है।

कंटक-स्तर आधार-स्तर के ऊपर होता है और इसमें हल्के केंद्रकों वाली धन कोशिकाओं की पाँच या छः श्रेणियाँ होती हैं। ये एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं अंतर्कोशिका कर्ण (कंटक) नामक अनेकानेक प्रक्रियाओं के द्वारा कोशिकाओं से हुई हैं। अंतर्कोशिका स्थान में इन कर्णो (कंटकों) के बीच उपकला लसीका ब है, जो कोशिकाओं के लिए पोषक पदार्थ वहन करती है और चयापचयी उत को उनसे दूर ले जाती है।

कणमय स्तर में हल्के अंडाकार केंद्रकों वाली लमड़ी-सी समांतर समचतु जैसी कोशिकाओं की एक या दो श्रेणियाँ होती हैं। इन कोशिकाओं के जीव में विशेष प्रोटीन पदार्थ, कैराटों हायलिन तथा बाह्य त्वचा के केरेटिनीकरण के पदार्थ की अनेक कणिकाएँ होती हैं।

ऊपर वर्णित बाह्य त्वचा की तीन पर्तों (आधार स्तर, कंटक स्तर और कण स्तर) से मैलपिगीय पर्त बनती हैं।

त्वचा का **स्वच्छ स्तर** कणमय स्तर के ऊपर होता है, जिसमें पट्टी की कोशिक की एक या दो श्रेणियाँ होती हैं। इन कोशिकाओं में केंद्रक नहीं होते, इनके जीव में एलाइडिन होता है, जो प्रोटीन पदार्थ है तथा यह बाह्य त्वचीय कोशिकाओं केरेटिनीकरण के फलस्वरूप बनता है।

श्रृंगी स्तर में महीन श्रृंगी प्लेटों की पाँच या छः श्रेणियाँ (हथेली और त में 10 से 15 तक) होती हैं, जिनमें केंद्रक नहीं होते। ये केरेटीन या श्रृंगी प

हैं जो केरेटीनीकरण के अंतिम परिणाम हैं। जितना ही यह त्वचा की सतह के निकट होते हैं, उतनी ही दूर इनको जोड़ने वाली स्तरिकाएँ होती हैं, जो धीरे-धीरे गिर जाती हैं (विशल्कन हो जाता है)।

अंतस्त्वचा या असली त्वचा अंकुरक और जालीय पर्तो की बनी होती है। असली त्वचा इनमें मिलकर सूत्र बनाती है, जिसके सिरे गोलीय होते हैं। इनके बीच में अंकुरक की जड़ बन जाती है, जिसके द्वारा बाह्य त्वचा और अंतस्त्वचा जुड़ी हती हैं, इसलिए इनके बीच की सीमातरंगित रेखा बनाती है। बाह्य त्वचा संयोजी ऊतक तंतुओं, आधार अंतर्कोशिका पदार्थ और कोशिकाओं की बनी होती है। इसमें थोड़े से कोशिका तत्त्व (हिस्टियोसाइट, फाइब्रोसाइट इत्यादि) होते हैं। संयोजी ऊतक तंतुओं के बने बंडल होते हैं जो विभिन्न दिशाओं में गुँथे हुए होते हैं, इनसे त्वचा में लचीलापन, सुसंहति, प्रत्यास्थता और शक्ति बनी रहती है। इन तंतुओं और कोशिकाओं के बीच की जगह में आधारी अंतर्कोशिका पदार्थ भरा होता है जो महत्त्वपूर्ण शरीरवृत्तिक कार्य करता है। यह विशेषरूप से त्वचा में होने वाले शोथज और एलर्जी परिवर्तनों में सक्रिय रूप से सम्मिलित होता है, चयापचय में भाग लेता है और त्वचा में विकारी सूक्ष्म जीवों से घुसने को रोकता है। आधारकला (इसके तंतु एक ओर बाह्य त्वचा की निचली श्रेणी की कोशिकाओं से जुड़े होते हैं और दूसरी ओर बाह्य त्वचा के तंतुओं से अंतर्गथित होते हैं) बाह्य त्वचा और त्वचा के बीच सोपाधिक सीमा है, जबकि वाहिकामय जालिका त्वचा और अधस्तक के बीच की सीमा बनाती है।

अधस्तक कोशिका ऊतक या अधस्त्वक संयोजी ऊतक तंतुओं के बंडलों के रूप में एक प्रकार का जालक बनाते हैं, जिसकी जलाक्षि में वसीय कोशिकाएँ इकट्ठी होती है।

त्वचा का रक्त और लसीका-तंत्र उपस्थित और गहरी जाली है जिसकी शाखाएँ लंबवत और क्षैतिज फैली हुई तथा एक-दूसरे से जुड़ी हुई होती हैं।

लसीका और शिरा वाहिकाएँ धमनी से समानांतर फैली होती हैं।

रक्त वाहिकाएँ और उनकी शाखएँ त्वचा ऊतकों के पोषण की पूर्ति करती हैं और चयापचयज को उनमें से बाहर ले जाती हैं। गर्म, ठंडे, भौतिक और रसायनिक उद्दीपकों के प्रभाव से मानस तंत्रिका के भाव (प्रसन्नता, भय, क्रोध आदि) में परिवर्तन होता है, वाहिकाएँ अपनी अवकाशिकाओं के आकार को बदल कर संकुचित हो जाती हैं, जिनके फलस्वरूप त्वचा लाल या पीली पड़ जाती हैं।

बच्चों की त्वचा में वाहिकाओं का बाहुल्य होता है। उनकी त्वचा में कोमलता, ढीलापन, जल की अधिक मात्रा, अधिक विकसित अधस्त्वक कोशिका-ऊतक, वाहिकाओं और ऊतकों की बढ़ी हुई पारगम्यता होती है (इसीलिए बच्चों में एलर्जी की प्रक्रिया बहुधा होती है और अधिक तीव्र होती है)। उनमें कोशिका-तत्त्व और संयोजी ऊतक-तंतु बड़ों की त्वचा की अपेक्षा अधिक आसानी से आक्लेदित होते हैं।

स्वेदन ग्रंथियाँ तीस लाख से भी अधिक होती हैं। ये 300 से 800 मि.ली. पसीना प्रतिदिन निस्सारित करती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों में यह निस्सारण बढ़कर 1500 मि.ली. या इससे भी अधिक हो सकता है। स्वेदन ग्रंथियाँ नालिकीय संरचना की होती हैं और यह एक काय सर्पिल नालिका के रूप में और निकासिकी वाहिका की बनी होती हैं। कुंडली (ग्रंथि का स्रावी भाग) अधस्त्वक त्वचा में होती है, जबकि वाहिनी बाह्य त्वचा की पूरी मोटाई में फैली रहती है और त्वचा की सतह पर खुलती है। हथेलियों, तलवों और चेहरे पर स्वेदन ग्रंथियाँ विशेषकर अधिक होती हैं, जबकि शिश्न के मुंड पर, शिश्नमुंडच्छद की अंदरूनी सतह पर और गुह्य अधरों की बाहरी सतह पर एक भी स्वेदन ग्रंथि नहीं होती। उत्सर्गी कहलाने वाली साधारण स्वेदन ग्रंथियों के अलावा शिखर उत्सर्गी गंथियाँ भी होती हैं जो काँख, जननांगों, चूचक और गुदा के चारों ओर की त्वचा में होती हैं। ये उत्सर्गी ग्रंथियाँ बड़ी होती हैं तथा त्वकवसीय—रोमपुटक के ऊपरी भाग में खुली हुई होती हैं और इनका संबंध लिंग ग्रंथियों की सक्रियता से होता है। शिखर उत्सर्गी स्वेदन ग्रंथियाँ परिपक्वता काल में कार्य करना शुरू कर देती हैं।

त्वकवसीय ग्रंथियों की संरचना सम्मिश्र खंडकीय होती हैं। ये रोमकूपों को घेरे रहती हैं (प्रत्येक रोमकूप के चारों ओर छः से आठ ग्रंथियाँ तक होती हैं) और इन वाहिकाओं की निकासी रोमकूप के ऊपर भाग में होती है तथा कभी-कभी ये त्वचा की सतह पर खुलती हैं। ये त्वकसीय ग्रंथियाँ सिर, चेहरे और पीठ के ऊपरी भाग में अधिक संख्या में होती हैं।

सभी त्वचा ग्रंथियों में वाहिकाएँ और तंत्रिकाओं के सिरे होते हैं। ये सिरे संयोजी ऊतक संपुट में होते हैं।

बाल **लंबे** (शिरोवल्क, दाढ़ी, मूंछ, कांखों, जघनास्थि और बाह्य जननांग के), **बड़े और खुरदरे** (भौंह, आँखों की पलकों, नथुनों और बाहरी कानों के), **घुरे हुए** नीचे की ओर (बाँहों और धड़ में) होते हैं। बालों का स्वतंत्र भाग त्वचा की सतह से ऊपर उठा हुआ होता है। लोम का त्वचा में जो भाग छिपा रहता है उसे मूल कहते हैं। कलाओं से ढके लोम-मूल और संयोजी ऊतक को **लोमकूप** कहते हैं। मूल के निकटस्थ चौड़े भाग को **लोमकंद** (लोम कोशिकाओं के विभाजन का **स्थान**) कहते है। और इसके साथ ही **लोम अंकुरक** होता है (जिसमें रक्त वाहिकाएँ लोम और तंत्र तंत्रुओं को पोषण लाती हैं)। मध्य भाग (अंतस्था) और बाहरी भाग (प्रांतस्था) को लंबे केशों से पहचाना जाता है। केशों की कला को उपत्वचा कहते हैं। कंदों से केश धीरे-धीरे बढ़ते हैं और 24 घंटों में इनकी लंबाई बढ़ कर 0.3 मि. मि. से 0.5 मि. मि. तक हो जाती है। त्वकवसीय ग्रंथियाँ लोमकूप के ऊपरी भाग तक बहती हैं।

त्वचा की पेशियाँ : लोम को उठाने वाली पेशियाँ और वाहिकाओं की दीवारों

में पाए जाने वाले पेशीय तंतु तथा स्वेद ग्रंथियाँ त्वचा की चिकनी और अनैच्छिक पेशियों के समूह में आते हैं। पेशी हप्रणी के संकुचन के केश लंबीय स्थिति में खिंच जाता है और त्वकवसीय ग्रंथियों से स्रवण होने लगता है। चेहरे के भाव और सजीवता की पेशियाँ खिंच जाती हैं।

नाखून : नाखून एक कठोर शृंगी पट्टिका है जिसकी बाह्य कला चमकती है; यह नख-शय्या पर स्थित होता है। नख-शय्या दोनों तरफ से तथा समीपस्थ छोर तक त्वचा परत से परिसीमित होती है और इसे नख दीवार (अधिनख) कहते हैं। नख प्लेट में जड़, शरीर और खुला हुआ किनारा होता है। प्लेट का समीपस्थ भाग त्वचा की परत के अंदर होता है। इसी स्थान से नख उगता है।

त्वचा की तंत्रिकाएँ : त्वचा तंत्रिका के सिरे और विशेष तंत्रिका अंतस्थ उपकरण होते हैं। अधस्त्वक वसा स्तर स्थित तंत्रिका जालिका से तंत्रिका की शाखाएँ निकलती हैं और ये रोमकूप, त्वकसरीय और स्वेदन ग्रंथियों, त्वचा की वाहिकाओं और पेशियों तक फैली होती हैं। त्वचा में बहुत सी संवेदी तंत्रिकाएँ होती हैं और विशेष अंतस्थ उपकरण होते हैं जो पीड़ा, गर्म, सर्द, दबाव और स्पर्श के संवेद को महसूस करते हैं।

त्वचा की शरीरवृत्ति (क्रिया)

त्वचा और इसके उपांग, जो शरीर के बाह्य और आंतरिक पर्यावरण के बीच स्थित एक ऐसे अवयव होते हैं जो जीव की कई महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ संपन्न करते हैं। तंत्रिकातंत्र, परिसंचरण और अंतःस्रावी ग्रंथियों के द्वारा त्वचा जीव से जुड़ी होती है। यह प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, जल-खनिज और विटामिन के चयापचय में शामिल रहती है।

संरक्षी क्रिया : दृढ़ शृंगी परत, मजबूत और लचकदार तंतु तथा अधस्त्वक वसा जीव (शरीर) की बलकृत (घूंसे, रगड़, दाब इत्यादि), भौतिक (उच्च और निम्न तापमान इत्यादि) और रसायनिक उद्दीपकों से रक्षा करते हैं। त्वचा पर जल—वसा की पर्त होती है, जिसकी अम्लीय प्रक्रिया शरीर में सूक्ष्मजीवियों को घुसने नहीं देती है और न ही रासायनिक पदार्थों के प्रभाव को कमजोर होने देती है। त्वकवसीय और स्वेदनग्रंथियों के स्राव में जीवाणुनाशी गुण होते हैं। शृंगी कोशिकाओं की ऊपरी श्रेणियों के लगातार विशल्कन से त्वचा के विसंक्रमण गुण बने रहते हैं। बाह्य त्वचा की कोशिकाओं में बनने वाले मैलेनिन वर्णक उगाने वाली परत (मैलपिगीय) की सूर्य विकीरण तथा अन्य विकीरण कारकों से रक्षा करते हैं। त्वचा की उष्माचालकता कम होती है जिसके कारण जीव की अतिशीतन और अतितापन से रक्षा होती है।

त्वचा की प्रक्रियता और जीव की प्रतिरक्षा वाले गुणों का संबंध भी त्वचा की सुरक्षात्मक क्रिया से होता है। बच्चों और तंत्रिका रोग तथा आंतरिक अंगों के रोग से पीड़ित व्यक्तियों की रोगक्षमता घट जाती है और प्रतिक्रिया घटती या बढ़ती है। इसलिए बहुत से त्वचा रोग (उदाहरणार्थ त्वक पूयता) आसानी से हो जाते हैं

और उनका दौर बदलता रहता है।

संवेदी अंग के रूप में त्वचा : अनेकानेक तंत्रिकाओं और अंतस्थ तंत्रिका उपकरणों के त्वचा में मौजूद होने से बाह्य पर्यावरण से प्राप्त विभिन्न प्रभावों के उद्दीपकों को त्वचा महसूस करती है और उन्हें केंद्रीय तंत्रिका तंत्र को प्रेषित करती है। ये उद्दीपन (संकेत) प्रमस्तिष्क प्रांतस्था में पहुँचकर पीड़ा, स्पर्श, दबाव, गर्म और सर्द इत्यादि के संवेदन में परिवर्तित हो जाते हैं। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ (दृष्टि, श्रवण और घ्राण) त्वचा के स्पर्श-संवेदन से मिलकर मनुष्य को (स्वयं को) पर्यावरण के अनुकूल होने में समर्थ बनाती हैं।

स्रावी और उत्सर्गी क्रियाएँ : त्वकवसीय और स्वेदन ग्रंथियों द्वारा कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थों, खनिज चयापचयी उत्पादकों, कार्बोहाइड्रेट, विटामिनों, हार्मोन, एंजाइमों और काफी मात्रा में जल का स्रवण होता है। इसे पता लगता है कि त्वचा चयापचयी क्रियाओं में भाग लेती है। तीव्र पेशीय आयास, ज्वर या उच्च परिवेशी तापमान होने से स्वेदन द्वारा सामान्य रूप से 300 से 800 मि.ली. पसीना निकलने की अपेक्षा दो से चार लीटर तक निकल जाता है। त्वकवसीय ग्रंथियों द्वारा रोज 20 ग्राम त्वकवसा का स्राव (वसीय स्राव) होता है।

बच्चों में स्वेदन ग्रंथियाँ पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती हैं इसीलिए जल मुख्यतः त्वचा पारस्रवण के रूप में निकल जाता है। यह पारस्रवण बाह्य त्वचा की पतली शृंगी परत और विस्फरित लस वाहिका तथा रक्त वाहिकाओं की दीवारों की बढ़ी हुई पारगम्यता के कारण बढ़ जाता है। बच्चे की त्वचा में जल और खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रा में होने से उसकी कोशिकाओं, संयोजी कोशिका-तंतुओं और अंतराकोशिका पदार्थों में सघन चयापचय होता है।

श्वसन क्रिया और अवशोषण का गुण : त्वचा के द्वारा कुछ आक्सीजन अंदर जाती है और कुछ कर्वनडाइआक्साइड और जल-वाष्प निष्क्रमित होता है। इस प्रकार फेफड़ों की श्वसन क्रिया की आंशिक पूर्ति होती है (फेफड़ों द्वारा गैसों के विनिमय की अपेक्षा त्वचा द्वारा 1/180 आक्सीजन का अवशोषण और 1/90 कार्बनडाइआक्साइड का विसर्जन होता है)। वयस्कों की अपेक्षा इस क्रिया की अभिव्यक्ति शिशुओं में अधिक होती है। स्वस्थ त्वचा द्वारा जल और कठोर पदार्थ का अवशोषण नहीं के बराबर होता है। कुछ रसायन और औषधियों (ईथर क्लोरोफार्म, सैलिसिलिक अम्ल, आयोडीन और पारद के बाइक्लोराइड इत्यादि) का अवशोषण अधिक सरलता से होता है।

त्वचा की तापनियमन क्रिया का संचालन केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के द्वारा होता है। त्वचीय रक्त-वाहिकाओं के विस्फारण से और स्वेदन बढ़ जाने से ऊष्मा का उत्सर्जन बढ़ता है तथा वाहिकाओं के संकुचन और स्वेद स्राव के घटने से घट जाता है। शरीर से बाह्य पर्यावरण में ऊष्मा का उत्सर्जन त्वचा के द्वारा होता है।

त्वचा-स्वास्थ्य विज्ञान

त्वचीय रोगों को रोकने के लिए त्वचा की सफाई और उसकी देखभाल का बहुत महत्त्व है। त्वगवसा, स्वेदन, शृंगी परत की विशल्कित कोशिकाएँ मनुष्य की त्वचा पर धूल और गंदगी के लगातार जमा होते रहने से रोगजनक जीवाणुओं के जनन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बनाती जाती हैं। इसीलिए त्वचा-रोग की रोकथाम के लिए त्वचा को साफ रखना अपरिहार्य है। ऐसे लोग जो अपने काम के दौरान मशीनी तेल, पेट्रोलियम टार, मिट्टी के तेल, गैसोलिन आदि के संपर्क में आते हैं, उन्हें अपनी त्वचा को दैनिक रूप से साफ करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्षोभकों का निराकरण करना चाहिए और छोटी सी भी चोट का उपचार करना चाहिए। बहुत से उद्यमों में व्यक्ति की त्वचा को सुरक्षित करने के साधनों में विभिन्न प्रकार के लेप X ИОТ-6, ПМ-1, ИЭР- जीव विज्ञानी दस्ताने इत्यादि और मलहम (सेलिस्की, कोचेरगिन और अन्य) भी सम्मिलित हैं। छोटी चोटों का उपचार 2 प्रतिशत हरे अल्कोहली घोल या आयोडीन तथा प्रतिजीवी वाले मलहम से किया जाता है। त्वचा के खुले क्षेत्र और त्वचा की सलवटें बहुधा अधिक गंदी होती हैं। ऐसे उद्यमों के चिकित्सा कर्मियों को चाहिए कि वे स्नानघर और सफाई घरों की निगरानी रखें और यह देखें कि कर्मचारियों की त्वचा ठीक तरह से साफ है या नहीं और सूक्ष्माभिघातों का समय से उपचार हुआ है या नहीं।

सूर्य विकिरण, ताजी हवा, वायु स्नान और नर्म गर्म जल में रगड़-रगड़ कर स्नान करने का प्रभाव स्वस्थ त्वचा पर अच्छा होता है। सूखी त्वचा को धोने के लिए क्षार रहित निष्प्रभावी साबुन सबसे अच्छा होता है। सूखी त्वचा वाले व्यक्तियों और शिशुओं के लिए अधिक मात्रा में वसा वाले साबुन (जिनमें लैनोलिन, ग्लीसरीन या तार और बेबी सोप) के प्रयोग करने की सिफारिश की जाती है। जिस व्यक्ति के चेहरे की त्वचा सूखी हो, उसे साबुन के बिना ही मुँह धोना चाहिए।

त्वक-रतिरोग चिकित्सालय में भर्ती सभी रोगियों का निरीक्षण उपचारिका द्वारा ध्यानपूर्वक किया जाता है। यूका या लीख (जूँ) मिलने पर केश काट देने चाहिए और यदि आवश्यक हो तो बालों को उस्तरे से साफ करना चाहिए और शरीर के बालों वाले भागों को विशेष साबुन से, जिसमें पोटाश हो, साफ करना चाहिए या फिर क्लोरोफेनोथेन (डी.डी.टी. साबुन) का प्रयोग करना चाहिए।

ऐसी रोगी जिनकी हालत संतोषजनक हो, मसलन उनको विसरित पूयत्वक रोग या कवक रोग न हो, फव्वारे से नहा सकते हैं। जिनकी हालत अधिक खराब हो, उन्हें स्नान कराया जाता है। कमजोर रोगियों को स्नान टब में लिटा कर कराते हैं और फिर चादर पर बाहर निकाल लेते हैं। इन रोगियों को उपचारिका का सहायक नहलाता है। अधिक गंभीर होने पर उपचारिका भी रोगी को स्नान कराने में सहायता

करती है। धड़ और अंगों में पूयत्व रोग और कवक रोग में फव्वारे से स्नान निषिद्ध है। ऐसी हालत में स्वस्थ त्वचा के भागों को एक के बाद एक टैंपन (पिचु) को कर्पूरित स्प्रिट में भिगोकर उससे रगड़-रगड़ कर, पोंछ कर, सुखाया जाता है।

उपचारिकाएँ और परिचारकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रोगी त्वचा स्वास्थ्य निर्देशों का उल्लंघन न करें और स्वयं ही उनका कड़ाई से पालन करें।

त्वचीय और रतिज रोगों के सामान्य लक्षण

त्वचीय और रतिज रोग संपूर्ण शरीर की बीमारी होते हैं और इनकी अभिव्यक्ति त्वचा और श्लेष्म कला की विक्षति में ही नहीं होती, बल्कि विविध सामान्य लक्षणों में भी होती है। आत्मगत और वस्तुगत लक्षणों में अंतर किया जाता है। आत्मगत लक्षणों के अंतर्गत खुजली, दर्द, ठंड और जलन की अनुभूति होती है, तंगी सुन्नता और तनाव आते हैं।

वस्तुगत लक्षण त्वचा के रंग, उसकी प्रत्यास्थता आदि से संबंधित हो सकते हैं या ये एकदम फूट पड़ने वाले लक्षण कहे जा सकते हैं। स्फूटन शोथ और बिना शोथ के हो सकते हैं। त्वचा और रतिज रोगों के बहुत से स्फूटन शोथज लक्षण वाले होते हैं। गुल्म, चकत्ते (वर्णकता के धब्बे) शोथ, अतिकिरेटिनता इत्यादि शोथज रहित अभिव्यक्ति होती हैं।

त्वचीय स्फूटन से अलग-अलग आकृतिक विक्षतियाँ होती हैं जैसे, प्राथमिक और द्वितीयक अथवा क्रमिक। **प्राथमिक आकृतिक विक्षति** प्रकट रूप से पहले स्वस्थ त्वचा पर बाह्य और आंतरिक उद्दीपक की तुरंत प्रक्रिया के रूप में होती है। द्वितीयक (क्रमिक) आकृतिक विक्षति प्राथमिक और द्वितीयक तत्त्वों के विकास के परिणामस्वरूप होती है।

त्वचा में विकृतिजन्य परिवर्तन होने की प्रक्रिया की संपूर्णता को देखते हुए आकृतिक विक्षति का प्राथमिक और द्वितीयक में पृथक्करण ओपचारिक है।

प्राथमिक आकृतिक विक्षतियाँ

प्राथमिक विक्षतियों को अंतःसंचारित और निःस्रावी विक्षति के रूप में पहचाना जाता है। अंतःसंचारित विक्षति के अंतर्गत चकत्ता, पिटिका, गुलिका और पर्विका आते हैं तथा निःस्रावी विक्षति के अंतर्गत पुटिका, फफोला, पूर्यस्फोटिका और ददौड़ा।

चकत्ता त्वचा के रंग में हुआ स्थान-संश्रित परिवर्तन है। यह बहुधा त्वचा की सतह से ऊपर उठा हुआ नहीं होता है और सघनता में यह त्वचा से अलग नहीं होता।

वाहिकामय और वर्णकयुक्त चकत्तों में विभेद किया जाता है। वाहिकामय चकत्ते शोथज या शोथ रहित हो सकते हैं। शोथज वाहिकामय विभिन्न आकार की स्थानसंश्रित

ललाई है, जो बाह्य और आंतरिक उद्दीपकों का परिणाम होती है। यह ललाई गुलाबी लाल होती है जो बाद में नीले या भूरे रंग में बदल जाती है। 1.0 से 2.0 से.मी. व्यास वाले गुलाबी धब्बों को ददौड़ा (जो सिफिलिस, खासरा, स्कारलेट और टाइफस ज्वर इत्यादि में होते हैं), इससे वड़े चकत्ते को त्वगरक्तिमा (त्वकशोथ में, जो सूर्य किरणों के बहुत प्रभावाधीन होने से होते हैं) कहते हैं।

त्वचीय वाहिकाओं के दीर्घकालीन स्थायी विस्फारण के फलस्वरूप **शौथज-रहित** वाहिकामय **चकत्ते** बनाते हैं। ये अर्जित (वाहिका स्फीति) भी हो सकते हैं और जन्मगत (वाहिकामय जन्म के निशान) भी।

जब रक्त वाहिकाओं से निकलकर त्वचा कोशिकाओं में चला जाता है तब स्रावी चकत्ते वनते हैं। जो पहले लाल होते हैं और फिर हैमोग्लोबीन के विघटन के फलस्वरूप नीले या हरापन लिए पीले हो जाते हैं। ये दबाने से मिटते नहीं हैं।

स्थान-संश्रित त्वचीय क्षेत्रों में मैलेनिन वर्णक की मात्रा के घटने या बढ़ने से वर्णकयुक्तता के धब्बे पड़ जाते हैं। ये जन्मजात ('जन्म चिह्न' वर्णक की बढ़ी हुई मात्रा, वर्णक की मात्रा घटने के कारण विवर्णकता से रंजहीन धब्बे) या अर्जित (वर्णक की मात्रा बढ़ी होने पर मेचक और त्वक विवरणता, वर्णक की मात्रा घटने से श्वित्र या चितकबरी त्वचा) हो सकते हैं।

पिटिका अंतःसंचारित और त्वचा के ऊपर ठोस उभार सा होता है, जिसमें कोई गुहिका नहीं होती और यह बिना किसी निशान के गायब हो जाती है या कुछ समय के लिए वर्णक छोड़ जाती है। बाह्य त्वचा में होने वाली पिटिका को बर्हिजनस्तरीय कहते हैं और जो त्वचा में होती है उसे त्वचीय कहते हैं (चित्र 38)।
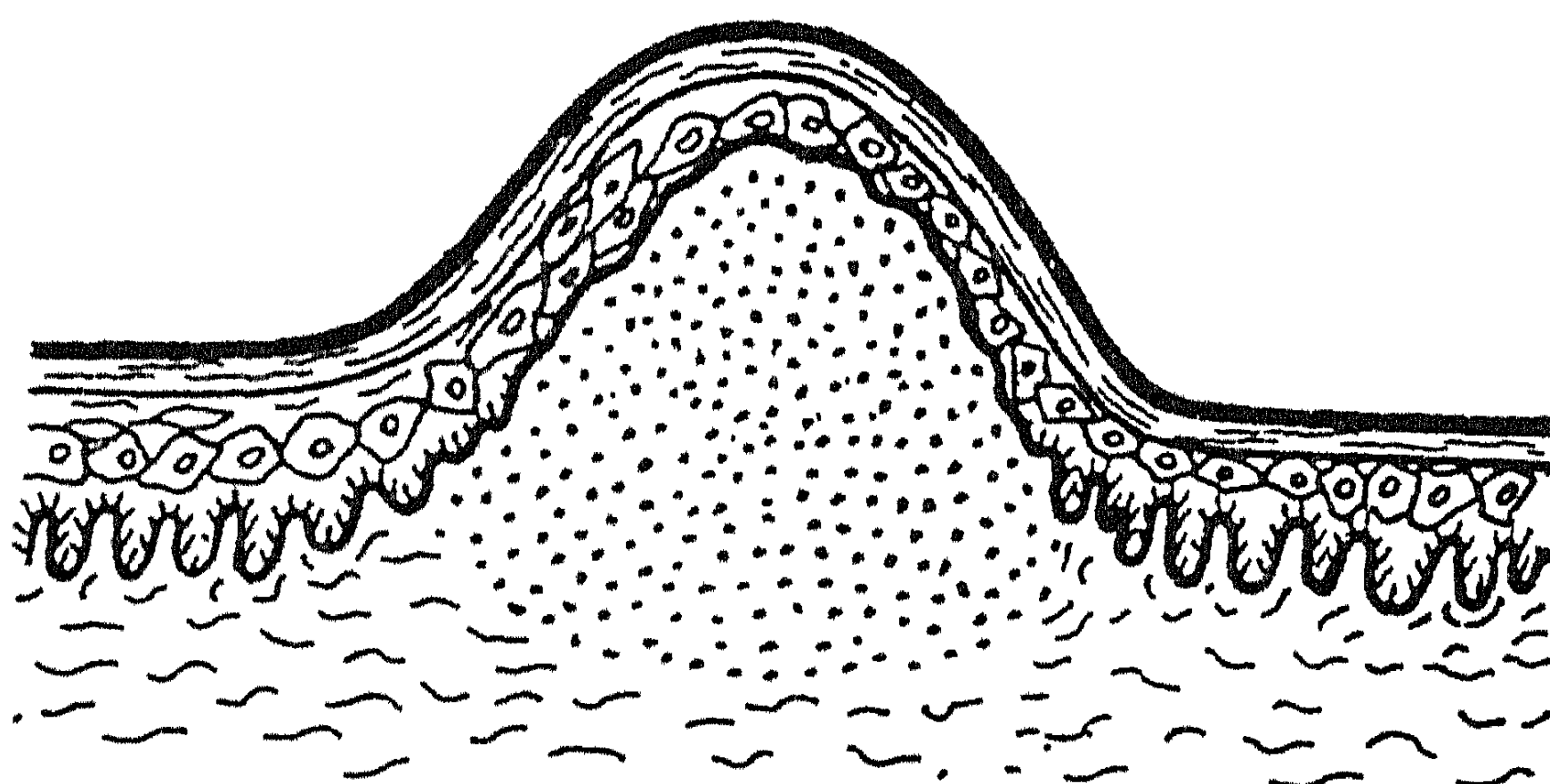
चित्र 38. त्वचीय पीटिका (कार्य प्रदर्शी आरेख)।

बहुधा यह क्रिया बाह्य त्वचा और त्वचा में एक साथ होती है जिसमें कि बहिरत्वचवीय-त्वचीय पिटिकाएँ बनती हैं। (चित्र 39)। शोथज अंतःसंरचरण अतिरक्तता और सूजन होने से शोथज पिटिकाएँ बनती हैं (सिफिलिस, सोरियासिस, छाजन)। किसी त्वचा की पर्त मोटी
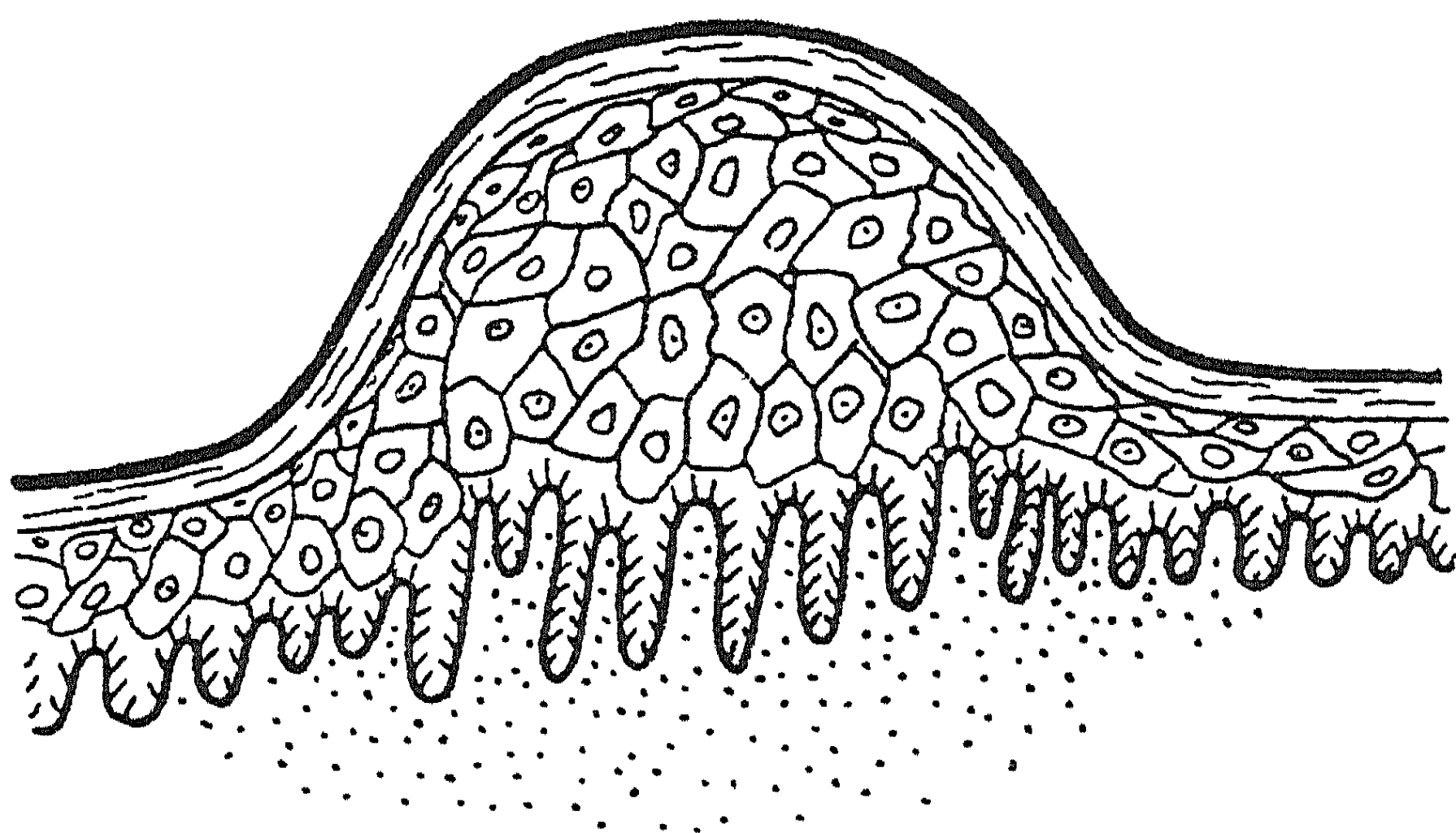
चित्र 39. बाह्य त्वचा-त्वचीय पिटिका (कार्य प्रदर्शी आरेख)।

होने से शोथज रहित पिटिकाएँ (मस्सा इत्यादि) हो जाती हैं। पिटिका का आकार पिन के सिरे (विकरित पिटिका) और मसूर या मटर से लेकर बड़े सिक्के के आकार के बराबर तक होता है। बहुत सी संगामी पिटिकाएँ चकत्ते का रूप ले लेती हैं।

गुलिका अंतःस्रावी त्वचा का उभार है जिसमें गुहिकाएँ नहीं होतीं और यह पिटिका की अपेक्षा अधिक गहरी होती हैं। (चित्र 40) और इसका सदैव ही परि-

चित्र 40. गुलिका (आरेख)।
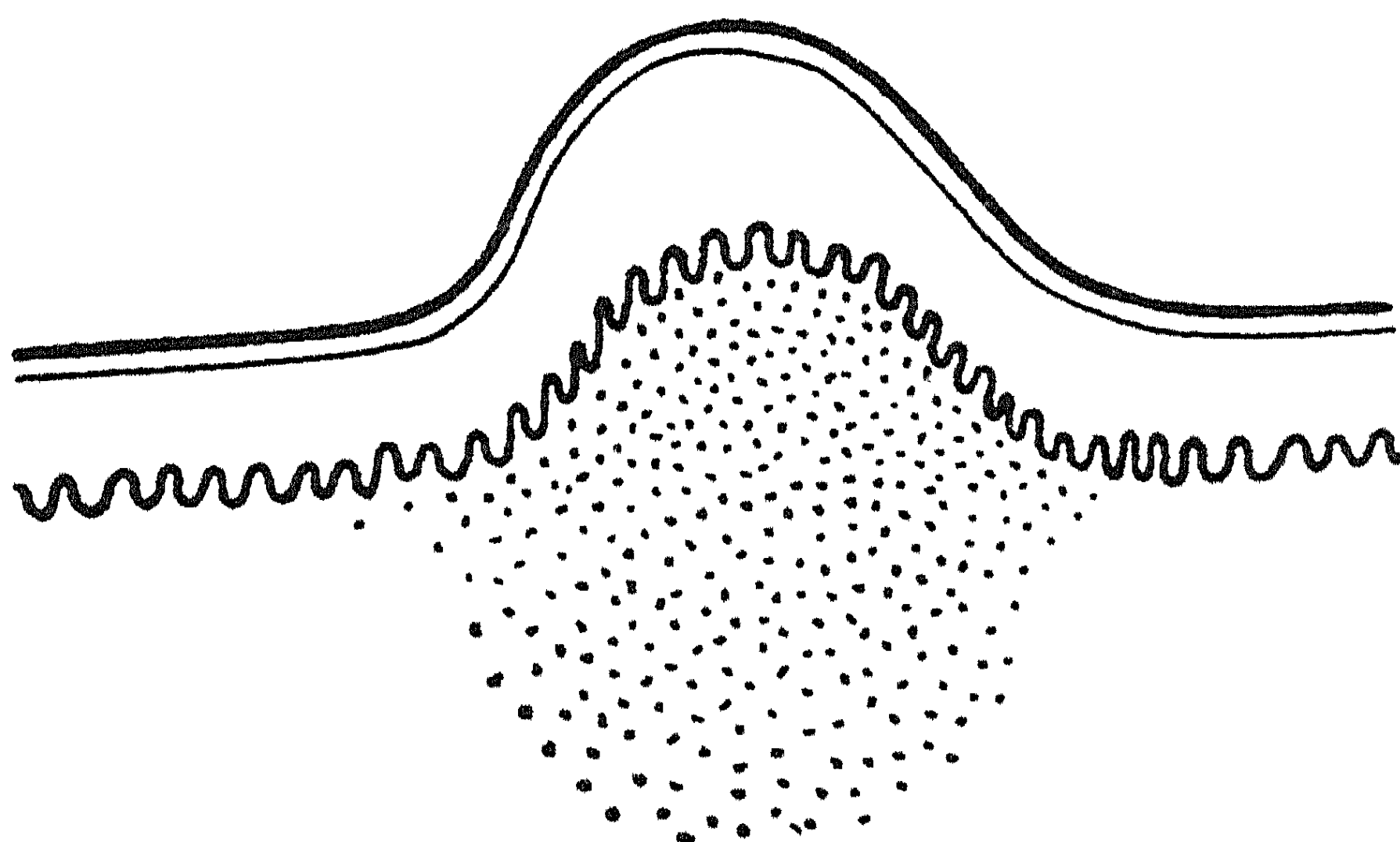
मलन होता रहता है जिससे कि द्वितीयक परिवर्तन होते हैं तथा त्वचा पर व्रण चिह्न या क्षतांकज शेष रह जाता है।

पर्विका शोथज का शोथ रहित हो सकती है। शोथज पर्विका एक बड़े अंतरस्रावी आकार की हो सकती है (एक सेम के दाने के आकार से लेकर मुर्गी के अंडे के आकार तक की)। यह अधस्त्वक वसा में होती है। पर्विकाएँ परिगलित हो सकती

हैं, व्रण का रूप ले सकती हैं और क्षंताकित हो जा सकती हैं (सिफलिस गंम्मा या यक्ष्मज त्वकगलन में) या फिर ये कोई भी क्षतांक छोड़े बिना धीरे-धीरे अवशोषित हो सकती हैं।

शोथज—रहित पर्विका समूह के अंतर्गत वसार्बुद, तंतुअर्बुद तथा त्वचा अर्बुद आदि शामिल होते हैं।

जलस्फोट एक निःस्रावी गुहिकी विक्षति है जिससे कि त्वचा थोड़ी सी उभर जाती है। इसका आकार पिन के सिरे से लेकर मटर के दाने के बराबर तक हो सकता है तथा इसमें स्वच्छ तरल भरा होता है (चित्र 41)। बाद में जलस्फोट की सतह नष्ट होकर अपरदन या पपड़ी बन जाती है।
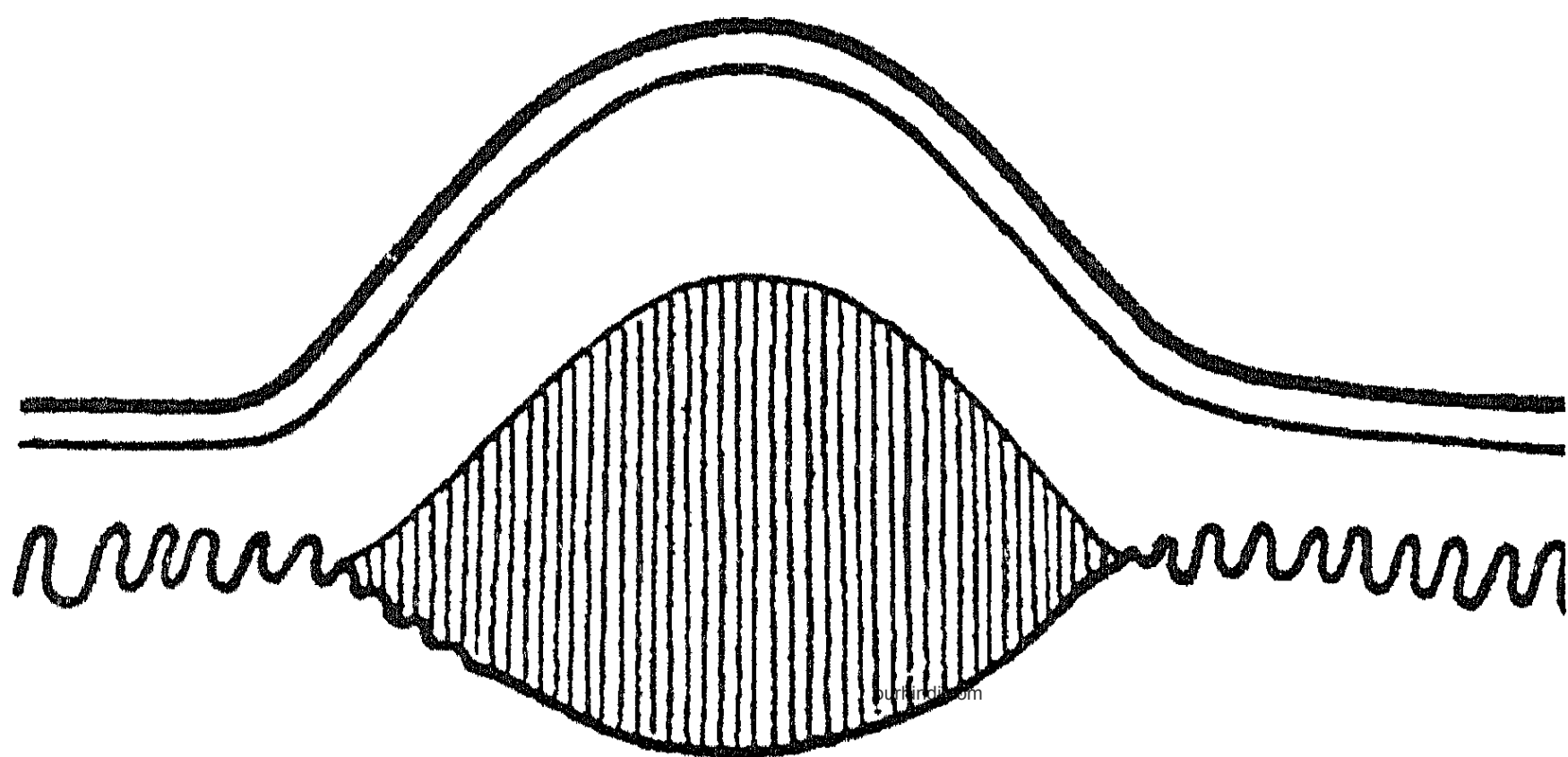
चित्र 41. जलस्फोट पुटिका (आरेख)।

फफोला एक निःस्रावी गुहिकामय विक्षति है जिसमें कि स्वच्छ तरल भरा होता है। यह बड़ा होता है (इसका आकार हैजिल के दाने से लेकर मुर्गी के अंडे या इससे भी बड़ा होता है)। फफोला भी ठीक होने पर, जलस्फोट की तरह, कोई निशान नहीं छोड़ता है।

पूय स्फोटिका एक गुहिकामय तत्त्व है जिसमें पस भरा होता है। यह विक्षति वाह्य त्वचा पर उपरिस्थ (इंपेटाइगों) हो सकती है (चित्र 42) और यह बिना निशान
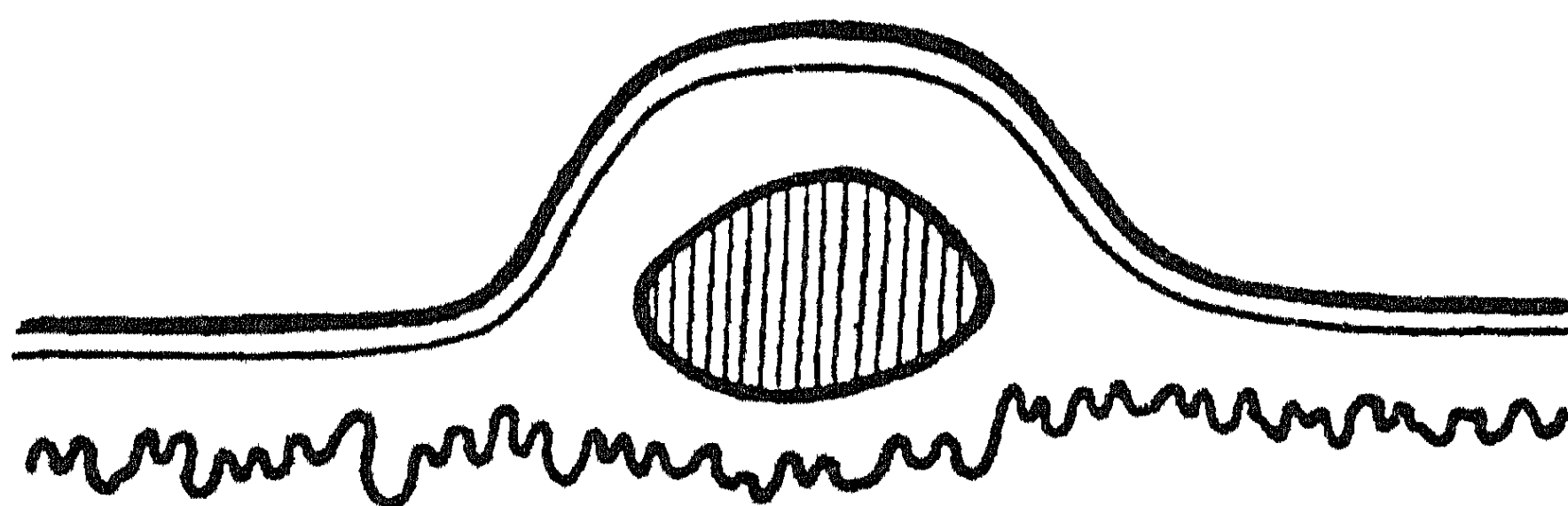
चित्र 42. उपरिस्थ पूयस्फोटिका (आरेख)।

छोड़े ठीक हो जाती है। यह भी हो सकता है कि यह गहरा हो (एक्थिमा में) जिससे

कि त्वचा भी प्रभावित हो तथा ठीक होने पर इसका निशान रह जाए।

ददौड़ा त्वचा का निःस्रावी उभार होता है जिसमें गुहिका नहीं होती। यह अंकुरक त्वचा की सतह के स्थानिक शोथ से होता है। इसका आकार मटर के दाने से लेकर हथेली भर के बराबर हो सकता है। इसके ऊपर की सतह लाल, गुलाबी या सफेद हो सकती है। ददौड़ा बहुत जल्दी हो सकता है और बहुधा चंद मिनट या चंद घंटों के बाद गायब हो जाता है और इसका कोई निशान नहीं रह जाता है। ददौड़े के साथ खुजली भी होती है।

द्वितीयक आकृतिक विक्षति

प्राथमिक विक्षतियों के दौरान द्वितीयक विक्षतियाँ हो सकती हैं। ये हैं--वर्णकयुक्तता, पर्पटी, निस्त्वचन, पपड़ी, विदर, अपरदन, व्रण, व्रणचिह्न, शोथ, शैवाकी-भवन और वर्धी।

वर्णकयुक्तता प्राथमिक (पर्विका, गुलिका, जलस्फोट, पूय स्फोटिका) या द्वितीयक (अपरदन, व्रण) विक्षतियों के लुप्त होने के बाद वर्णक के तेजी से निक्षेपण के फलस्वरूप होती है। द्वितीयक वर्णकयुक्तता में पहले लुप्त हुए वर्णक के आकार के धब्बे फिर हो जाते हैं।

पर्पटी झड़ी हुई शृंगी पट्टिका होती हैं। शृंगी परत से कोशिकाओं के तेजी से झड़ने को विशल्कन कहते हैं। पर्पटी आटे या चने की भूसी या उससे बड़ी हो सकती है।

पपड़ी सूखी हुई निःस्रावी है। जलस्फोट, फफोले या अपरदन, पूयस्फोटिका व्रण और खोंच के आस्राव के सूख जाने से या गुलिका और पर्विका की व्रणोप्रति से होती हैं। आस्राव के लक्षणों पर आधारित ये सीरमी सपूय या सीरमी सपूय अथवा सरक्त हो सकते हैं।

निस्त्वचन बाह्य त्वचा की बलकृत हानि (खरोंच इत्यादि) से होते हैं। ये बहुधा रेखित होते हैं।

अपसामान्य रूप से खिंची हुई उस त्वचा के रेखित विदार जेसे विदार बनते हैं, जिसका लचीलापन खत्म हो जाता है (सूखी हुई या शोथयुक्त त्वचा)। यह उपरिस्थ (त्वचा की अपेक्षा अधिक गहरा न लगा हो) या गहरा (त्वचा के अंदर तक) हो सकता है।

अपरदन : बाह्य त्वचा का उपरिस्थ दोष है, जिसमें अरोहीस्तर प्रभावित नहीं होता (चित्र 43a)। यह जलस्फोट, फफोले और स्फोटिका के विदार के बाद बनता है। अपरदन बिना व्रणचिह्न के बने ठीक हो जाता है।

व्रण गहरी त्वचा का दोष है, जिसमें बाह्य और त्वचा प्रभावित होती है। यह त्वचा के अंदर अधिक गहरा भी हो सकता है (चित्र 43b)। वर्ण, गुलिकाओं, पर्विका

और गहरी पूयस्फोटिका के विदार के बाद बनते हैं और ठीक हो जाने के बाद हमेशा चिह्न छोड़ जाते हैं।

व्रण-चिह्न खुरदरे, तंतु-संयोजी ऊतकों का बना होता है जो गहरे में त्वचा दोष होने की जगह पर (व्रण, पर्विका या गुलिका के बाद) होता है।
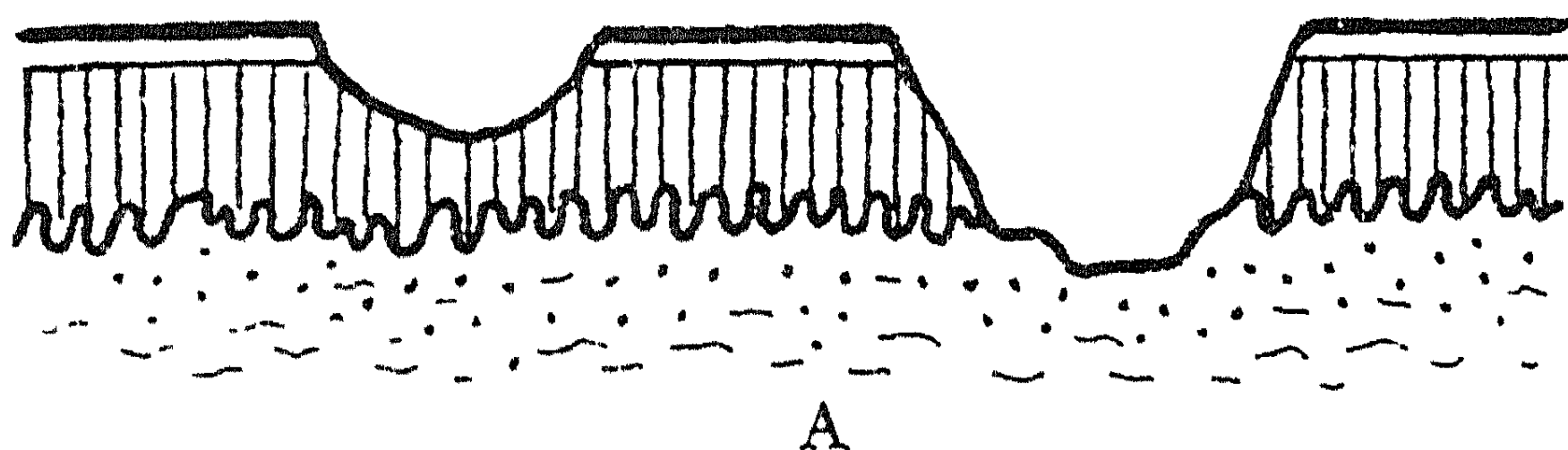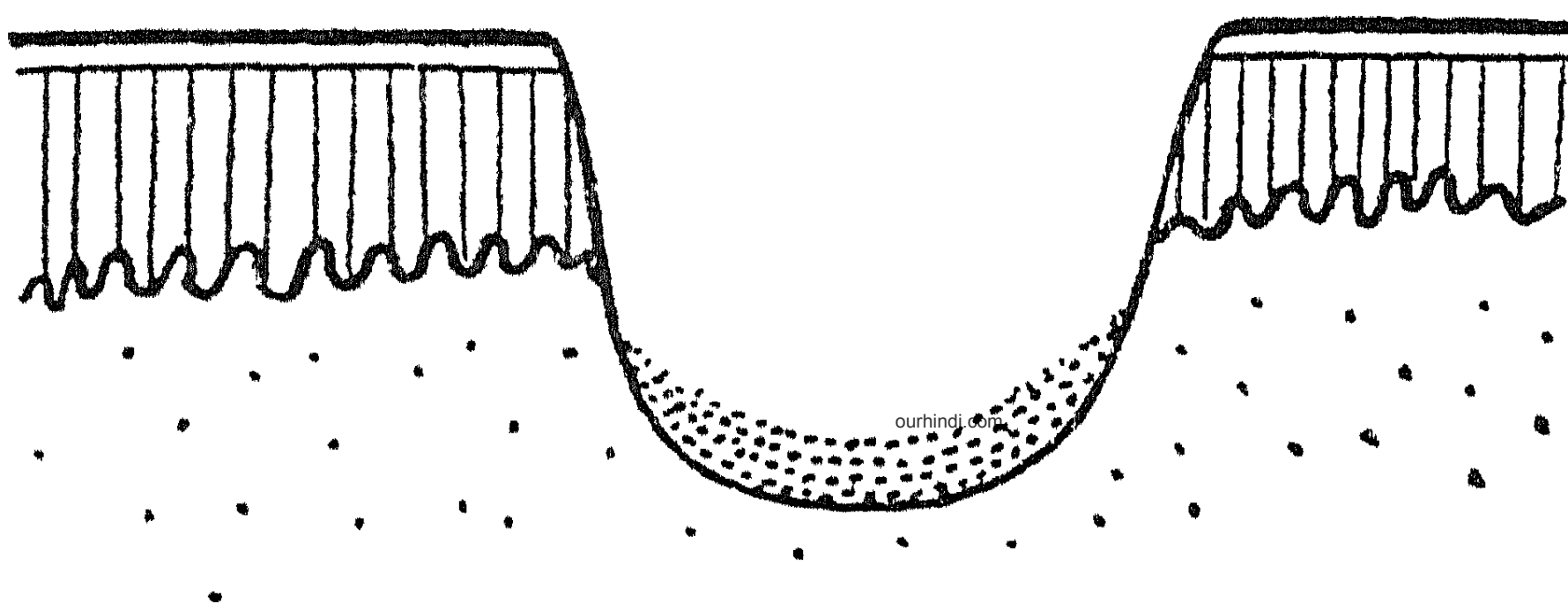
चित्र 43. अपरदन (A) और व्रण (B) (आरेख)।

त्वचा का क्षतांकज शोथ निःस्रावी के (गुलिका के स्थान पर, या कभी-कभी पर्विका के स्थान पर) धीरे-धीरे परिगलन से होता है जो व्रणोत्पत्ति नहीं करता, वरन् इसके स्थान पर संयोजी ऊतक हो जाते हैं।

शैवाकीभवन दृढ़ हुई, सूखी और वर्णकीय त्वचा को कहते हैं। इसका विन्यास अतिशयित होता है और खातिकाएं प्रबलित होती है। त्वचा की सभी पर्तों के निःस्रावी होने के कारण ऐसा होता है।

अपरदनों और व्रणों की सतह पर तथा पिटिकाओं पर अंकुरक वृद्धि को उद्भेद कहते हैं।

त्वचा और रतिज रोगों में स्फूटन एकरूपीय हो सकता है, जिसमें एक ही प्रकार की आकृतिक विक्षतियाँ (सिफिलिस में गुलिकाएँ) तथा सिफिलिस और चर्म कील में लाल फुंसियाँ निकल आती हैं, या बहुरूपीय होने पर विभिन्न प्रकार की विक्षतियाँ हो सकती हैं। रोग एकरूपीय हो सकता है, जिसमें केवल प्राथमिक विक्षति ही रोग

के पूरे काल में हो सकती है (सोरियासिस, पित्ती फुंसी, स्वेदग्रंथि शोथ, इत्यादि) या बहुरूपीय में दो या दो से ज्यादा विक्षतियाँ हो सकती हैं (द्वितीयक सिफिलिस, कुष्ट, इत्यादि)।

त्वचा और रतिज रोगों के निदान के सामान्य सिद्धांत

चिकित्सा-वृत्त द्वारा प्राप्त सूचना, रोगी की सामान्य हालत के लिए किए गए रोग लक्षण परीक्षण के परिणामों और तंत्रिका-तंत्र, आंतरिक अंगों और शारीरिक तंत्रों की हालत, त्वचा और श्लेष्मल कला के निरीक्षण तथा प्रयोगशाला में किए गए सामान्य तथा विशेष परीक्षणों की खोजों के आधार पर त्वचा रोग का निदान किया जाता है।

चिकित्सा-वृत्त बनाते समय पूर्व रोगों और मानसिक अभिघातों, रहन-सहन की हालतों और पोषण, व्यवसायिक उपादानों, जलवायु के प्रभाव तथा अन्य बातों से, जो रोग के संचरण के लिए अनुकूल होंगी, सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं। सिफिलिस और सुजाक वाले रोगियों के चिकित्सा-वृत्त के लिए तथ्य लेने के लिए सावधानी बरतनी चाहिए।

तंत्रिका-तंत्र और आंतरिक अंगों की हालत की परीक्षा करते समय आत्मगत शिकायतों का विश्लेषण किया जाता है तथा रोग के वस्तुगत लक्षण उद्घाटित किए जाते हैं (इन समस्याओं पर विस्तार से चर्चा उपचारिकाओं के स्कूल में लगी विशेष मैनुअल में की गई है)।

त्वचा के सामान्य परीक्षण में इसके रंग, सूजन, प्रत्यस्थता, स्वेदन और त्वगवसीय ग्रंथियों की सक्रियता, त्वग वर्णन और अधस्त्वचा तथा दृष्टिगोचर श्लेषमल कला की हालत को ध्यानपूर्वक देखा जाता है। त्वचा और श्लेष्मल कला को अच्छी रोशनी, और जहाँ तक हो सके दिन की रोशनी में देखना चाहिए।

इसके बाद त्वचा स्फूटनों का निरीक्षण किया जाता है, जिसके लिए रोगी चिकित्सक की सलाह लेने आता है। स्फूटन का स्थान संश्रय और इसके लक्षणों (स्थानिक, त्वचा के विभक्त क्षेत्रों में, त्वचा के बड़े क्षेत्र में विसरित, सर्वव्यापी, त्वचा की पूरी सतह पर प्रभाव) को नोट किया जाता है। शरीर के दोनों तरफ होने वाले सममितीय स्फूटन तथा केवल एक ओर होने वाले असंमितीय विस्फोट देखे जाते हैं।

फिर इस बात को निश्चित किया जाता है कि यह क्रिया शोथज है या अशोथज। शोथज क्रिया का रूप तीव्र (गहरा लाल) हो सकता है और तीव्रताहीन भी।

प्राथमिक और द्वितीयक विक्षतियों का पता करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनका रंग, आकार, रूपरेखा, शक्ल और गाढ़ापन तथा उनकी सतह के लक्षण नोट करना जरूरी है। यह नोट करना चाहिए कि ये विक्षतियाँ सामूहिक रूप से हैं या बिखरी हुई हैं, त्वचा की सतह पर हैं या ये परिसरीय वृद्धि हैं (इसका पता बार-बार निरीक्षण

करने से लगता है)। यह पता करना भी जरूरी है कि यह स्फूटन एकरूपीय है या बहुरूपीय। असली बहुरूपता में दो या अधिक प्राथमिक तत्त्व एक ही समय पर दिखाई देते हैं (उदाहरण के लिए चकत्ते, पर्विका और जलस्फोट)। नकली बहुरूपता में स्फूटन में कई द्वितीयक विक्षतियाँ (व्रण, पर्पटी और व्रणचिह्न) होती हैं।

आकृतिक विक्षतियों के विस्तृत लक्षणों के द्वारा रोग का सही निदान करना संभव होता है।

परीक्षण के अलावा, विक्षतियों के परिस्पर्शन, खुरचने से डायास्कोपी और त्वचा परीक्षण किए जाते हैं। नित्यक्रम प्रयोगशाला परीक्षण विधियों में रक्त तथा मल-मूत्र की जाँच, अमाशयी स्राव इत्यादि की परीक्षा तथा विशेष परीक्षणों में ट्रेपोनीमा पेलिडम (सिफिलिस में), गोनोगोलाणु (सुजाक में), माइक्रोबैक्टीरियम लेप्रे (कुष्ठ रोग में), कवक (त्वक-कवकता में) और यीस्ट (कैंडिडा रुग्णता में), सीरमी रक्त जाँच, प्रमस्तिष्क मेरु तरल की जाँच तथा ऊतक वैज्ञानिक परीक्षण, इत्यादि किए जाते हैं।

II विशेष

त्वचा रोग

त्वचा रोगों के कारण

तंत्रिका तंत्र, आंतरिक अंगों और अंतःस्रावी ग्रंथियों में होने वाले विभिन्न विक्षोभों के कारण त्वचा रोग होते हैं।

त्वचा रोग भी जीव के क्रियाओं को प्रभावित करते हैं और तंत्रिका तंत्र की और आंतरिक अंगों की क्रिया में विकार उत्पन्न करते हैं। इसलिए इनको ऐसी सामान्य क्रिया माना जाता है, जिससे कि पूरा जीव प्रभावित होता है। चर्म रोगों के आंतरिक और बाह्य कारणों में भेद किया जाता है।

बहिर्जात कारण

चर्म रोग के बहिर्जात कारण निम्नलिखित हैं :

1. हस्तकृत प्रभाव (रगड़दाब) से त्वचा सूज जाती है या निस्तवचन होता है, जो कि त्वचा में संक्रमण के प्रवेश के लिए अनुकूल होता है (पूर्यत्वक रोग, कैंडिडा रुग्णता, एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता, इत्यादि);

2. पर्यावरण के भौतिक कारक : उच्च और निम्न तापक्रम का प्रभाव (दग्ध, हिमदाह, शीतशोथ) या विकिरणी ऊर्जा के प्रभाव, जिसमें सूर्य की किरणें, पराबैंगनी किरणें, एक्सरे और विघटनाभिक विकरण भी सम्मिलित हैं (छाजन, दुर्दम अर्बुद);

3. पर्यावरणीय रासायनिक कारक : इनमें से बहुतों का त्वचा पर सीधा हानिकारक प्रभाव हो सकता है (जैसे तेज अम्ल, क्षार, कार्वनिक विलायक तथा तेल और कोयले की प्रासेसिंग के उपोत्पाद, आदि) या ये जीव को संवेदनशील बना सकते हैं (रासायनिक प्रत्युर्जता जनक के बार-बार प्रभावाधीन होने से संवेदनशीलता बढ़ जाती है जैसे कि तारपीन, पारा या निकेल)। सभी लोग इन कारकों के प्रति संवेदनशील नहीं होते हैं। कभी-कभी चर्म रोग औषधियों के खाने तथा लगाने से भी हो जाते है।

4. रोगजनक सूक्ष्म जीव (स्ट्रेप्टोकोकस, स्टेफाईलोकोकस, इत्यादि) से भी चर्म रोग होते हैं (पूचर्यत्वक रोग, त्वचा की यक्ष्मा, कुष्ट आदि);

5. रोगजनक कवक (सब्जियों के पराजीवी) से कवक रोग (ट्राइकोफाइटानता, माइक्रोस्पोरिया, फैवास) होते हैं।

6. पशु-परजीवी : त्वचा में घुस कर सूक्ष्म कीट खुजली करते हैं या इनके काटने से पूर्यत्वक रोग होता है (जैसे जूँ, पिस्सू, खटमल और किलनी);

7. निस्यंदी विषाणुओं से सरल हर्पीज और जोस्टर हर्पीज, मस्से, मोलस्कम कन्टेजिओसम, इत्यादि होते हैं।

एक ही बाह्य कारक से एक आदमी को चर्म रोग हो सकता है तथा किसी दूसरे को नहीं भी हो सकता। यह जीव, तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की दशा पर, खान-पान और रहन-सहन की स्थितियों पर, अधिक मद्यपान करने पर, निर्भर करता है।

अंतर्जात कारण

त्वचा रोग के अंतर्जात कारण निम्नलिखित होते हैं :

1. तंत्रिका तंत्र की क्रिया के विकार, छाजन, प्रसृत तंत्रिका त्वकशोथ, सोरियासिस, चर्म कंडू तथा अन्य त्वचा रोगों में तंत्रिका तंत्र की क्रिया में विघ्न बीमारी का या उसके परिणाम का कारण हो सकता है, जो इसके उग्र बना देता है।

प्रसिद्ध रूसी शरीर क्रिया विज्ञानी इवान पावलोव और उसके शिष्यों (म. पेत्रोव और अन्य) ने प्रयोग द्वारा यह दिखाया है कि नाना प्रकार के त्वचा रोग कुत्तों में कृत्रिम विक्षिप्ति द्वारा पैदा किए जा सकते हैं। उपचार करने से विक्षिप्ति के ठीक हो जाने के साथ ही साथ त्वचा रोग भी लुप्त हो जाता है।

तंत्रिका मानसिक अभिघात और तंत्रिका तंत्र की अतिश्रांति मनुष्यों में त्वचा विकार होने का मुख्य कारण है।

2. चयापचयी विकार मधुमेह वाले रोगियों में (जिनमें कार्बोहाइड्रेट के चयापचयन के विकार होते हैं) बहुधा फुंसी रोग और थ्रश हो जाते हैं।

3. अंतःस्रावी विकार उदारहण के लिए यौवनारंभ के त्वक वसा स्राव और पर्नासिका को पीयूष ओर लिंग ग्रंथि के स्राव में गड़बड़ी से संबंधित बताया जाता है। गर्भधारण होने पर सोरियासिस का प्रकोष हो सकता है या त्वक शोथ हो सकते हैं।

4. आंतरिक अंगों (यकृत, पेट, आंत इत्यादि) के रोग, इनसे छाजन तंत्रिका त्वक शोथ और शीतपित्र हो सकते हैं। रक्तोत्पादक अंगों के रोगी होने से विचित्र प्रकार की त्वचा विक्षतियाँ (हीमोडरमिया) और खुजली होती है। कृमि रोग होने से शिशुओं में दीर्घस्थायी छाजन हो जाता है।

5. अविटामिनता और अल्पविटामिनता जीव में विटामिन 'सी' की कमी से विचित्र त्वचा शोथ के साथ स्कर्वी होती है। विटामिन 'पी' की कमी से पैलाग्रा होता है तथा विटामिन 'अ' की कमी से शल्कीभवंन के विकार होते हैं।

बहुत से त्वचा रोग **एलर्जी** के लक्षण हैं। एलर्जी किसी विशेष पदार्थ या बहुत से पदार्थो के प्रति शरीर के अति संवेदनशीलता होती है। **एलर्जन बहुधा** बहुत से ?खाद्य पदार्थ (अंडे के सफेदी, स्ट्राबेरी तथा कुछ खट्टे फल, इत्यादि), रसायन (निकेल के लवण, कृत्रिम राल इत्यादि) और औषधियाँ (पेंसिलीन और इसके व्युतपादिक, स्ट्रप्टोमाइसीन, सल्फानिलामाइड इत्यादि) होती हैं।

बहुत से त्वचा रोगों में बर्हिजात और अंतर्जात दोनों ही कारक साथ-साथ होते हैं।

त्वचा रोगों से पीड़ित रोगियों के उपचार के सामान्य सिद्धांत

जैसा कि बताया जा चुका है, त्वचा रोगों का मनुष्य के पूरे शरीर की हालत से संबंध है। त्वचा रोगों को सँभालने में, तंत्रिका तंत्र के रोगों, आंतरिक अंगों के रोगों और अंतःस्रावी ग्रंथियों के रोगों के उपचार, कृमिनाशक उपचार और संक्रमण के केंद्र बिंदुओं के उपचार अच्छे परिणाम प्राप्त करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। जब रोग की हेतुकी का पता हो तो सबसे पहले इसके कारण का सफाया करने के लिए उपचार किया जाता है (जैसे स्केबीज में खुजली के सूक्ष्म कीट को नष्ट करने का उपाय)।

त्वचा विकार से पीड़ित रोगियों के उपचार में सम्मिश्र उपाय किए जाते हैं, जिनमें सही विधान और सामान्य तथा स्थल उपचारार्थ उपाय शामिल हैं।

सामान्य उपचार

सामान्य का उद्देश्य हैं संपूर्ण शरीर का प्रभाव उत्पन्न करना।

शिराओं में कुछ औषधियों के पहुँचाने, अर्थात **अंतराशिरा** आधान के लिए शिरा वेध किया जाता है। त्वचा-रतिज रोगोपचार में रक्त लेने के लिए शिरावेध किया जाता है (स्वरक्त-चिकित्सा, या सिफिलिस के लिए सीरमी रक्त जाँच, जैव रासायनिक जाँच, इत्यादि) के लिए शिरा वेध किया जाता है। उपरिस्थ अंतःप्रकोष्टिका शिरा का वेधन बहुधा किया जाता है तथा हाथ और कलाई की छोटी शिराओं का वेधन बहुत कम किया जाता है। हस्तोपचार की तकनीक निम्नलिखित है : रोगी बैठा या ऐसे लेटा हुआ होता है कि उसकी बाँह मेज या कोच पर कोहने के जोड़ से पूरी तरह फैली हुई होती है। इस स्थिति में आने के लिए कोहनी के नीचे आयल क्लाथ की गद्दी लगा देते हैं। तब पूरी शिरा का वेधन आसान होता है। इस दृष्टि से, शिरा से खून के प्रवाह को रोकने के लिए कोहनी से ऊपर बाँह में शिराओं के संकोचन के लिए रक्त बँध लगाते हैं। धमनी में होनेवाले रक्त प्रवाह को छेड़ना नहीं चाहिए।

यदि नब्ज रेडियल धमनी पर महसूस होती हो तो इस बारे में आश्वस्त हुआ जा सकता है कि ऐसा नहीं हुआ है (यदि कमजोर हो या तनिक भी परिस्पर्शन न हो तो रक्तबंध को तनिक ढीला कर देना चाहिए। यदि शिरा न फूले और रक्त बंध से नीचे की त्वचा में शिराक्त स्थैतिकता के चिह्न न दिखाई देते हों, यानी ये नीलापन लिए हुए लाल न हों तो रक्तबंध को कसना चाहिए)। शिराओं को और अधिक फैलाने के लिए रोगी को मुट्‌ठी खोलने और बंद करने को कहना चाहिए, रक्तबंध लगाने से पहले बाँह को नीचे करना चाहिए।

क्यूबिटल खात से दूरस्थ भाग को अल्कोहल से विसंक्रामित किया जाता है और त्वचा को बार-बार रगड़ा जाता है, जब तक वह लाल न हो जाय। इस विधि में क्यूबिटल खात में शिराओं का पता बाएँ हाथ की उँगलियों के पोरों से किया जाता है और त्वचा के नीचे की सबसे स्थिर रहने वाली शिरा को चुना जाता है। त्वचा के खिंच जाने के बाद इसे थोड़ा सा नीचे खींचा जाता है, ताकि शिरा यथासंभव स्थिर हो जाय।

शिरा के बहुधा दो चरणों में वेधा जाता है। सुई को दाहिने हाथ से पकड़ा जाता है (चुनी हुई शिरा के समानांतर और इसकी साफ की हुई सतह के ऊपर रखा जाता है) और फिर सुई को एक तीखे कोण पर चुभाया जाता है (एक खाली जगह पर सुई के प्रवेशन को महसूस किया जाता है)। यदि रक्त न आए तो सुई को बाहर निकाले बिना शिरा को फिर से वेधा जाता है। जैसे ही रक्त कैनुला से आने लगे सुई को कुछ मिलीमीटर आगे बढ़ाकर दाएँ हाथ से ऐसी स्थिति में रखना चाहिए कि शिरा अपने स्थान पर रहे।

एक चरण वाले शिरावेधन में त्वचा और उसके नीचे की शिरा एक साथ ही वेधी जाती हैं। इस तकनीक में अधिक कुशलता की जरूरत होती है।

रक्त जमा करने के लिए (विभिन्न जाँचों के लिए) एक परखनली वेधी हुई शिरा के स्रोत के नीचे लगा दी जाती है। पर्याप्त मात्रा में रक्त निकालने के बाद रक्तबंध को पहले हटाया जाता है और फिर झटके से सुई को बाहर निकालते हैं। वेधन की जगह को अल्कोहल से धो देते हैं (त्वचशोथ के रोगियों की त्वचा पर आयोडीन नहीं लगाना चाहिए क्योंकि आयोडीन से क्षोभ होता है) और विसंक्रामित रुई के फाहे से दो या तीन मिनट तक दबाकर रखते हैं या विसंक्रामित पट्‌टी बाँधे हैं।

स्वरक्त चिकित्सा में विसंक्रामित पिचकारी में लगा सुई से शिरावेधन करते हैं और उसी पिचकारी में रक्त की वांछित मात्रा को एकत्र किया जाता है।

त्वचा और रतिज रोगों में **अंतराशिरा आधान** मुख्य रूप से रोम रेखा में किया जाता है और ड्रिप में बहुत कम किया जाता है (केवल बहुत ही प्रचंड लोहित कोशिका बहुलता में, त्वगलालिमा, पैल्फीगस, दैहिक कैंडिड रुग्णता में और कुछ अन्य त्वक

रोगों में)। औषधियों का आधान रोम रेखा में पिचकारी से किया जाता है। घोल के ड्रिप आधान के लिए ड्रापर वाली नलिकाओं की पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

जब पिचकारी प्रयोग में लाई जाती है तब शिरा वेधने से पहले यह देख लिया जाता है कि कहीं इसमें हवा तो नहीं है। सुई की नोक ऊपर करके पिचकारी को लंब स्थिति में रखा जाता है तथा हवा और आधान करने वाले घोल को पिचकारी से बाहर फेंका जाता है। यदि इसमें हवा के बुलबुले हों तो पिचकारी के पिस्टन को थोड़ा पीछे खींच कर पिचकारी को कई बार हिलाया जाता है जिससे हवा के छोटे-छोटे बुलबुले मिलकर एक बड़ा बुलबुला बन जाते हैं, जिसे पिचकारी के पिस्टन को दबा कर बाहर निकाल दिया जाता है।

घोल का आधान करने से पूर्व उपचारिका टूर्निके को सावधानी से बाहर निकालती है, उस समय सुई शिरा से बाहर आ जा सकती है। इसलिए पिस्टन को थोड़ा पीछे खींच कर इस बात से आश्वस्त हो जाया जाता है कि रक्त पिचकारी में आने लगा है, इसके बाद आधान प्रारंभ होता है। क्षोभक औषधि की तनिक सी भी मात्रा को रिसने से बचाने के लिए सुई बाहर खींचते समय बचे हुए घोल को सुई से पिचकारी में चूषित कर लिया जाता है। औषधि के आधान में पिस्टन को बाएँ हाथ के अँगूठे से धकेला जा सकता है या पिचकारी को बाएँ हाथ में लेकर इसके सिलिंडर को दाएँ हाथ की तर्जनी और मध्यम उँगली में साध कर पिस्टन को दाएँ हाथ के अँगूठे से चलाते हैं। पिचकारी को एक हाथ से दूसरे हाथ में बदलते समय बहुत सावधानी बरती जाती है, अन्यथा सुई शिरा में से निकल कर बाहर आ सकती है। यदि ऐसा हो जाता है तो इंजेक्शन लगने की जगह पर सूजन आ जाएगी और रोगी जलन होने की शिकायत करेगा। सुई को बाहर निकाले बिना बहिर्शिरा में अंतःक्षेपित घोल का पिचकारी से चूषण कर लेना चाहिए और फिर हवा वाली पिचकारी को वियोजित कर देना चाहिए और जल्दी से आइसोटोनिक सोडियम क्लोराइड घोल को दूसरी पिचकारी में भर कर सूई लगाकर कई मिलिलीटर दवाई अंतःक्षेपित करनी चाहिए, जिससे कि अंतःक्षेपित पदार्थ की सांद्रता घट जाए और ऊतक क्षय को रोका जा सके।

त्वचा रोग उपचार में घोल का ड्रीप आधान बहुत कम किया जाता है तथा शल्य चिकित्सा के सभी नियमों का पालन किया जाता है।

अंतस्त्वक इंजेक्शन यक्ष्मा की मानटोक्स जाँच की एलर्जी जाँच में लगाया जाता है ताकि त्वक रोग के व्यावसायिक लक्षण का पता लग सके या इसे खल्वाटता के उपचार में हाइड्रोकारटीजोन देने में प्रयोग किया जाता है। 0.01 से लेकर 1.0 मि. ली. तक तरल को अतस्तवक द्वारा इंजेक्ट किया जाता है। सबसे महीन और छोटी सुई को इस्तेमाल किया जाता है, जिसका मुँह 40-45 डिग्री पर खुलता हो और पिचकारी

1 मि. ली. की होती है। पिचकारी खूब चिकनी होनी चाहिए क्योंकि त्वचा इंजेक्शन के लिए प्रतिरोधी है। नैदानिक एलर्जी जाँच और औषधि संवेदन की जाँच कलाई की अकोचनी सतह पर की जाती है। इंजेक्शन लगाने की जगह को अल्कोहल से साफ करके त्वचा को सूखने दिया जाता है। सुई को इस प्रकार लगाया जाता है कि उसका तिर्यक छिद्र ऊपर की तरफ हो और सुई की नोक को निम्नकोण पर चुभाया जाता है, जो कि त्वचा के लगभग समानांतर हो और इतना अधिक गहरा न हो कि इसका मुँह ही छिप जाय। इसके बाद तरल की निर्धारित मात्रा को इंजेक्ट कर देते हैं। जो ददौड़ा पड़ता है वह 30 से 60 मिनट में अवशोषित हो जाता है।

अधस्त्वक इंजेक्शन बहुधा भुजा या जाँघ के पार्श्व भाग में लगता है और रोग क्षमीकरण के लिए बहुत ही कम स्थितियों में पेट में लगाया जाता है। इंजेक्शन लगाने से एकदम पहले पिचकारी को लंब स्थिति में पकड़कर इसकी हवा को बाहर निकाल दिया जाता है। इंजेक्शन लगने वाली जगह को अल्कोहल से साफ करते हैं। पानी वाले इंजेक्शन लगाने के लिए महीन सुई तथा तेल वाले इंजेक्शन लगाने के लिए मोटी सुई चुनते हैं। त्वचा को बाएँ हाथ की चकोटी में लेकर तेजी से सुई की त्वचा में दो तिहाई भाग घोंप देते है और भुजा की सतह पर 30 अंश के कोण पर इंजेक्शन लगाते हैं। औषधि का इंजेक्शन लगाने के बाद इंजेक्शन लगने की जगह पर अल्कोहल में भीगी हुई रुई लगा कर सुई को जल्दी से बाहर खींच लेते हैं और इस जगह पर रूई से हल्का मालिश कर देते हैं। इसके बाद इंजेक्शन लगने वाली जगह पर अल्कोहल-आयोडीन घोल लगा देते हैं।

त्वक रोग चिकित्सा में धीरे-धीरे अवशोषित होने वाली औषधि का **अंतर्पेशीय इंजेक्शन** लगाते हैं। उदाहरणार्थ, बाइसिलीन, एकमोनोवोसिलीन (एकमोलीन के साथ प्रोकेन पेंसिलीन), बायोक्विनाल (कुनाइन, उदासीन वनस्पति तेल में), बिस्मोवेराल (मोनोबिस्मथलवण, उदासीन वनस्पति तेल में), इत्यादि।

5-6 सें. मी. लंबी सुई, जिसका नलिका अवकाश ज्यादा हो, अंतर्पेशीय इंजेक्शन के लिए चुनी जाती है तथा नितंब के अधिपार्श्वभाग में इंजेक्शन लगाया जाता है। सुई सहित पिचकारी को त्वचा से लंब की स्थिति में रखते हैं। तेज गति के साथ सुई को पहले त्वचा और फिर अधस्त्वक वसा में घुसा कर फिर पेशी में बढ़ाते हैं। सुई को अंदर घुसाते समय इंजेक्शन लगने वाली जगह को बाएँ हाथ से दबाए रखते हैं। यदि सुई बहुत गहरी चली गई हो तथा हड्डी तक पहुँच गई हो तो इसे थोड़ा ऊपर खींच लेना चाहिए। यदि सुई से एक दो मिनट तक खून न आए तो इसे स्थिर जगह में मजबूती से पकड़ लिया जाता है और दवाई भरी हुई पिचकारी को सुई में लगाते है तथा पिस्टन को दबाकर दवा अंदर पहुँचाते हैं। यदि सुई से खून निकल आए तो सुई को खींच लेना चाहिए और नितंब के ऊपरी पार्श्व भाग में दूसरी जगह लगाना चाहिए।

सामान्य उपचार में निम्नलिखित कदम हैं :

1. उत्तेजना को घटाने के लिए उपचारिक उपाय : मनश्चिकित्सा, ब्रोमीन और वैलेरियाना के संयोग, प्रोकेनहाइड्रोक्लोराइड, मेप्रोटान (एंडाक्सीन, मे प्रोब्रोमेट), क्लोर्डियाजेपोक्साइड (इलीनियम), ट्रिओक्साजीन, एमीनाजीन, नानोफाइन और निद्रापकता तथा निद्रा चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है।

मनश्चिकित्सा (मौखिक सुझाव) का रोगी के मस्तिष्क पर अनुकूल प्रभाव होता है, उसमें प्रसन्नता का भाव जागृत होता है, स्वस्थ होने का आश्वासन मिलता है और शरीर का प्रतिरोध बढ़ता है।

निद्रापकता और निद्रा से मस्तिष्क की कोशिकाओं को आराम मिलता है और सुरक्षात्मक संदमन पैदा होता है।

सोडियम ब्रोमाइड (पोटेशियम और एमोनियम ब्रोमाइड बहुत कम) 0.25–3 प्रतिशत घोल के रूप में एक बड़ा चम्मच दिन में तीन बार पिलाया जाता है या अंतरशिरा आधान के रूप में 20 प्रतिशत सोडियम ब्रोमाइड घोल 5.00 से 10 मि. ली. की खुराक में रोज आठ या दस दिन तक आधान दिए जाते हैं। ब्रोमीन योग को लंबे अर्से तक औषधि के रूप में नहीं देना चाहिए (छाजन, तंत्रिका–त्वकशोथ, सोरियासिस शीत पित्ती, त्वचा की खुजली, आदि में) क्योंकि ब्रोमान्यय (त्वचा विस्फोट) हो सकता है।

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड के 0.5 घोल का एक बड़ा चम्मच दिन में दो-तीन बार भोजन से एक घंटा पहले लेने की सलाह दी जाती है और यह उपचार चार से छः सप्ताह तक चलता है या अंतरशिरा में 0.25=0.5 प्रतिशत घोल की 2 से 6-10 मि. ली. मात्रा में कुल आठ से दस आधान दिए जाते हैं। शिरा में आधान करने पर प्रोकेन से शिर में चक्कर या सिर दर्द हो जाता है। ऐसी हालत में यह सलाह दी जाती है कि रोगी आधान के बाद कुछ समय तक लेटा रहे।

वलेरियन आधान (Infusum rad. Valerianae) 200 मि.ली. में 10 ग्राम की खुराक में एक बड़ा चम्मच दिन में तीन या चार बार लेने का निर्देश दिया जाता है। वलेरियन टिंचर (Tinctura rad. Valerianae) पीने को दिया जाता है (20 प्रतिशत टिंचर को 70 अंश अल्कोहल में मिलाकर)। इसकी 20 से 30 बूँद की खुराक दिन में तीन या चार बार दी जाती है।

मेप्रोटान, ट्रायोखाजिन और कलोर्डियाजेपोक्साइड की एक-एक गोली दिन में दो से तीन बार तक एक महीने तक दी जाती है।

एमीनाजीन मुँह से (0.025=0.05=0.1 ग्रा. दिन में दो या तीन बार) दिया जाता है। नैनोफीन की गोलियाँ दी जाती हैं। एक गोली (0.1 ग्रा.) रोज दो या तीन बार या अधस्त्वक इंजेक्शन (1.0 मि. ली. 2.5 प्रतिशत घोल) रोज शाम को दो या तीन हफ्ते तक दिया जाता है।

प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड, ब्रोमीन योग और अमीनाजीन से विपालु त्वचा रोग या एलकित्वक शोथ का प्रकोपन हो सकता है। इसलिए औपधि के रूप में निर्देश देने के पूर्व इन औपधियों को सहने संबंधी सूचना प्राप्त कर लेनी चाहिए।

2. **अतिसुग्राहीकरण चिकित्सा** विभिन्न क्षोभकों की एलर्जी रोगों में अति सुग्राहकता को कम करने के लिए की जाती है। कोर्टीकोस्टेराइड (नीचे देखिए), विटामिन 'सी' और 'पी' (नीचे देखिए), कैल्शियम ग्लूकोनेट अति सुग्राहीकरण और शोथ रोधी पदार्थ हैं।

कैल्शियम क्लारोइड को मुँह से (10 प्रतिशत घोल का एक वड़ा चम्मच भोजन के बाद दिन में तीन या चार बार) दिया जाता है या अंतराशिरा (10 प्रतिशत घोल का 5-10 मि. ली.) के सात से दस आधान दिए जाते हैं। रोगी को निश्चित रूप से यह चेतावनी दे देनी चाहिए कि आधान के समय गर्मी लगेगी और यह देर तक बनी रह सकती है। सोडियम हाइपोसल्फेट के 10 से 30 प्रतिशत घोल के 10 मि. ली. की खुराक का शिरा में आधान किया जाता है। कैल्शियम ग्लूकोनेट को मुँह से (0.5 ग्रा. दिन में तीन बार) या अंतरपेशीय इंजेक्शन से (10 प्रतिशत घोल का 1 मि. ली.) दिया जाता है।

इन उपायों में प्रति-हिस्टामिनिक (कंडूरोधी) औषधियाँ भी शामिल हैं : सुप्रास्टीन (0.025 ग्रा. की टेबलेट), डिप्राजीन (0.025-0.05 ग्रा.) डाइजोलीन (0.1 से 0.2 ग्रा.), डाइमेड्राल (0.03-0.05 ग्रा.) परनोविन (0.025 ग्रा. की टैबलेट)। ये औषधियाँ दिन में 2-3 बार ली जाती हैं। डाइमेड्राल को अंतरपेशीय (1 प्रतिशत घोल का 1-5 मि.ली.) इंजेक्शन से दे सकते हैं।

3. **प्रतिरक्षा चिकित्सा** : रोगी के शरीर में प्रतिरक्षा क्रिया को बढ़ाने के लिए प्रतिरक्षा चिकित्सा का निर्देश दिया जाता है।

यह विशिष्ट हो सकती है, जिसमें स्टैफिलोकोकल वैक्सीन (10 000 लाख माइक्रोबियल जीव, 1.00 मि. ली. में हों) को अंतरपेशीय या अधस्त्वक इंजेक्शन की 0.2 से 1.0 मि. ली. की खुराक हफ्ते में दो बार और कुल 8 से 12 इंजेक्शन दिए जाते हैं।

स्टेफाइलोकोकल एंटीवर्क्सीन (0.3 से 1.5 मि. ली.) के अंतरपेशीय या अधस्त्वक इंजेक्शन अंतर-असफलक संभाग में हफ्ते में दो या तीन बार लगाते हैं और कुल सात या आठ इंजेक्शन लगाते हैं।

स्टेफाइलोकोक्कल एन्टीफागिन के (0.2 से 1.0 मि. ली. के अधस्तक) इंजेक्शन रोज लगाए जाते हैं और कुल 8 से 10 इंजेक्शन लगते हैं।

अविशिष्ट इंजेक्शन आटोलोगस रक्त (2-5-10 मि. ली.) तीन या चार दिन के अंतर पर और कुल 6 से 10 इंजेक्शन निम्न तरीके से लगाए जाते हैं : शिरा का वेधन विसंक्रामित अवस्था में किया जाता है और आवश्यक मात्रा में रक्त को

निकालकर फौरन नितंब के अधिपार्श्व चतुर्थांश में इंजेक्शन लगा दिया जाता है।

दूध का अंतरपेशीय इंजेक्शन (हफ्ते में दो बार) लगता है। इंजेक्शन की मात्रा 2.00 मि. ली. से बढ़ाकर 10 मि. ली. तक कर दी जाती हैं और कुल 4-6-8 इंजेक्शन लगते हैं। दूसरे को दिए हुए रक्त या प्लाज्मा का आधान (50-70-100-200 मि. ली.) दूसरे या चौथे दिन करते हैं। एक से तीन तक आधान किए जाते हैं।

आत्म सीरमी (आधान से 24 घंटे पहले 25 से 30 मि. ली. रक्त खाली पेट विसंक्रामित परखनली में लिया जाता है और इसे थर्मोस्टैट में 15 से 20 मिनट तक 37^0 सें. पर रख कर फिर 24 घंटे के लिए रेफ्रेजिरेटर में रख देते हैं। दूसरे दिन बने हुए सीरम को विसंक्रामित परखनली में निकाल कर शिरा में आधान करते हैं। यह कार्य-प्रणाली हफ्ते में एक या दो बार की जाती है और कुल पाँच या छह आधान होते हैं)।

पाइरोगेनल या प्रोडिगीआजन के इंजेक्शन (25-50-75-100-150-एम. पी. डी. (न्यूनतम पाइरोजेनिक खुराक) या 10-20-50 माइक्रोग्राम के कुल पाँच या छह इंजेक्शन लगते हैं)।

निम्नलिखित औषधियों का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया जाता है। पेंटाक्सिल (0.15 से 0.25 ग्रा. की टिकिया), मेथाइलयूरासिल (0.5 ग्रा.) एक गोली दिन में दो या तीन बार, शिशुओं को गामा ग्लोबुलीन (0.5 मि. ली. प्रति किलोग्राम भार के लिए अंतरपेशीय इंजेक्शन तीन या चार दिन में एक बार दिया जाता है और कुल इंजेक्शन पाँच से आठ तक लगते हैं या 0.1-0.15-0.20,-0.25-0.3-0.5 मि. ली. अंतरपेशीय तीसरे या पाँचवें दिन लगता है। कुल 10 इंजेक्शन लगते हैं, और हिस्टाग्लोबीन (हिस्टापिन और ग्लोबुलीन) को 0.1 से 1.0-2.0 मि. ली. की खुराक में अंतस्त्वक हफ्ते में दो बार दिया जाता है और कुल 15 से 20 इंजेक्शन लगते हैं (एक प्वाइंट पर 0.25 मि. ली. से अधिक न हो)। इसे एकदम बनाया जाता है या सेंपुल में दिए गए रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

4. **विटामिन चिकित्सा** : त्वचा रोग के रोगियों के उपचार में विटामिन का खूब प्रयोग होता है।

विटामिन 'ए' को केरेटिनीकरण क्रिया के विकार में, त्वचा के सूखेपन में लिया जाता है। इसे सांद्र रूप में डबलरोटी के टुकड़े पर 10 से 30 बूँद डाल कर भोजन से पहले दिन में तीन बार लिया जाता है या विसरित विटामिन 'ए' को 2.0 से 3. 0 मि. ली. दिन में दो या तीन बार लिया जाता है (30 से 40 दिन तक)।

एलर्जी और वाहिका रोगों में विटामिन 'सी' (एसकार्बिक एसिड) दिया जाता है। एसकार्बिक एसिड मुँह से (0.1-0.2 ग्रा. दिन में तीन बार) या अंतरशिरा (5-10 मि. ली. 5 प्रतिशत घोल) या अंतरपेशीय (2-5 मि. ली. 5 प्रतिशत घोल) इंजेक्शन द्वारा दिया जाता है। विटामिन 'सी' के रूटिन (एक खुराक 0.04 से 0.05 ग्रा.) या विटामिन 'पी' (एस्कोरूटिन) के साथ देना अच्छा होता है।

विटामिन 'बी' कांप्लेक्स का प्रतिहिस्टामिनिक और प्रतिएलर्जी प्रभाव होता है। इसमें विटामिन 'बी$_1$' (थायामीन), 'बी$_2$' (राइबोप्लविन) 'बी$_3$' (पैन्टोयेनिक एसिड) 'बी$_6$' (पाइरीडोक्सीन), 'एच' (बायोटीन), 'बी$_{12}$' (स्यानोकोबालाटीन), 'बी$_{13}$' (अरोटिक एसिड), 'बी$_{15}$' (पनगामिक एसिड) होते हैं।

आम तौर पर देने वाली दवाइयों में विटामिन 'बी$_1$' (5-6 प्रतिशत घोल की 1.0 मि. ली. की खुराक का अंतरपेशीय या 0.02-0.03 ग्रा. मुँह से दिन में तीन बार), विटामिन 'बी$_2$' (5-10 मि. ग्रा. मुँह में दिन में तीन बार), विटामिन 'बी$_6$' (5 प्रतिशत घोल के 1.0 मि. ली. अंतरापेशीय इंजेक्शन), 'बी$_{12}$' (30 से 100 माइक्रोग्राम या अधिक अंतरपेशीय) शामिल हैं।

कैलशियम पैन्टोथिनेट बहुधा शिशुओं को (छाजन, तंत्रिका त्वक रोग, सोरिअसिस) 0.05-0.1 ग्रा. की खुराक में तीन वर्ष से कम उम्र के बच्चों को और 0.1 से 0. 2 ग्रा. तीन से चौदह वर्ष के बीच आयु वाले बच्चों को देते हैं।

विटामिन 'ई' (टोकोफेरोल) विटामिन 'ए' को सक्रिय करता है। इसे त्वक काठिन्य, सोरियासिस, तंत्रिका त्वक रोग में देते हैं। नया सोवियत योग एविट (जिसमें 100 000 यू. विटामिन 'ए' और 100 मि. ग्रा. विटामिन 'ई' प्रति 1. मि. ली.) के 1.0 मि. ली. को रोज या एक दिन छोड़ कर अंतरापेशीय इंजेक्शन से देते हैं।

निकोटिनिक एसिड (विटामिन 'पी पी') को अंतरशिरा (1 प्रतिशत घोल की 2-10 मि. ली.) या मुँह से (0.05-0.1 ग्रा.) दिन में तीन बार भोजन से 20-30 मिनट बाद दिया जाया है। निकोटिन एसिड से त्वचा पर क्षणिक लाली आ जाती है और सारे शरीर में गर्मी की अनुभूति होती है।

5. **प्रतिजीवी-उपचार :** प्रतिजीवी औषधि समूह बहुत बड़ा है, परंतु पेंसिलीन अभी तक त्वचा रोगों के उपचार के लिए मुख्य औषधि है। इसको बहुधा अंतरापेशीय इंजेक्शन के रूप में 100 000-200 000 यूनिट 2.00 या 3.00 मि. ली. में 0.25-0. 5-1.00 प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल को दिन में 4 या 5 बार या एक्मोनोवोसिलीन (एकमोलीन के साथ प्रोकेन पेंसिलीन) की 600 000 यूनिट प्रतिदिन की खुराक में देते हैं (यह इंजेक्शन दो चरणों में लगाया जाता है)। त्वचा की यक्ष्मा वाले रोगियों का उपचार स्ट्रेप्टोमाइसीन (500 000 यू. दिन में दो बार) या डाइहाइड्रो-स्ट्रेप्टोमाइसीन से किया जाता है। 1.00 ग्रा. सूखे पदार्थ वाले फ्लास्क में 1000 000 यू. स्ट्रेप्टोमाइसीन या डाइहाइड्रो स्ट्रेप्टोमाइसीन होती है। फ्लास्क की अंर्तवस्तु को 0.25 प्रतिशत प्रोकेन घोल या विसंक्रामित शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल से 4.00 से 5.00 मि. ली. में विलीन कर दिया जाता है। लेवोमाइसेटीन (क्लोरोम्फेनिकोल) को 0.5 ग्रा. की खुराक में दिन में तीन या चार बाद दिया जाता है, क्लोरूटेट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड (बायोमाइसीन), आक्सीटट्रासाइक्लीन डिहाइड्रेट, टेट्रासाइक्सीन, मेटासाइक्लीन (रोन्डोमाइसीन), टेट्रोओलीन और ओलेटेट्रीन की 0.25 ग्रा. की खुराक दिन में 4 या 5 बार दी जाती है।

एराइथ्रोमाइसीन की 200 000 यू. की खुराक 4 से 6 घंटे के अंतर पर पाँच से बाहर दिन तक दी जाती है। आक्सीटैट्रासाइक्लीन, मोनोमाइसीन और नियोमाइसीन सल्फेट (मिसेरिन) को अंतरापेशीय इंजेक्शन के रूप में या मुँह से टिकिया के रूप में दिया जाता है। मोनोमाइसीन की खुराक 0.25 ग्रा. (250 000 यू.) दिन में तीन बार बच्चों के लिए, 0.004-0.005 ग्रा. (4000-5000 यू.) प्रति कीलो शरीर भार के अनुसार दिन में तीन बार आठ घंटे के अंतर पर देते हैं और यह उपचार पाँच सात दिन तक से ज्यादा नहीं होता है।

प्रतिजीवी औषधियों के इतर प्रभाव और उप्रदव (खुजली, विपालु त्वक रोग, यीस्ट प्रेरित विक्षिति इत्यादि) हो सकते हैं, इसलिए इनसे उपचार करते समय बहुत सतर्क रहना चाहिए।

6. कार्टिकोस्टेरायड चिकित्सा : कार्टिकोस्टेरायड बहुत ही प्रभावशाली प्रतिएलर्जी और प्रतिशोथज औषधियाँ (प्रेडनीसोन, प्रेडनीसोलोन, ट्राइएमिनोसोलोन, डेक्सामेथाजोन और अन्य) हैं। बच्चे युवकों की अपेक्षा एड्रोनोकोर्टिकोट्रापिक हारमोन के इंजेक्शन को भली-भाँति सहन करते हैं। वे प्रतिदन 5-10-15-20 यू. (आयु के अनुसार) से कुल 50-300 यू. लेते हैं।

तीव्र और जीवनघाती रोगों (पेंफीगस, तेज सार्वदेहिक रक्ति मल्यूपस और अन्य) में पहले कार्टिकोस्टेरायड की बड़ी खुराकें देते हैं जो धीरे-धीरे घटाई जाती हैं। विसरित दीर्घ स्थायी छाजन, तंत्रिका त्वकशोथ और सोरियासिस में हार्मोन के कार्अिकोस्टेरायड की मीडियम खुराक (20-40 मि.ग्रा. प्रेडनीसोन या प्रेडनीसोलोन रोज, 16-20 मि. ग्रा. ट्राइएमिसिलोना 3-4 मि. ग्रा. डेक्सामेथाजोन) दी जाती है।

अंतरंग रोगियों के स्टेरोयड की बड़ी खुराकें दी जाती हैं, पर चिकित्सा के नियंत्रण में ही, क्योंकि इनसे जीवन के लिए खतरे वाले उपद्रव का भय होता है। यदि स्टेरोयड को लेना एकाएक बंद कर दिया जाय तो त्वक रोग का प्रकोप हो सकता है या बंद होने के संलक्षण (चिंता, कमजोरी, चक्कर आना, पेशियों और जोड़ों में दर्द, इत्यादि) प्रकट हो सकते हैं।

कोर्टिकोस्टेरायड से उपचार करते समय धमनी चाप नियमित रूप से रोज नापा जाता है तथा प्रोथ्रोम्बिन सूचक तथा रक्त और मूत्र के शर्करा स्तर को 10 दिन में एक बार देखा जाता है।

अधिकतर होने वाले उपद्रव हैं : धमनी दाव, धड़कन, उत्तेजना का बढ़ जाना, निद्रा विकार, पेट में दर्द जो कभी-कभी तेज हो जाता है, रक्त और मूत्र में शर्करा का स्तर बढ़ जाना (स्टेरोयड मधुमेह) धनस्राशिराशोथ, कैंडिडा रुग्णता, न्यूमोनिया या फुंसी रोग का प्रकोप हो सकते हैं।

एड्रोनोकार्टिकोट्रापिक हारमोन (ACTH) के उपचार करने में सीरस सिकनेस, शीतपित्त, वाहिकातंत्र शोथ (क्विन्के शोथ) के उपद्रव हो सकते हैं।

अनाबोलिक हारमोन : नेराबोलेटा (1 मि. ग्रा. की टिकिया), फेनोबोलीन (5 मि. ग्रा. की टिकिया) और मेथनड्रोस्टेनोलोन (0.005 ग्रा. की टिकिया)।

फेनाबोलिन (25 मि. ग्रा. औषधि का 1.0 मि. ली.) के लिए अंतरापेशीय पथ द्वारा 5 से 7 दिन में इंजेक्शन लगाया जाता है या रेटाबोलिस (50 मि. ग्रा. औषधि 1 मि. ली. में) दिया जाता है।

7. सल्फोनामाइड · एक समूह में नरसल्फासोल (सल्फाथायोजोल), सल्फाडिमेजीन (सल्फामेथाजीन), एटाजोल (सल्फाएथीडोल) तथा अन्य औषधियाँ आती हैं। ये औषधियाँ मुँह से 0.5 से 1.0 ग्रा. तीन बार से लेकर छह बार तक प्रति दिन के हिसाब से पॉच से दस दिन तक दी जाती है। देर तक असर रखने वाली औषधियों में सल्फोनोमाइड, सल्फापिरी औषधियों में सल्फापिरीडाजीन (सल्फा मेथाक्सीपिरीजीन) और सल्फाडाइमेथाक्सीन हैं। ये दिन में 1,5-2.0 ग्रा. दिन में एक बार के हिसाब से 14 दिन तक ली जाती है।

स्थानिक उपचार

त्वचा रोगों का स्थानिक उपचार सामान्य औषधिक चिकित्सा और संयत आहार से किया जाता है। इसका उद्देश्य है विस्फोट को रोकना और रोगी को खुजली, जलन, खिंचन और पीड़ा से आराम दिलाना।

बाह्य उपचार प्रभावित रोगी-अंगों की सफाई से उपचार शुरू होता है। इसमें शल्क, पपड़ी, पस तथा जलस्फोट और फफोलों की बची सतह को हटा दिया जाता है। यह काम चिमटी, वक्रित कैंची और 3 प्रतिशत हाइड्रोजन पैराआक्साइड में भिगोई हुई रुई के पिचु से किया जाता है। शल्क, पपड़ी और जमे मरहम को कभी भी जोर से नहीं हटाना चाहिए। ऐसे भागों को सूर्यमुखी के तेल, अलसी या अन्य किसी तेल से अच्छी तरह भिगोया जाता है और दस या 15 मिनट के बाद फिर सतह को साफ किया जाता है या तेल की ड्रेसिंग को काफी समय तक रहने दिया जाता है। संदूषित अपरदन और व्रणों को 3 प्रतिशत हाइड्रोजन परआक्साइड घोल से साफ किया जाता है और इसके चारों ओर की त्वचा को कैंफर स्पिरिट या 2 प्रतिशत सैलसिल अल्कोहल से पोंछा जाता है।

जब त्वक रोगों से पीड़ित रोगियों का चलना-फिरना मुश्किल हो या वे तनिक भी न चल सकते हों (जैसा कि त्वग्लालिमा, तीव्र·कवकता फन्गोयड, पैंफोगस वल्गेरिस, सिस्टेमिक ल्यूपस त्वगरक्तिम शोथ, सोरियासिस आर्थोपैथिका इत्यादि रोगों में होता है), तो उपचारिका या परिचारक को चादर बदलने का काम करना चाहिए। रोगी को शय्या में एक तरफ कर दिया जाता है और मैली चादर को लपेटकर उसके नीचे से निकाल लिया जाता है। शय्या के खाली भाग में साफ चादर बिछाई जाती है, जबकि दूसरी को लपेट कर हटा दिया जाता है। फिर रोगी को साफ चादर पर लिटा

दिया जाता है और बाकी गंदी चादर को लपेट कर हट लिया जाता है। कभी-कभी चादर दूसरे ढंग से बदली जाती है। गंदी चादर को ऊपर की तरफ से लपेटते हैं और नीचे से बीच की ओर, रोगी के धड़ की ओर और उसी समय साफ चादर उसके सिर के पास रखकर धीरे-धीरे पैरों की तरफ फैलाते जाते है और गंदी चादर को हटाते जाते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि चादर की सब सलवटें निकल जाएँ ताकि रोगी को शय्या शोथ न हो। कमीज को निम्न विधि से बदलते हैं—कमीज को नीचे से बगलों तक उठाते हैं और सिर से निकालने के बाद भुजाओं से निकालते हैं। बहुत ही तीव्र त्वक रोग (त्वगलालिमा) होने पर रोगी बनियान जैसा वस्त्र पहनता है।

गंभीर हालत वाले रोगियों को अपने स्वास्थ्य वृत्त की क्रिया में उपचारिकाओं और परिचारिकाओं को मदद करनी चाहिए। जग से बेसिन में यदि कोई पानी डालता रहे तो ये रोगी अपने आप अपना हाथ मुँह धो लेते हैं। शौच भागों को हल्के पोटैशियम परमैन्गनेट घोल से रुई के फाहे को ड्रेसिंग चिमटी से पकड़ कर साफ किया जाता है। रुई के टैंपन को 2 प्रतिशत बोरिक एसिड घोल में भिगोकर पलकों को साफ करते हैं। मुँह को साफ करने के लिए नाइट्रोफ्यूराजोन, पोटैशियम परमैग्नेट या रिवानोल के घोल से कुल्ला करते हैं। जिह्वा और मुँह को 1 प्रतिशत बोरेक्स घोल और 10 प्रतिशत ग्लीसरीन घोल में भिगोई हुई गाज पट्टी को स्पैचुला में लपेटकर उससे पोंछते हैं।

त्वक रोगों के बाह्य उपचार के लिए बहुधा पाउडर, लोशन ड्रेसिंग, पेंट (टिंचर), जल और तेल वाले लोशन, मलहम, प्लास्टर तथा अन्य औषधीय रूप बहुधा प्रयोग में लाए जाते हैं।

1. पाउडर : विक्षति के क्षेत्र में पाउडर की एकसार पतली पर्त लगाई जाती है। विभिन्न पाउडरों में जिंक आक्साइड, टैल्कम, स्टार्च और काओलीन होती है। इनका कंडू-रोधी और शोथ-रोधी प्रभाव होता है। ये त्वचा को सुखाती हैं (त्वगवलिशोथ में), ठंडा रखती हैं और निःस्राव को अवशोषित करती हैं। विस्फोट और व्रण के उपचार में प्रयुक्त पाउडरों में सल्फानिलामाइड (पाडर के रूप में), जेरोफार्म (विस्मथ ट्राइब्रोमोफेनेट) और डर्मेटाल होते हैं।

2. लोशन : पहले से ठंडी की गई औषधि के घोल में भिगोई हुई दो या चार गाज पट्टिअयाँ थोड़ी निचोड़कर विक्षति भाग पर लगाई जाती हैं। लोशन को हर 5 से 15 मिनट पर (या जैसे ही यह सूख जाय) बदलते रहते हैं और 30 मिनट तक रखते हैं। यह विधि दिन में तीन बार से लेकर पाँच बार तक दोहराई जाती है। इनसे त्वचा का रिसना कम हो जाता है तथा कड्डू और जलन में आराम आ जाता है—यानी इनका प्रतिशोथज प्रभाव होता है। अधिकतर प्रयोग में आने वाले लोशन में 1-2 प्रतिशत टैनीन घोल, 0.25-0.5 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल, 2-3 प्रतिशत बोरिक एसिड घोल, 0.25-0.3 प्रतिशत एमिडोपाइरिन घोल और सीसे का पानी होता है।

पूयजन्य संक्रमण के संगामी विकास में विसंक्रामक लोशन का प्रयोग किया जाता है। इन घोलों में रिवानोल (एथाक्रीडिन लेक्टेट 2) (0.1 प्रतिशत), फ्यूरासिन (1 : 5000), पोटैशियम परमैग्नेट (0.05 प्रतिशत), और रेर्सोसिनाल (1-2 प्रतिशत) शामिल हैं।

3. आर्द्र सूखने वाली ड्रेसिंग उसी तरह लगाई जाती है जैसे लोशन। लेकिन गाज को 8 से 12 तहें प्रयोग में लाई जाती हैं और ड्रेसिंग को हर 30 से 60 मिनट पर बदलते हैं (जैसे ही यह सूखने लगती है)। यदि ड्रेसिंग चिपक जाय तो इसे उघाड़ना नहीं चाहिए वरन उसी घोल में फिर भिगो देना चाहिए। यह ड्रेसिंग ऐसी स्थानिक त्वचा विक्षतियों में लगाई जाती है जिसमें काफी अंतःसंचरण हो और जो रिसती हों। पूयस्फोटिक त्वचा रोगों में और विसरित तीव्र शोथज क्रिया में आर्द्र पट्टी नहीं करनी चाहिए।

4. गर्म संपीड : चिरकारी शोथज क्रिया में, जिसमें गहरे स्थानिक त्वचा अंतःसंचरण हों, और अधत्वक वसा में (तंत्रिका त्वचा शोथ इत्यादि में) गर्म संपीड लगाए जाते हैं। गाज पट्टी को 10 से 12 बार तहकर घोल (सीसे के पानी, 2 प्रतिशत बोरिक एसिड घोल इत्यादि) में भिगोकर और निचोड़कर विक्षिति के आकार की बना कर लगाते हैं। गाज को आकार में थोड़े से बड़े वैक्स पेपर से ढक कर और रुई की पर्त लगाकर पट्टी कर देते हैं। संपीड को दिन में एक या दो बार बदलते हैं।

5. लेप : लेप को अल्कोहल और अनीलीन रंजक (उदाहरण के लिए चमकीला हरा) के साथ मिलाकर लगाते हैं। मेंथाल (1-2 प्रतिशत), कार्बोलिक एसिड (1-1. 5 प्रतिशत) और नीला कासीस (2-10 प्रतिशत) और सिल्वर नाइट्रेट (2-10 प्रतिशत) के आर्द्र अल्कोहल घोल को कंडू और तंत्रिका त्वचा शोथ में इस्तेमाल करते हैं।

6. तेल और पानी के शेक लोशन : जल लोशन में जल, ग्लीसरीन और पाउडर (पूरी मात्रा 30 प्रतिशत) होता है। अधिकतर जिंक आक्साइड, टेल्कम, काओलीन और स्टार्च का पाउडर इस्तेमाल करते है। जल शेक लोशन का प्रतिशोथज प्रभाव होता है तथा इससे खुजली और जलन में आराम मिलता है। जलअल्कोहल के शेक लोशन में अल्कोहल होता है। तैल शेक लोशन इन्हीं पाउडरों के वाहक तैल द्रव (सूर्यमुखी, आडू के छिलके के या वैसलीन तेल) से मिलाकर बनाते हैं। जिंक तेल में 30 प्रतिशत जिंक आक्साइड और 70 प्रतिशत वनस्पति तेल होता है। तेल शेक घोल से त्वचा मुलायम होती है। शल्क और पपड़ी उतारने में मदद मिलती है और खिंचाव कम महसूस होता है।

जल और तेल के लोशन को इस्तेमाल करने से पहले उसे हिलाते है और फिर रुई के पिंड से विक्षति वाले भाग में लगाते हैं। सल्फर, इच्छथोमोल, टार, मेन्थाल और अन्य पदार्थ भी इसमें मिलाए जा सकते हैं। शेक लोशन त्वचा पर जल्दी सूख

जाते हैं और इसीलिए बेंडेज नहीं लगाई जाती है। इन्हें सिर पर और रिसती हुई त्वचा पर नहीं लगाते हैं।

7. लेप में बराबर मात्रा में पाउडर (जिंक आक्साइड, टल्कम इत्यादि) और वाहक तेल (लैनोलिन, वैसलीन इत्यादि) होते हैं। निलंबन की अपेक्षा लेप अधिक गहराई तक जाते हैं पर मलहम की अपेक्षा ये कम सक्रिय होते हैं। इनका प्रभाव प्रतिशोथज और नमी सोखनेवाला होता है। लेप गाढ़े होते हैं, इसलिए पट्टी की आवश्यकता नहीं होती है। इन्हें सिर पर तथा रिसने वाली त्वचा पर नहीं लगाते हैं। लेप को त्वचा पर एक या दो बार लगाते है और तीन दिन में एक बार वनस्पति तेल मे भिगोए हुए टैंपन से इसे साफ किया जाता है।

जिंक लेप में जिंक आक्साइड, टैल्कम, लेनोलिन और वैसलिन बहुधा बराबर भाग में मिले होते हैं। जब कभी बताया जाए तो इस लेप में इक्थेमोल, नेफ्थेलेन, रिसोर्सिनोल, सल्फर के योग, टार इत्यादि मिला लिए जाते हैं। लेप को विक्षति वाले भाग पर इन्हें स्पैचुला से लगाते है और फिर इसे फैला देते हैं और सतह को गाज पट्टी से ढक कर पट्टी बाँध देते हैं (पट्टी का एक या दो फेरा लगाते हैं)।

8. मलहम : मलहम में एक या ज्यादा औषधियाँ होती हैं, जो वसामूल पदार्थो (वैसलीन, लेनोलीन, लाई, नेफ्थेलेन इत्यादि) के साथ एकसार मिली होती हैं। इनका गहराई तक प्रभाव होता है, इसलिए इन्हें त्वचा का शोथज अंत:संचरण होने पर चिरकारी और कम तीव्र रोगों में दिया जाता है। 2-10 प्रतिशत सल्फर मलहम, 2-3 प्रतिशत टार मलहम, 1-3 प्रतिशत अमोनिया वाला पारद मलहम, 2 प्रतिशत सैलसिलिक महलम, 2-5 प्रतिशत इक्थेमोल मलहम, 2-3 प्रतिशत नफ्थेलेन और अन्य मलहम प्रयोग में लाए जाते हैं। इसके साथ ही प्रतिजीवी वाले मलहम (एराइथ्रोमाइसिन, क्लोर्टेट्रासाइक्लीन और दूसरे मलहम) भी इस्तेमाल किए जाते हैं। इंटरफेरोन मलहम को शैवाक पेंफीगोइड और हर्पीज जोस्टर में इस्तेमाल करते हैं।

कोरटिकोस्टरायड योग वाले मलहम (सिनालार सम्मिश्र, फ्ल्यूसिनोलोन) भी होते हैं तथा ऐसे मलहम भी जिनमें कोर्टिकोस्टेरायड और प्रतिजीवी होते हैं (जैसे आक्सीकोर्ट, जिओकोर्टोन, नियोमाइसीन के साथ), वायोफार्म और टार, अल्ट्रालान, डेर्माजोलोन, मोनोमाइसीन-प्रेडनीसोलोन (जिसके 10 ग्राम में 1000 000 यू. प्रतिजीवी और 0. 1 ग्राम प्रेडनीसोलोन होता है, सिनालार एन में नियोमाइसिन और सिनालार सी में क्विनोफार्म होता है)।

मलहम को लिनेन पर एकसार फैलाया जाता है और फिर विक्षति के भाग पर रख पट्टी से बाँध देते हैं। कभी-कभी इसे सीधे त्वचा पर लगाकर खुला छोड़ देते है। स्केबीज और तुपाम शल्कन (सेहुँआ) में इस मलहम को त्वचा पर लगाते हैं। मलहम को त्वचा के रोगी भाग पर दिन में एक या दो बार लगाते हें। कुछ रोगों में इक्थेमोल और टार को शुद्ध रूप में (बिना ग्रीस वाहक के) इस्तेमाल करते

हैं और इसे दो दिन में एक बार लगाया जाता है।

9. प्लास्टर : प्लास्टर में वसा के अलावा मोम और कोलोफोनी (रेजिन) भी होता है। ये महल्हम की अपेक्षा अधिक गाढ़े और चिपने वाले होते हैं। प्लास्टर को अधिकतर पहले गर्म करते हैं और फिर इसकी मोटी तह रोगी भाग पर लगाते हैं। यह मलहम की अपेक्षा अधिक गहराई तक जाता है। निरऔषधीय चिपकने वाले प्लास्टर को त्वचा में ड्रेसिंग लगाने में प्रयोग करते हैं। यह त्वचा से अच्छी तरह न चिपके तो इसे फिर थोड़ा गर्म कर लेते हैं।

10. साबुन : उपचारार्थ साबुनों में सल्फर, टार, इक्थेमोल, रिसार्सिनाल, सल्फर और सिलसिलेट, सल्फर इत्यादि होते हैं।

11. स्नान : पूर्णशरीर स्नान (जल का तापमान 35-37^0 सें.) में सप्रूस सत्व, पोटैशियम परमैंगनेट (1 : 10000), बलूत की छाल (एक किलो छाल को 6 लिटर पानी में उबालकर) और गेहूँ की भूसी (एक किलो भूसी को तीन लीटर पानी में उबालकर) और स्थानिक स्नान (37-40^0 सें.) हाथ, पैर, जननेन्द्रियों, और गुदा को दिए जाते हैं। उदाहरण के लिए हाथों को गर्म स्नान शीवशोथ और वाहिका प्रेरक विकार में दिया जाता है।

जल के तापमान के अनुसार स्नान में भी अंतर हो सकता है। 34-36^0 सें. सामान्य, (36-38^0 सें.) उष्ण, (39^0 सें. से अधिक) अति उष्ण (33-21^0 सें.) ठंडा, तथा अतिशीत (20 से और कम)। नित्य का स्नान 15 से 20 मिनट तक, उष्ण स्नान दस मिनट तक और अति उष्ण स्नान पाँच मिनट का होता है।

स्नान-घर को पहले गर्म पानी और साबुन से धोते हैं, फिर कपड़े या ब्रुश से साफ करके 1-2 प्रतिशत क्लोरामीन घोल या 1 प्रतिशत चूना क्लोराइड घोल में विसंक्रामित करते हैं। विसक्रामक को गर्म जल से धो देते है। सप्ताह में एक बार स्नानघर को हल्के नमक के तेजाब, सोडा घोल, मिट्टी के तेल या विशेष लेप से धोते हैं। मोरचे के धब्बों को आगजैलिक एसिड से साफ किया जाता है।

30 से 40 मिनट के उपचारार्थ स्नान को हलके नाश्ते या दोपहर के भोजन के एक या दो घंटे बाद करना चाहिए।

स्नान में स्टार्च और चोकर (गेहूँ या बादाम का) जल में इसलिए मिलाया जाता है क्योंकि इसका कंडूरोधी प्रभाव होता है। त्वचा मुलायम हो जाती है। स्टार्च और चोकर को (500 से 1000 ग्रा.) को सन् के थेले में रख कर पानी से भरे स्नान घर में नीचे रखा जाता है। इस स्नान का तापमान सामान्य या उष्ण (37^0 सें.) तक होता है। इस थैले को बार-बार निचोड़ कर इसके पदार्थो को पानी में पहुँचाया जाता है। 1-2 किलोग्राम चोकर क्वाथ पहले से तैयार करके और छान कर स्नान में मिला दिया जाता है। बादाम की भूसी को सीधे स्नान जल में मिला देते हैं। उपचारार्थ स्नान 30 से 60 मिनट तक या इससे अधिक समय तक लिया जाता है।

सोरियासिस तंत्रिका त्वक शोथ में पूर्ण शरीर स्नान और **फव्वरा** स्नान लिया जाता है। जल त्वचा पर से औषधि के अवशेष और पपड़ी को साफ करता है। यह मोटा बाह्य त्वचा की शृंगी परत को मुलायम बनाता है तथा तंत्रिका तंत्र पर इसका प्रशमनकारी प्रभाव होता है तथा यह परिसंचरण को नियंत्रित करता है।

त्वचा रोगों में भौतिक चिकित्सा

सिंकाई (उष्ण) और शीत का प्रयोग त्वचा रोगों के सफलतापूर्वक उपचार में किया जाता है। सिंकाई (उष्णता) का प्रभाव 'मिनिन' प्रकाश और सौलक्सलैंप से किरणन द्वारा पैदा किया जाता है तथा पूर्ण शरीर और स्थानिक स्नान (सूर्य स्नान सहित), पैराफिन और ओजोकेराइट लगाकर स्थानिक और खंड डायाथर्मी से सिंकाई करते हैं।

विकृतजन्य ऊतकों को सूखी कार्बनडाइआक्साइड बफ (शीतोपचार) या द्रवित नाइट्रोजन से हिमीकरण द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

अधिक प्रयुक्त कार्य विधि में क्वार्ट्ज-मरकरी (वाच, क्रोमायर, इत्यादि) लैंप (पराबैंगनी विकिरण) किरणन और कभी-कभी एक्सरे और विघटनाभिक पदार्थ सम्मिलित होते हैं। विद्युत ऊर्जा का प्रयोग विद्युत अपघटन, गेल्वेनोकाटरी और डायथर्मो स्कंदन (शल्यडायथर्मो) को विकृतजन्य ऊतकों (अधिमांस और जन्म चिह्न) को नष्ट करने में किया जाता है। स्थानिक डीअरसोनवालिकरण का प्रयोग खुजली वाले त्वक रोगों में किया जाता है।

अति उच्च आवृत्ति वाली धारा का प्रयोग फुंसियों और स्वेद ग्रंथि शोथ के उपचार में किया जाता है। लैसर किरणों का प्रयोग भी त्वक रोगों (पोषणज व्रण तथा अन्य रोगों) में किया जाता है।

स्वास्थ्य-सदनों में उपचार

बहुत से चिरकारी रोग, जैसे चिरकारी छाजन, तंत्रिका त्वक शोथ, सोरियासिस, त्वचा की खुजली, शैवाक रक्तिमा लानस, त्वचा काठिन्य, शीतपित्त, शल्की त्वचा, ल्यूपस यक्ष्मा, यक्ष्मा, पपुलोनोक्रोटिका तथा अन्य के लिए स्पा उपचार एक शक्तिशाली साधन है (खनिज जलीय झरने वाले स्थान पर)।

सूर्य और वायुस्नान के साथ-साथ रोगियों को समुद्र स्नान, पैट्रोल-नेफ्थेलेन और उपचारार्थ मिट्‌टी का प्रयोग भी किया जाता है।

खनिज स्नान में (1) सल्फाइड जल (सल्फरयुक्त जल) से स्नान सम्मिलित है। हाइड्रोजन सल्फलाइड त्वचा (90%) और श्वास पथ से, शरीर के अंदर पहुंचता है। हाइड्रोजन सल्फाइड की सांद्रता 30-40 मि. ग्रा. प्रति 100 लिटर से 100-150 मि. ग्रा. प्रति 100 लिटर तक होती है। उपचार के लिए 10 से 15 स्नान तक किए

जाते हैं। सोवियत रूस में हाइड्रोजन सल्फाइड स्नान सोची-मत्सेस्ता, प्यातिगोर्स्क, केमेरी, गोर्याची क्ल्यूच, सेर्नोवोद्स्क, सेर्गियेव्स्किये मिनेराल्निये वोदी तथा अन्य खनिज जलीय झरने वाले स्थानों पर किया जाता है। कृत्रिम हाइड्रोजन सल्फाइड स्नान निम्न प्रकार से बनते हैं—स्नान (टब) में 200 लिटर ताजा पानी वांछित तापमान पर भरा जाता है। उसमें इंडस्ट्रियल सोडियम सल्फाइड के 10 प्रतिशत घोल के 825 मि. ली. और 27.5 प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक एसिड के 200 मि. ली. मिला दिए जाते हैं। इस प्रकार से बनाए गए स्नान में 100 मि. ग्रा. स्वतंत्र और 150 मि. ग्रा. कुल हाइड्रोजन होता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस कमरे में स्नान की व्यवस्था की गई है, वह खूब हवादार होना चाहिए, क्योंकि 0.01 मि. ली. ग्राम प्रति लीटर की हाइड्रोजन सल्फाइड सांद्रता मनुष्य के लिए विपालु है। मंद सांद्रता वाले हाइड्रोजन सल्फाइड 75-100 मि. ग्रा. प्रति लिटर का प्रयोग आम तौर पर किया जाता है और अधिक सांद्रता (150-200 मि. ग्रा.) का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। उपचार प्रारंभ करने पर निम्न सांद्रता 25 से 50 मि. ग्रा. प्रति लीटर का प्रयोग किया जाता है और इसके बाद सांद्रता को धीरे-धीरे बढ़ाया जाता है। 34 से 36 सें. वाले जल में स्नान 10 से 15 मिनट तक किया जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड स्नान वाले दिन रोगी को ठंडे वातावरण से बचना चाहिए तथा अन्य भौतिक चिकित्सा या जल क्रिया नहीं करनी चाहिए। (2) **रेडान स्नान में** हल्की विघटनाभिकता वाला जल (10 से 27 माखे इकाई-विघटनाभिकता को नापने की अंतर्राष्ट्रीय इकाई) होना चाहिए। मध्यम रेडान स्नान में (28 से 82 माखे इकाई) और उच्च में (82 से अधिक माखे इकाई) वाला जल होता है। एक स्नान 5 से 15 मिनट तक का होता है। उपचार के लिए 12 से 20 स्नान किए जाते हैं। सोवियत संघ में रेडान स्नान त्स्खल्तूबो, बेलोकूरिखा, प्यातिगोर्स्क, किसेगाच, जेती-ओगूज तथा अन्य खनिज जलीय झरने वाले स्थानों में किया जाता है। कृत्रिम रेडान को विशेष हिदायतों के साथ बनाते हैं। रेडान घोल को बोटल में से स्नान टब में वांछित तापमान पर (बहुधा 34-36^{0} सें.) डाला जाता है। यह स्नान 10 से 20 मिनट तक किया जाता है। (3) सिलिका स्नान, मामूली खनिजीय होते हैं। इन्हें गोर्याचिन्स्क, त्स्वार्चेली, आल्माअरासान, कुलदुर, अरासान-कोपल तथा अन्य खनिज जलीय झरणों वाले स्थान पर लिया जाता है। (4) कार्बन डाइआक्साइड जल। ये स्नान किस्लोवोद्स्क और नाल्चिक में खनिज जलीय झरनों में होते हैं।

उपचारार्थ मिट्टियों का प्रयोग, गर्म, प्रतिवर्ती, रासायनिक और विघटनाभिक प्रभाव के लिए चिरकारी शोथज क्रिया में किया जाता है। फर्क किया जाता है कि वह किस प्रकार के त्वक रोग से पीड़ित है और आनुषंगिक रोगों के क्या लक्षण हैं। उदाहरण के लिए यदि छाजन सोरिआसिस या अन्य किसी त्वक रोग से पीड़ित रोगी को साथ में चयापचयी विकार हो या जठर-आंत्र रोग हो तो उसे सही पथ्य अतःस्राव

विज्ञानी या कायचिकित्सक के परामर्श से देना चाहिए। सोवियत संघ में उपचारार्थ मिट्टी से उपचार सोची, ओदेस्सा, येव्पातोरिया, प्यातिगोर्स्क, जेल्येज्नोवोद्स्क, लीपेत्स्क, येइस्क, केमेरी, द्रूस्कीनीनकाइ, स्लाव्यान्स्क, उचूम, सेर्नोवोद्स्क में किया जाता है।

त्वक रोग से पीड़ित रोगियों का पथ्य

रोगी के पथ्य का निर्धारण सही निदान के आधार पर होता है।

छाजन तंत्रिका त्वक शोथ, शीतपित्त और कंडूपिटिका अधिकतर खाद्य पदार्थ की एजर्ली से होती है। बहुधा इनके होने का कारण दीर्घ स्थायी अंडे, दूध, मधु, स्ट्राबेरी, छत्रक नीबू वंश के फल, मछली, कुछ किस्म का मांस, इत्यादि हैं। कंडूत्वक रोग से पीड़ित रोगियों को चटपटा और मिर्चवाला भोजन नहीं करना चाहिए, मदिरा पान निषिद्ध है और ऐसा भोजन नहीं लेना चाहिए जिससे त्वचा क्रिया का प्रकोपन हो। एलर्जी त्वक रोग के इतिहास वाली स्त्रियों को गर्भवती होने पर ऐसी खुराक दी जाती है। यदि शिशु को प्रवृत्ति और कंडू त्वक रोग हो तो उसके दूध पिलाने वाली माँ को सुनिर्धारित नियमित भोजन दिया जाता है।

पूयत्वक रोग और कार्बोहाइड्रेट के चयापचन की गड़बड़ी वाले रोगी को कार्बोहाइड्रेट लेने में संयम बरतना चाहिए। सोरियासिस के रोगी को कोलेस्टेरोल बहुलता वाले खाद्य नहीं लेने चाहिए। तीव्र शोथज विकृति और त्वचा की सतह से निःस्राव होने वाले त्वक रोगों में विपालु पदार्थों के विसंक्रमण के लिए बहुत मात्रा में तरल पदार्थ और मूत्रल औषधियाँ लेनी चाहिए।

यदि रोग को स्टेरायड हार्मोन दिए जाते हों तो पथ्य का विशेष महत्त्व होता है। उन्हें पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन पदार्थ और विटामिनों से भरपूर भोजन देना चाहिए (विशेष रूप से विटामिन सी) और भोजन में पोटैशियम भी होना चाहिए।

पूयत्वक रोग

स्टेफाइलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस और कभी-कभी पूयजन्य सूक्ष्म जीवियों के त्वचा में घुस जाने से पूयत्वक रोग होते हैं। त्वक रोगों में पूयत्वक रोग सबसे अधिक प्रचलित है और इसका महत्त्व भी बहुत है क्योंकि इससे श्रम उत्पादन क्षमता घट जाती है और रोगी को कई दिन तक बीमारी की छुट्टी लेनी पड़ती है। पूयत्वक रोग युवकों और किसी भी आयु के बच्चों को होता है।

स्वच्छता संबंधी स्वास्थ्य सिद्धांतों के नियमों और आदर्शों का पालन न करने से और कार्य तथा निवास की प्रतिकूल परिस्थितियों से पूयत्वक रोग बढ़ता है। विकृतजन्य पूयत्व सूक्ष्म जीवी स्वच्छ व्यक्ति की त्वचा में होते हैं परंतु इनसे पूयत्वक रोग हमेशा नहीं होता है। इन रोगों का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि व्यक्ति की सामान्य हालत और पर्यावरण की स्थिति कैसी है। त्वचा आवरण में चोट

तथा रासायनिक और खनिज तेलों से इसका क्षोभ, वायु का उच्च तापमान और विशेष रूप से तब, जब कि आर्द्रता भी बहुत ज्यादा हो तथा अन्य कारकों से, प्रतिकूल पर्यावरण परिस्थितियाँ बनती हैं। तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की क्रिया में विपर्यय होने से, शरीर में विटामिनों की कमी से, चयापचयी विकास होने (मधुमेह में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट), इत्यादि से जीव की प्रतिरोधी शक्ति घट जाती है तो ये पूयत्वकरोग होने का कारण बन जाते हैं।

उपरिस्थ और गहरे स्टेफाइलोकोकल, स्ट्रेप्टोकोकल और मिली-जुली सपूय त्वचा के रोगों में विभेद किया जाता है।

स्टेफाइलोकोकल पूयत्वक रोग पाइलोत्व वसीय पुटकों और स्वेद ग्रंथियों के संकट से जाना जाता है। पूय स्फोटिकाएँ शंक्वाकार या अर्धगोलक होती हैं, इनकी दीवारें मोटी और तनी हुई होती हैं। पस गाढ़ा और पीले हरे रंग का होता है और नीचे की ओर मुड़े हुए बाल बहुधा पूयस्फोटिका के केंद्र में दिखाई देते हैं।

स्ट्रेप्टोकोकल पूयत्वक रोग में पूय स्फोटिकाएँ चपटी होती हैं, उनकी दीवारें पतली और पिलपिली होती हैं तथा इनका निःस्राव सीरम सपूय होता है।

उपरिस्थ पूयत्वक रोग बाह्य त्वचा तक ही सीमित होता है और इसमें अस्थायी वर्णकता होती है। पूयत्वक रोग में त्वचा प्रभावित होती है और कभी-कभी अधस्त्वक वसा भी प्रभावित होती है और सदैव ही व्रण चिह्न या क्षतांकज शोथ रह जाता है।

पूयत्वक रोगों के बाद विभिन्न प्रकार के कंडू त्वचा रोग (द्वितीयक पूयत्व रोग) हो सकते हैं।

उपरिस्थ पूयत्वक रोग

इंपेटाइगो, फालिकुलाइटिस, लोम कूप शोथ और नवजात बाह्य त्वचा पैंफीगस अधिक प्रचलित उपरिस्थित पूयत्वक रोग हैं।

इंपेटाइगो : स्ट्रेप्टोकोकल इंपेटाइगो, सामान्य या मिश्रित इंपेटाइगो और मुख्य फालिकुलाइटिस या स्टैफाइलोकोकल इंपेटाइगो को पहचाना जाता है।

स्ट्रेप्टोकोकल इंपेटाइगो बहुधा बच्चों को होता है। विक्षति उपरिस्थ गुहिकामय अ-फालीकुलर चपटी पुटिका होती है, जिसकी भित्तियाँ पतली और पिलपिली होती हैं और इसमें सीरमी पदार्थ होता है। यह अतिरक्तता के आधार पर होता है। यह बाजरे के आकार से लेकर अखरोट के आकार तक बड़ा हो सकता है। पुटिका का पदार्थ धब्बेदार होने के बाद सीरस सपूय हो जाता है। पुटिका सूख जाती है और पीली पपड़ी सी बन जाती है। यह क्रिया चेहरे की पतली और कोमल त्वचा पर तथा धड़ और अंगों के आस-पास स्थानिक रूप से होती है। खुजली होने की वजह से रोगी और विशेषकर बच्चे पुटिकाओं और पूयस्फोटिकाओं के आवरण को फाड़ देते है और उसकी जगह विस्फोटक बन जाता है तथा उसके ऊपर पीली पपड़ी

चित्र 44. इंपेटाइगो वलगैरिस।

का आवरण बन जाता है। पपड़ी गिर जाती है और वर्णक धब्बा पड़ जाता है। यह अति सांसर्गिक रोग बहुधा बच्चों के समूह में तेजी से फैलता है और इसीलिए इसे सांसर्गिक इंपेटाइगो कहते हैं।

होंठों के कोणों पर होने वाले स्ट्रेप्टोकोकल इंपेटाइगो को परलेश (सृक्कशोथ) कहते हैं। चपटी फैली हुई पुटिका (जलस्फोट) मुँह के एक या दोनों कोनों पर बन जाती है और तेजी से बढ़कर पूयस्फोटिका या पीड़ा वाला विदर बन जाती है जो सीरमी या सीरम-सपूय पपड़ी से घिरा होता है क्योंकि यह भोजन और लार से बराबर क्षोभित रहता है इसलिए मरलेश कई महीनों तक दीर्घ स्थायी होता है।

स्ट्रेप्टोकोकल इंपेटाइगो हाथ और पैर की उंगलियों में होती है और नख के चारों अर्ध-चंद्र विशृति हो जाती है। इसे उपरिस्थ पनारिटियम कहते हैं और यह बहुत पीड़ादायक होता है।

इंपेटाइगो वलगैरिस या समिश्र इंपेटाइगो या स्ट्रेप्टोकोकल और स्टेफाइलोकोकल का मिश्रित संक्रमण है। इस रोग की शुरुआत में कभी-कभी शरीर का तापमान हल्का सा बढ़ जाता है और भविष्य में विस्फोट की जगह जलन सी महसूस होती है। लाल और थोड़ी फूली हुई त्वचा पर बनने वाली पुटिका जल्दी ही पूयस्फोटिका का रूप ले लेती है जो कि सूख कर मोटी और खुरदरी पीली मधु के समान पपड़ी बन जाती है (चित्र 44)। इंपेटाइगो वलगैरिस अधिकतर बच्चों, लड़कियों और युवतियों के चेहरे पर होती है।

स्टैफिलोकोकल इंपेटाइगो या मुख का पुटकाबुर्द उपरिस्थ या अर्ध गोलार्ध पूय स्फोटिका है जिसका आकार बाजरे के दाने से लेकर मटर के दाने के बराबर हो सकता है। इसके चारों ओर सूजन होती है जिसका अति लाल परिवेश होता है और इसके बीच में बाल सा होता है। पूय स्फोटिका कुछ दिनों में सूख जाती है और इस पर मोटी भूरी-पीली सी पपड़ी जम होती है। ऑस्टियल फोलीकुलाइटिस अधिकतर सिर पर और प्रांतस्था के प्रसारकों पर होती है।

फौलीकुलाइटिस (रोम कूप शोथ) स्टैफाइलोकोकस से होता है और इसकी शुरूआत केश पुटक के मुँह पर पूयस्फोटिका के बनने से होती है। यह क्रिया केश पुटक के गहरे भागों तक फैल जाती है और यह चल शंकुपूयस्फोटिका का रूप ले

लेती है, तथा यह मोटे आधार पर होती है। रोम कूप शोथ एक पिन के सिरे के बराबर या उससे बड़ा, बाजरे के दाने के बरबार तक, बन जाता है। अंत:संचरण मसूर के दाने से लेकर मटर के दाने के बरबार होता है। रोमकूपशोथ अंततः फुंसी या कारबंकल का रूप ले सकता है (चित्र 45)।
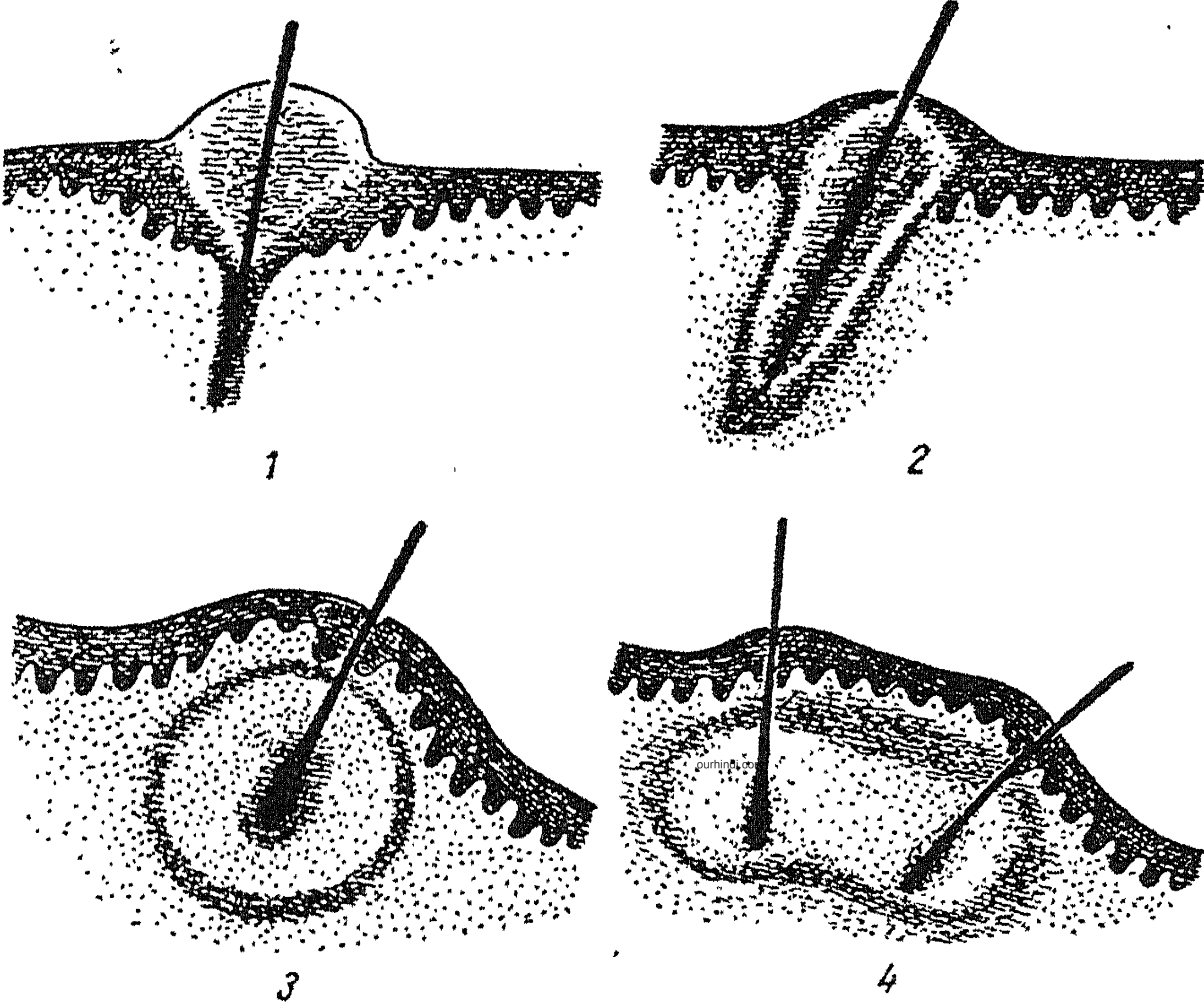
चित्र 45. पूयत्वक रोग का विकास (आरेख)।
1. अस्टियोल रोमकूपशोथ; 2. रोमकूपशोथ, 3. पनसिका, 4. कारबंकल।

रोमकूपशोथ एक चिरकारी दीर्घ स्थायी रोग है जिसकी पुनरावृत्ति हो सकती है। यह स्टैफाइलोकोकस (कोकोजेनिक या परजीवी रहित रोमकूपशोथ) के कारण होता है और यह दाढ़ी और मूछों वाले भाग को रोगग्रस्त करता है। प्रभावित भाग पर मुख रोम कूप शोथ, अंत:संचरित क्षेत्र सपूय पपड़ियाँ होती हैं। इनसे बाल खिंच जाते हैं या गिर जाते हैं। अस्वच्छ ढंग से दाढ़ी बनाने या गंदगी से यह रोग बढ़ता है। मंद और दीर्घ स्थायी रोमकूपशोथ का कारण शारीरिक प्रक्रिया में गहन परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन तंत्रिका तंत्र और अंत:स्रावी ग्रंथियों (विशेष कर जननेंद्रिय) तथा मदिरा पान के दुरुपयोग से क्रिया में गड़वड़ी के कारण होता है।

पेंफीगस एपीडेमिक्स नीअनैटोरम : स्ट्रेप्टोकोकस इसका कारक है। यह रोग शिशुओं में जन्म के पहले सप्ताह से लेकर कुछ महीनों तक होता है। यह बहुत ही
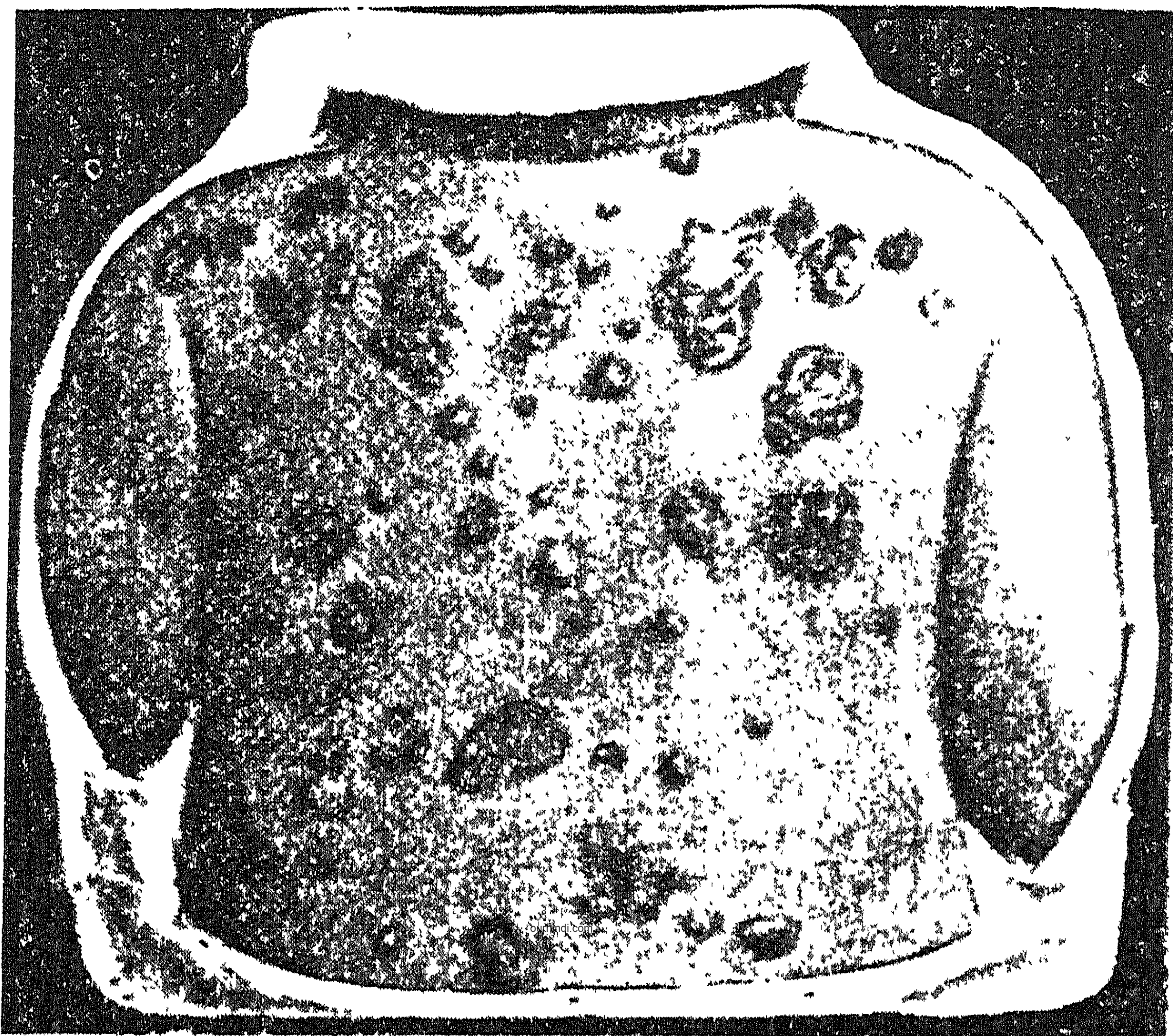
चित्र 46. वाह्य त्वचीय नवजात पेंफीगस।

संक्रामक रोग है और इसका संक्रामक शिशुओं में प्रसूतिगृह चिकित्सालयों या शिशुसदनों में देखा जाता है। त्वचा पर मटर के दाने से लेकर चेरी के आकार तक के पिलपिले जलस्फोट बन जाते हैं। इनमें पहले सीरमी भरता है और फिर सीरम सपूय द्रव भर जाता है जो लाल परिवेश से घिर जाता है (चित्र 46)। जलस्फोट की पतली झिल्ली जल्दी ही फट जाती है और जल्दी ही उस पर चमकीला विस्फोट बन जाता है। जलस्फोट मुँह, नाक, जननेंद्रियों और आँखों की श्लेष्मलकला पर भी बन जाते हैं। बच्चा प्रायः रोता रहता है और बेचैन रहता है। नींद ठीक नहीं आती है और शरीर का तापमान बढ़ जाता है।

गहन पूयत्वक रोग

फुंसी, फुंसी रोग, कारबंकल, स्वेद ग्रन्थिशोथ, कूट फुंसी रोग या बच्चों में वहु विद्रधि पूयस्फोटिका आदि अधिक होने वाले गहन पूयत्वक रोग हैं।

फुंसी और फुंसी रोग : फुंसी एक गहन पुटकीय पूयस्फोटिका है जो कि पिलोत्वकवसीय पुटक में बनती है और त्वचा की क्रिया तथा कोशिका ऊतकों की

क्रिया में भाग लेती है। यह मुख रोम कूपशोथ से प्रारंभ होकर धीरे-धीरे गहन होती जाती है तथा कठोर और नम्र पर्त बनाती है जिसका आकार अखरोट के बराबर होता है और इसकी सतह लाल-बैंगनी रंग की होती है। इसके केंद्र में फुंसी का मुँह होता है जिससे पीला-हरा सा पस निकलता है। व्रण के तले में मृत ऊतक होते हैं जो बाल पुटिका को घेरे रहते हैं और 'फरिगलित कोर' बनाते हैं जो कि एक या दो दिन में अलग हो जाती है। व्रण के किनारे अतिरिक्त और सूजे हुए होते है। और इसके तले में लाल रसदार कण होते हैं। फुंसी के ठीक होने पर निशान पड़ जाता है। इस रोग का कारक स्टेफाइलोकोकस है।

फुंसी रोग ऐसी हालत है जिसमें एक से अधिक फुंसियाँ एक समय पर निकलें या एक के बाद एक फुंसी होती रहे। ये अधिकतर ऐसे निर्बल रोगियों में होती हैं जिसमें कार्बोहाइड्रेट चयापचय की गड़बड़ी (मधुमेह) हो या जठर-आंत्र विकार हों। इस रोग को स्थानिक फुंसी रोग कहते हैं; फुंसियाँ एक सीमित क्षेत्र में होती हैं, लेकिन फुंसी रोग में ये त्वचा के विभिन्न भागों में होती हैं।

तीव्र और चिरकारी (हफ्तों और महीनों तक चलने वाला) फुंसी दो अलग-अलग रोग होते हैं।

कारबंकल स्टैफाइलोकोकस से होता है। यह पास-पास की दो या अधिक पिलोत्वकवसीय पुटिकाओं का सपूय शोथ है। ऐसा लगता है कि कारबंकल में कई फुंसियाँ हों, जिन्होंने एक अंतःसंचरित संलयन का रूप ले लिया हो। कारबंकल सघनता में ठोस सा होता है। इसके चारों ओर की त्वचा सूजी हुई और लाल-बैंगनी रंग की होती है। कारबंकल में पीड़ा बहुत होती है और इसके साथ-साथ शरीर का ताप बढ़ जाता है (40^0 सें. तक), सिर में पीड़ा होती है, भूख नहीं लगती तथा अनिद्रा हो जाती है। कारबंकल के खुलने के बाद गलित ऊतकों को निकाल देते हैं। व्रण रह जाता है जिसके ठीक होने पर गहरा दाग बन जाता है। कारबंकल कृश और कमजोर व्यक्तियों को होता है। यह अधिकतर गर्दन के पीछे या कटि प्रदेश में होता है।

स्वेद ग्रंथि शोथ भी फाइलोकोकस से होता है। यह तीव्र सपूय शोथ है जो कि अंश स्रावी स्वेद ग्रंथियों और उसके आस-पास की अधस्त्वक वसा में होता है। इसके अनुकूल स्थान बगलें और जननेंद्रिय का क्षेत्र होते हैं और गुदा में यह विक्षति बहुत कम होती है। रोग की शुरुआत में एक कोमल घुंडी के रूप में होकर यह अधस्त्वक वसा में मटर के दाने के बराबर हो जाता है। यह धीरे-धीरे बढ़ता है और बहुत पीड़ादायक हो जाता है तथा इसके ऊपर की त्वचा लाल पड़ जाती है। इस
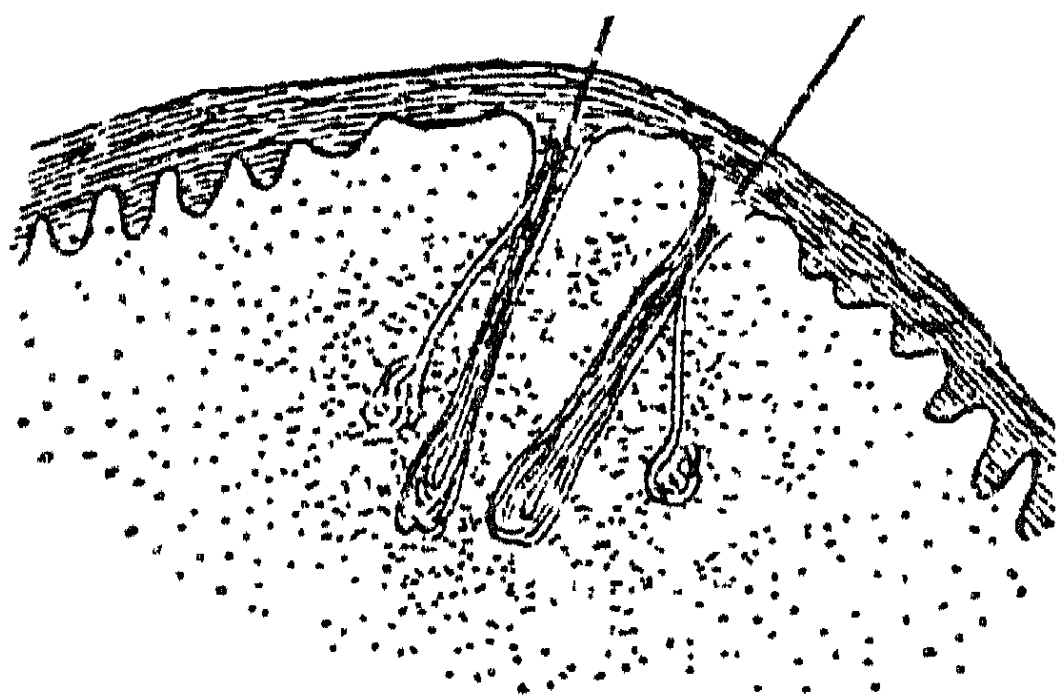
चित्र 47. स्वेद् ग्रंथिशोथ।

क्रिया के साथ की अंशस्रावी ग्रंथियाँ भी शामिल हो जाती हैं और नई घुंडी बन जाती है (चित्र 47)। ये घुंडियाँ विकास के विभिन्न चरणों से गुजरती हुई संलयन बन कर एक अंत-संचरित रूप ले लेती हैं। इसमें विभिन्न आकार के लाल चूचुक होते हैं जो कि अलग-अलग विद्रधियों के बिंदु होते हैं। ये घुंडियाँ मुलायम होकर फट जाती हैं और इसमें से ढेर सारा क्रीम की तरह का पस निकल जाता है। प्रत्येक घुंडी दो से तीन सप्ताह में विकसित होती है।

शिशुओं में स्यूडो फुंसी रोग या वहु विद्रिधि स्यूडो फुंसी रोग स्वेद ग्रंथियों के शिकास्त्वक और वाहिनियों की स्टैफाइलोकोकल विक्षति है। यह रोग ऐसे कमजोर और गंदे बच्चों को होता है जिनकी देखभाल नहीं होती है। इधर-उधर होते रहने वाले विद्रधियाँ त्वचा में गहरी हो जाती हैं और बहुत समय तक तेज न होकर त्वचा पर बनी रहती हैं। इसके ऊपर वाली त्वचा का रंग पहले तो सामान्य रहता है और फिर लाल पड़ कर श्याव रंग का हो जाता है (चित्र 48)। इसके मुँह पर परिगलित कोर नहीं होती हैं। धड़ के अभिपृष्ठ भाग और शिरोवल्क इस क्रिया के सामान्य स्थान हैं।

वलगैरिस पूयस्फोटिका या स्ट्रेप्टोकोकल पूयस्फोटिका एक सूजे हुए आधार पर होने वाले स्ट्रेप्टोकोकल इंपेटाइगो का गहरे तल वाला रूप है। वलगैरिस पूयस्फोटिका क्रम पर बनती है तथा जाँघों, नितंबों और पीठ पर कम होती है। यह रोग अधिकतर ऐसेकमजोर कृश लोगों को होता है, जो अस्वास्थ्यकर गंदी परिस्थितियों में रहते हैं। पूयस्फोटिका इसकी विक्षतियों का लक्षण है, जिसका आकार पिंघल के फल के बराबर होता है। ये चपटी और पिलपिली होती है।

चित्र 48. शिशुओं की त्वचा पर वहु व्रण (स्यूडो फुंसी रोग)।

चित्र 49. वलगैरिस पूय स्फोटिका।

और इनमें सीरम सपूय पदार्थ होता है और यह लाल-स्याह अंत-संचरण से घिरी होती है। ये पूयस्फोटिका गंदी पीली पपड़ी में बदल जाती हैं और जब यह पपड़ी गिर जाती है तो गहरा व्रण रह जाता है। (चित्र 49)। ये पीड़ादायक होती हैं और इनके रसदार तल में पस भर जाता है। ठीक हो जाने के बाद व्रण चिह्न हमेशा रह जाता है। यह रोग हफ्तों से लेकर महीनों तक चलता रहता है।

पूयत्वक रोग का उपचार

त्वचा के सपूय रोगों के उपचार के सम्मिश्र उपाय हैं। सामान्य और बाह्य कर्म और भौतिक चिकित्सा तथा विधान का कड़ाई से पालन इसके उपाय हैं। चिरकारी और प्रत्यावर्ती पूयत्वकरोगों में आंतरिक अंगों और तंत्रिकातंत्र की जाँच करनी चाहिए, और जिस रोग का पता चले उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

सामान्य चिकित्सा

गहन पूयत्वक रोग, रोमकूप शोथ, दीर्घस्थायी और प्रत्यावर्ती रोमकूप शोथ और इंपेटाइगों के सभी रूपों में **चिकित्सा की प्रतिरक्षित विधियों** का प्रयोग किया जाता है। स्टैफाइलोकोकल एनाटाक्सीन, स्टैफाइलोकोकल एंटीफागिन, स्टैफाइलोकोकल वेक्टीरियोफेज, स्ट्रेप्टकोकस और स्टेफाइलोकोकस वैक्सीन (बहु संयोजक और आटो-बैक्सीन) आदि विशिष्ट प्रतिरक्षा चिकित्सा के साधन हैं। उपचार के साथ रोगी को ठंड लगती है या शरीर का ताप बढ़ जाती है, तबीयत खराब हो जाती है तथा रोगी भाग में प्रकोपन हो सकता है तथा औषधि लगाने की जगह पर पीड़ा, लाली और सूजन हो सकती है। दूसरा इंजेक्शन पहले इंजेक्शन से होने वाली स्थानिक प्रक्रिया से बिल्कुल स्वस्थ होने के बाद दिया जाता है। अविशिष्ट प्रतिरक्षा चिकित्सा में स्वरक्त चिकित्सा, दूध के इंजेक्शन (लैक्टोथिरैपी) और गामाग्लोब्यूलिन, मूल प्लाज्मा और रक्त का आधान सम्मिलित हैं। (प्रतिरक्षा चिकित्सा की चर्चा विस्तार पूर्वक 'त्वक रोगियों के उपचार के सामान्य सिद्धांत, प्रतिरक्षा चिकित्सा' में की गई है)।

प्रतिजैविक पदार्थ : प्रतिजीवी चिकित्सा करने से पूर्व रोगी के पस के स्ट्रेप्टोकोकल या स्टैफाइलोकोकल संवर्ध को वियुक्त करके प्रयोशाला जाँच करना सर्वोत्तम होता है क्योंकि इससे विभिन्न प्रतिजैविक पदार्थों के प्रति संवेदनशीलता का पता चलता है। यदि सूक्ष्मजीव समूज की संवेदनशीलता का पता न चल सके, जो विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजैविक पदार्थो से उपचार करना चाहिए।

पेंसिलीन की 100 000 से 200 000 इकाई (जल के धुलित खेदार संयोग) की खुराक दिन में तीन से चार बार तक अंतरपेशीय इंजेक्शन द्वारा दी जाती है या एक्मोनोवोसिलीन (बेंजाइल पेंसिलीन प्रोकेन का एक्मोलीन के जलीय घोल में निलंबन, ट्रिप्रोटामीन सल्फेट घोल) (24 घंटे में 600 000 इकाई), अथवा बाइसिलिन

(बेंजाथीन पेंसिलीन) 3, 4, 5, या 6 (600 000 इकाई खुराक को चार या पाँच दिन में एक वार प्रत्येक नितंब में इंजेक्शन लगाते हैं)। कुल खुराक 2000 000 से 5000 000 इकाई की होती है। कभी-कभी पेंसिलीन को स्ट्रेप्टोमाइसिन में मिलाकर लगाते हैं (24 घंटों में दो बार 500 000 इकाई की प्रति खुराक इंजेक्शन से दी जाती है)।

एराइथ्रोमाइसीन और लेवोमाइटीसीन (क्लोरमफेनिकल) की 0.5 ग्रा. की खुराक दिन में तीन से चार बार दी जाती है। (कुल खुराक 8=15=20 ग्रा. की होती है)।

क्लीरटेट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड, आक्सीटेट्रासाइक्लीन डिहाइड्रेट और टेट्रासाइक्लीन 0.2 ग्रा. की खुराकों में दिन में चार या पाँच बार देते हैं (कुल खुराक 5-10 ग्रा.)

सिग्मामाइसीन और नियोमाइसीन सल्फेट कैप्सूल या घोल (शर्बत) के रूप में बनती हैं और इसलिए बच्चों के लिए अधिकतर इसका औषधि-निर्देश दिया जाता है।

ओलिएनडोमाइसीन की दैनिक खुराक 1000 000-2000 000 इकाई की होती है जो बराबर भागों मे बाँट कर दिन में चार से छः बार तक दी जाती है।

अल्बोमाइसीन, रोन्डोमाइसीन (मेथासाइक्लीन) तथा अन्य विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजैविक पदार्थ हैं। विटासाइक्लीन में टेट्रासाइक्लीन और विटामिन 'सी' 'बी$_1$'और 'बी$_2$' होते हैं। कुछ लोगों को प्रतिजैविक पदार्थ सहन नहीं होते और इससे बहुत से उपद्रव और एलर्जी हो सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में अल्पसुग्राहीकरण चिकित्सा और प्रतिहिस्टामिनिक औषधियों का निर्देश दिया जाता है क्योंकि प्रतिजैविक पदार्थो का प्रतिरक्षा क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं होता है, इसलिए इन्हें प्रतिरक्षा चिकित्सा से मिलाकर दिया जाता है। संश्लिष्ट यौगिक (औक्सासिलीन, मेथिसिलिन तथा अन्य) का भी प्रयोग किया जाता है।

सल्फानिलामाइड : सुस्पष्ट एलर्जी गुण और विषालुता के कारण आजकल सल्फानिलामाइड का प्रयोग बहुत कम हो गया है। रक्त, जिगर और गुर्दे के रोगों में तथा औषधि के असहनीय होने तथा अति सुग्राहिता होने पर सल्फानिलामाइड प्रतिदिष्ट है।

सल्फाथायोजोल, सल्फाडिमेजीन (सल्फामेथाजीन) और एटाजोल (सल्फाएथीडोल) खाने के लिए 1 ग्रा. की खुराक दिन में तीन चार बार दी जाती है (यह औषधि पाँच से दस दिन के लिए दी जाती है)। सल्फापिरीडामीन (सल्फामेथाक्सीपेरीडाजीन) और सल्फाडाइमेथाक्सीन (मेड्राबान) 1.00 से 2.00 ग्रा. दिन में एक बार सात से चौदह दिन तक दी जाती है।

सामान्य शक्ति प्रदायक प्रभाव वाले पदार्थ पूयत्वक रोग वाले रोगियों की व्यवस्था के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन रोगियों को एसकार्बिक एसिड, रुतिन तथा

लौह और फासफोरस वाले यौगिक दिए जाते हैं। उनके भोजन में नमक नहीं होना चाहिए। उन्हें मद्यपान नहीं करना चाहिए।

पूयत्वक रोग का बाह्य (स्थल) उपचार

पूयत्वक रोग के सभी उपरिस्थ स्थानिक रोगों की बाह्य स्थल चिकित्सा की जाती है। विक्षति के चारों ओर की त्वचा को 1-2 प्रतिशत बोरोसैलसिलिक या 1-2 प्रतिशत सैलसिलिक कर्पूर स्पिरिट से धोते हैं। स्नान शरीर के अन्य भागों को भी इन्हें घोलों से उपचारित किया जाता है। बच्चों की उँगलियों की दूरस्थ अँगुल्यस्थियों पर 2 प्रतिशत आयोडीन घोल का लेप किया जाता है।

इंपेटाइगो, रोमकूप शोथ, पेंफीगस एपीडेमीक्स नीयोनेट्रम, इत्यादि में जलस्फोट के शीर्ष भाग को कैंची से काट कर निकाल देते हैं और पस को रुई के टैंपन से निकाल देते हैं। मुख के रोमकूप शोथ में पुटिका को विसंक्रामित सुई से छेद दिया जाता है और इसके आवरण को विसंक्रामित कैंची से काट कर निकाल दिया जाता है। मजबूती से लगी हुई सपूय पपड़ी वनस्पति तेल लगाकर मुलायम की जाती है और 15-20 मिनट के बाद चिमटी से हटा दी जाती है। विस्फोट का उपचार 1-2 प्रतिशत अनीलीन रंजक (जनशियन वायलेट, मेथाइल वायलेट या चमकीला हरा) के घोल में 70 अंश अल्कोहल मिलाकर किया जाता है। इसके बाद निम्नलिखित में से किसी एक संक्रमणहारी मलहम को लगाते हैं, 5 प्रतिशत कोलीमाइसीन (नीयोमाइसिन) या डाइक्लोरोटेट्रासाइक्लीन, 0.5 से 1.5 प्रतिशत एराइथ्रोमाइसिन, 2-5 प्रतिशत पोलीमिक्सीन, 3 प्रतिशत क्लोरोटेट्रासाइक्लीन और 1-3 प्रतिशत टेट्रासाइक्लीन मलहम, 2-3 प्रतिशत पीला मरक्यूरिक आक्साइड मलहम, 3-5 प्रतिशत एमोनिया वाला मरकरीमलहम और 2-3 प्रतिशत बोरिकएसिड का लेप और टार मलहम भी प्रभावशाली होते हैं। हाल में ऐसे क्रीम और मलहम जिनमें कार्टिकोस्टेरायड और प्रतिजीवी (प्रतिजैविक पदार्थ) होते हैं, प्रयोग में लाए जाते हैं (आक्सीकोर्ट जियो कार्टन, लोकार्कोटिन, डेरसोसोलोन)।

दीर्घ स्थायी लोम कूप शोथ के रोगियों का उपचार सामान्य और स्थानिक औषधियों द्वारा किया जाता है तथा रोमोच्छेदन चिमटी से इनके बाल निकाल दिए जाते हैं। हजामत बनाने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। आस-पास की स्वस्थ त्वचा को 70 प्रतिशत अंश अल्कोहल या वोदका से साफ किया जाता है।

पूयस्फोटिका या चिरकारी व्रणक पूयत्वक रोग में जलीय सल्फानिलामाइड लेप को व्रण पर लगाते हैं। पूयस्फोटिका विक्षति जिससे होती है उस अलजी को छेद दिया जाता है जिससे इसका निःस्राव निकल जाता है तथा इसकी पपड़ी सैलसिलिक, जेरोफोर्म या इच्छथेमाल मलहम की पट्टी करने से उतर जाती है।

बच्चों की फुंसियों, कारबंकल, स्वेद ग्रंथि शोथ और स्यूडो फुंसी रोग में बहुधा

शुद्ध इच्छथेमाल का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद औक्सीकोर्ट, जियाकार्टन, इसोसोलोन या बोरिक एसिड और टार पर मलहम या अन्य कोई मलहम लगाया जाता है। फुंसियों का उपचार करने में इसके चारों ओर की त्वचा को अल्कोहल ईथर या बेंजोल से विसंक्रामित करते हैं तथा इच्छथेमाल लगाने से पहले बालों को सावधानीपूर्वक चिमटी से निकाल देते हैं।

पूयत्वक रोग में भौतिक चिकित्सा फुंसियों और रोमकूपशोथ (विशेषकर पतझड़ और शीत काल में) के रोगियों के उपचार में क्वार्ट्ज मरकरी लैंप द्वारा सामान्य विकीरण बहुत ही प्रभावकारी है। फुंसियों का स्वेद ग्रंथिरोग में त्वक रक्तिमा और अधित्वक रक्तिमा के प्रथम चरण में पराबैंगनी किरणों या परा उच्चतंरग धारा की खुराक दी जाती है।

पूयत्वक रोग की रोक थाम

पूयत्वक रोग से पीड़ित व्यक्तियों तथा स्वस्थ व्यक्तियों का निजी स्वास्थ्य सिद्धांत इस सपूय त्वचा रोग को बढ़ने से रोकने में निर्णायक महत्त्व का होता है। रोगी की त्वचा और पस में रोगजनक गोलाणु प्रचुर मात्रा में होते हैं। पूयत्वक रोग से पीड़ित रोगी का बिस्तरा और तौलिया अलग होना चाहिए। प्रयोग में लाने के बाद इन कपड़ों को धोने के पहले उबालना चाहिए। रोगी द्वारा प्रयुक्त सभी पट्टियों को जला देना चाहिए।

व्यक्तिगत रोग-निरोधी उपायों के साथ-साथ सामूहिक रोग निरोधी ढंग, सामान्य स्वच्छता तथा स्वच्छता के तकनीकी उपाय और इस विषय पर स्वास्थ्य शिक्षा कार्य भी करना चाहिए।

शिशु संस्थानों में पूयत्वक रोग विशेष रूप से भयानक होता है। यहाँ से रोगी शिशु को फौरन अलग कर देना चाहिए और उसे पूर्णतः स्वस्थ होने तक अन्य शिशुओं से मिलने-जुलने नहीं देना चाहिए।

चिकित्सा कर्मियों को हर कार्यस्थल पर स्वच्छता अभियान चलाना चाहिए और जहाँ आवश्यक हो, इसे प्रशासनिक और जन सहयोग मिलना चाहिए। स्वच्छता चौकियाँ स्थापित करनी चाहिए जहाँ छोटी-छोटी चोटों का उपचार करने के लिए प्राथमिक सहायता के उपकरण उपलब्ध हों। ये चौकियाँ ऐसी हों कि स्नानगृहों की स्वच्छता, सफाई कर्मचारियों के कपड़ों की सफाई और उन्हें बदलने पर भी निगाह रखें।

औद्योगिक मजदूरों, मैकेनिकों और फार्म मजदूरों के मामलों में इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन्हें कोई चोट न लगे, क्योंकि ये छोटी चोटें ही पूयत्वक रोग का मुख्य कारण होती हैं। सभी छोटी चोटों का फौरन 1-2 प्रतिशत एनीलीन रंजक से या आयोडीन से उपचार करना चाहिए। त्वचा को खनिज तेलों और रासायनिक पदार्थों के संदूषण से बचाना चाहिए। शरीर को अतिशीतन, त्वचा को आक्लेदन और

अधिक प्रस्वेदन से बचाना चाहिए।

उत्पादन संस्थानों में पैकिन विधि का सर्वत्र प्रयोग होता है। काम खत्म करने पर फव्वारे का स्नान लिया जाता है। हाथों को एमोनिया स्पिरिट घोल (2 लिटर गर्म पानी में 10 मि. ली. एमोनिया स्पिरिट) से पाँच मिनट तक साफ किया जाता है, इसके बाद त्वचा को तौलिए से पोंछा जाता है (रगड़ा नहीं जाता) और फिर वैसलीन लगाई जाती है।

शारीरिक अभ्यास, खेल कूद, खुली हवा में सैर करने से, अच्छी नींद से, विवेकशील दैनिक विधान और पथ्य से शरीर स्वस्थ रहता है। इन्हीं सामान्य बलवर्धक उपायों को बरतना चाहिए।

पूयत्वक रोग नियंत्रण के लिए स्वास्थ्य शिक्षा कार्य, सैनिटरी हाइजीन सूचना का प्रचार-प्रसार, व्याख्यान तथा वार्ताओं, स्वास्थ्य विषयों पर पुस्तकों और पोस्टरों का प्रकाशन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उपचारिकाओं को उत्पादक उद्यमों, फार्मों, स्कूल, क्लबों और शयनशालाओं में स्वास्थ्य संबंधी वार्ताएँ आयोजित करनी चाहिए। ऐसी वार्ताओं का विषय होना चाहिए : पूयत्वक रोग के कारण; स्वास्थ्य पर इसका हानिकारक प्रभाव तथा कर्मचारियों की अस्थायी अक्षमता से उत्पादन पर हानिकर प्रभाव। स्वास्थ्य जीवन के नियमों की आदत डालनी चाहिए। सभी अवस्थाओं में तत्काल चिकित्सा सहायता की आवश्यकता पर जोर देना चाहिए। चिकित्सा की सलाह के बिना उपचार करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

कवक रोग (कवकता)

त्वचा और इसके उपांगों पर परजीवी के रूप में रहने रोगजनक कवकों से कवक रोग होते हैं। कवकों से संदूषित पदार्थो और वस्त्रों के द्वारा तथा रोगी पशु और जीवों के द्वारा रोग का संक्रामण होता है। कवक रोगों के चार समूह हैं : स्वच्छ पटल कवकता, त्वचा कवकता, कैंडिड रुग्णता और गहन कवकता। अंतिम समूह (गहन कवकता) का रोग बहुत कम होता है।

चित्र 50. एरिथ्रास्मा।

स्वच्छपटल कवकता

इस समूह में तुषाभ शल्कन (टीनिया), शबल (रंगबिरंगा) और एरिथ्रैस्मा शामिल

हैं। ये रोग बहुत संक्रामक नहीं होते। ये रोग उपस्थित भागों में त्वचा की ऊपरी सतह पर विक्षति करते हैं और त्वचा पर शोथीज घटना नहीं होती है।

तुपाभ शल्कन शबल में धड़ के ऊपरी भाग में पीले और भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं। ये आयोडीन टिंचर को जल्दी सोख लेते हैं (आयोडीन टेस्ट)।

एरीथ्रेस्मा में पूरे रंग का पर्पटीकरण होता है पीले-लाल धब्बे होते हैं। ये विक्षतियाँ बहुधा उरमूल, जाँघों की उग्र सतह, छातियों के नीचे और काँखों में होती हैं (चित्र 50)। कुछ लेखकों का विचार है कि एरीथ्रेस्मा का कारण कोरीनेबैक्टीरियम है।

दोनों रोगों का दौर लंबा और चिरकारी होता है।

रोग से प्रभावित भागों को 3-5 प्रतिशत सैलीसिलिक एसिड या रिसार्सिनोल मिले हुए अल्कोहल घोल से रगड़ कर या 10-20 प्रतिशत सल्फर वाले मलहम को लगाकर रोग का उपचार किया जाता है। एरीथ्रेम्मा का प्रभावी उपचार 5 प्रतिशत एराइथ्रोमाइसीन महलम से होता है।

त्वचा कवकता

त्वचा कवकता रोग-समूह में एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता, लालकवकता, ट्राइकोफाइटॉनता, माइक्रोवीजाणुकता और फेवस शामिल होते हैं। ये त्वचा की स्वच्छ मंडलीय पर्त, बालों और नाखूनों को प्रभावित करते हैं। त्वचा और शोथज प्रक्रिया होती है।

पैरों की एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता (पैरों में दाद, तलवे के मांसल भाग में द्रदु, पंजे का द्रदु)। यह एपीडर्मोफाइटोन के कारण होता है। इसका प्रभाव अंतरा गुलियों के पुटकों, तलवों और पंजे के नाखूनों पर पड़ता है। एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता एक संक्रामक रोग है। इसका संक्रामण जन स्नान गृह, फव्वारागृह, तैरने के तालाबों से होता है, जहाँ फंगस से संक्रमित शल्क रोगियों के पैरों में से निकलकर गिर जाते हैं तथा चटाई और कालीन पर बैठ जाते हैं या खड़े पानी में रह जाते हैं। इनकी संक्रामकता काफी समय तक रहती है। घर में रहने वाले व्यक्तियों में भी संक्रामण हो सकता है (यदि वे रोगी व्यक्तियों के जूते, बिस्तर, मोजे आदि प्रयोग करते हैं)। पैरों में अत्यधिक प्रस्वेदन, चपटे पैर, व्रण, त्वगवलिशोथ और ठीक न बैठने वाले जूते से भी यह संक्रामण हो जाता है।

पैरों की एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता लंबे समय वाला रोग है जिसका वसंत और ग्रीष्म ऋतु में प्रकोपन होता है (ज्यादा प्रस्वेदन के कारण)। इस रोग के कई नैदानिक रूप पहचाने गए हैं।

स्क्वेमीय रूप में प्लेट की तरह की पर्पटी पैरों के चाप में हो जाती है, जिनमें हल्की खुजली होती है। इसका निदान तभी हो सकता है जब प्रयोगशाला में सूक्ष्मदर्शी में कवक दिखलाई दे। त्वग्वलिशोथीय रूप में पंजे की चौथी और पाँचवीं उँगली के बीच या चौथी और तीसरी उँगली के बीच शतक हो जाते हैं, वे चटख जाती हैं

या उनमें नमी रहती है जिससे बाह्य त्वचा में उपरिस्थ विस्फोट होता है जिसके चारों और सफेदी जम जाती है। रोगी तीव्र खुजली और जलन की शिकायत करता है। दुःस्वेदलता रूप में पैरों के चाप में सरल गहरी पुटिकाएँ बाजरे या मटर के आकार की हो जाती हैं। ये मिलकर खुल जाती है और विस्फोट का रूप ले लेती हैं जिसके परिसर को सफेदी मसूणित बाह्य त्वचा घेरे रहती हैं (चित्र 51)।
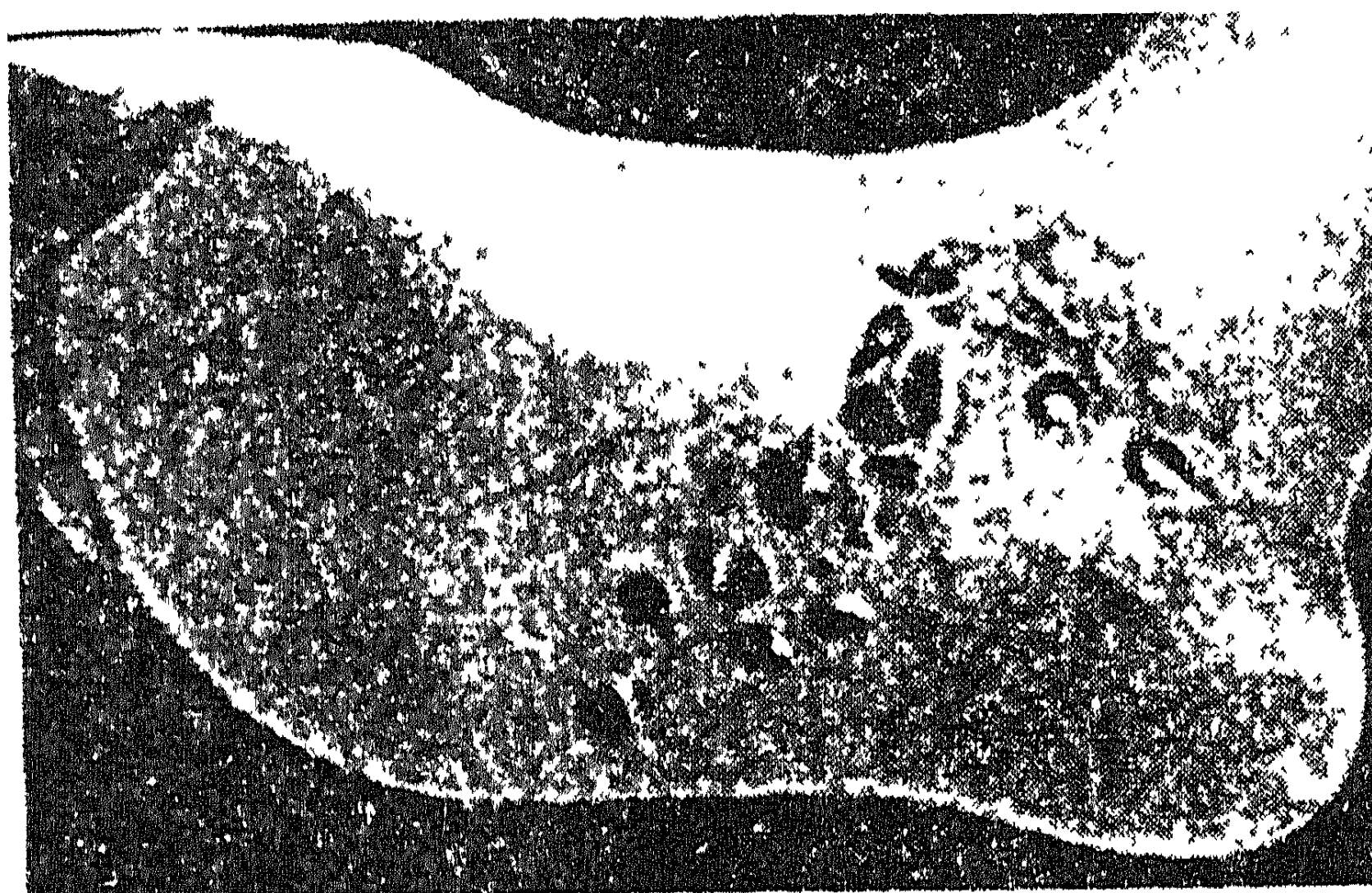
चित्र 51. दुःस्वेदल एपीडरमोफाइटान रुग्णता।

नाखून (पंजे के अँगूठे और धँगुनी) गहने पीले, मोटे होते हैं और जल्दी जीर्ण हो जाते हैं। एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता का पता बहुधा हाथों, पैरों और धड़ पर शल्क, धब्बे, पुटिका और पर्विका के रूप में प्रकट होने वाले एलर्जी विस्फोट से चलता है। इन सबको एपीडर्मोफाइटिड कहते हैं। सहगामी द्वितीयक संक्रमण के परिणामस्वरूप द्वितीयक पूर्वत्वक रोग, विसर्प और लसीका वाहिनी शोथ हो सकता है।

उपचार : एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता के इंटर ट्राइगोनस और उपस्वेदन रूपों में सामान्य अल्पसुग्राहीकरण उपचार दिया जाता है। पैरों का पोटैशियम परमैंग्नेट वाला उष्ण स्नान लेने की सलाह दी जाती है। स्नान के बाद पुटिकाओं को कैंची से काट दिया जाता है और फिर रिवानोल (एथोडिन) या रिसोर्सिनोल घोल लगाया जाता है। जब रोग की तीव्रता घटती है तो मलहम (उंडेसिन, जिन्कुन्डेन, डाइमेजोल) लगाया जाता है। इसमें नाइट्रोफन्जिन प्रभावकारी होता है।

वेरेझनोई घोल को पट्टकी के रूप में लगाते हैं। इस घोल में 2 ग्रा. शुद्ध आयोडीन, 2 ग्रा. सोडियम आयोडाइड, 20 मि. ली. ग्लीसरीन होती है। इसमें 20 प्रतिशत या 40 प्रतिशत ऐसेटिक एसिड घोल को मिलाकर 100 मि.ली. घोल बना लेते हैं। रोगी भाग पर इस घोल का लेप 15-20 दिन तक किया जाता है। इसके बाद के महीने में इन भागों पर 2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का निरोधक उपाय के

रूप में लेप किया जाता है।

रोगी के जूतों को विसंक्रमित किया जाता है। जूते के अंदर की सतह को 10 प्रतिशत फारमलडिहाइड से धोया जाता है और इन्हें मोटे कागज में लपेटकर एक या दो दिन तक रखते हैं, फिर उनमें 12-24 घंटे तक हवा लगाई जाती है।

रोग को रोकने के लिए पैरों को हमेशा साफ रखना चाहिए। पैरों के अत्यधिक प्रस्वेदन का और चपटे पैर का उपचार करना चाहिए। इंटरट्राइगो और व्रणों से बचना चाहिए। व्यक्तिगत स्वास्थ्य सिद्धांतों का पालन करना चाहिए (अलग बिस्तर, अपने-अपने अलग जूते, मोजे आदि रखने चाहिए) तथा जन स्नानगृह, फव्वारों और स्विमिंग पूल में स्नान के वक्त विशेष जूते पहनने चाहिए। एपीडर्मोफाइटोन रुग्णता का सामान्य रोग-निरोग जन स्नानगृह, फव्वारों के कमरों और स्वीमिंग पूलों में किया जाता है (चटाइयों, कालीनों का विसंक्रामण किया जाता है)। स्वास्थ्य शिक्षा का कार्य चलाया जाता है।

रुब्रोमाइकोसिस अभी हाल में एक अलग रोग के रूप में पहचाना गया है। इनमें केवल पैरों की त्वचा ही नहीं, बल्कि हाथों की त्वचा भी प्रभावित होती है। त्वचा की सतह का कोई भी भाग रोगग्रस्त हो सकता है (चित्र 52) (सामान्य रूप
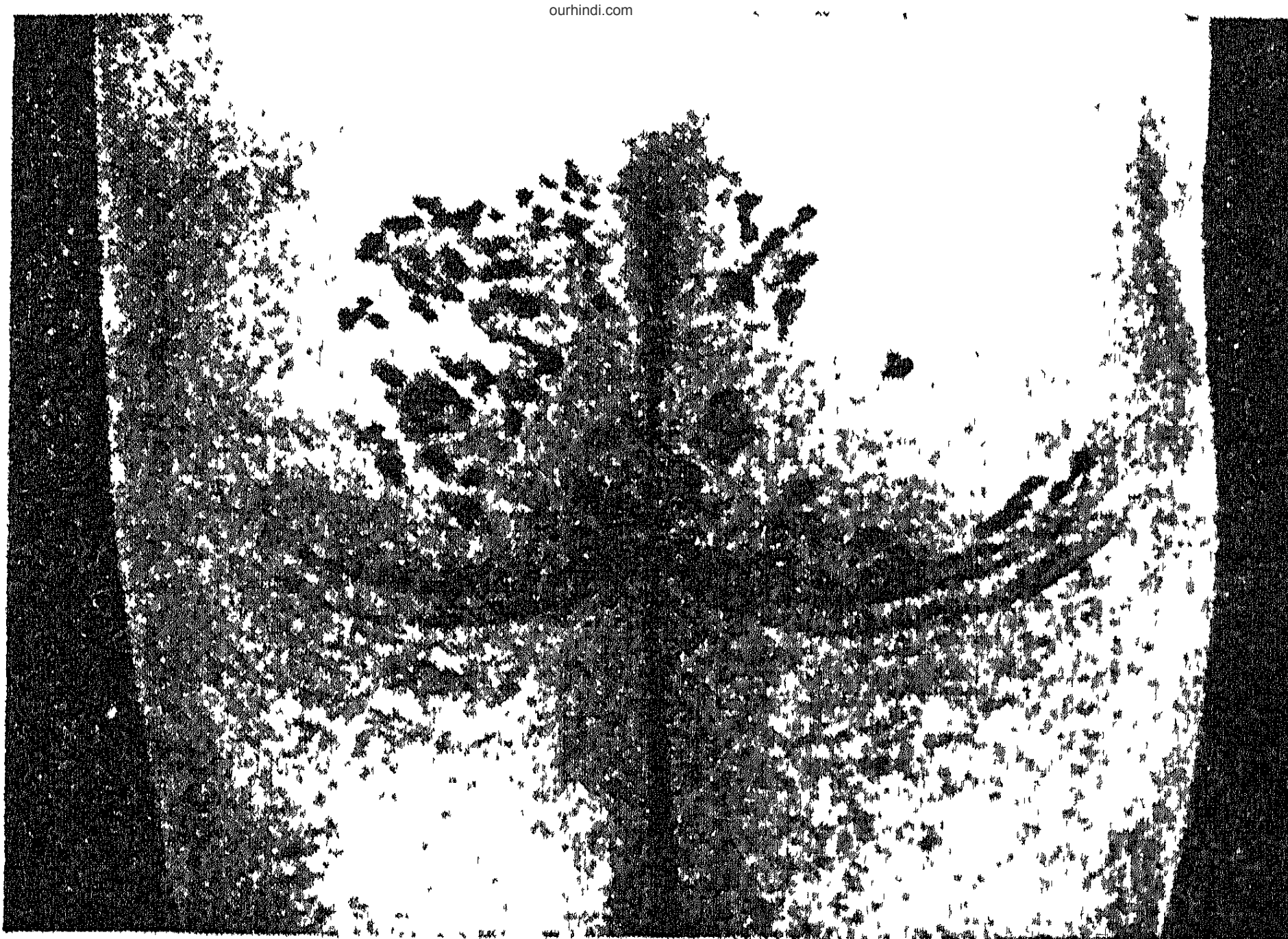
चित्र 52. नितंबों की लालकेंद्रक रुग्णता (रुब्रोमाइकोसिस)।

से यह बहुधा अंतःस्रावी विकारों वाले रोगियों को होता है)। हाथ-पैर के सभी नाखून भी रोगग्रस्त हो सकते हैं। हथेलियों और तलवों की शृंगी सतह मोटी होकर गुलाबी हो जाती है। त्वचा की खातिकाएँ गहरी हो जाती हैं और उनमें आँटे की तरह महीन शल्क भर जाते हैं। नाखून पीले पड़ जाते हैं, उनकी चमक खत्म हो जाती है तथा

ये मोटे होकर भंगुर हो जाते हैं।

उपचार में खाने को ग्राइसेफल्विन सारणी के अनुसार दिया जाता है और स्थल-विशल्कन तथा निःसंक्रामक मलहम (जिनमें सैलीसीलिक और लैक्टिक एसिड तथा रिसोर्सिनोल का अधिक प्रतिशत होता है) लगाए जाते हैं। नाखूनों के उपचार का वर्णन "डेरमाटोमाइकोसिस के रोगियों के उपचार" के खंड में किया गया है।

ट्राइकोफाइटानता, माइक्रोस्पोरोसिस, फैवस

इस समूह के कवक त्वचा की शृंगी परत, नाखूनों और बालों को प्रभावित करते हैं (दूसरे समूहों के कवकों के बीच इनकी पहचान बालों पर इनके रोगकारी प्रभाव से होती हैं)। त्वचा पर सदैव ही शोथज प्रक्रिया होती है। यह शोथ बहुत तीव्र होता है, यदि इस कवक का मुख्य परितोषी कोई जानवर होता है। यदि यह कवक मनुष्य या उसके उपांगों पर रहने वाला परजीवी है तो शोथ कम होता है। ट्राइकोफाइटानता के कई रूप हैं : उपरिस्थ, चिरकारी (इन रूपों के कारण कवक मनुष्य पर ही रहने वाले परजीवी होते हैं) और जूफिलिक या गहन (ये कवक जानवरों की त्वचा पर रहने वाले परजीवी होते हैं। ऐसे जानवर अधिकतर गाएँ और बछड़े होते हैं तथा ये घोड़े, चूहे, मूषक की त्वचा पर कम होते हैं तथा कृंतक प्राणियों पर ये परजीवी बहुत ही कम होते हैं)। कभी-कभी ये परजीवी मनुष्य की त्वचा पर भी होते हैं। माइक्रोस्पोरोसिस बिल्ली के बच्चों की त्वचा पर और कभी-कभी मुनष्य और कुत्तों की त्वचा पर पाये जाने वाले माइक्रोस्पोरूम, लोनोसम द्वारा होता है, तथा केवल मनुष्य की त्वचा में पाये जाने वाले पारजीवी एम. फेरुजीनियम से भी होता है। फैवस का प्रभाव मनुष्यों और कुछ जानवरों और चिड़ियों पर होता है।

महामारी विज्ञान : डेरमेटोमायकोसिस में, जिनमें त्वचा और इसके उपांगों में रोगजनक कवक (एम. फेरुजिनियन और फैवस के द्वारा होनेवाले उपरिस्थ और चिरकारी ट्राइकोफाइटोसिस, माइक्रोस्पोरोसिस) पाए जाते हैं। दूषण या तो रोगी व्यक्ति से सीधे संपर्क होने पर या आम प्रयोग में आने वाली वस्तुओं द्वारा या ऐसे घरेलू सामान (कंघी, टोपी, रूमाल, कपड़े, चादरें, रेजर आदि) के द्वारा होता है जो रोगी के संक्रामित बालों या शल्कों और पपड़ियों के द्वारा संदूषित होता है, जिनमें कवकजालिक तंतु और कवक के बीजाणु होते हैं। उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता का संक्रमण विशेषकर परिवार के रोग से पीड़ित लोगों के संपर्क में आने से होता है। फैवस रोगी व्यक्तियों के ऐसे परिवार के अन्य स्वस्थ सदस्यों के दीर्घकालिक संपर्क से फैलता है, जिन परिवारों में स्वच्छता और हाइजीन के प्रति लापरवाही बरती जाती है।

डरमेटोमाइकोसिस में रोग पैदा करने वाले कवक मनुष्य या जानवरों की त्वचा पर परजीवी होते हैं (एम. लैनोसम के द्वारा होने वाली जूफिलिक या गहन ट्राइकोफाइटानता और माइक्रोस्पोरोसिस)। इनमें संदूषण रोगी जानवरों (बछड़ों, बिल्लयों इत्यादि) से

या तो सीधे संपर्क से आता है या यह ऐसे पदार्थो के माध्यम से होता है जिन पर जानवरों के विसंक्रामित बाल और शल्क रह जाते हैं। यह संदूषण रोगी व्यक्तियों से सीधे संपर्क या नित्य प्रयोग में आने वाले पदार्थो के द्वारा होता है। कोई भी व्यक्ति परजीवी लोम कूपशोथ के संक्रांत हो सकता है, यदि वह ऐसे हजाम के यहाँ हजामत वनवाए जिसके यहाँ स्वच्छता के नियमों का ठीक तरह से पालन न होता है।

उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता ट्राइकोफाइटोन एंडोथ्रिक्स कवकों से होता है। इनका यह नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि इनके बीजाणु और कवक जालिक तंतु बालों में पाए जाते हैं। इसका सही पता बालों की सूक्ष्मदर्शी से जाँच करने से लगता है (चित्र 53)। ये बीजाणु बड़े होते है। और लंवाईवत् कड़ी में स्थित होते हैं। उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता का रोग स्कूल या स्कूल-पूर्व उम्र के बच्चों को होता है। पर कभी-कभी बहुत ही कम उम्र के बच्चों को भी यह रोग हो जाता है। किशारावस्था (16-17 वर्ष) व वयस्कावस्था में यह रोग सिर्फ अपवाद हो सकता है। रोग का विकास स्थान छोटा, गोल या अंडाकार होता है। इसका रंग गुलाबी होता है तथा शल्क रोग सदृश शल्कों से घिरा रहता है और शिरोवल्क बनाता है। रोग स्थान पर बाल खराब हो जाते हैं। ऐसे रोगी के बाल त्वचा से 1-3 मि. मी. से बड़े होते ही टूट जाते हैं। इसका चित्र कीड़ों द्वारा खाए गए फर के समान होता (चित्र 54)। यह रोग काफी समय तक बना रहता है। यदि कोई उपचार न किया जाय तो लैंगिक परिपक्वता होने पर रोग पुनः हो जाता है तथा यह चिरकारी ट्राइकोफाइटानता होती है। चिकनी त्वचा या तो अकेली प्रभावित होती है या शिरोवल्क के साथ। त्वचा
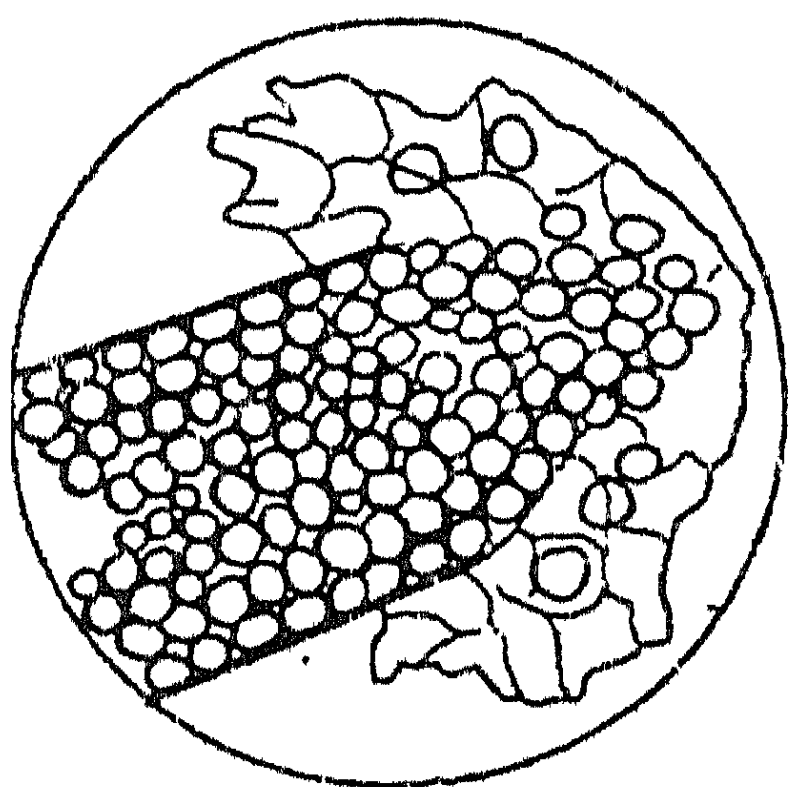
चित्र 53. ट्राइकोफाइटान एंडोथ्रिक्स (आरेख)।

चित्र 54. सिर की उपरिस्थ ट्राइकोफाइटान रुग्णता (दद्रु)।

पर गुलावी, लाल और सीमांकन किए हुए धब्बे दिखते हैं। धब्बों का केंद्र घेरा डाल लेता है तथा शल्क रोग सदृश शल्कों से ढक जाता है। रोगी स्थान के चारों ओर के परिसर में अतिरक्तता का घेरा बन जाता है जिसमें पिन के आकार की पुटिकाएँ होती हैं और पपड़ी जम जाती है। ये धब्बे बड़े हो जाते हैं और मिलकर बड़ा विकार स्थान बनाते हैं, जिसके किनारे शल्की होते हैं। शरीर के खुले भाग पर अधिक असर होता है। 2 प्रतिशत बच्चों के नाखून इस रोग से प्रभथावित होते हैं। ये खुरदुरे, गंदे भूरे रंग के हो जाते हैं और आसानी से जीर्ण होकर टूट जाते हैं।

चिरकारी ट्राइकोफाइटानता विशेषकर महिलाओं को होती है। इस रोग के कारण वही हैं जो ट्राइकोफाइटानता के होते हैं। तंत्रिका तंत्र और अंतःस्रावी ग्रंथियों के रोग, मासिक धर्म के विकार इत्यादि होने से उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता चिरकारी रोग का रूप ले लेती है। खल्वाटता के छोटे विकार स्थान के साथ शल्क रोग सदृश शल्क, काले चिह्न (रोगी बालों के चिकनी त्वचा के स्तर पर पहुँच कर टूट जाने से) और छोटे शोथीय व्रण चिह्न सिर के पिछले भाग और कनपटियों पर पड़ जाते हैं। चिकनी त्वचा पर संतुलित विकार स्थान रक्ताधिक्य श्याव रंग के होते हैं। इनकी बाहरी रेखाएँ अस्पष्टत होती हैं तथा त्वचा पर हल्का सा विशल्कन होता है (यह अधिकतर नितंबों और जाँघों की त्वचा पर होता है)। 20 प्रतिशत रोगियों के कुछ या सभी नाखून रोगी हो जाते हैं।

पशुरतिक या अंतःसंचरण-सपूय या गहन ट्राइकोफाइटानता रोग के इस रूप को पहले गहन-सपूय ट्राइकोफाइटानता कहते थे। परंतु हाल में पता लगा है कि इस प्रकार के रोग से पीड़ित रोगी (लगभग एक तिहाई रोगियों) में रोग का विकार स्थान उपरिस्थ और अंतःसंचरित (लगभग एक तिहाई रोगियों में) है; तबसे इसे पशु रतिज ट्राइकोफाइटानता या अंतःसंचरण सपूय के नाम से बहुधा जाना जाता है, यानी दूसरे शब्दों में, यह कवक द्वारा हुई ट्राइकोफाइटानता है जो अधिकतर त्वचा की परजीवी हैं। पशुरतिज ट्राइकोफाइटानना टी. एक्टोथ्रिक्सकवक द्वारा होती है (ग्रीक शब्द एक्टोस (बाहर), थ्रिक्स (बल)), अर्थात् ऐसे कवक के द्वारा होती है जिसके बीजाणु और कवक जालिक तंतु मुख्य रूप से बालों की ऊपरी सतह पर होते हैं। बड़े बीजाणु टी. एकोथ्रिक्स, जो कि गाय, बछड़े और घोड़ों के परजीवी हैं; तथा छोटे बीजाणु जो चूहे ओर मूषकों के परजीवी हैं, में भेद किया जाता है। छोटे बीजाणुओं से भी संक्रामित होना संभव है, जो ऐसे गाय, घोड़ों और भेंडों तथा अन्य पशुओं पर होते हैं, जो छोटे बीजाणुओं, ट्राइखोफाइटान से संदूषित हों। यह संदूषक कृंतक प्राणियों के बालों से इन पशुओं में होता है। ये बीजाणु बालों के बाहर लंबाईवत (अनुतीरी) कड़ी में होते हैं।

रोग के पृथक-पृथक विकार स्थान शिरोवल्क पर बनते हैं। ये बहुत बड़े अति रक्तित अंतःसंचरित होते हैं तथा बहुत बड़ी संख्या में सपूय रसदार पपड़ियों से ढके

होते हैं (चित्र 55)। जब पपड़ियों को हटाया जाता है तो यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक पृथक पुटक (पुटक विद्रधि) से पस किस प्रकार निकलता है। ऐसा लगता है कि यह पस छत्ते में से मधु की तरह निकल रहा है। इसलिए इस विकार-स्थान को कभी-कभी केरियोन (ग्रीक केरियोन-मधुमक्खी का छत्ता) कहते हैं। यह रोग तीव्र रूप लेता है, जिससे शरीर का ताप बढ़ जाता है, सिर दर्द होता है तथा विकार-स्थान पर जलन और पीड़ा होती है, तथा सबसे निकट की लसीका पर्व बड़ी

चित्र 55. सिर की गहरी ट्राइकोफाइटान रुग्णता।
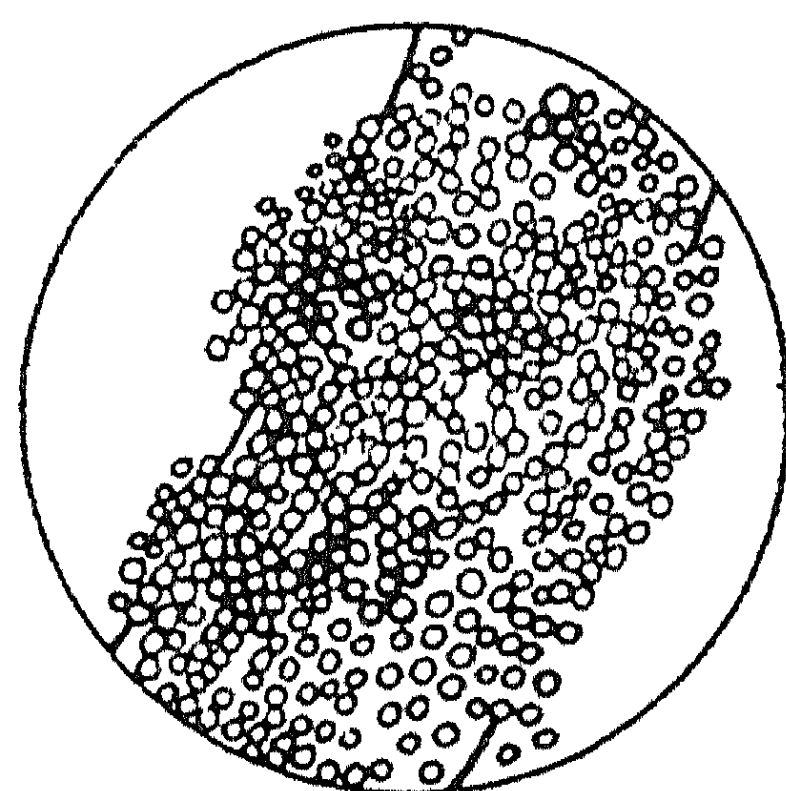
चित्र 56. माइक्रोस्पोरम (आरेख)।

हो जाती है। जैसा कि ऊपर बताया गया कि जूफिलिक ट्राइकोफाइटान के विकार केंद्र में तीव्र शोथ नहीं होता है, बल्कि विकार स्थान में सपूय पपड़ी के बिना छोटा अतःसंचरण होता है। बालों में कवक की स्थिति के अनुसार निदान किया जाता है। गले और चेहरे के दाढ़ी वाले भाग में पशुरतिक ट्राइकोफाइटानता को परजीवी लोमकूपशोथ कहते हैं, जो परजीवीहीन लोमकूपशोथ (स्टैफाइलोकोकल) से भिन्न होता है। उपचार न करने पर रोग कुछ महीनों में खत्म हो जाता है तथा व्रण चिह्न रह जाते हैं और पूर्ण या आंशिक खल्वाटता हो जाती है।

चिकनी त्वचा के खुले भागों में रोग के पृथक-पृथक विकार स्थान होते हैं। इनका नैदानिक चित्र शिरोवल्क में होनेवाले विकार स्थानों से भिन्न नहीं होता।

माइक्रोस्पोरोसिस माइक्रोस्पोरस कवक से होता है। इसके छोटे बीजाणु अनियमित रूप से स्थित होते हैं, जिससे बालों के बाहरी भाग की शृंखला नहीं बनती है, जैसे कि यह आवरण हो (चित्र 56)।

एम. लैनोसम बिल्ली और बिल्ली के बच्चों की त्वचा पर पाए जाने वाले परजीवी होते हैं। यह कुत्तों में कम होता है। एम. फेरुजीनियम ऐसा परजीवी होता है जो कि केवल मनुष्य की त्वचा पर पाया जाता है।

एम. लैनोसम से होने वाला माइक्रोस्पोरोसिस अधिकतर 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को प्रभावित करता है। शिरोवल्क पर एक (विरले ही ज्यादा) बड़ा विकार स्थान बनता है, जो गोल या अंडाकार होता है, जिसकी परिरेखाएँ स्पष्ट होती हैं (चित्र 57) और यह शल्क रोग सदृश शल्कों से ढका रहता है। इसकी विशेषता यह है कि विकार-स्थान के सारे बाल रोगग्रस्त हो जाते हैं। ये त्वचा की सतह से 5 से 8 मि. मी. की दूरी पर टूट जाते हैं तथा मूलाधार पर सफेद आवरण दिखाई देता है। ये रोग गोलाणु होते हैं जो बाल को कलाइबंद की तरह घेर लेते हैं।

चित्र 57. सेल की माइक्रोस्पोरम रुग्णता।

एम. फेरुजिनियम केवल मनुष्यों को ही रोगग्रस्त करते है। यह रोग बहुत ही संक्रामक होता है। इसका प्रकोप सामूहिक रूप से बच्चों पर होता है। विकार-स्थान से विशल्कन विभिन्न आकर-प्रकार का होता है। यह विशल्कन एक-दूसरे से मिलकर शिरोवल्क बनाता है। इस विकार केंद्र की सीमाएँ अस्पष्ट होती हैं। यह विकार-स्थान बहुधा शिरोबल्क को ढक लेता है (वलय के अंदर वलय, चाप और मालाएँ)। विकास स्थान के बाल बड़े (त्वचा की सतह से 5 से 8 मि. मी. ऊँचे) होकर गिर जाते हैं।

चिकनी त्वचा की माइक्रोस्पोरोसिस बहुधा चिकनी त्वचा की उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता से मिलती-जुलती है। लेकिन एम. लैनोसम के संक्रामण में विकार स्थान की संख्या कई दर्जन तक होती है, जबकि एम. फेरुजीनियम से होने वाले रोग में अपरूप आकृतियाँ (वलय के अंदर वलय) बनती हैं।

माइक्रोस्पोरम समूह के कवक से प्रभावित बालों का डार्क रूम में मरकरी क्वार्ट्ज लैंप से किरणन करने पर हरा प्रतिदीप्त प्रकाश उत्सर्जित होता है, यदि लैंप में माइक्रोस्पोरोसिस के निदान हेतु संदीप्तिशील फिल्टर लगाया गया हो।

फैवस का रोग एखोरियन शोएनलिनी (ट्राइकोफाइटोन शोएनलिनी) से होता है। यह मनुष्य और उसके उपांगों की त्वचा पर परजीवित होता है और यह बालों के अंदर (एंडोथ्रिक्स) में पाया जाता है। बालों में कवक जालिक तंतु और गोला-

चित्र 58. ट्राइकोफाइटान शोएनलिनी (आरेख)।
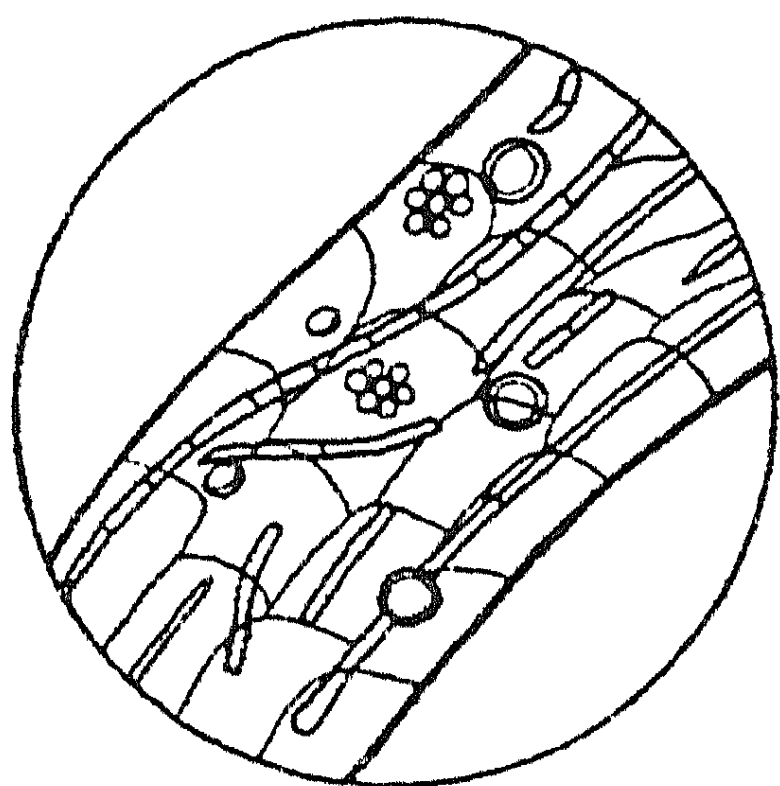
चित्र 59. शिरोवल्क का फैवस।

णुओं (चित्र 58) के विभिन्न आकार-प्रकार से इसको पहचाना जाता है।

माइक्रोस्पोरोसिस या ट्राइकोफाइटानता की अपेक्षा फैवस कम संक्रामक होता है। मनुष्य बचपन में ही फैवस से संक्रामित हो जाता है, पर यह रोग जीवनपर्यत बना रह सकता है।

शिरोवल्क और चिकनी त्वचा पर रामरज कप की शक्ल की पपड़ी बन जाती है। बाल स्कुटुलम (चषकी पीतपर्पटी) के केंद्र से होकर गुजरता है। स्कुटुलम जब जीर्ण होकर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है, तो स्थायी शोथ का क्षेत्र छोड़ जाता है (यहाँ पर नए बाल नहीं उगते हैं)। रोगी बाल टूटते नहीं, पर रूखे और भूरे हो जाते हैं, जैसे धूल मिट्टी से ढक गए हों, और विग (बालों की टोपी) जैसे लगते हैं। यदि संपूर्ण शिरोवल्क प्रभावित हो, तो परिसर में स्वस्थ बालों की पट्टी फिर भी बच जाती है (चित्र 59)। रोगियों से चूहे जैसी या मुसौरी जैसी गंध आती है। प्रभावित नाखूनों का रंग गंदा-पीला होता है। ये मोटे, खुरदरे और भंगुर होते हैं।

त्वचा-कवकता का प्रयोगशालिक निदान

प्रयोगशाला कार्य में विशेष रूप से प्रशिक्षित चिकित्सकों और उनके सहायक द्वारा रोगजनक कवक द्रव्य का सूक्ष्मदर्शी और संवर्धक निदान किया जाता है।

प्रयोगशाला अध्ययन (विशेष रूप से सूक्ष्मदर्शी निदान) के लिए विकृतिजन्य कवक द्रव्य बहुधा उपचारिकाओं को जमा करना पड़ता है। प्रयोगशाला परीक्षण के परिणाम काफी हद तक नमूने के दृव्य के सही ढंग पर एकत्रित करने पर निर्भर करते हैं तथा इस बात पर भी निर्भर करते हैं कि साथ का फार्म सही ढंग से भरा गया है।

उपचारिकाओं को यह मालूम होना चाहिए कि इस या उस प्रकार की कवकता में कौन सा द्रव्य इकट्ठा करना है। प्रतिदर्श (नमूने) को कवक विज्ञानी प्रयोगशाला में उसी प्रकार भेजा जाता है, जैसे नमूने किसी अन्य प्रयोगशाला में जाँच के लिए फार्म के साथ भेजे जाते हैं। इस फार्म में रोगी का नाम, उसके रोगी वृत की संख्या (वार्ड और विभाग), दृव्य का नाम प्रयोगशाला अध्ययन का प्रयोजन और संभावित निदान लिखना चाहिए।

शिरोवल्क के उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता में छोटे टूटे हुए बाल (आधी चूल) को सूक्ष्मदर्शीय अध्ययन के लिए लिया जाता है। यदि चूलें शल्कों के नीचे ढकी हुई हों, तो शल्क को रोमलुंचक चिमटी द्वारा झटके से निकाल लेना चाहिए। फिर रोगी चूल (टूटा हुआ बाल) शल्क के दूसरी ओर या शिरोवल्क में मिल जाएगा।

शिरोवल्क की चिरकारी ट्राइकोफाइटानता में चिकनी त्वचा के स्तर के टूटे हुए बाल (काले चिह्न) जाँच लिए लेते हैं। यह कोई मामूली काम नहीं है। काले चिह्न को सुई के द्वारा या बाल के तले को दबा कर निकालना आवश्यक है। जब बाल रोम कूप के बाहर कुछ मि.मी. ऊपर दिखने लगता है तो इसे रोमलुंचक चिमटी से पकट कर पुटक से बाहर खींच लेते हैं और जाँच के लिए भेज देते हैं।

यदि शिरोवल्क में पशुरति अंतःसंचारित सपूय वाली ट्राइकोफाइटानता होने का अंदेशा हो तो जाँच के लिए बाल को विकार-स्थान की बाह्य सतह से लेना चाहिए, क्योंकि विकार-स्थान के केंद्र में पस कवक का लयन कर सकता है।

शिरोवल्क की माइक्रोस्पोरोसिस में त्वचा से (5-8 मि. मी.) ऊपर के टूटे हुए वाल परीक्षण के हेतु लिए जाते हैं। इन बालों की तली पर बहुधा छोटा सफेद आवरण होता हैं ये रोगी बालों के आसपास के कवक के बीजाणु हैं जो कि कलाईबंद के रूप में स्थित होते हैं।

शिरोवल्क के फैवस के परीक्षण के लिए टूटे हुए बाल नहीं लेते, बल्कि तेजी से बदलते हुए (रूखे, भूरे, जैसे कि उनमें धूल भरी हो और जिनकी प्राकृतिक चमक खत्म हो गई हो; जैसे पुराने सन जैसे) बालों को लिया जाता है।

यदि यह प्रक्रिया चिकनी त्वचा तक ही सीमित हो, तो कवक जाँच के लिए नमूना विकृत स्थान की बाह्य सतह से खरोंच कर निकाला जाता है। कभी-कभी इस क्षेत्र पर नमूना लेने के एक या दो दिन पहले चिपकने वाली पट्टी चिपका देते हैं।

यदि नाखून रोगी हों तो नख प्लेट की ऊपरी पर्तों में से छुरी से खरोंच कर जाँच के लिए नमूना लिया जाता है। (ट्राइकोफाइटानता और ईस्ट रोगें में), नख के दूसरे रोगों में नमूना बीच के भाग से लेते हैं। इसके लिए ड्रिलिंग मशीन का इस्तेमाल किया जा सकता है। यदि नख का स्वतंत्र किनारा रोगी हो तो इसे कैंची से काट कर नमूना लेते हैं।

त्वचा कवकता से पीड़ित रोगियों का उपचार

विकार स्थान, शोथ की गंभीरता और रोगी की आयु को ध्यान में रखते हुए योजना के अनुसार त्वचा कवकता का उपचार किया जाता है।

यदि शिरोवल्क रोगी हो, तो ग्राइसो फल्विन का प्रयोग किया जाता है। यह कवक रोधी प्रतिजीवी 0.125 ग्रा. की टिकियों में बनाया जाता है। इसे 21-22 मि. ग्रा. 1 प्रति कि. ग्रा. की दैनिक खुराक में दिया जाता है। दैनिक खुराक को तीन भागों में बाँटा जाता है। प्रत्येक खुराक को भोजन के बीच में एक चम्मच वनस्पति तेल या कोडलिवर आयल के साथ लेते है। उपचार के दौरान बालों की हफ्ते में एक बार हजामत की जाती है, क्योंकि प्रतिजीवी त्वचा से 2-3 मि. मी. की दूरी पर बालों में जम जाते हैं। बाह्य उपचार भी साथ ही साथ किया जाता है। त्वचा पर सुबह 2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का लेप किया जाता है और शाम को गंधक-टार (10 प्रतिशत गंधक और 3 प्रतिशत टार) मलहम को चुपड़ दिया जाता है या फिर बालों को प्रतिदिन सुबह साबुन से धोकर ब्रश किया जाता है और ग्राइसोफल्विन रोज ली जाती है, जब तक कि कवक के लिए पहली दो जाँचें नकारात्मक न हों। इसके बाद एक दिन छोड़कर दो सप्ताह तक ग्राइसोफल्विन दी जाती है और तत्पश्चात अगले दो सप्ताहों तक इसे हफ्ते में दो बार दिया जाता है। यदि ग्राइसोफल्विन चिकित्सा प्रतिष्टि हो (रक्त, गुर्दे या जिगर की बीमारी में तथा पोर्फिरीनता में) तो बालों को पहले 4 प्रतिशत एपिलीन (रोमलुंचक) प्लास्टर से हटाया जाता है, फिर सिर को मुंड कर विक्षति के विकार स्थानों पर प्लास्टर की पतली सी परत लगा दी जाती है। प्लास्टर 15 से 18 दिन में एक बार लगाया जाता है। छह साल तक के बच्चों का प्लास्टर उतारा नहीं जाता है। इस अग्र से बड़े बच्चों और युवकों में प्लास्टर आठ से दस दिन के अंतर पर दो बार उतारा जाता है। प्लास्टर की मात्रा रोगी के भार के अनुसार होती है।

बच्चों को एपीलीन से उपचार केवल अंतरंग रोगी के रूप में किया जाता है।

रोगी के शरीर के भार के अनुसार एपिलीन प्लास्टर की खुराक

रोगी के शरीर का भार (किलोग्राम में)	एपिलीन प्लास्टर की मात्रा (ग्राम में)
10-11	2.0-2.5
12-13	3.0-3.5
14-15	3.5-4.0
16-17	4.0
18	4.5
19-25	5.0
26-30	5.5
31-35	6.0
36-40	7.0-8.0

औसतन 20 दिन में सारे बाल झड़ जाते हैं। बालों के उगने तक शिरोवल्क पर 2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का लेप सुबह किया जाता है और शाम को त्वचा पर 10 प्रतिशत सल्फर में 2-3 प्रतिशत सैलीसिलिक मलहम या 10-15 प्रतिशत सल्फर को 3-5 प्रतिशत टार के मलहम के साथ रगड़ा जाता है। बहुत सी दशाओं में एरियेविच विशल्कन की विधि का प्रयोग बालों के गिर जाने के बाद या रोमलुंचक चिमटी से बाल हटाने के बाद किया जाता है। शिरोवल्क को 12 प्रतिशत सैलीसिलिक और 6 प्रतिशत लैक्टिक (या 3 प्रतिशत बेंजोइक) एसिड के मलहम की मोटी पर्त से ढक दिया जाता है। छः वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए इस मलहम की सांद्रता घटा कर आधी कर दी जाती है। सिर को फिर मोमिया कागज से ढक कर रुई लगाकर दो दिन के लिए पट्टी से बाँध देते हैं। इसके बाद 24 घंटे के लिए वैसी ही पट्टी 3 प्रतिशत सैलिसिलिक वैसलीन के साथ लगाते हैं। इसके बाद ढीली हुई श्रृंगी पर्त को कैंची के फल से उखाड़ देते हैं और बाकी बचे हुए बालों को और उनकी चूल को चिमटी से हटा दिया जाता है। जब कभी आवश्यक हो तो विशल्कन को दस दिन के अंतर पर एक या दो बार फिर किया जाता है। इस बीच शिर को रोज धोकर 2-3 प्रतिशत आयोडीन टिंचर प्रतिदिन सुबह लगाया जाता है और विल्किंसन मलहम रोज शाम को मला जाता है।

जब ग्राइसोफल्विन और एपीलीन प्लास्टर उपलब्ध न हों तो शिरोवल्क के रोगी भाग का उपचार चार क्षेत्र पद्धति के अनुसार एक्सरे रोमलुंचन के आंशिक खुराकों द्वारा दिया जाता है। किरणन के ग्यारह-बारह दिन के बाद से सिर को प्रतिदिन उष्ण

जल या साबुन से धोया जाता है। अठारवें दिन के बालों की बची हुई सारी चूलों को रोमलुंचक चिमटी से निकाल दिया जाता है। हाथ से रोमलुंचक करने में बालों को उनके उगने की दिशा में उखाड़ा जाता है जिससे कि वे टूटे नहीं। रोमलुंचन तीन से पाँच दिन में पूरा हो जाना चाहिए। इसके बाद उपचार की विधि वही है जो एपिलीन प्लास्टर के द्वारा बाल निकालने के बाद की जाती है।

चिकनी त्वचा की स्थानिक विक्षति पर 2-3 प्रतिशत आयोडीन टिंचर का लेप सवेरे किया जाता है और 10 प्रतिशत गंधक-टार या विल्किन्सन मलहम शाम को मला जाता है। यह उपचार सात से दस दिन तक किया जाता है। त्वचा पर बहु-विकार स्थान होने पर या मुड़े हुए बाल होने पर ग्राइसोफल्विन दी जाती है।

यदि नाखून प्रभावित हों, तो केराटोलाइटिक 50 प्रतिशत प्लास्टर (20 प्रतिशत यूरियाप्लास्टर*, 10 प्रतिशत ट्राइक्लोरऐसेटिक, 50 प्रतिशत सैलेसिलिक) पहले लगाया जाता है। नख प्लेटों के मुलायम हो जाने पर इन्हें निकाल दिया जाता है तथा नख शय्या नखाधार को कवक नाशक प्लास्टर (5 % फेनाल, 5% बेटानैप्थोल, 5% थामोल, 20% पाइरोगैलिक) से 48 घंटे के लिए ढक देते हैं। और ग्राइसोफल्विक प्रति मुँह देते रहते हैं (पहले दो हफ्ते तथा रोज और अगले आठ सप्ताह पर हफ्ते में दो बार)। नख प्लेटों को शल्य चिकित्सा द्वारा भी निकाला जा सकता है।

चिकनी त्वचा और शिरोव्लक के पशुरतिक या अंतःसंचरण सपूय ट्राइकोफाइटानता का उपचार अलग ढंग से किया जाता है। एक्सरे किरणन, एपीलीन प्लास्टर, 'विशल्कन', आयोडीन और मलहमों से क्रिया ज्यादा प्रकोपित हो सकती है। विकार स्थान और उसके 1 से.मी. के आसपास के बालों को रोमलुंचक चिमटी से निकाल कर 5-10 प्रतिशत इश्तमोल घोल, 0.1 प्रतिशत रिवेनाल (एथोजाइडाई अमीनोअक्रोडीन लैक्टेट) घोल, 1 : 5000 फ्यूरासिन (नाइट्रोफ्यूरल) घोल लगाया जाता है। तीव्र शोथ के शांत होने पर 10 प्रतिशत गंधक-टार या विल्किंसन मलहम लगाया जाता है। इस प्रकार की ट्राइकोफाइटानता के उपचार के लिए आजकल ग्राइसोफल्विन का औषधि-निर्देश दिया जाता है।

यदि कवक के लिए तीन जाँचों के परिणाम नकारात्मक हों, तो बच्चे को किंडर गार्डन या स्कूल में जाने की अनुमति दी जा सकती है। ये जाँचें उपचार खत्म होने के बाद सात से दस दिन के अंतर पर की जाती है। बच्चे के घर का त्रैमासिक विसंक्रामण भी एक आवश्यक विधि है। बच्चे को कुछ समय तक टोपी पहननी चाहिए।

---

*सोवियत संघ में निर्मित यूरिया प्लास्टर : 20 ग्रा. यूरिया, 10 ग्रा. जल, 5 ग्रा. वीवक्स, 20 ग्रा. लैनोलीन, 45 ग्रा. लेंडप्लास्टर।

त्वचा कवकता की रोकथाम

समय से रोग को पहचानना, रोगी व्यक्तियों का उपचार और पृथक्करण, संक्रामण के स्रोत का पता करना, रोगी के संपर्क में आने वाले लोगों का परीक्षण करना, चादर, जंघिया और अन्य वस्त्र और रोगी की व्यक्तिगत वस्तुओं का विसंक्रामण, नाइयों की दूकान पर स्वास्थ्य संबंधी नियंत्रण इत्यादि त्वचा कवकता की रोकथाम के उपाय हैं। माइक्रोस्पोरोसिस (विशेष कर जब कारक एम. फेरूजीनियम हो) और ट्राइकोफाइटानता का चिरकारी ट्राइकोफाइटानता और फैवस से पीड़ित रोगियों की व्यवस्था में कठिनाई होने पर, और इनकी संक्रामकता होने पर इनका उपचार अंतरंग विभाग में करना चाहिए। बहिरंग रोगी जिंक-जिलेटिन की टोपी पहनते हैं, जिससे संक्रामण के फैलने का खतरा कम हो जाता है।

यदि किसी शिशु में उपरिस्थ ट्राइकोफाइटानता का निदान किया जाता है, तो बहुत संभव है कि परिवार के किसी बड़े सदस्य (बहुधा माँ, दादी या उपचारिका) को या किंडरगार्डन, स्कूल, परिवार या घर में किसी अन्य बच्चे को चिरकारी ट्राइकोफाइटानता का रोग हो। इसलिए परिवार के सभी सदस्यों और बच्चों का परीक्षण करना चाहिए। एम. लैनोसम से होने वाले माइक्रोस्पोरोसिस रोग में रोगी द्वारा दुलारे हुए बिल्ली और कुत्तों का भी पशु चिकित्सालय में परीक्षण होना चाहिए। पशुरतिक बड़े जीवाणुओं वाली ट्राइकोफाइटानता में पशुचिकित्सकों को चाहिए कि वे बीमार गाय, बछड़ों और घोड़ों का उपचार करें तथा पशुशालाओं और भुसौरियों को विसंक्रामित कर दिया जाना चाहिए। पशुरतिक छोटे विजाणुओं वाली ट्राइकोफाइटानता होने पर चूहे और मूषकों को नष्ट कर देना चाहिए।

उपचार के दौरान रोगी के जंघिए और चादर को 1 प्रतिशत क्लोरामीन घोल में भिगो कर या 15 मिनट तक कास्टिक सोडा से उबाल कर विसंक्रामित करते हैं और फिर धोये जाते हैं। उपचार के बाद सारी चादरें और जँघिए फरमलडीहायड वाष्प कक्ष में रखकर विसंक्रामित किए जाते हैं।

शिशु संस्थानों के सभी सदस्यों का रोगनिरोधी निरीक्षण महीने में एक बार किया जाता है। इन विद्यालयों में प्रवेश के समय तथा छुट्टियों के बाद बच्चों की मासिक जाँच की जाती है तथा काम के लिए प्रार्थियों की भी जाँच की जाती है। जिन बच्चों के संक्रामित होने का भय होता है उन्हें पृथक किया जाता है। त्वचा कवकता के रोगियों को चिकित्सालय भेज दिया जाता है।

विद्यालय में बच्चों के बाल काटे जाने के नियम सब बच्चों का पहले निरीक्षण किया जाता है। स्वस्थ शिरोवल्क वाले बच्चों के बाल सबसे पहले काटे जाते हैं। उनके बाद उन बच्चों के बाल काटे जाते हैं, जिनकी त्वचा लाल हो और जिनके शिरोवल्क में पपड़ी या शल्क हों, हर बाल-कटाई के बाद उपकरणों की बर्नर की

लौ पर रखा जाता है। जिन बच्चों के संक्रामित होने का भय हो, उनकी बाल-कटाई के बाद औजारों को खोलकर उसके पुर्जो में फँसे बाल साफ करके उन्हें लौ पर रखा जाता है।

यह पता लगने पर कि कुछ बच्चों को त्वचा कवकता का रोग हो गया है, संस्थान के अन्य सभी बच्चों का दो या तीन सप्ताह तथा साप्ताहिक निरीक्षण किया जाता है और किसी को माइक्रोस्पोरोसिस होने पर छः सप्ताह तक चार या पाँच दिन में एक बार निरीक्षण किया जाता है।

कैंडिड रुग्णता

कैंडिड रुग्णता त्वचा और श्लेष्मल कला का रोग है जो यीस्ट की तरह के कैंडिडा प्रजाति के कवक द्वारा होता है।

कैंडिडा प्रजाति की यीस्ट कोशिकाएँ स्वस्थ व्यक्तियों की श्लेष्मल कलाओं और जठर-आंत्र पथ में मौजूद होती हैं। इस दशा में गलितभोजी (मृत जैव पदार्थो पर जीवन-निर्वाह करने वाले) होते हैं और इनसे किसी प्रकार का रोग नहीं होता। ये फल और सब्जियों में भी, विशेष रूप से जब वे खराब होने लगते हैं, पाए जाते हैं।

कुछ प्रतिकूल बाह्य परिस्थितियों (अम्ल और क्षार इत्यादि के प्रभाव से, आक्लेदन के प्रभावाधीन होने पर) और शरीर के आंतरिक कारणों से (अल्पविटामीनता, कार्बोहाइड्रेट के चयापचयी विकार होने पर, अर्थात् मधुमेह मेलिटस, इत्यादि में), जीव क्रियाओं के तलोच्छेदन में यीस्ट रोगजनक हो जाते है और तेजी से प्रजनित होकर रोग पैदा करते हैं। जठर-आंत्र में सूक्ष्मजीवियों के संतुलन बिगड़ जाने से भी यीस्ट का संक्रामण हो सकता है। ऐसा प्रतिजीवियों (विशेष रूप से विस्तृत स्पेक्ट्रम) और कार्टिकोस्टेरायड हारमोन का प्रयोग करने से होता है।

यीस्ट कवक त्वचा, श्लेष्मलकला, नखों और आंतरिक अंगों को रोग्रग्रस्त बनाता है।

बड़ी सलवटों के क्षेत्र में (स्तन ग्रंथियों, उरु मूल और कक्षा में), मोटे आदमियों में या मधुमेही रोगियों में त्वक विक्षति होती है। बड़ा सा लाल विकार स्थान बनता है जिसमें बाह्य त्वचा से सफेदी सी झड़ती है और इसके आस-पास छोटे विकार स्थान हो जाते हैं। उँगलियों के बीच में बहुधा मोतियों सी सफेद झिल्ली से ढका हुआ विस्फोट (हाथों का अंतरांगुलि यीस्ट विस्फोट) (चित्र 60 A) पाया जाता है, जो मद्यशाला के परिचारकों, गृहणियों तथा फल और सब्जी को कनस्तरबंद करने वाले कर्मचारियों को होता है।

किसी भी अंग की श्लेष्मल कला रोगग्रस्त हो सकती है, लेकिन अधिकतर थ्रश कैंडिड इस रुग्णता का रूप है। यह रोग अधिकतर कमजोर बच्चों को और ऐसे गंभीर रोग से पीड़ित रोगियों को होता है जिन्हें प्रतिजीवी और कार्टिकोस्टेरायड
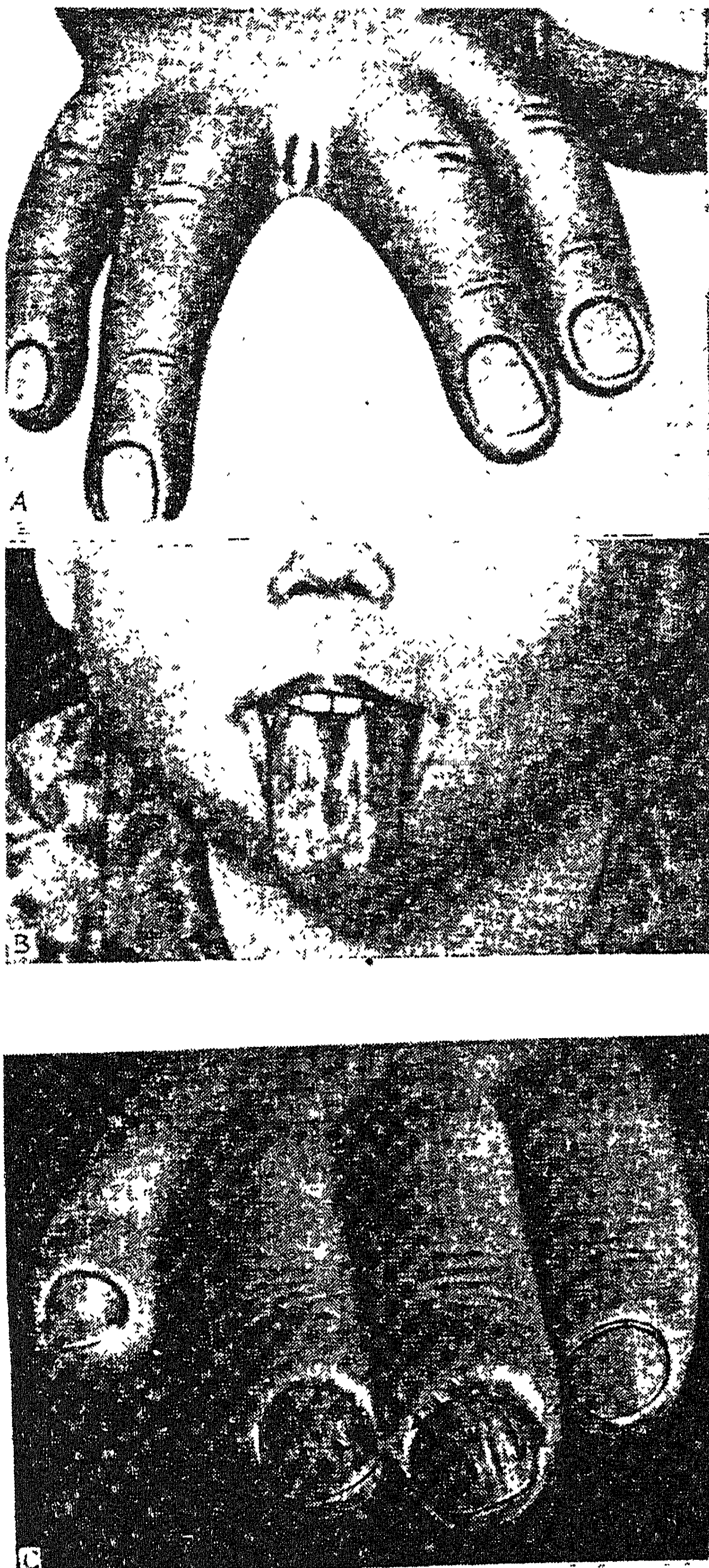
चित्र 60. त्वचा का कैन्डिडा रुग्णता (A) त्वचा श्लेष्मल कला (B) और नाखून पर (C)।

औषधियाँ बड़ी खुराकों में दी गई हों। जिह्वा की श्लेष्मल कला का मसूर की दाल के बराबर सफेद झिल्ली बन जाती है (चित्र 60 B)। यह गालों, तालू और टोंसिल में भी हो जाती है तथा ये सब मिल जाती हैं। जब इस झिल्ली को हटाया जाता है, तो चमकीली लाल श्लेष्मल कला दिखाई देती है, जो कभी-कभी अपक्षरित होती है और उसमें से रक्त रिसता रहता है। नाखूनों के रोगी होने के साथ-साथ इनके मुड़े हुए भाग भी रुग्ण हो जाते हैं, जो मोटे होकर फूल जाते हैं, त्वचा से ढीले हो जाते हैं और इनको दवाकर पस निकाली जा सकती है (यीस्ट परिनख शोथ)। नखों की चमक खत्म हो जाती है और ये भूरे या भूरे-काले (यस्ट नखशोथ) हो जाते हैं (चित्र 60 C)।

आंतरिक अंगों की कैंडिड रुग्णता बहुत कम होती है पर यह तीव्र रोग के बाद हो सकती है और इससे पूतिता हो सकती है।

उपचार : त्वचा के विकार स्थान पर 1-2 प्रतिशत अल्कोहल घोल (अनीलीन रंज का), निस्टाटिन या लेवोरिन मलहम 200000-500000 यू. प्रति ग्रा. आधार, गंधक-टार मलहम, कैस्टेलानी पेंट 0.5-1.0 प्रतिशत डेकामीन (डेक्वाली-नियम क्लोराइड) मलहम, नाइट्राफ्यूरीलेन मलहम का लेप किया जाता है।

श्लेष्मल कला की विक्षति का ग्लीसरीन में 10-20% बोरेक्स घोल, अनीलीन रंजक (प्योक्टानिन, डहलिया बैंगनी, मिथाइल बैंगनी, जेनशियन बैंगनी) के 1-2 % जलीय व अल्कोहलिक घोल से उपचार किया जाता है।

सामान्य क्रियाओं की व्यवस्था प्रतिजीवी निस्टाटिन या लेवोरिन (1000 000 यू., दिन में चार से आठ बार), डेकामिन या लेवोरिन की टिकिया 0.15 ग्रा. कैंडी (दो कैंडी चूसने के लिए दिन में तीन या चार बार दी जाती है), विटामिन ग्रुप बी, विटामिन ए सांद्र, एसकार्बिक एसिड और रूटिन से की जाती है।

कैंडिड रुग्णता की व्यवस्था करने के लिए सामान्य शक्ति प्रदायक उपाय, आनुषंगिक रोगों का उपचार, सीमित कार्बोहाइड्रेट और अधिक प्रोटीन और विटामिन वाला भोजन महत्त्वपूर्ण है। अन्य प्रतिजीवी और कोर्टिकोस्टेरायड कैंडिड रुग्णता के केवल उन रोगियों को देते हैं जिनके लिए यह जन्म-मृत्यु का प्रश्न हो।

सोवियत संघ में कवक रोगों का नियंत्रण चिकित्सा के उच्च विद्यालयों और शोध संस्थानों की देख-रेख में त्वचा और रतिज रोगियों का उपचार करने वाले औषधालयों से कुशल तंत्र के अनुसार किया जाता है। त्वचा विज्ञानियों, बाल रोग विशेषज्ञों, वाल विद्यालयों के चिकित्सकों, स्वच्छता निरीक्षकों, महामारी विज्ञानियों तथा अन्य विशेषज्ञों द्वारा नियंत्रण का काम किया जाता है। सोवियत जन स्वास्थ्य सेवा के कुशल कार्य से त्वचा कवकता की घटनाएँ वहुत कम हो गई हैं।

त्वचा कवकता की कुशल रोक थाम के लिए स्कूल, किंडर गार्डन और बोर्डिंग स्कूलों में स्वच्छतास्वास्थ्य शिक्षा अनिवार्य है।

कवक रोगों के नियंत्रण में उपचारिकाओं की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इन रोगों के उपचार की सफलता बहुत कुछ उपचारिकाओं द्वारा बरती गई कर्त्तव्यनिष्ठ सावधानी और सही विधि की कुशलता पर निर्भर करती है। बच्चों का रोग-निरोधी परीक्षण करना भी उपचारिकाओं की जिम्मेदारी है। ये बच्चों और बड़ों के बीच स्वच्छता प्रचार में भी भाग लेती हैं।

पशु-परजीवियों से होने वाले त्वचा रोग

खाज (स्कैबीज) और जूँओं का आक्रमण (पैडीकुलोसिस) रोगी व्यक्ति या उसके उपयोग की वस्तुओं के साथ संपर्क का परिणाम है। आखिरी स्थिति में आक्रमण परोक्ष रूप से होता है।

ये रोग बहुधा युद्ध, अकाल, बरबादी और आबादी के जनसमूह के अभिगमन के समय में होते हैं। भीड़-भाड़, अनियमित सफाई की आदतों, गंदी चादरों और जंघियों इत्यादि से यह रोग फैलता है।

सोवियत संघ में जूँकोप के उन्मूलन और स्कैबीज की घटनाओं को कम करने की सारी व्यवस्था कर दी गई है।

स्कैबीज

स्कैबीज पशु-परजीवी, खुजली-कुटकी के द्वारा होता है। मादा कुटकी नर की अपेक्षा बड़ी होती है और इसकी चौड़ाई 0.25-0.35 मि. मी. होती है। यह देखने में कछुए
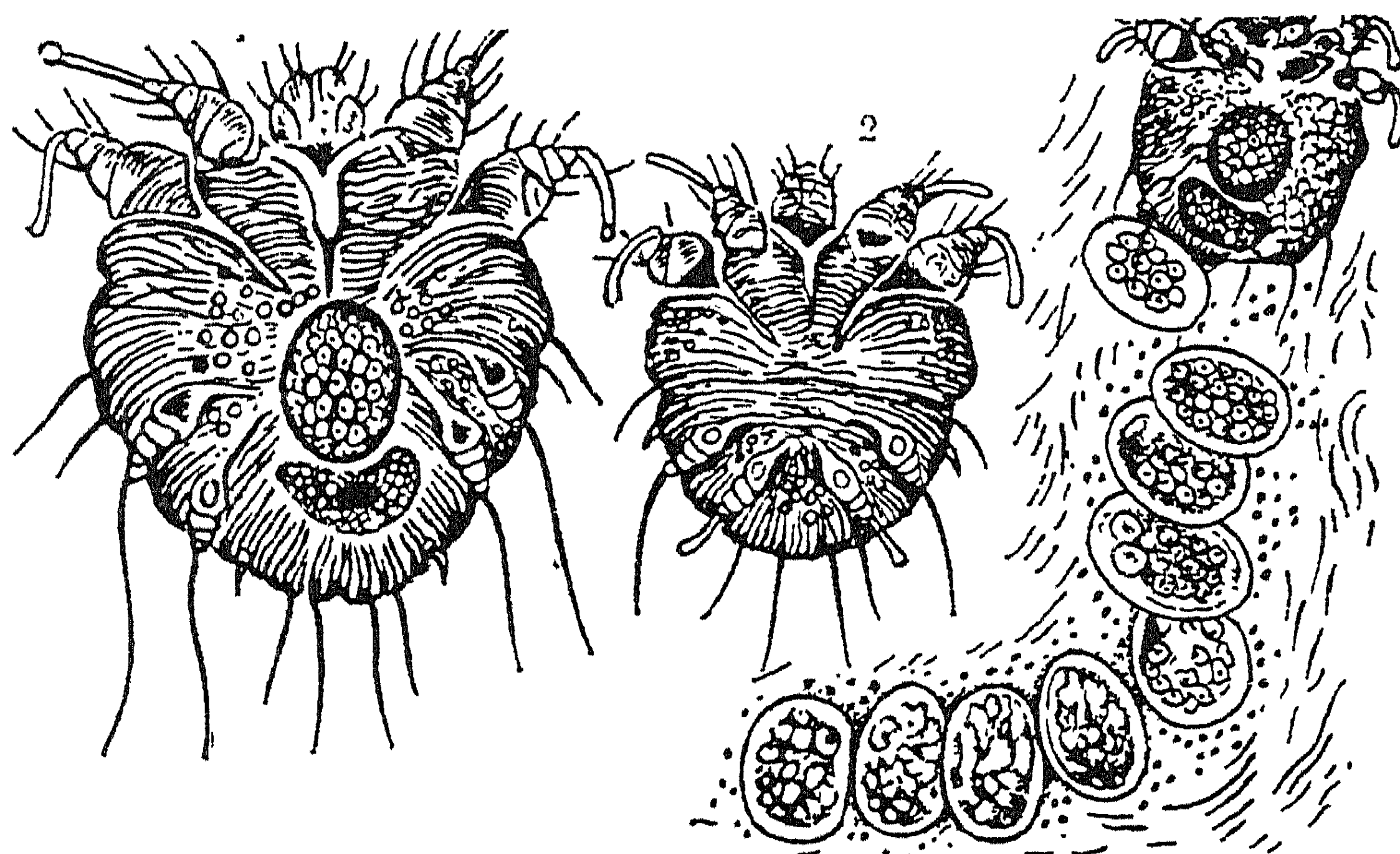
चित्र 61. खुजली (स्कैब) सूक्ष्मकीट। 1. मादा, 2. नर, 3. कुनीलोकुलस, जिसमें सूक्ष्म कीट और इसके अंडे और मल होता है।

सी लगती है। सामने की ओर कुटकी के दो जोड़ी जुड़ी हुई टाँगें होती हैं जिनके सिरे पर चूषक होते हैं। पीछे की ओर भी दो जोड़े पैर होते हैं, पर इनमें कड़े बाल होते हैं (चित्र 61)। गर्भाधान के बाद नर मर जाता है जबकि मादा त्वचा की उपरिस्थ पर्त में छेद करके पहुँच जाती है और चक्करदार बिल (माँद) बनाती है, जिसमें वह 50 अंडे छह से आठ सप्ताह के दौरान देती है। परिपक्व कीट अंडों से करीब चार सप्ताह में विकसित हो जाते हैं। एक मादा द्वारा जमा किए हुए अंडों में से तीन महीनों में 15 करोड़ सूक्ष्मकीट बन जाते हैं।

पर्याक्रमण के सात से बारह दिन बाद स्कैबीज के **लक्षण** प्रकट होते हैं। इसका मुख्य लक्षण तीव्र खुजली है जो कि विशेष कर शाम को या रात को सोते समय अधिक तीव्र हो जाती है। ऊपरी अंगों की आकोचनी पेशियों की सतहों, सीने, पेट, तिंबों, जाँघों, पुरुष की जननेंद्रियों और स्त्रियों की स्तन ग्रंथियों पर युग्मित और विसरित बिंदुकित पिटिका, वायु कोशीय फोड़ाफुंसी हो जाते हैं। स्केबीज विल की विशेषता (चक्करदार भूरी लाइन, 2-3 मि. मी. लंबी) को आवर्धनी शीशे से देखा जा सकता है। रेखा में पास-पास काले चिह्न होते हैं, जो सूक्ष्म जीवी द्वारा बनाए छेद के मुहानों को श्रेणियाँ हैं। सूक्ष्मजीवी यह मुँह छोटे सूक्ष्मजीवियों को सतह पर निकालने के लिए तथा उन तक हवा पहुँचाने के लिए बनाते हैं। ये मुहाने कलाई, उँगलियों की अंतरांगुलीय झिल्ली का आकुंचनी सतह पर होते हैं। पुटिकाओं की जगह पर पिन की नोंक के बराबर रक्तीय पपड़ी जम जाती है। तीव्र खुजली होने के ककरण रोगी अपनी त्वचा को गहराई तक खरोंच लेता है जिससे अन्य उपद्रव होते हैं—पूयत्वक रोग, त्वक शोथ, लसीकापर्वशोथ आदि।

सूक्ष्मदर्शिकी के लिए द्रव्य संग्रह : मादा सूक्ष्मकीट बिल के संगुप्त छोर पर रहती है जो एक पुटिका के रूप में उठा हुआ होता है। सूक्ष्मकीट को निकालने के लिए ऊतक विज्ञानी सुई, स्कैलपेल या तेज नोक वाली जेनर निब को पुटिका के तले तक घुसाकर बिल की दिशा में आगे बढ़ाते हैं। नोक को थोड़ा सा उठाकर उपकरण को बाहर निकाल लेते हैं। इस हस्तोपचार के समय आवर्धनी शीशे का प्रयोग करना अच्छा है। सूक्ष्मकीट होने पर वह उपकरण की नोक पर नंगी आँखों से भी एक सफेद बिंदु के रूप में दिख जाता है। कभी-कभी पूरे बिल को तेज धार वाले रेजर से काट दिया जाता है। बिल को अच्छी तरह इंद्रियगोचर होने के लिए आयोडीन टिंचर लगाया जाता है।

लिए गए द्रव्य को सूक्ष्मदर्शी से कम आवर्धन शक्ति पर देखा जाता है। इस प्रयोजन हेतु द्रव्य को काँच पट्टिका पर रखकर शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल या क्षार हाइड्रोक्साइड की एक बूँद ऊपर से डालकर शीशे के कवर से ढक देते हैं। शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल में निरीक्षण के समय तक सूक्ष्मजीवी जीवित होते हैं।

उपचार : स्कैबीज के उपचार के लिए ऐसे पदार्थ प्रयोग में लाए जाते हैं जो

श्रृंगी परत को ढीला करें तथा सूक्ष्मजीवियों को नष्ट कर दें। उपचार से पूर्व रोगी अपने घर पर गर्म पानी और साबुन से स्नान करता है। बंजोयल बेंजोएट इमल्शन, गंधक के मलहम और डेम्यानोविच घोल का प्रयोग करता है। रोगी भाग के विकार स्थान पर दो दिन तक दस मिनट प्रति दिन के हिसाब से बंजोएयल बेंजोएट का 20-25 प्रतिशत जल-साबुनी घोल मला जाता है। 33-20 प्रतिशत सल्फर घोल या विल्किंसन मलहम (15 प्रतिशत गंधक, 15 प्रतिशत टार, 10 प्रतिशत चाक, 30 प्रतिशत मुलायम साबुन और 30 प्रतिशत वेसलीन) लगाया जा सकता है। रोगी इन मलहमों में से एक को सोने से पहले 20-30 मिनट तक अपनी त्वचा पर लगाता है। यह क्रिया चार से छः दिन तक की जाती है। सातवें दिन रोगी स्नान करके अपने भीतरी तथा अन्य कपड़े बदल कर चिकित्सकीय परीक्षण के लिए जाता है। डेम्यानोविच विधि में दो घोलों का प्रयोग किया जाता है : घोल 1-60 प्रतिशत सोडियम हाइपोसल्फाइट घोल; घोल 2-6 प्रतिशत सांद या 18 प्रतिशत तनु हाइड्रोक्लोरिक एसिड का विलयन। प्रथमतः घोल नं. 1 को 5 मिनट तक प्रभावित त्वचा के प्रत्येक भाग पर दो बार (कुल समय 25 मिनट) लगाते हैं और फिर घोल नं. 2 को भी इसी प्रकार लगाया जाता है। रोगी अपने भीतरी तथा बाहरी कपड़े बदलता है और यही विधि बार-बार दुहराई जाती है तथा 24 घंटे बाद रोगी स्नान करता है।

बच्चों के उपचार के लिए निम्न सांद्रता की औषधियों का प्रयोग किया जाता है : 10 प्रतिशत सल्फर घोल, विल्किंसन मलहम में बराबर मात्रा में जिंक पेस्ट, 10 प्रतिशत बेंजोयल बेंजोएट का जलीय-साबुनी इमल्शन, 40 प्रतिशत सोडियम हाइपोसल्फाइट घोल, 4 प्रतिशत सांद्र हाइड्रोक्लोरिक एसिड का घोल (या 12 प्रतिशत तनु वियन हाइड्रोक्लोरिक एसिड का घोल)।

स्कैबीज की रोकथाम के अंतर्गत रोगी व्यक्ति का कारगर उपचार तथा परिवार के सभी सदस्यों का ध्यानपूर्वक परीक्षण तथा अन्य सभी ऐसे लोगों का परीक्षण, जो कि रोगी के निकट संपर्क में आए हों, पूरी तरह से कीट नाशन (रोगी के कपड़ों और चादरों पर डी.डी.टी. से छिड़काव और कीट नाशक बिस-इथाइल हैंथोजन वाले साबुन से धुलाई करके), ड्राइ-हीट या आर्द्र कक्ष में विसंक्रमण बहुत जरूरी होते हैं। इन वस्त्रों की धुलाई भी कपड़ों को उबालकर करनी चाहिए और फिर इन पर इस्त्री (लोहा) करनी चाहिए। वस्त्रों का विसंक्रामण एक कक्ष में या डी.डी.टी. के छिड़काव से किया जाता है।

यूकोप सर्ग (पैडीकुलोसिस)

सोवियत संघ में जनता के कल्याण और सांस्कृतिक स्तर पर उत्तरोत्तर विकास होने पर जूँ (यूका) का पर्याक्रमण (या **यूकोपसर्ग**) विरले ही होती है।

तीन प्रकार की यूकाएँ मानव की परजीवी हैं : शीर्ष यूका (पेडिकुलस कैपिटिज),
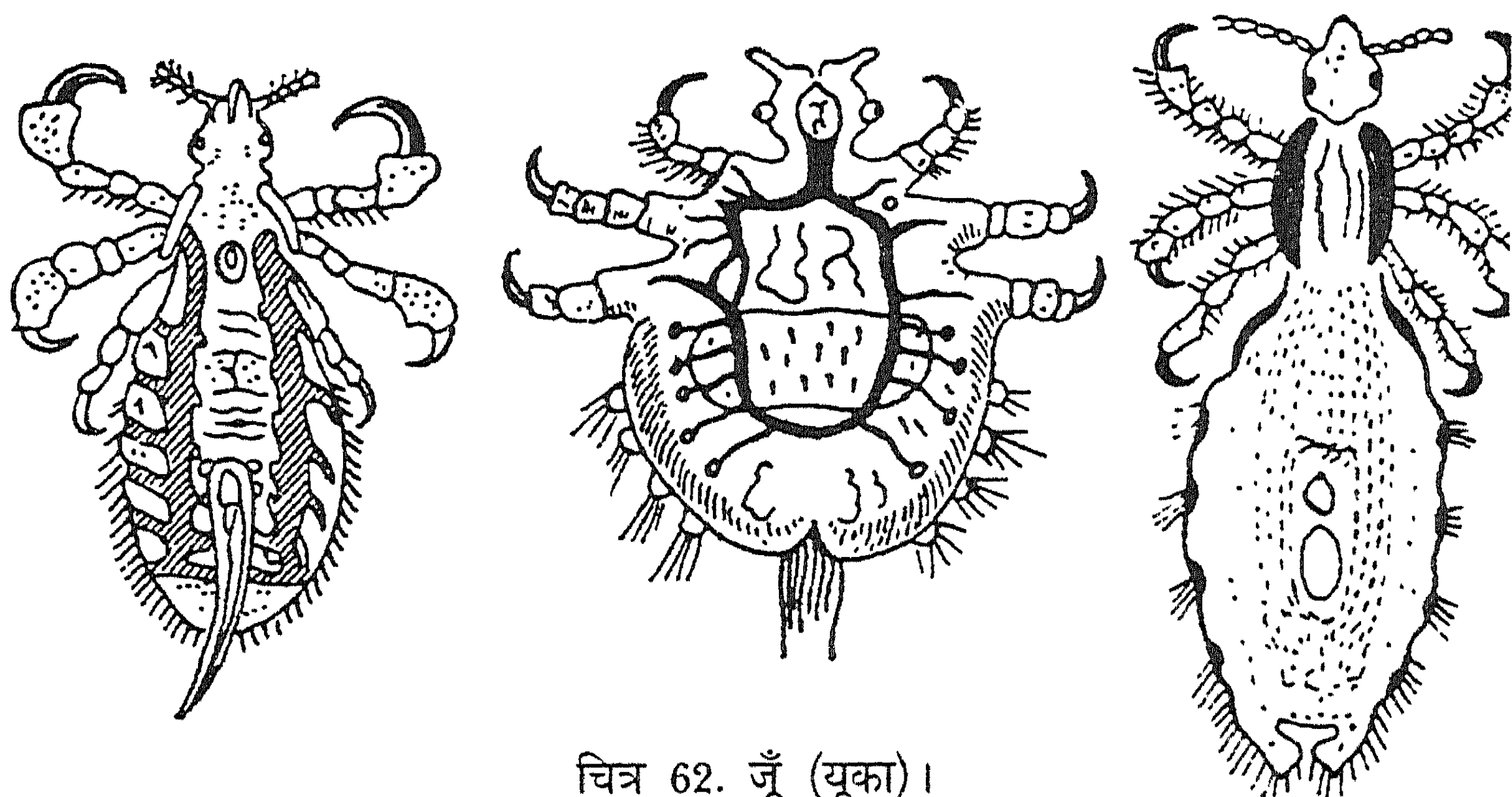
चित्र 62. जूँ (यूका)।
1. शीर्ष यूका, 2. जघन यूका, 3. शरीर यूका।

शरीर युका (पी. कारपोरिस) और जघन यूका (पी. प्यूबिस) (चित्र 62)।

शीर्ष यूका अधिकतर एक व्यक्ति से दूसरे का सीधे संपर्क से और टोपी, रुमाल और कंघे के द्वारा पहुँचती है। मादा यूका अपने जीवन काल में 150 अंडे जमा करती है जो बाल से चिपके रहते है। पाँच या छः दिन में इस अंडे से यूका निकलती हैं और तीन सप्ताह बाद ये स्वयं भी कीट पैदा करने लगती हैं। यूका केवल शिरोसल्क के बालों ही में नहीं वरन् भौंह, दाढ़ी, मूछों के बालों में भी पाई जा सकती हैं। इनसे बहुत तेज खुजली होती है जिससे खरोंचें पड़ जाती हैं और पूयत्वक रोग हो सकता है।

उपचार : बालों और शिरोवल्क पर मिट्टी के तेल तथा वनस्पति तेल को बराबर मात्रा में मिलाकर खूब अच्छी तरह मालिश करते हैं और इस पर कपड़ा लपेट देते हैं तथा पूरी रात ऐसे ही कपड़ा लिपटा रहता है। दूसरे दिन प्रातः बालों को उष्ण जल और साबुन से धोकर दंत कंकत से कंघी की जाती है। दंत कंकत को पहले गर्म सिरके में भिगोते हैं। बालों का उपचार 10 प्रतिशत बेंजोयल बेंजोएट के जलीय साबुन इमल्शान से भी किया जा सकता है। इसे 10-25 मिनट तक लगाने के बाद गर्म पानी और साबुन से धो डालते हैं।

शरीर-यूका कपड़ों (वस्त्रों) की सलवटों में रहती है तथा खून चूसती है। यह अपने अंडे कपड़ों की सलवटों और सीवन पर जमा करती है। यूकाओं के काटने से तेज खुजली होती है जिसके फलस्वरूप शरीर पर खरोंचों के निशान पड़ जाते हैं। गले पर, कंधों पर बहुत दिनों तक भूरी वर्णकता रह जाती है। गला, कंधे, इनके बीच का भाग, पीठ इत्यादि का भाग यूका के रहने के प्रिय स्थान होते हैं।

उपचार : साबुन से अच्छी तरह नहाने तथा कपड़े बदलने चाहिए। गंदे भीतरी व बाहरी वस्त्रों और बिस्तरों को भली-भाँति विसंक्रामित करना चाहिए।

जघन यूका जाँघों, जननेंद्रियों, पेट, गुदा के चारों ओर तथा बालों से ढकी हुई अन्य त्वचा पर परजीवी होती है। जघन यूका की जगह पर बहुधा गोल धब्बे पाए जाते है। यह मटर के आकार के होते हैं तथा इनका रंग फीके नीले से लेकर फीके भूरे तक होता है। इसका संचरण अधिकतर संभोग से होता है।

उपचार : प्रभावित भागों के बाल साफ कर देने चाहिए तथा इन्हें उष्ण जल और साबुन से धोना चाहिए और फिर इसमें नीला मलहम या 10 प्रतिशत सफेद घनाभूत मलहम रोज दो तीन दिन तक लगाना चाहिए तथा त्वचा पर उदांत सिरके को लगाना चाहिए।

यूकोपसर्ग (पेडीकुलोसिस) की रोकथाम : व्यावसायिक स्कूलों, छात्रावासों और शिशु संस्थानों में नियमित रूप से निरोधक परीक्षण करने चाहिए।

यक्ष्मा

त्वक यक्ष्मा इस बात का सबूत है कि शरीर में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में यक्ष्मा का प्रक्रम है। यह त्वचा में तब होती है, जब वैसील ट्यबरकुलोसिस रोगी ऊतकों और अंगों (विशेषकर फेफड़ों, लसीका पूर्व और हड्डियों) से होते हुए त्वचा पर पहुँचते हैं। माइको बैक्टीरिया से संक्रमित त्वचा के इस पथ को विशेष या अंतर्जात कहते हैं। माइको बैक्टीरिया रक्त में लसीका स्थान और वाहिकाओं के द्वारा त्वचा तक पहुँचते हैं और प्रसार से बढ़ते हैं।

अंतरिक अंगों की सक्रिय यक्ष्मा में माइक्रो बैक्टीरिया मूत्र, थूक, मल और शरीर से विसर्जित अन्य पदार्थो में बहुत अधिक संख्या में जाए जाते हैं। ये शरीर के प्राकृतिक द्वारों की श्लेष्मल कला और त्वचा में पहुँच जाते हैं और इन स्थानों पर यक्ष्मा रोग पैदा करते हैं (इसे स्वोपसर्ग या स्व संरोपण कहते हैं)।

त्वचा यक्ष्मा से बहुत कम ही प्रभावित होती है (बूचड़खाने और मांस पैक करने वाली मशीनों पर काम करने वाले लोगों को यक्ष्मा का संक्रमण हो सकता है जो क्षमा रोगी पशुओं के कंकाल को काटते समय घाव होने से हो जाता है)।

टुबरकल वैसिलस के त्वचा में घुल जाने से यक्ष्मा का विकार स्थान होना जरूरी नहीं है। मनुष्य की कायिक स्थिति का बहुत महत्त्व है। निर्बल काया (संक्रमण या मदात्यय इत्यादि में) पर यक्ष्मा जल्दी हो सकती है।

त्वक यक्ष्मा के नैदानिक रूप बहुत असमान हैं।

त्वचा-यक्ष्मा (ल्यूप सवल्गैरिस) : यह सबसे अधिक होने वाला त्वचा रोग है (त्वचा की यक्ष्मा से पीड़ित 75 प्रतिशत लोगों को यही रोग होता है)। त्वचा यक्ष्मा अधिकतर 5 और 15 वर्ष की आयु में होती है। यह अधिकतर मुँह और विशेष रूप से नाक पर होती है। ल्यूपोमा, ल्यूपस पर्विका मुख्य रूप से आकृतिक विक्षति है। यह पहले सुई की नोक के बराबर होती है। यह सीमांकित, चपटी और नीला-लाल

तथा पीलापन लिए होती है। यह अर्धपारभासी होती है। यह धीरे-धीरे बढ़ती है और बहुधा शल्क से ढक जाती है। उँगली से छूने पर ल्यूपोमा नरम मालूम होता है। पार्विका को काँच पट्टिका से दबाने पर इसका रंग बदल कर पीला-भूरा हो जाता है और सेब की जेली की तरह यह अर्धपाराभासी होता है (सेब-जेली लक्षण)। कंदीय सिरे को आसानी से ल्यूपोमा के ऊतक तक दबाया जा सकता है (प्रोबलक्षण)। यदि दबाव को बढ़ाया जाय तो तेज दर्द होता है और खून निकलने लगता है। यक्ष्मीय पर्विका के ये तीन मुख्य लक्षण होते हैं।

पर्विका बढ़ती है और संलीन होकर अंतःसंचरित चकत्ता बनाती है। अंततः पर्विकाएँ परिगलित होकर बिना खुले अवशोषित हो जाती हैं और संतोकज शोथ या व्रण हो जाता है जो क्षतांकित हो जाता है। पहले प्रकार में यह चपटा ल्यूपस होता है जिसमें शोथ हल्का होता है तथा क्षतांकित शोथ भी हल्का होता है और त्वचा टिशू पेपर सी लगती है और इसमें आसानी से सलवटें पड़ जाती हैं। यक्ष्मिक वर्विका क्षतांकित शोथ की जगह नए रूप से बन जाती है (यह यक्ष्मिक मूल के ल्यूपस का चिह्न होता है)। यदि इसका उपचार न किया जाय तो यह रूप दशाब्दियों तक चलता रह सकता है। इस रूप के अतिरिक्त अन्य सूखे प्रकार के ल्यूपस होते हैं : अतिशोथीय, अर्बुद की तरह और कीलकी (मुहासे जैसे)।

ल्यूपस चकत्ते से व्रणोत्पत्ति हो सकती है, जिससे ल्यूपस वल्गैरिस का व्रणीय रूप विकसित होते हैं। इन रूपों को अधिक सक्रिय शोथ से पहचाना जाता है। ये व्रण उपरिस्थ तथा आकार में असमान होते हैं; इनसे रक्त आसानी से निकलने लगता है। ये बहुधा विलीन हे जाते हैं और बहुत धीरे-धीरे ठीक होकर उपरिस्थ चिकना व्रण चिह्न छोड़ जाते हैं, जिसमें से नई पर्विका निकलती है। यदि व्रणीय प्रक्रम में मांस-पेशी, हड्डियाँ और उपास्थियाँ आलिप्त हैं तो इसके परिणामस्वरूप उग्र विनाश होता है (विकृति करने वाला ल्यूपस, चित्र 63)। ल्यूपस वैल्गैरिस से चेहरा विकृत हो जाता है, मुँह संकरा हो जाता है और आँखों की पलकें बाहर की ओर हो जाती हैं (बहिवर्तन) और नाक चिड़िया की चोंच की शक्ल की हो जाती है।

रोग के अधिक कालिक होने पर और चेहरे पर बार-बार ल्यूपस वैल्गैरिस होने से चेहरा विकृत हो जाता हे, जिससे रोगी में अवसाद होता है।

यक्ष्मज-त्वगलन या यक्ष्मज त्वक द्रवणशीलता--त्वचा की यक्ष्मा का एक आम रूप है। यह रोग बच्चों और किशोरों को होता है। यक्ष्मज जोड़ों और हड्डियों के प्रक्रम के फैलने से यह द्वितीयक प्रकार से विकसित होता है। यह प्राथमिक रूप से बहुत कम होता है, क्योंकि यक्ष्मज वैसिलस त्वचा पर फेफड़ों का अन्य अंगों के विकार स्थान से रक्त और लसीका के साथ पहुँचता है। यक्ष्मज त्वक गलन गर्दन, उपऊर्ध्वहनु, उरोस्थि, उपजत्रुक और अधिजत्रुक भागों में अधिक होता है। अधस्त्वक कोशकीय ऊतक में अखरोट के आकार की कठोर, पीड़ारहित पार्विका बन जाती है।

चित्र 63. हाथ को छिन्न-भिन्न करने वाली ल्यूपस।

चित्र 64. यक्षमज त्वक द्रवणशीलता।

यह धीरे-धीरे बढ़ती है और गलकर त्वचा में जुड़ जाती है तथा इसका रंग नीलिमा लिए लाल हो जाता है। पर्विका बीच में मुलायम होकर खुल जाती है (एक या अधिक नाल व्रण बन जाते हैं, चित्र 64) और इसमें से गाढ़ा पस निकलता है। यक्ष्मज त्वक गलन के व्रण में पीड़ा नहीं होती और इसका पथ नालव्रणीय हो (इसका पता नाल व्रण में बल्बाकार सिरा प्रोब डालने से होता है)। व्रण की सतह खुरदरी होती है, रक्त निकलता है और इस पर सपूय परिगलित झिल्ली होती है। व्रण के किनारे मुलायम और अपरदित होते हैं। व्रण भर जाते है तथा अंकुरक वाले व्रणचिह्न, सेतु और विलक्षण आकार के बहिःसरण छोड़ जाते हैं।

त्वचा की यक्ष्मा के अन्य प्रकार, जैसे पिटिका-परिगलित, व्रणीय त्वचा और श्लेष्मलकला की व्रणीय यक्ष्मा बहुत कम होती है।

उपचार : सामान्य स्वास्थ्यवर्धक उपचार (एसकार्बिक एसिड, ग्रुप बी विटामिन, कोडलिवर आयल, लोह और फासफोरस के योग) और कार्य तथा विश्राम के सही विधान (दैनिक टहलना, जिम्नास्टिक, पर्याप्त नींद, उच्च कैलारी वाला भोजन, जिसमें प्रोटीन, वसा और विटामिन बहुत हों तथा कार्बोहाइड्रेट और नमक, इत्यादि कम हो) की पृष्ठभूमि में रोगी को विशिष्ट पदार्थ (स्ट्रेप्टोमाइसिन, प्थीवाजीड जिसमें आइसोनिकोटिनिक एसिड हाइड्रोजाइड व्युत्पन्न, पी.ए.एस.ए. इत्यादि) औषधि के रूप में दिए जाते हैं।

स्ट्रेप्टोमाइसीन और डाइहाइड्रोस्ट्रेप्टोमाइसिन की 0.5-1.0 ग्रा. की खुराक

प्रतिदिन पेशी में इंजेक्शन द्वारा दी जाती है (कुल खुराक 40 से 80 ग्रा. या 40 000 000 से 80 000 000 यू. औषधि)। इसे यक्ष्मा के सभी रोगों में, विशेषकर फेफड़ों के ल्यूपस वल्गैरिस में, सक्रिय प्रक्रम में होते हैं। इन औषधियों से इतर-प्रभाव और उपद्रव (बधिरता) हो सकते हैं।

थ्यीवाजीड, सल्यूजिड (आइसोनियाजिड योग) आइसोनियाजाइड (ट्यूबाजिड) रोज खाई जाती है। दैनिक खुराक 1.0-2.0 ग्रा. है, जो कि तीन या चार भाग में बाँटी गई है। पूरी खुराक 150-200 ग्रा. होती है। ल्यूपस वल्गैरिस, यक्ष्मज त्वक गलन, तथा त्वचा के अन्य प्रकार की यक्ष्मा में ये औषधियाँ दी जाती हैं।

ल्यूपस वल्गैरिस और यक्ष्मज त्वक गलन के उपचार के लिए कई महीनों तक विटामिन डी$_2$ को स्पिरिट घोल या तेल इमल्शन के रूप में 50 000-100 000 यू. की दैनिक खुराक में दिया जाता है। इसे स्ट्रेप्टोमाइसिन और पी.ए.एस.ए. के साथ औषधि निर्देशित किया जाता है।

पी.ए.एस.ए. को मुँह द्वारा भोजन के तीस मिनट बाद लिया जाता है। पी. ए.एस.ए. की दैनिक खुराक 8.0-12 ग्रा. तक है, जिसे चार भागों में बाँटा जाता है। इसकी पूरी खुराक 800 से 1000 ग्रा. तक है, जिसका विशेष रूप से यक्ष्मज त्वक गलन में औषधि-निर्देश दिया जाता है।

अधिकतर दो या तीन यक्ष्मा रोधी पदार्थ तक एक साथ दिए जाते हैं और यह उपचार कई बार दोहराया जाता है। शरीर के अन्य अंगों में यक्ष्मा न होने पर त्वचा की यक्ष्मा में रोगी को स्पा उपचार (सोवियत संघ में क्रीमिया के काला सागर तट पर और उत्तर काकेशस में) और सूर्य स्नान की सलाह दी जाती है।

अलग-अलग मामलों में समशल्य-डायाथर्मी, शल्यीय उच्छेदन और आखुरण द्वारा विकार स्थान को निकाल देते हैं।

सोवियत संघ में त्वचा की यक्ष्मा के नियंत्रण के लिए एकरूप प्रतिमान लागू किया जाता है जो यक्ष्मा औषधालयों के त्वचा विभाग की योजना के अनुसार होता है। ये त्वचा की यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों का उपचार करते हैं तथा उनकी नियमित रूप से पूरी डाक्टरी जाँच की जाती है तथा सही जीवन विधान की व्यवस्था की जाती है।

सामान्य रूप से सोवियत संघ में यक्ष्मा के नियंत्रण में काफी प्रगति की गई है और विशेषकर त्वचा की यक्ष्मा के रोग को नियंत्रण में कर लिया गया है।

कुष्ठ

कुष्ठ एक दुःसाध्य चिरकारी रोग है जो माइकोबैक्टीरियम लिप्रे (हैन्सेन बैसिलस) से होता है। यह देखने में टुबरकिल बैसिलस जैसा होता है।

रोग के प्रथम चिह्न संक्रमण के चार से छः साल बाद और उससे भी अधिक साल (10 से 20 वर्ष) प्रकट होते हैं। कुछ के कारक पदार्थ मुनष्य के शरीर में

नासाश्लेष्मा, ऊपरी श्वासपथ या परिवार के सदस्य रोगी या परिचित के निकट और अधिक समय तक संपर्क में रहने से पहुँचते हैं। प्रतिकूल स्वच्छ-स्वास्थ्य परिस्थितियों तथा रहने के लिए निम्न स्तर से संक्रमण बढ़ता है। यह रोग मुख्य रूप से बचपन में हो जाता है। इस रोग में त्वचा, श्लेष्मलकला, तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंग सम्मिलित होते हैं।

कुष्ठ की दो मुख्य किस्में पहचानी गई हैं : लेप्रोमैटस या दुर्दम, दुसाह्य और गुलिकाभ या सुदम हल्की किस्म की। इनके भी दो उप समूह हैं : अनिर्धारित लक्षण रहित, अनिश्चित और द्विरूपी या मिश्रित किस्म का कुष्ठ है।

लिप्रोमैटस किस्म में बैंगनी या गहरे लाल वर्ण या काले चकत्ते, पिटिका और पर्विका (लेप्रोमा) होते हैं और लाल-भूरे अंतः संचरण विसरित होते हैं। बहुधा चेहरा प्रभावित होता है और चेहरे पर सिंहवत भाव रहता है (चित्र 65) लेप्रोमा व्रणित होता है या अवशोषित हो जाता है। नाक, मुँह और स्वर यंत्र की श्लेष्मल कला तथा हड्डियाँ, जिगर, आँखें और लसीकापर्व बहुधा संबद्ध होते हैं। हाथ और पैर छिन्न-भिन्न होने लगते हैं (अस्थि का पुनः शोषण होता है)। चकत्तों के भाग से संवेदन कम हो जाता है, जो कुष्ठ का लक्षण है और यह आगे चलकर कुष्ठ का रूप ले लेता है। लिप्रोमैटस किस्म का रोग आस-पास के लोगों के लिए एक भारी संकट होता है, क्योंकि रोगी के व्रणों के स्राव तथा नासा श्लेष्मा में लेप्राबैसिली होते हैं।

गुलकाभ किस्म के कुष्ठ रोग में त्वचा पर चकत्ते और पर्विकाएँ होती हैं और कभी-कभी गुलिकाएँ होती हैं (चित्र 66), जिनकी सतह पर कम संवेदन होता है

चित्र 65. कुष्ठ (लेप्रोमायुक्त कुष्ठ)।

चित्र 66. सार्वदेहिक गुलकाभ कुष्ठ

(स्पर्श, पीड़ा, गर्मी)। ये व्रण नहीं बनते हैं और विवर्णकता और कभी-कभी शोथ रह जाते हैं। इसका विशिष्ट लक्षण यह है कि धड़ की तंत्रिकाएँ मोटी हो जाती हैं। आंशिक घात या पक्षाघात हो सकता है। ये रोगी बहुत संक्रामक नहीं होते हैं, क्योंकि लेप्रेबैसिली नाक की श्लेष्मा में बहुत कम पाए जाते हैं।

अनिर्धारित किस्म में कुष्ठीय विस्फोट फोड़ा-फुंसी नहीं होते हैं। त्वचा पर विवर्णक और वर्णकित चकत्ते होते हैं, जिसमें संवेदनशीलता लुप्त होती है और कुछ फीके से चकत्ते होते हैं जिनकी रूपरेखा साफ नहीं होती है। बहुतंत्रिका शोथ और धड़ की तंत्रिकाएँ मोटी और व्यपजनित हो जाती हैं। इससे पेशियों में व्रण और शोथ हो जाते हैं। जोड़ों में विकार आ जाता है। अंगघात हो जाता है और प्रसारित क्षेत्र में संवेदनशीलता का लोप हो जाता है।

द्विरूपी या मिश्रित कुष्ठ का लक्षण यह है कि इस रोग में ऊपर बताए गए तीनों प्रकार के रोगों की विक्षति एक साथ होती है।

कुष्ठ के प्रयोगशाला निदान हेतु द्रव्य नासा श्लेष्मा, कुष्ठीय चकत्तों में से छीलन तथा उस स्थान पर ऊतक-तरल, लसीका पर्व के लिए गए नमूने, जैव निदर्श के आलपे एकत्रित किए जाते हैं।

नासा श्लेष्मा कला के स्राव को सूखी रुई के टैंपन को चिमटी में लपेट कर उससे लिया जाता है। नासा श्लेष्मा को विशेषकर पटों वाले को, 30-40 सेकेंड तक टैंपन में जोरों से रगड़ते हैं, जब तक कि खून न छलक आए। फिर टैंपन शीशे की पुट्टिका को कई बार तेजी से खींचा जाता है।

कुष्ठीय पर्विकाओं और लसीका पर्व से द्रव्य को सख्त चलने वाली सिरिंज (पिचकारी) से लिया जाता है, जिसकी सुई ठीक लगी हुई हो। रक्त आलेप की तरह इस चूषण से भी आलेप तैयार किया जाता है।

कुष्ठीय चकत्तों को स्कैलपेल से खरोंचा जाता है, जब तक कि ऊतक तरल न देखने लगे। इसी तरल से आलेप तैयार किया जाता है।

आलेप की छाप को इस प्रकार से तैयार किया जाता है : बाइआप्टिक पर्विका या अंकुरक की अंदरूनी सतह को काँप पट्टिका पर खींचा जाता है। लेप को सुखा कर धब्बा बनाते हैं।

उपचार : जितनी ही जल्दी प्रारंभ किया जाय, उसके परिणाम उतने ही अच्छे होंगे। सल्फोनयोग (डी.डी.एस.; सोलासल्फोन, सल्फेट्रोन सम्मिश्र, सल्फाटीन, सल्फोन-3), चौल मुग्रा के योग (चौलमुग्रातेल और मुग्राल), थायोयूरिया के व्युत्पन्न (सीबा-1906, एथोक्सीडम), एथियोनामाइड इत्यादि का प्रयोग किया जाता है।

सोवियत संघ में कुष्ठ नियंत्रण : कुष्ठ के संक्रामक रूप से पीड़ित रोगियों को कुष्ठ आश्रमों में रखा जाता है, जहाँ वे सही उपचार, पौष्टिक भोजन और ठीक विधान के बारे में निश्चिंत होते हैं। रोगी के परिवार के सदस्य तथा उसके निकट

संपर्क में रहने वाले व्यक्तियों की भी काफी समय तक निगरानी रखी जाती है। कुष्ठ निरोधक के सुनियोजित उपयोग से सोवियत संघ में कुष्ठ रोग की घटनाएँ बहुत कम हो गई है।

रक्तिम ल्यूपस (एराइथेमाटोसिस)

रक्तिम ल्यूपस की हेतुकी अज्ञात है। अंतःस्रावी विकारों, संयोजी ऊतकों की अशांत प्रक्रिया, पराबैंगनी किरणों के प्रति व्यक्ति की अति संवेदनशीलता, और चिरकारी संक्रमण के विकार स्थानों से यह रोग बढ़ता है।

एराइथेमाटोसिस एक चिरकारी रोग है, जिसका प्रभाव चेहरे पर होता है। लाल गोल या अंडाकार चकत्ते बनते हैं जो अंतःसंचरित विकास स्थान का रूप ले लेते हैं जो कि मजबूत शल्कों से ढके होते हैं। इस क्रिया के परिणामस्वरूप त्वचा पर शोथ हो जाते हैं। कभी-कभी चेहरे के रोगी विकार स्थान तितली की शक्ल के हो जाते हैं (चित्र 67)। शिरोवल्क में एराइथेमाटस विकार स्थान वाले क्षतांकित शोथ स्थायी गंजेपन का रूप ले लेते हैं। निचले होंठ के सिंदूरी किनारे पर क्षतांकित शोथ और काले-नीले चकत्तों पर घने शृंगी शल्क हो जाते हैं।

चित्र 67. रक्तिम ल्यूपस।

दैहिक रक्तिम (एराइथेमाटस) ल्यूपस (तीव्र और अति तीव्र) बहुत कम होता है तथा इससे गुर्दे, जिगर, हृदय और जोड़ों पर प्रभाव पड़ता है। यह बहुत ही गंभीर रूप ले सकता है और बहुधा घातक होता है।

उपचार : चिरकारी रक्तिम ल्यूपस का उपचार चिंगामिन (क्लोरोक्विन, डेलाजिल, रेसोक्विन) से किया जाता है। 0.25 ग्रा. (एक गोली) दिन में दो बार 40 दिन तक दी जाती है (कुल 20 ग्रा. या 80 गोलियाँ)। मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड (क्विनाक्रीन) की 0.1 ग्रा. की खुराक दिन में तीन बार 10 दिन तक दी जाती है। इस उपचार को 5 से 6 बार 10 दिन के कालांतर पर दोहराया जाता है। साथ ही, निकोटिनिक एसिड (0.1 ग्रा. दिन में दो बार भोजन के बाद) खाने को दिया जाता है या 1 प्रतिशत घोल के अंतःशिरा

इंजेक्शन (2 से 10 मि. ली. प्रतिदिन के कुल 10 से 15 इंजेक्शन) लगाए जाते हैं। कुछ रोगियों को विटामिन बी$_{12}$ का इंजेक्शन रोज या एक दिन छोड़ कर (दैनिक खुराक 100-200 माइक्रो ग्राम तथा कुल इंजेक्शन 20) देने से आराम मिलता है या 2 मि. ली. वायोक्विनोल (उदासीन वनस्पति तेल में क्विनान) का इंजेक्शन सप्ताह में दो बार दिया जाता है। कुल खुराक 40 मि. ली. है। स्थल उपचार में 10 प्रतिशत क्विनाक्रीन प्लास्टर या 10 प्रतिशत वनाक्रीम का मलहम, सिनाइए मलहम और सूखी बर्फ का उपयोग किया जाता है। इसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए 5-10 प्रतिशत क्विसाइस या फिनाइल सैलिसिलेट (सैलोल) का मलहम या क्रीम लगाने की सलाह दी जाती है, ताकि सूर्य की किरणों से त्वचा की रक्षा की जा सके। तीव्र या अनुतीव्र रक्तिम ल्यूपस होने पर कार्टिकोस्टेरायड हारमोन प्रभावी औषधि है।

तवक शोथ और विषालु त्वक रोग

त्वक शोथ त्वचा का तीव्र शोथ है जो बाह्य क्षोभक के प्रभाव से होता है। बाह्य क्षोभकों को दो भागों में बाँटा जाता है—संक्रामित (जब कि ये त्वचा पर क्रिया करते हैं और सभी लोगों को त्वकशोथ करते हैं; ऐसे बाह्य क्षोभक तेज अम्ल और क्षार होते हैं या 50^0 सें. से अधिक गर्म पानी इत्यादि) और सोपाधि क्षोभक या एलर्जक (इनसे केवल कुछ ऐसे लोगों को ही त्वक शोथ होता है जो कि इनके प्रति अति संवेदनशील होते हैं)। अक्रमित क्षोभकों के प्रभाव से होने वाले त्वक शोथ को साधारण या कृत्रिम त्वकशोथ कहते हैं, जबकि एलर्जक से होने वाले त्वक शोथ को एलर्जिक त्वक शोथ कहते हैं।

टाक्सीकोडर्मी (विषालु त्वक रोग) में त्वचा का क्षोभक के द्वारा तीव्र शोथ होता है। यह क्षोभक शरीर में श्वास पथ या भोजन पथ अथवा शिरा, त्वचा या पेशी में इंजेक्शन के द्वारा पहुँचता है।

साधारण या कृत्रिम त्वक शोथ क्षोभक के प्रभाव से एकाएक होता है। इसमें त्वचा गहरे लाल रंग की हो जाती है तथा सूज जाती है। क्षोभक की मात्रा पर निर्भर करते हुए त्वचा पर पुटिका, जल स्फोट या परिगलन होता है। रोगी को गर्मी, जलन, पीड़ा और खुजली की अनुमति होती है। यह एक दो सप्ताह के बाद जल क्षोभक खत्म होता है तो त्वक शोथ ठीक हो जाता है और इसका कोई चिह्न नहीं रह जाता। ऊतकों के परिगलन से होने वाले व्रण भी भर जाते हैं और इनका व्रण चिह्न रह जाता है।

एलर्जिक त्वक शोथ ऐसे लोगों को होता है जो किसी विशेष एलर्जक (रासायनिक पदार्थ, जैसे क्रोमियम या निकेल के लवण, रेजिन; रंजक, जैसे उरसोल; कुछ पुष्प, पौधे इत्यादि) के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। अति संवेदनशीलता जन्मजात हो सकता है (संवेदन वैशिष्ट्य, अंडे, स्ट्राबरी इत्यादि के प्रति)। परंतु अधिकतर यह

एलर्जक के संपर्क में बार-बार आने से धीरे-धीरे विकसित होता है। त्वचा में अति रक्तता तथा सूजन हो जाती है और पिटिका, जलस्फोट और पुटिका बन जाती है। जब एलर्जन का प्रभाव खत्म होता है तो शोथज प्रक्रिया शांत हो जाती है, पर एलर्जक का प्रभाव फिर से होने से शोथ दुबारा हो सकता है। एलर्जक के दीर्घकालिक और पुनः प्रभाव होने से एलर्जिक त्वक शोथ छाजन का रूप ले सकता है।

विषालु त्वक शोथ में फोड़ा-फुंसी सममित होता है। रोगी की सामान्य हालत गंभीर और एलर्जिक त्वकशोथ की अपेक्षा गंभीरतर होती जाती है। फोड़ा, फुंसी विसरित, बिंदुकित और गुलाबी लाल या पीला होता है। ददौड़ा, पुटिका, पिटिका और जलस्फोट बन सकते हैं।

औषधीय द्रव्य त्वक शोथ को कभी-कभी पहचाना जाता है। यह साधारण या एलर्जिक हो सकता है। साधारण सैलिसिलिक एसिड, पोटैशियम परमैगनेट इत्यादि की अति सांद्रता के प्रभाव से होता है और एलर्जिक मेडिकल स्टाफ में होता है जो स्ट्रेप्टोमाइसिन और एमिनाजीन की व्यवस्था करते हैं। पर अधिक प्रचलित रूप विषालु त्वक शोथ का है जब कि औषधिक खिलाई जाती है या त्वचा में पेशी या शिरा द्वारा पहुँचाई जाती है। औषधीय त्वकशोथ निश्चित स्थान पर होता है, अर्थात औषधि का इंजेक्शन लगने के स्थान पर होता है। यह अधिकतर पेंसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, सल्फानिलामाइड और सल्कामेथाजीन से होता और एमिनोपाइरीन, क्विनाक्रीन, प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड, ब्रोमाइड, आयोडीन, पारा, न्यूमिनल (फेनाबार विटल), तथा अन्य औषधियों से कम होता है (चित्र 68)।

चित्र 68. सल्फानिलामाइड से होने वाली त्वग्रक्तिमा।

उपचार : क्षोभक और एलर्जन के हटा लेने से त्वक शोथ में जल्दी से आराम आ जाता है और इसका कोई चिह्न नहीं रह जाता। साधारण त्वक शोथ का उपचार विभिन्न लोशनों, शेक लोशनों, पेस्टों और मलहमों से किया जाता है।

एर्लिजक त्वकशोथ और विपालुत्वक शोथ में रोगियों को अति सुग्रहीकरण और प्रति हिस्टामिन चिकित्सा (देखिए अध्याय "त्वक रोगियों की चिकित्सा के सामान्य सिद्धांत") का निर्देश दिया जाता है। शरीर से एलर्जन को निकालने के लिए विरेचक, मूत्रल और प्रचुर मात्रा में तरल द्रव्य लेने की सलाह दी जाती है।

छाजन

छाजन—एक एलर्जी वाला त्वचा रोग है जो कि तीव्र और चिरकारी हो सकता है। छाजन के मूल कारणों में तंत्रिका तंत्र की क्रिया में विभिन्न प्रकार के उप्रदव मुख्य हैं। छाजन वाले रोगी का एलर्जक ही नहीं (ऊपर देखिए जैसे, एलर्जिक त्वक शोथ), बल्कि कई एलर्जक के प्रति अल्पसुग्राही हो सकते हैं। एक ही रोगी को बाह्य एलर्जेन (रसायनिक कारक, सूर्य की किरणों, जल, साबुन, पौधे, भोजन और औषधि) और साथ ही आंतरिक एलर्जेन (जिगर या जठर-आंत्र पथ रोग, कृमिरुग्णता, चिरकारी फोकस संक्रमण) के प्रति अधिक संवेदनशीलता हो सकती है। फोड़े-फुंसियाँ अधिकतर चेहरे तथा हाथों और पैरों में होती हैं। सूक्ष्मजीवी जीवविष, कवक की जीवन-गति के उत्पादों, अंतःस्रावी विकारों, तथा अन्य कारणों से एलर्जिक हालत हो सकती है। इसलिए छाजन का रोगजनन बहुत ही जटिल है।

तीव्र छाजन : त्वचा गहरी लाल हो जाती है और सूज जाती है। इसकी पृष्ठभूमि में पुटिका और पिटिकाएँ हो जाती हैं। इनका आकार पिन की नोक के बराबर होता है तथा इनमें स्वच्छ तरल भरा होता है। पुटिकाएँ फूट जाती हैं और एक बिंदु-सा बन जाता है। इस फुंसी के स्वच्छ तरल पदार्थ निकलता है। इन फुंसियों का संलयन हो जाता है और इनकी सतह रिसने वाली हो जाती है (चित्र 70)। जब इनका रिसना कम हो जाता है तो पपड़ी पड़ जाती है और शल्कन शुरू हो जाता है। फिर नई पुटिका, पिटिका और स्रावी (रिसने वाले) क्षेत्र बन सकते हैं। इनसे पस निकलता है और पीली सपूय पपड़ी बन जाती है तथा साथ ही पूयजन्य संक्रमण हो जाता है। तीव्र और चिरकारी दोनों ही प्रकार के छाजन में विक्षतियों (त्वक रक्तिमा, पिटिका, पुटिका, पपड़ी, शल्क) की बहुरूपता होती है और विकार स्थान सममित होते हैं। इसमें तेज खुजली

चित्र 69. सूक्ष्मजीवी छाजन

और जलन होती है। कुछ ही दिनों में फोड़े-फुंसी लुप्त हो जाते हैं और रोग जल्दी ही फिर हो जाता है : बहुधा तीव्र छाजन चिरकारी रूप ले लेता है।

चिरकारी छाजन : त्वचा मोटी हो जाती है और इसका प्रतिरूप अतिशयित हो जाता है। विकार स्थान का रंग बैगनी हो जाता है तथा यह पपड़ी और शल्कों से ढक जाती है और तेज खुजली होने लगती है। रोग का नियमित अवधि पर प्रकोप होता है (प्रकोपित चिरकारी छाजन)। यह कई कारणों एलर्जन के कारण होता है। चिरकारी छाजन कई वर्षों तक और कभी-कभी दसियों साल तक बना रहता है।

छाजन कई प्रकार का होता है। सूक्ष्मजीवी छाजन संदूशित घाव, व्रण और पूयस्फोटिका के चारों ओर असममित रूप से होता है। यह बहुधा जाँघों में होता है (चित्र 69)। ऐसे छाजन का सुस्पष्ट सीमा-निर्धारण होता है। त्वक स्रावी छाजन में फोड़े-फुंसियाँ अधिकतर शिरोवल्क चेहरे, उरोस्थि भाग, अंतःशिरोवल्क भाग और त्वचा की सलवटों (कक्षा, उरु मूल, कानों के पीछे) में होती हैं। त्वक स्रावी छाजन के विकार स्थान पीलापन लिए हुए लाल होते हैं और इन पर चिकने और पीले रंग के वल्क होते हैं। छाजन के अन्य रूपों की अपेक्षा इसमें खुजली कम होती है। शिशुछाजन में शिरोवल्क, चेहरे और नितंबों की त्वचा पर लाली पहले आती हैं स्कंध के अन्य भागों तथा हाथों, पैरों में लाली बहुत कम आती है और फिर पर्विका व पुटिकाएँ और रिसने वाली पपड़ी बन जाती है (चित्र 71)। इस प्रक्रम में बहुत तेज खुजली होती है। इस रोग से पीड़ित बच्चे मुश्किल से सो पाते हैं। वे रोते रहते हैं, उनकी भूख खत्म हो जाती है तथा वे बेचैन रहते हैं। यदि उन्हें सही खुराक न

चित्र 70. तीव्र छाजन

चित्र 71. स्रावी छाजन

मिले (कम अवस्था में इतना दुग्ध पोषण, बार-बार और अत्यधिक पोषण) या कुछ खाद्य पदार्थों (गाय का दूध, अंडे की सफेदी, बेरी, सिट्रन-फल, इत्यादि) के प्रति अल्प-सुग्राहिता और जठर-आंत्र विकार (कब्ज, प्रत्याबनहन) हो तो शिशु छाजन अधिकतर 3 वर्ष से कम आयु के बच्चों को हो जाता है।

उपचार : रोगी की पूरी तरह जाँच की जाती है तथा सभी आनुषंगिक रोगों का उपचार किया जाता है। शरीर में एलर्जी पैदा करने वाले सभी कारकों से छुटकारा दिलाया जाता है।

सामान्य उपचार में ऐसी औषधियाँ दी जाती हैं, जिनका तंत्रिका तंत्र पर सुखद प्रभाव हो और अति सुग्राहीकरण करने वाले कारणों पर भी प्रभाव पड़े। प्रतिहिस्टामिन और विटामिन का अधिक प्रयोग किया जाता है। छाजन के तीव्र रूपों में कार्टिकोस्टेरायड हारमोन दिए जाते हैं (देखए अनुच्छेद "त्वकरोगियों के उपचार के सामान्य सिद्धांत")।

बाह्य उपचार में शोथ की मात्रा (रोग के तीव्र लक्षण), इसकी स्थिति और इसकी सीमा पर विचार किया जाता है। तीव्र विक्षति में ठंडे लोशन और जलय शेक लोशन का अच्छा प्रभाव होता है। चिरकारी छाजन में या शोथीय प्रकम के शांत होने पर तेलीय शेक लोशन, लेप और मलहम लगाने के निर्देश दिए जाते हैं और इनमें औषधीय कारकों (गंधक, टार, नैथ्यलेन, पेट्रोलियम, इत्यादि) की सांद्रता धीरे-धीरे बढ़ाई जाती है। बहुधा कार्टिकोस्टेरायड मलहम लगाते हैं।

व्यवसायपरक त्वचा-रोग

उत्पादन की क्रिया से संबंधित कुछ कारकों के हानिकर प्रभाव के व्यावसायिक रोग होते हैं। इन रोगों के लिए वृत्तिक चिह्न होते हैं, जैसे वर्कमेन के कठोर हाथ, खान में काम करने वालों के हाथों में कालिख या शोथ रहित धब्बे, शल्क जलने से धातुकर्मियों को होने वाले व्रण-चिह्न।

उत्पादन में प्रयुक्त क्षोभकों के गुण, कार्य-स्थल पर स्वच्छता और स्वास्थ्य संबंधी परिस्थितियाँ तथा कर्मचारी की सामान्य हालत व्यावसायिक त्वक रोगों के विकास को प्रभावित करते हैं।

बहुत से कारण और पदार्थ व्यावसायिक क्षोभक हो सकते हैं, जैसे उच्च या निम्न पर्यावरण-तापमान, आर्द्रता, धूल, कठोर कण, अमल, क्षार, रंजक, प्लास्टिक पदार्थ, औषधियाँ (चिकित्सा कर्मियों और उत्पादक मशीन पर काम करने वालों का आपस में संपर्क), इत्यादि। इनकी वजह से साधारण एलर्जिक त्वकशोथ, व्यवसायिक छाजन पूयत्वक रोग, होते हैं। स्नेहक तेल के संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को रोम कूपशोथ या एकनीत्वक रोग हो जाता है (चित्र 72)।

उपचार : सबसे पहले रोग के कारण का पता लगाया जाता है और उसे दूर किया

जाता है। सामान्य उपाय और बाह्य उपचार उन्हीं सिद्धांतों पर किया जाता है, जिन सिद्धांतों पर अव्यावसायिक रोगों का उपचार किया जाता है।

रोकथाम : व्यावसायिक रोगों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर को पुष्ट करने वाले शक्तिदायक उपाय किए जाएँ (जिमनास्टिक, व्यायाम इत्यादि), हानिकर व्यावसायिक कारकों को यथासंभव कम कर देना चाहिए (जैसे स्वचालित यंत्रों के प्रयोग से) तथा हानिकर पदार्थों के संपर्क में आने से त्वचा की रक्षा करनी चाहिए (जैसे सुरक्षावस्त्रों, दस्तानों का पहनना तथा त्वचा की रक्षा करने वाले मलहम का लेप)। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सभी श्रमिक व्यक्तिगत स्वास्थ्य रक्षा के नियमों का पालन करें तथा अपने काम के बाद अपनी त्वचा को ठीक तरह से साफ करें और सभी छोटी-मोटी चोटों का इलाज करा लिया करें (2 प्रतिशत आयोडीन टिंचर या 1-2 प्रतिशत अनीलीनरंजक घोल लाले अल्कोहल से)। बड़े पैमाने पर स्वास्थ्य शिक्षा देना भी जरूरी है।
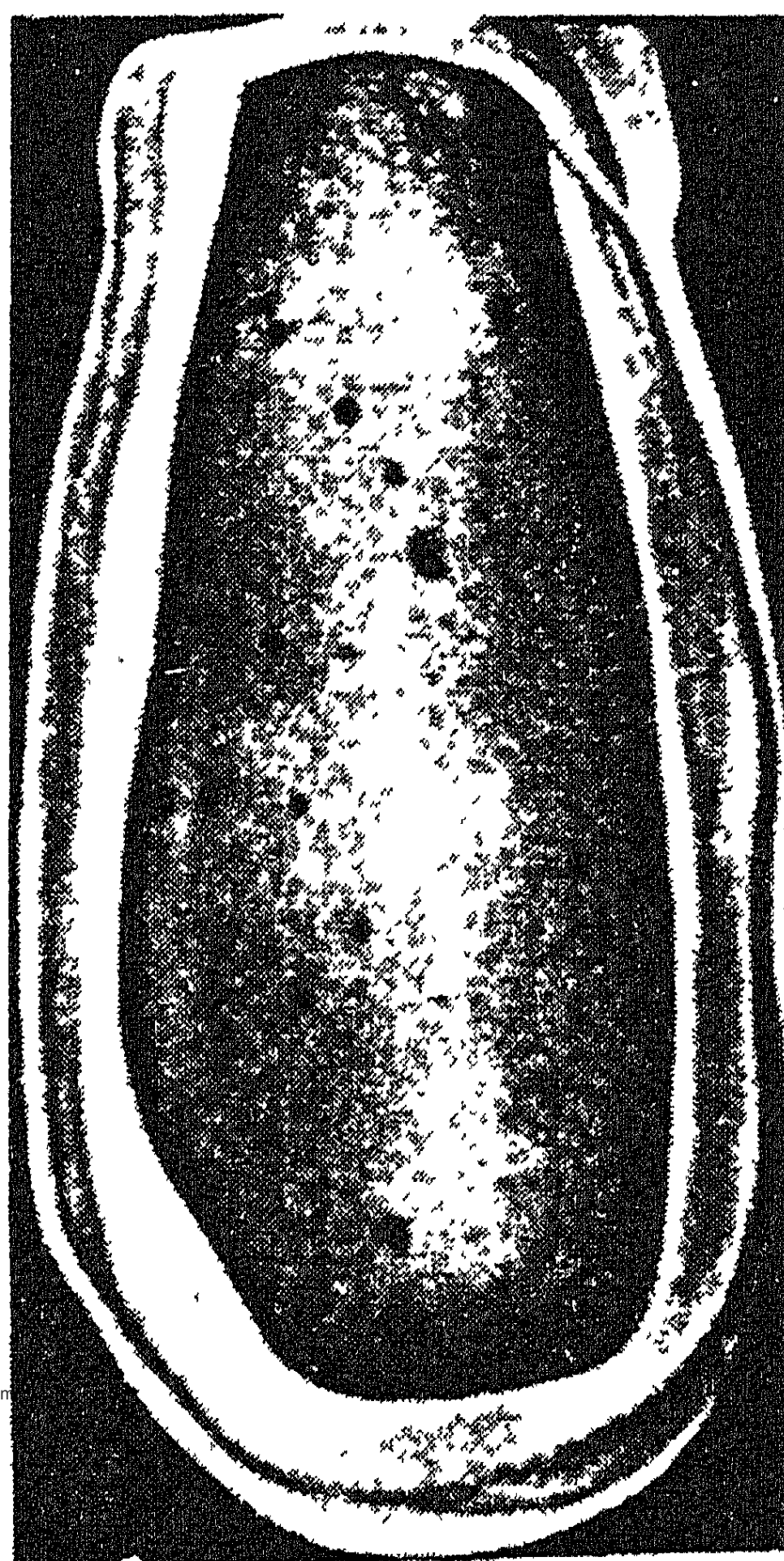
चित्र 72. व्यावसायिक तेल से होने वाला रोमकूप शोथ

त्वचा के कंडू रोग

खुजली के मुख्य लक्षण के रूप में होने वाले रोग कंडू रोग समूह में आते हैं। ये रोग हैं तंत्रिका त्वक शोथ, त्वचा कंडू रोग, पित्ति, कंडू पिटिका (शिशुओं और वयस्कों में)।

तंत्रिका त्वकशोथ : जिन कारणों से छाजन होता है (जैसे तंत्रिका तंत्र के विकार, अंतःस्रावी ग्रंथियों और आंतरिक अंगों के विकार) वही कारण तंत्रिका त्वक शोथ के मूल में मूहत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनमें अधिक प्रचलित रूप हैं—परिगत तंत्रिका त्वक शोथ। गर्दन के पिछले भाग में, कफोणि और जानुपृष्ठ खातों में अधिक खुजली होती है तथा अन्य भागों में कम होती है और फिर चपटी लाल रंग की पिटिका दिखने लगती है जिसके संलयन से त्वचा मोटी हो जाती है और धब्बे बन जाते हैं तथा प्रतिरूप का अशियन हो जाता है (शैवाकीभवन)। इसे खुजाने से निस्त्वचन होकर पपड़ी बन जाती है (चित्र 73)।
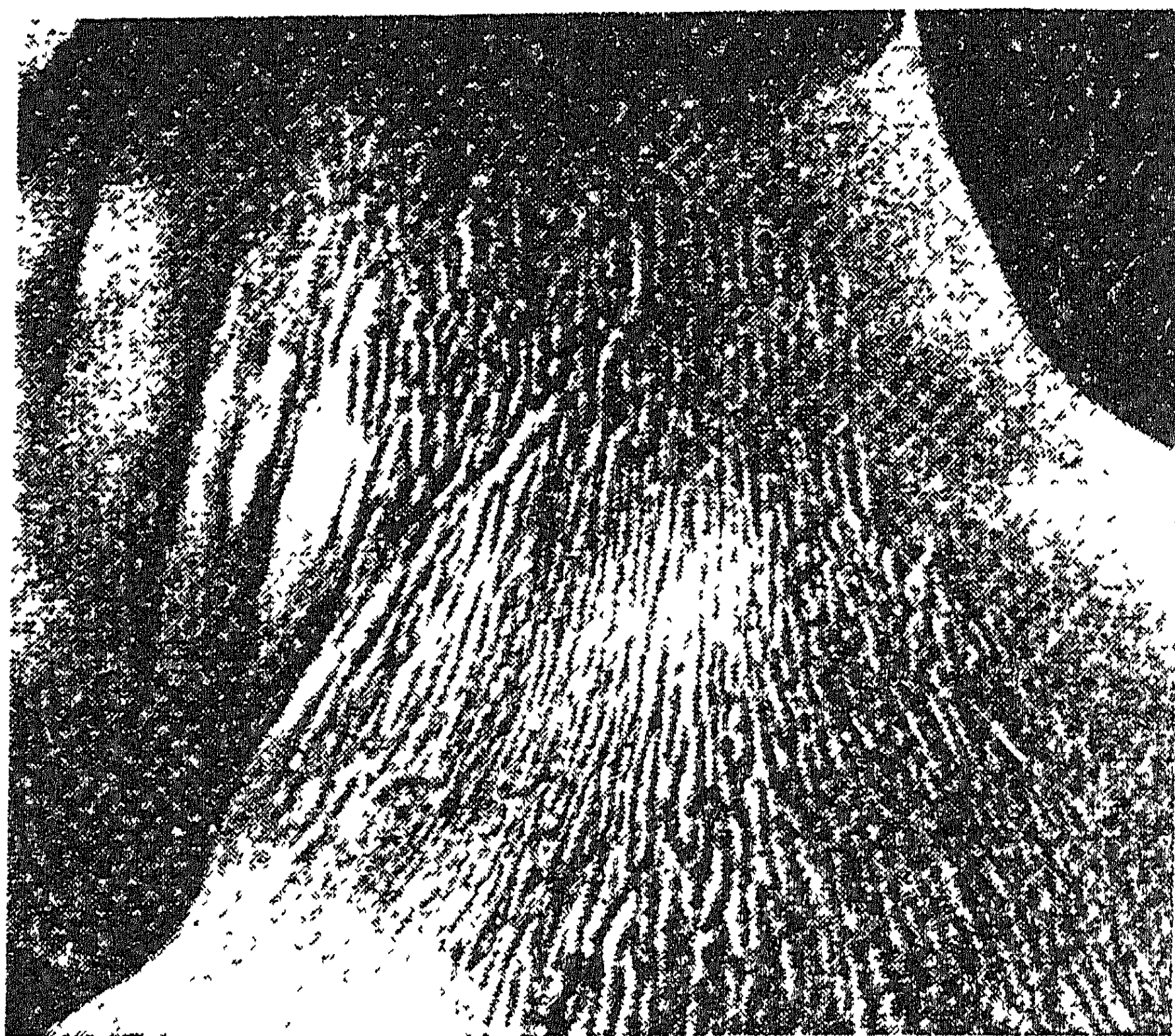
चित्र 73. स्थानिक तंत्रिका-त्वकशोथ

विसरित त्वकशोथ त्वचा की पूरी सतह पर दीर्घकालिक खुजली होने से होता है। त्वचा सूख जाती है, वर्णकमय और मोटी हो जाती है, तथा उस पर खून भरी पपड़ी जम जाती है। तंत्रिका त्वक शोथ बहुत ही अधिक समय तक चलता है।

उपचार : अनुषंगी रोगों का उपचार किया जाता है। तंत्रिका तंत्र के उपचार पर विशेष ध्यान दिया जाता है (निद्रा चिकित्सा, सम्मोहन, ब्रोमाइड योग, प्रोकेनहाइड्रोक्लोराइड), कार्टिकोस्टेरायड, मलहम के रूप में लगाने को दिया जाता है। स्वास्थ्य स्थलों पर उपचार लेने की सलाह दी जाती है। बाह्य चिकित्सा के रूप में लेप और मलहम लगाते हैं, जिसमें टार (2-10 प्रतिशत), 10-20 प्रतिशत ACD योग (यह पशुओं की ऊतकों का उत्पाद है जिसका प्रभाव टार की तरह होता है), पैराफिन का प्रयोग, निस्रावी रोगी भाग में एक्सरे चिकित्सा शामिल है।

त्वचा का कंडू रोग : स्थायी खुजली होना ही इस रोग का एक मात्र लक्षण है। यह स्थानिक (अधिकतर गुदा भाग में तथा बाह्य जननेंद्रियों में) हो सकता है या विसरित भी, जिसमें संपूर्ण त्वचा प्रभावित होती है।

यह रोग तीव्र तंत्रिका-तनाव, दीर्घकालिक आवेश, चिरकारी विषालुता (कृमिरुग्णता), चयापचयी विकार (जराजन्य कंडू रोग) के कारण होता है।

उपचार : खुजली होने के कारण का उन्मूलन करते हैं। औषधि के रूप में खाने को प्रतिहिस्टामिन, मेंथाल वाले अल्कोहली घोल, संज्ञाहरक, कारबोलिक एसिड

या डाइफिनाइलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड औषधि के रूप में निर्देशित किए जाते हैं।

शीतपित्ती : एक एलर्जी वाला रोग है, जिसमें ददौड़े पड़ जाते हैं और तेज खुजली होती है। यह रोग बहुत से आंतरिक या बाह्य कारकों से हो सकता है, जैसे : कुछ भोजन पदार्थों (अंडे केंकड़े, स्ट्राबेरी इत्यादि), या कुछ औषधियों (पेंसिलीन, सीरम, क्विनाइन इत्यादि), जठर-अंत्र विकार, गुर्दे और जिगर के रोग, कृमिरुग्णता, मच्छरों, खटमलों तथा मक्खियों और पिस्सू के काटने से, प्रिमरोज या बिच्छू बूटी के सीधे संपर्क में आने से, गर्म या ठंडे तापक्रम के प्रभाव से या कभी तीव्र मनोतंत्रिका दबाव पड़ने से भी शीतपित्ती हो सकती है। शीतपित्ती के ददौड़े लाल, बैंगनी या सफेद हो सकते हैं (चित्र 74) और इनमें खुजली और जलन महसूस होती है। तीव्र (कई दिनों तक रहने वाली) और चिरकारी (महीनों और सालों तक रहने वाली) शीतपिती में भेद है।

चित्र 74. पित्ती. यांत्रिक क्षोभ के स्थान पर होने वाला विस्फोट।

उपचार : तीव्र शीतपित्ती का उपचार विरेचक, अल्पसुग्राही कारक और प्रतिहिस्टामिन औषधियों से किया जाता है। चिरकारी छाजन के कारण को यदि पहचाना जा सके तो इसे दूर करना चाहिए। स्थल उपचार के लिए प्रतिकंडू औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

शिशुकंडू पिटिका (स्ट्रोफुलुस) : यह शिशु के जीवन के पहले या दूसरे वर्ष में होता है। इसका कारण पाचन क्रिया का विकार है जो रुग्णता या अति दुग्ध पोषण से होता है। इसके अन्य कारण हो सकते हैं, जैसे रोगी को मिठाई, अंडे और कभी-कभी गाय का दूध माफिक न हो या पिस्सू, खटमल और मच्छरों के काटने के प्रति शिशु अति संवेदनशील हो। त्वचा पर ददौड़े पड़ जाते हैं जिनके बीच में बाजरे के आकार की गहरी और बहुत खुजली करने वाली पिटिका होती है। कभी-कभी पिटिका के ऊपर पुटिका (जलस्फोट) बन जाती है। थोड़ी देर में ददौड़ा लुप्त हो जाता है पर पिटिका दो-तीन सप्ताह तक बनी रहती है। तेज खुजली से बच्चे को नींद में विघ्न पड़ता है और वे चिड़चिड़े हो जाते हैं। फिर पूयत्वक रोग हो जाता है।

उपचार : अल्प्सुग्राही कारक और प्रतिहिस्टामिन औषधियाँ दी जाती हैं तथा रोग के कारण को दूर किया जाता है। बाह्य चिकित्सा में प्रतिकंडू अल्कोहली घोल

तथा कार्टिकोस्टेरायड क्रीम और मलहम दिए जाते हैं।

वयस्कों की कंडू पिटिका : यह रोग स्ट्रोफुलुस की तरह बाल्यकाल में होता है लेकिन बच्चे के तीसरे और चौथे वर्ष की आयु में यह वयस्कों के कंडूपिटिका का रूप धारण कर लेता है। इनमें से बहुतों पर खून भरी पपड़ी पड़ जाती है। पिटिकाओं में बहुत तेज खुजली होती है और रोगी इन्हें तब तक खरोंचता रहता है, जब तक कि इनमें से खून न निकलने लगे। इसके फलस्वरूप रक्तभरी पपड़ी और व्रणचिह्न पड़ जाते हैं। त्वचा पर वर्णक हो जाते हैं, तथा शैवाकीभवन होता है तथा लसीका पर्व बड़ी हो जाती है।

कंडू पिटिका रोग विशेषकर ऐसे परिवार के बच्चे को होता है जिनके रहने-सहने का स्तर निम्न श्रेणी का है और जो खराब स्वास्थ्य स्थितियों में रहते हैं। यह अधिकतर यौवनारंभ के समय होता है। यह रोग सोवियत संघ में बहुत कम है।

उपचार : उचित विधान संस्थापित किया जाता है, निद्रा को सामान्य किया जाता है तथा खुली हवा में अधिकतर समय बिताया जाता है। भोजन में दूध, सब्जी और पर्याप्त मात्रा में फल और विटामिन होने चाहिए। सामान्य स्वास्थ्यवर्धक पदार्थ (लोहा, फासफोरस) दिए जाते हैं तथा प्रतिकंडू पिटिका योग स्थानिक रूप से प्रयुक्त होते हैं।

सोरियासिस

सोरियासिस एक ऐसा फैला हुआ रोग है, जिसकी हेतुकी का अभी तक पता नहीं है। इसके मूल के बारे मे कई मत हैं : तंत्रिका, वाइरस, अंतःस्रावी संक्रामक एलर्जी संबंधी दूसरे।

सोरियासिस में फोड़े-फुंसी एकरूपीय होते हैं। पिटिकाएँ बैंगनी और गोल रेखाओं में और चपटी होती हैं। इनका आकार भिन्न-भिन्न होता है। इन पर चाँदी की तरह सफेद शल्क होते हैं, जिनमें परिसरीय वृद्धि होती है और इनमें संलयन होने की प्रवृत्ति होती है। जब शल्क को उखाड़ा जाता है तो पिटिका की सतह स्टीरिन धब्बे सी होती है। बहुत सी शल्कों को उखाड़ने से पता लगता है कि शल्कों के नीचे सोरियाटिक झिल्ली है। जब इस झिल्ली को हटाया जाता है तो ओस की बूँदों की तरह का खून पिटिका की लाल सतह पर मिलता है। यह सोरियाटिक पिटिका का निश्चित लक्षण है। पिटिकाएँ संलयित होकर सोरियाटिक पैच बनाती हैं, जो कि चाँदी-से रंगवाले शल्क से ढके होते हैं (चित्र 75) सोरियाटिक फोड़े-फुंसी त्वचा की किसी भी सतह पर हो सकते हैं, पर यह विशेषकर शिरोवल्क और अंगों की प्रसारित सतह पर होते हैं। इसमें जोड़ और नाखून भी रोगी हो सकते हैं। सोरियासिस की निम्न अवस्थाएँ अलग-अलग हैं : प्रगामी अवस्था (बहुत छोटी नई पिटिकाएँ जिनके चारों ओर लाल गोल बन जाता है और जिसमें बहुधा बहुत खुजली होती है), अचल अवस्था (जिसमें

चित्र 75. सोरियासिस

और नई फुंसियाँ नहीं होती हैं और न ही खुजली होती है) प्रतिक्रमी अवस्था (पिटिकाएँ पुनः शोषित हो जाती हैं)। सोरियासिस रोग दसियों वर्ष तक बना रह सकता है।

उपचार : सामान्य और बाह्य उपचार रोगी की हालत पर निर्भर करता है। प्रगामी अवस्था में उपचार बहुत सतर्कता से करना चाहिए। इसमें अल्प सुग्राही कारक पदार्थ (कैल्शियम योग, विटामिन बी$_{12}$ और बी$_1$, सोडियम हाइपो सल्फाइट इत्यादि) दिए जाते है और विभिन्न प्रकार के स्थल उपचार किए जाते हैं। तीव्र दशा में (सामान्य प्रक्रियाओं, संधिविकृति, त्वग लालिमा में) कार्टिकोस्टेरायड मेथोट्रेक्सेस और दूसरे साइटोस्टैटिक पदार्थ प्रयुक्त किए जाते हैं। लिपायड चयापचयी विकारों में 0.25.05 ग्रा. मेथियोनाइन दिन में तीन बार या चार बार दी जाती है। 0.3 विटामिन बी$_{15}$ और 0.025-0.05 ग्रा. विटामिन बी$_{13}$ दिन में तीन बार दिए जाते हैं।
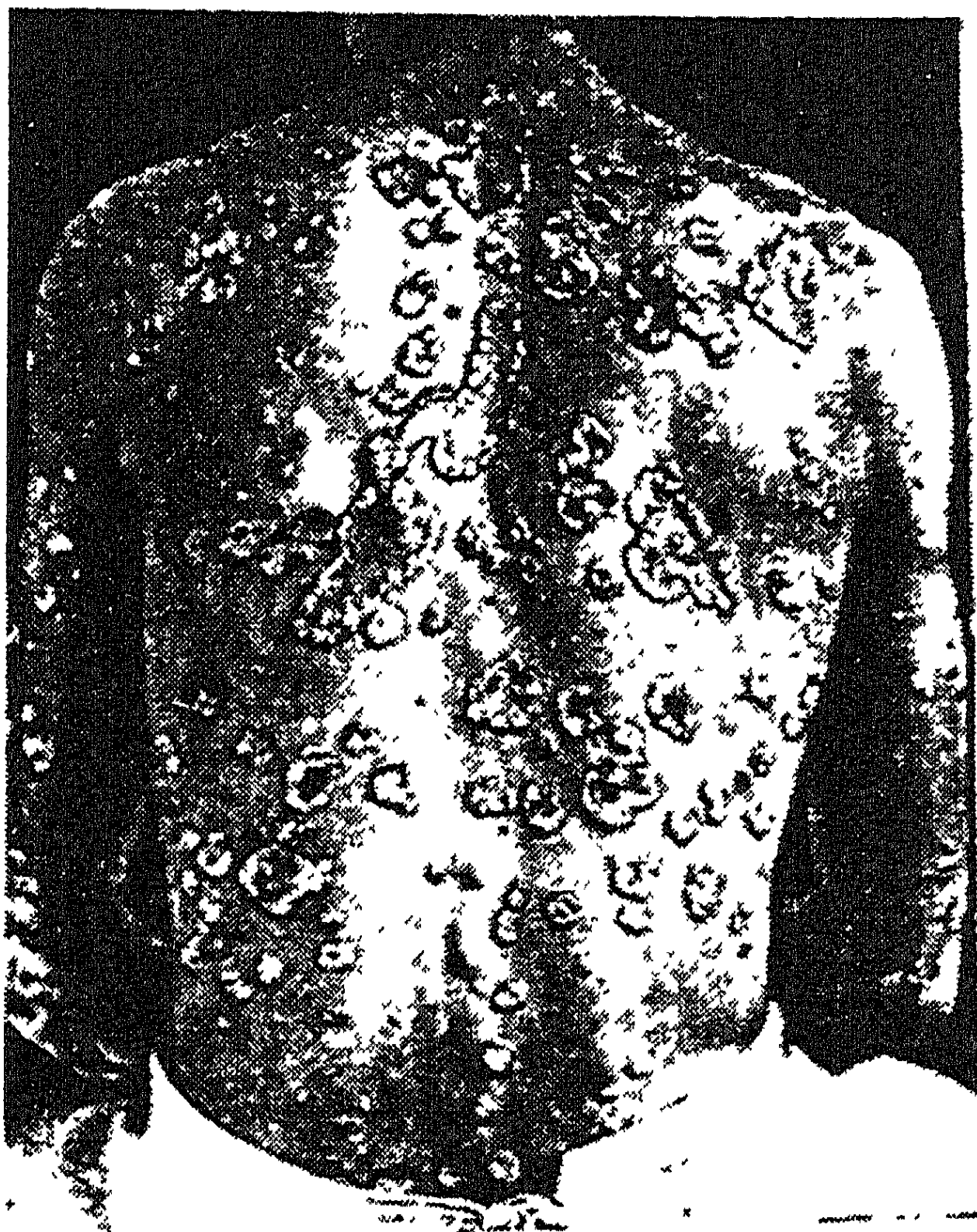
गलतुंडिका उच्छेदन या क्वार्ट्ज-दयूव चिकित्सा की जाती है। शिशुओं को गामा ग्लोव्युलिन के इंजेक्शन लगाए जाते हैं।

अचल और प्रविक्रामी अवस्था में एमिनोटटेरिन और 6-मेरकाप्टोप्युरिन 0.05 ग्रा. की टिकिया (कायचिकित्सक के नियंत्रण में) दी जाती हैं। स्वरक्त चिकित्सा, आरसेनिक योग (ऐशियाटिकी गोलियाँ, फाउलर घोल) और पाइरोजेनल तथा प्रोडीजियोसन के इंजेक्शन दिए जाते हैं। बाह्य उपचार में सैलसिलिक मलहम (2 प्रतिशत) टार, इच्छमेथाल और नैप्थालैनिक पेट्रोलैटम वाले मलहम का प्रयोग किया जाता है। रिबाकोव मलहम, सोरियासीन का प्रयोग, किया जाता है। कार्टिकोस्टेरायड मलहम (सिनालार, अल्ट्रालान, फ्लोत्सिनार तथा अन्य) का भी प्रयोग किया जाता है।

समतलशैवाक

यह एक चिरकारी त्वक रोग है जिसे शोथ रहित पिटिकाओं तथा खुजली द्वारा जाना जाता है। बहुत से वैज्ञानिक तंत्रिका तंत्र विक्षोभित क्रिया को ही इसका मूल कारण मानते हैं।

चित्र 76. र्‍यूवर प्लानस शैवाक।

इसके फोड़े-फुंसियों में बहुकोणीय पिटिकाएँ होती हैं जिनका आकार बाजरे के दाने से लेकर मसूर के दाने के बराबर होता है। इनका रंग बैंगनी लाल से लेकर बैंगनी होता है बहुत सी पिटिकाओं का केंद्रीय नाभिवन होता है (चित्र 76)। पार्श्व प्रकाश में पिटिकाओं की चमक मोम जैसी होती है। फोड़े-फुंसियों के साथ तीव्र खुजली होती है। इनकी अनुकूल स्थिति होती है : कलाइयों की आकोचनी सतह, कफोणिघादत, कक्षा, जानु पृष्ठघात और रोग के अनुभाग में। पिटिकाएँ संलयित हो जाती हैं और धब्बे बन जाते हैं। फुंसियाँ अधिकतर मुँह की श्लेषमलकला में (सफेद पिटिकाएँ छोटे जाल के रूप में व्यवस्थित होती हैं) और जननेंद्रियों पर होती हैं।

उपचार : निकोटिनिक एसिड (मुँह से या इंजेक्शन द्वारा अंतरशिरा में), प्रोकेन (अंतरपेशीय इंजेक्शन), विटामिन बी$_1$ (6 प्रतिशत घोल) ब्रोमाइड योग, डाइफिनायलहाइड्रामीन हाइड्रोक्लोराइड, डायजोलीन, ट्रायआक्वाजीन, डायजेपाम तीव्रकाल में दिए जाते हैं। पेंसिलन (200 000 इ. दिन में दो बार) या विस्तृत स्पेक्ट्रम वाले प्रतिजीवी (टेट्रासाइक्लीन, आक्सी टेट्रासाइक्लीन एराइथ्रोमाइसीन, ओलेटेट्रीन, मेटासाइक्लीन 100 000-200 000 इकाई दिन में तीन या चार बार) द्वारा 10 से 14 दिन का उपचार किया जाता है। निद्रापक चिकित्सा और परोक्ष सुझाव का भी अच्छा प्रभाव होता है। बाह्य रूप में मलहम (कार्टिकोस्टेरायड) का लेप, 5'10 प्रतिशत एनास्थेसिन का घोल, 1-2 प्रतिशत मेंथाल या कारबोलिक एसिड लगाए जाते हैं। अचल अवस्था में आरसौनक, लौह, विटामिन ए सांद्र, विटामिन बी कांप्लेक्स, एसकार्बिक एसिड और माइडाकाम के औषधि निर्देश दिए जाते हैं। अंतःसंचरित धब्बों का उपचार एक्सरे से किया जाता है। रोग के दीर्धकालिक होने पर उपचार स्वास्थ्यप्रद स्थानों (सोवियत संघ में सोची-मात्सेस्ता और प्यातीगोर्स्क) में आवास के साथ लेने की सलाह दी जाती है।

गुलाबी तुषाभ शल्कन

गुलाबी तुषाभ शल्कन एक ऐसा रोग है, जिसकी हेतुकी का पता नहीं है। इसमें गुलाबी शल्क, धब्बों वाले फोड़े-फुंसी होती हैं। वक्ष, पीठ और पेट की पार्श्व और पश्च सतहों

चित्र 77. गुलाबी तुषाभ शल्कन।

पर अंडाकार गुलाबी और लाल प्रतिरूप विभिन्न आकारों के बन जाते हैं। यह गर्दन, बाँहों और त्वचा की समानांतर रेखाओं में कम होता है (चित्र 77)। सबसे पहले बनने वाले बड़े चकत्तों को प्राथमिक चकत्ता या अग्रसूचक धब्बा कहते हैं। चकत्तों के बीच का भाग पीला पड़ जाता है तथा छोटे शल्कों से ढक जाता है और यह सलवटों वाले टिशू पेपर की तरह हो जाता है। रोगी खुजली की शिकायत करता है। दो से चार सप्ताह के बीच ये चकत्ते फीके पड़ जाते हैं और कंडू रोग शांत हो जाता है। रोग शुरू होने के दो से आठ सप्ताह के बाद रोगी ठीक हो जाता है। गुलाबी तुषाभ शल्कन हेमंत और वसंत ऋतुओं में होता है।

उपचार : रोगी भागों को साबुन और पानी से धोने की अनुमति नहीं दी जाती है। विभिन्न प्रकार के शेक लोशन और लेपों का प्रयोग किया जाता है। कैल्शियम पैंटोथिनेट की 0.5 ग्रा. की खुराक दिन में तीन बार ली जाती है।

छालेदार और जलस्फोटी त्वक रोग

अधिक प्रचलित छालेदार त्वकरोगों में हरपेक्स सिंप्लेक्स, हर्पीस जोस्टर, हर्पेटीफौर्मस (हर्पीसम) त्वकशोथ (ड्यूरिंग रोग) और पेंफीगस शामिल हैं।

हर्पीस सिंप्लेक्स : यह रोग निस्यंदी विषाणुओं से होता है जो गुप्त रूप से शरीर में मौजूद रहते हैं। सर्दी-जुकाम, विषालुता और जठर-आंत्र विकारों से विषाणुओं की सक्रियता बढ़ जाती है।

फुंसियाँ अधिकतर होंठों, नथुनों के सिरे, मुँह और जननेंद्रियों पर होती हैं। बाजरे के आकार वाली पुटिकाओं का समूह सामान्य या अतिरिक्त और शोथीय त्वचा पर या श्लेष्मल कला पर बनता है। पुटिकाओं में स्वच्छ तरल भर जाता है और इसमें खुजली और जलन होने लगती है। थोड़े दिनों में ये फट जाती हैं और इनके स्थान को महीन पपड़ी ढक लेती है। चिरकारी और बार-बार होने वाली प्रत्यावर्ती हर्पीस सिंप्लेक्स, जो बहुधा होंठों और जननांगों पर होते हैं, रोगी को विशेष रूप से बहुत कष्ट देते हैं।

उपचार : हर्पीस सिंप्लेक्स के विकार स्थान पर अनीलीन रंजक का लेप करते हैं तथा बोरिक एसिड (3 प्रतिशत) और टार (2 प्रतिशत) वाला मलहम और कैस्टेलानी पेंट लगाते हैं। चिरकारी और प्रत्यावर्ती हर्पीस में कभी-कभी चेचक के तीन या चार वैक्सीन (टीके) देने से भी असर होता है। वैक्सीनेशन की प्रक्रिया स्वीकारात्मक होने पर प्रभाव अधिक होता है। एक दिन छोड़कर गामाग्लोब्यूलिन और स्टैफाइलोकोकल वैक्सीन के इंजेक्शन (अंतरात्वचीय 0.2-0.3-0.5-1.0 मि. ली. एक दिन बीच देकर) दिए जाते हैं। डी.डी.एस. योग 0.005-0.01 ग्रा. की खुराक में दिन में दो बार दिए जाते हैं। बाह्य उपचार में इंटरफेरोन को लोशन या पेस्ट के रूप में (इंटरफेरोन और पोषक क्रीम बराबर मात्रा में) लगाया जाता है और स्थानिक स्थान 0.25 प्रतिशत पोटैशियम परमैंगनेट घोल डाला जाता है।

हर्पीस जोस्टर : तंत्रिका प्रेरित निस्यंदी विषाणुओं से होता है। हर्पीस जोस्टर पुटिकाएँ एक या दूसरी तंत्रिका पर व्यवस्थित होती हैं। ये गुच्छों के रूप में या अपूर्ण मेखला जैसी होती है और इसीलिए इसे यह नाम दिया गया है (ग्रीक 'जोस्टर'-मेखला)। पुटिकाएँ और फफोले बहुधा सपूय या रक्तस्रावी रूप ले लेते हैं। इनमें तीव्र पीड़ा होना एक सामान्य बात है। यह रोग भी अधिकतर वसंत और शरद ऋतुओं में होता है।

उपचार : हर्पीस जोस्टर से पीड़ित व्यक्तियों को स्नान नहीं करने दिया जाता। स्वस्थ त्वचा के भागों में को बोरिक एसिड से साफ किया जाता है। तीव्र विस्फोट होने पर विभिन्न प्रकार के छिड़कने वाले पाउडर लगाए जाते हैं। सोडियम सैलीसिलेट और प्रतिहिस्टामिन औषधियाँ खाने को दी जाती हैं। तंत्रिकार्ति पीड़ा के हरण के लिए अनाल्जिन और एमिडोपायरीन 0.25 ग्रा. की खुराक में दिन में तीन बार दिया जाता है। तीव्र लक्षणों के शांत होने पर पराबैंगनीकिरणन तथा स्वरक्त चिकित्सा की जाती है। विटामिन $बी_{12}$ (400-500 माइक्रोग्राम, एक दिन छोड़कर) और बिटामिन $बी_1$ (50 मिलिग्राम प्रतिदिन) दिया जाता है। कुल 20 इंजेक्शन लगते हैं। प्रतिजीवी चिकित्सा गैगरीन (कोथ) और सामान्य रूप में दिए जाते हैं। बाह्य उपचार के रूप में अनीलीन रंजक, इंटरफेरोन घोल के लोशन और कैस्टेलानी लेप दिए जाते हैं।

हर्पीसम त्वकशोथ (ड्यूरिंग रोग) : इस रोग की हेतुकी और रोगजनकता अज्ञात

है। बहुत से वैज्ञानिकों का विश्वास है कि इस रोग के कारक अति सूक्ष्मविषाणु हैं। यह रोग अधिकतर वयस्कों को होता है। इसकी फुंसियाँ बहुरूपीय (चकत्ते, पिटिका, ददोड़े, पुटिकाएँ और कभी-कभी पूयस्फोटिका) तथा सममितीय होती हैं। तीव्र खुजली का अनुभव होता है। इसकी बहुधा पुनरावृत्ति होती है। इसकी विक्षति का दौर होता है। ये समूह में माला के रूप में और मुद्रिका के रूप में होते हैं। इनके वर्णक क्षेत्र में रह जाते हैं।

रोग लक्षण के चित्र से निदान में सहायता मिलती है। इसके विशेष लक्षण हैं, तीव्र कंडू रोग, रक्त में इओसिन रोगी कोशिका की बहुलता और इसकी पुटिकाओं में 40 से 50 प्रतिशत तरल पदार्थ का होना। आयोडीन टेस्ट स्वीकारात्मक होते हैं (50 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड वाले मलहम को त्वचा पर लगाने से 24 घंटे में नई फुंसियाँ बन जाती हैं। यही असर 5-10 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड घोल के पीने से होता है)। यह रोग दीर्घकालीन स्थायी होता है (पाँच से दस वर्ष तक रहता है) और फिर चिरकारी रूप ले लेता है।

उपचार : बड़े ददौड़ों को निष्क्रमित कैंची से काट दिया जाता है। पस और पपड़ी को गाज टैंपन से हटा कर इस पर टैल्कम पाउडर लगाते हैं। छोटी पुटिकाओं पर कैस्टलानी पेंट लगाया जाता है। मुँह से खिलाने वाली औषधि में डी.डी.एस. होता है, जिसे 0.005 ग्रा. की खुराकों में दो बार प्रतिदिन चार से आठ सप्ताह तक दिया जाता है। रेशोचिन 0.25 ग्रा. दिन में तीन बार दस दिन तक दी जाती है और उपचार को पाँच दिन के अंतराल पर दोहराया जाता है। यह पूरा उपचार चार से छः सप्ताह तक चलता है। तीव्र दशा में स्टेरायड हार्मोन छोटी खुराकों में दिए जाते हैं। पूय स्फोटिकता में प्रतिजीवी चिकित्सा दी जाती है।

पेंफीगस वल्गैरिस : यह एक तीव्र चिरकारी रोग है जो कार्टिकोस्टेरायड हार्मोन को प्रयोग में लाने से पूर्व एक जानलेवा रोग था (अब कार्टिकोस्टेरायड के प्रयोग से बहुत से रोगियों का जीवन बचा लिया जाता है)।

पेंफीगस की हेतुकी का अभी तक पूरी तरह से पता नहीं चला है। तंत्रिका रोगजनक, चयापचयी, विषाणुज तथा रोग की उत्पत्ति के अन्य तथ्यों को बताया गया है।

पेंफीगस वल्गैरिस फफोलों में स्वच्छ नीबू के रंग वाला तरल होता है। ये फफोले सामान्य त्वचा और श्लेष्मलकला पर होते हैं। ये पहले मुँह, गलतोरणिका और नाक पर होते हैं और उसके बाद त्वचा पर। ये फफोले जल्दी ही पिलपिले हो जाते हैं और इनका द्रव्य पपड़ी के ऊपर आने लगता है या अधिकतर ये विदारित होकर फोड़े का रूप ले लेते हैं। यदि कोई उपचार न किया जाय तो फफोला बना रहता है और नए फफोले भी बन जाते हैं और रोगी के भोजन करते समय इसमें बहुत पीड़ा होती है। पेंफीगस के रोगी से अरुचिकर फफूँदी जैसी गंध आती है। उनकी

सामान्य हालत बहुत कमजोर होती है।

निकोल्स्की चिह्न के स्वीकारात्मक होने का रोग के निदान में बहुत महत्त्व है। इसमें पुटिका के पास की त्वचा और दूर की त्वचा को आसानी से अलग किया जा सकता है और फिर इनके आलेप की छाप से एकेंथोलिटिक कोशिकाओं (बड़े के केंद्रक वाली) को पहचाना जाता है।

उपचार : जिन फफोलों को निष्क्रमित सुई से विदारित या छेदा नहीं गया है उसके द्रव्य को निष्क्रमित गाज या रुई टैंपन से निकाल दिया जाता है। पपड़ियों को हटाने के लिए सुर्यमुखी के तेल वाली पट्टी की जाती है। जेरोफोर्म, प्रेडनी सोलोन या 1 प्रतिशत हैलियोमाइसीन मलहम फुंसियों पर लगाया जाता है।

कार्टिकोस्टेरायड हारमोंस औषधीय प्रयोग सामान्य चिकित्सा की मुख्य विधि है। यह पहले बड़ी खुराकों में दिया जाता है (60-120 मि. ग्रा. प्रेडनीसोलोन, 6-10 मि. ग्रा. डेक्सामेथाजोन, 20-60 मि. ग्रा. ट्राइएमसिनोलोन)। पर बाद में स्टेरायड पदार्थ की मात्रा धीरे-धीरे घटाकर निम्नतम खुराक तक पहुँचाते हैं, जिससे फिर नई फुंसियों नहीं बनतीं। लाक्षणिक चिकित्सा (हृदयक्रिया उद्दीपकों, निर्विषीकरण उपाय, विटामिन) का बहुत महत्त्व होता है। विशालुता से (त्वग लालिमा और विषालुत्वक रोगों में) छुटकारा पाने के लिए शरीरवृत्तिक सैलाइन घोल का अंतरशिरा आधान किया जाता है। शुरू में प्रत्येक आधान 10 मि.ली. का किया जाता है। यदि धमनी चाप बढ़ा हुआ हो तो आधान नहीं किया जाता है।

खुराक में प्रोटीन, सब्जियाँ और फल तथा विटामिन प्रचुर मात्रा में होने चाहिए।

त्वचा ग्रंथियों के रोग

त्वक स्रावी एक ऐसी स्थिति में जिसमें त्वकवसीय ग्रंथियों का स्राव घटा या बढ़ा होता है। इससे त्वकवसा की भौतिक और रासायनिक संरचना में परिवर्तन होता है। त्वक स्रावी बहुधा यौवनारंभ के समय होता है, क्योंकि इस समय अंतःस्रावी, विशेषकर लिंग ग्रंथि की क्रिया में गड़बड़ी मचती है।

त्वक वसा स्रावी और **शुल्क त्वक स्राव** के अलग-अलग प्रकार होते हैं।

त्वक वसा स्रावी से त्वचा चिकनी लगती है और यह खुरदरी मोटी और छिद्र वाली होती है। शिरोवल्क, नाक मत्थे के बीच का भाग, गाल, चिबुक तथा पीठ और छाती के बीच के भाग त्वक वसा स्रावी क्षेत्र होते हैं। सूखे त्वक स्राव में केराटीकरण की क्रिया में गड़बड़ी होती है और भूसी या शल्क (फेहास) होता है तथा साथ में सिर का कंडू रोग हो जाता है। धूल और गंदगी बालों के लोमकूप छिद्रों में भर कर त्वक वसीय ग्रंथियों के स्राव से मिलकर त्वक (काले बिंदु) बनाते है। शिरोवल्क के त्वक स्राव से पुरुष गंजे हो जाते है। और स्त्रियों के केश पतले हो जाते हैं।

उपचार : सही सामान्य विधान बनाना चाहिए और अनुषंगी रोगों का उपचार

करना चाहिए। शुद्ध गंधक के योग (0.5 ग्रा. दिन में तीन बार चार सप्ताह तक) और लौह, विटामिन बी$_{12}$ तथा विटामिन ए लिए जाते हैं। बाह्य चिकित्सा के लिए अल्कोहलीय घोल, महलम, जिनमें गंधक (3-5 प्रतिशत), रेसार्सिनाल (1-2 प्रतिशत), कपूर (2-5 प्रतिशत) और सैलीसिलिक एसिड (1-2 प्रतिशत) प्रयुक्त होते हैं।

ऐकनी वलगैरिस या सामान्य ऐकनी त्वक वसीय ग्रंथियों का सपूय शोथ है। यह रोग त्वक स्रावी से पीड़ित 14 से 22 वर्ष की अवस्था वाले लोगों को होता है। त्वकवसीय और बाल के लोम कूप त्वक वसा से बंद हो जाते हैं, जिससे त्वचा की पेशियों का तान घट जाता है और इसके फलस्वरूप ग्रंथियों का उत्सरण कम हो जाता है। धूल और गंदगी से त्वक कील बन जाती है, जबकि अनुषंगी स्टैफिलोकोकस संक्रमण से त्वकवसीय ग्रंथियों और आस-पास के ऊतकों में शोथ हो जाता है। ऐकनी वल्गैरिस अधिकतर चेहरे, छाती और पीठ पर होता है। इसकी पूय स्फोटिकाएँ नुकीली होती हैं और ये मटर के दाने के बराबर हो सकती हैं। इनके नीले गुलाबी धब्बे पड़े जाते हैं। गहरी ऐकनी विक्षति का क्षत चिह्न रह जाता है।

उपचार : इसका उपचार वही है जो कि त्वक वसा स्राव में दिया जाता है, पर पूयत्वक रोग को बढ़ने से रोकने के उपाय करने चाहिए। इनमें प्रतिरक्षा चिकित्सा, प्रतिजीवी, विटामिन, लिंगी हारमोन (साइनोएस्ट्राल, हैक्सेस्ट्राल, फौलीकुलाइन, इस्ट्रोन) सम्मिलित हैं।

त्वचा के दुर्दम गुल्म (अर्बुद)

त्वचा का कैंसर उपकला कोशिकाओं से होता है (दुदर्म उपकला अर्बुद) और वर्णक कोशिकाओं से (मेलानोमा) बहुत कम होता है।

दुर्दम उपकला अर्बुद त्वचा के पूर्व कैंसर के रूप में विकसित होता है (अर्थात त्वचा के कैराटीकरण के परिगत विकारों से)। लगातार मशीनी क्षोभन, विकिरण, ऊर्जा के प्रभाव, एक्सरे इत्यादि कैंसर होने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। त्वचा के आधारी कोशिका कार्सीनोमा और पट्टकी कोशिका कार्सीनोमा को अलग-अलग पहचाना जाता है।

आधारी कोशिका कार्सीनोमा एक या अधिक छोटी पीड़ा-रहित पिटिकाओं के रूप में प्रकट होता है तथा नाक, पलकों तथा मत्थे पर मोती सा बन जाता है। यह त्वचा के अन्य भागों में कम होता है। इन पिटिकाओं का धीरे-धीरे संलयन हो जाता है जैसे पालिश की हुई हो, यह पपड़ी से ढकी होती है। व्रण के चारों ओर पिटिकाओं का दृढ़ीभूत किनारा होता है (चित्र 78)। आधारी कोशिका कार्सीनोमा धीरे-धीरे बढ़ता है और यह अपेक्षातः सुदम होता है और इसमें बहुधा विक्षेप उत्पन्न नहीं होता है।

पट्टकी कोशिका कार्सीनोमा अधिकतर निचले होंठ, जननांगों और प्राकृतिक छिद्रों के स्थान पर होता है। यह बहुत तेजी से दुर्दम रूप ले बढ़ता है। श्लेष्म कला

चित्र 78. बसाल कोशिका दुर्दम उपकला अर्बुद (आधार कोशिका दुर्दम उपकला अर्बुद)।

पर होने वाली पिटिकाएँ या अधिमासी और अंकुरक वृद्धि कुछ ही महीनों में व्रण का रूप ले लेती हैं। व्रण की किनारी दृढ़ीभूत होती हैं और इसमें से रक्त रिसता है। व्रण तेजी से बढ़ता है और ऊतकों (नाक, होंठ, इत्यादि पर) के बड़े भाग को नष्ट कर देता है तथा इस क्रिया (विक्षेप) में पास की लसीका पर्व भी प्रभावित होता है। यदि मूलभूत उपचार न किया जाय तो रोगी की मृत्यु 12 से 18 महीनों में हो जाती है।

उपचार : आधारी कोशिका कार्सिनोमा को शल्य चिकत्सा से निकाल दिया जाता है या एक्सरे, विघटनाभिक आइसोटोप या गोरदीव घोल के अंतःसंचरण से इसकी चिकित्सा की जाती है। छोटे दुर्दम उपकला अर्बुद को क्रोयो चिकित्सा या शल्यीय डायथर्मी से निकाल दिया जाता है। पट्टिका कोशिका का उपचार अर्बुद प्रकरण चिकित्सालयों में किया जाता है।

मैलेनिन कोशिका अर्बुद बहुधा ऐसे न्यच्छ से शुरू होता है, जो उद्दीप्त हो। वर्णक धब्बा बनना शुरू हो जाता है। रक्तस्राव होता है, व्रण बनता है और चारों ओर लाल गोला बन जाता है। आंतरिक अंगों का विक्षेप तेजी से बढ़ कर मृत्यु का कारण बन जाता है।

उपचार : मैलेनिन कोशिका अर्बुद का उपचार शल्य चिकित्सक और विघटनाभिक द्वारा अर्बुद प्रकरण चिकित्सालयों में किया जाता है।

समय से मैलेनिन कोशिका अर्बुद का निदान हो जाना आवश्यक है।

त्वचा के मैलेनिन रोगों की रोकथाम कैंसर से पूर्व की स्थितियों के सही और ठीक समय पर उपचार से की जाती है। सारी आबादी की पूरी डाक्टरी जाँच की जानी चाहिए तथा विस्तृत रूप से स्वास्थ्य शिक्षा दी जानी चाहिए।

रतिज रोग

रतिज रोग (रति—प्यार की देवी) अधिकतर लैंगिक संभोग से संचरित होते हैं। रोग के इस समूह में सिफिलिस, सूजाक, शैकराभ और विकार स्थिति का चौथा रतिज रोग सम्मिलित है। सोवियत संघ में अंतिम दो रोगों का सफाया किया जा चुका है।

सिफिलिस

सिफिलिस एक चिरकारी संक्रामक रोग है जो ट्रेपोनेमा पैलेडम (स्पाइरोखेट) से होता है। मनुष्य के शरीर के सभी अंग और ऊतक, त्वचा, श्लेष्मल कला, आंतरिक अंग, तंत्रिका तंत्र इस रोग की लपेट में आ जाते हैं। टी. पैलेडम की खोज 1905 में हुई थी। इसे यह नाम इसलिए दिया गया कि रंजक के साथ इसका निशान हल्का होता है (एल. पैलेडम फीका)। जीवित अवस्था में इसका अध्ययन वहुधा सूक्ष्मदर्शी की काली पृष्ठभूमि में किया जाता है। सिफिलिस स्पाइरोखेट एक कोमल तंतु है जिसमें 8 से 14 समरूप कुंडलियाँ होती हैं (चित्र 79)। मनुष्य शरीर से बाहर होने पर यह सूक्ष्मजीवी सूखने से 60^0 सें. की गर्मी विसंक्रामकों और साबुन से जल्दी मर जाता है, पर आर्द्र वातावरण में और निम्न ताप पर यह प्रतिरोधी होता है। जमा किए हुए रक्त में यह तीन से पाँच दिन तक जीवन क्षम होता है इसलिए रक्त दान करने वालों की सिफिलिस के लिए ध्यानपूर्वक जाँच करना आवश्यक है।
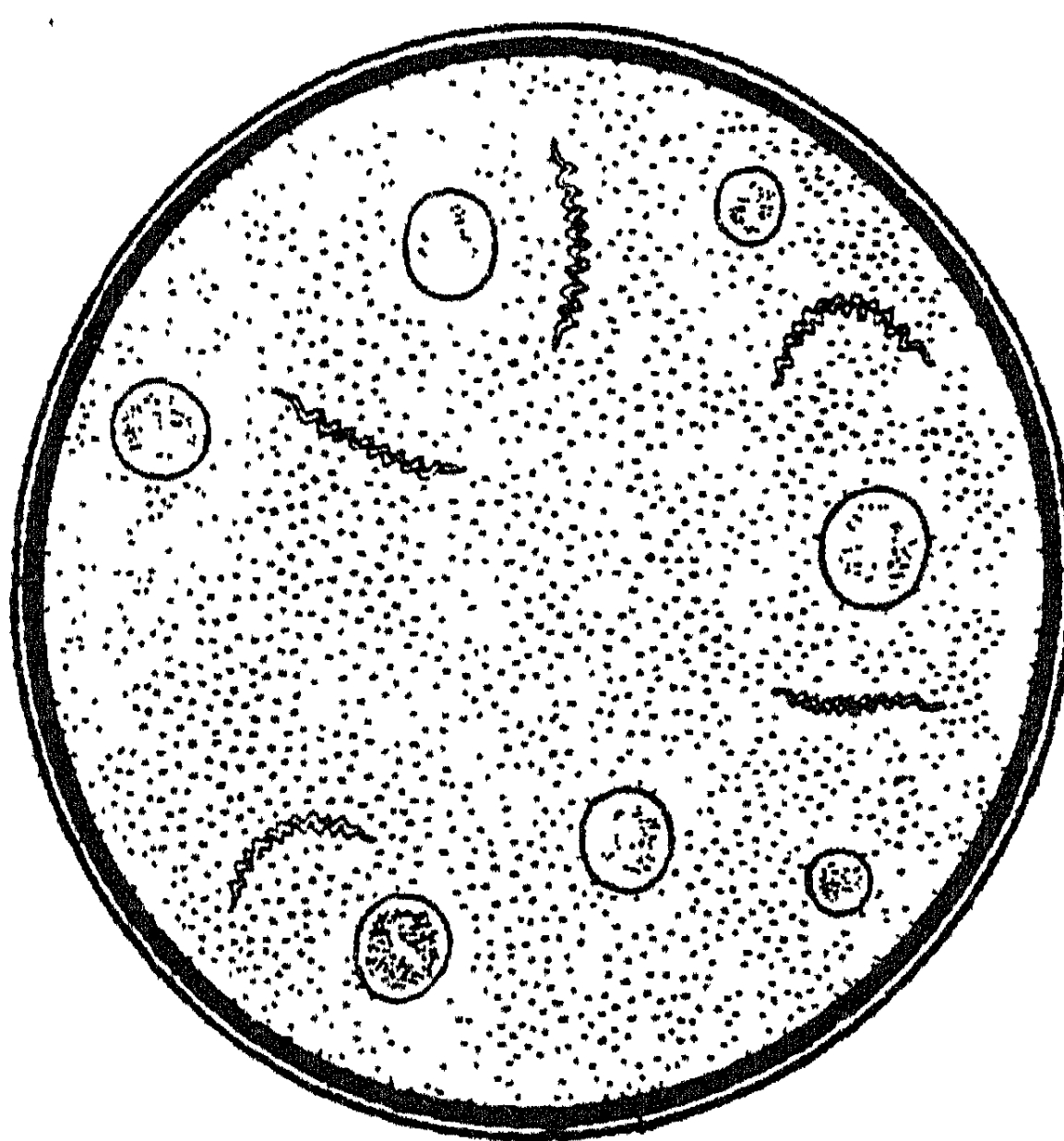
चित्र 79. अंधक्षेत्र सूक्ष्मजीवी में दिखाई देने वाला ट्रेपोनेमा पैलेडम।

यह साबित हो चुका है कि शरीर में टी. पैलेडम का रूप कुंडलीकार

होने की अपेक्षा गोलीय भी हो सकता है। सूक्ष्मजीवी के जीवित रहने की प्रतिकूल परिस्थितियों में यह रूपांतरण होता है। अभिघात टी. पैलेडम के कुंडलीय रूप में रूपांतरण के लिए सहायक है, जिसका प्रकोप सिफिलिस के संक्रमण के रोग लक्षण होते हैं। शारीरिक, मानसिक और चिकित्सकीय अभिघात के अलावा तीव्र गंभीर रोग, चिरकारी संक्रमण और विषालुता से उत्क्रमण में आसानी होती है।

सिफिलिस के संक्रमण के पथ स्वस्थ मनुष्य के संक्रमण का मूल कारण वह रोगी व्यक्ति है जिसमें रोग के सक्रिय संसर्गन की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। चोट लगी हुई त्वचा या श्लेष्मल कला के ऐसे पदार्थो के संपर्क में आने मे सिफिलिस हो सकती है, जिसमें टी. पैलेडम सूक्ष्मजीवी हों। अक्षत त्वचा या श्लेष्मल कला में ये सूक्ष्मीजीवी प्रवेश नहीं कर सकते हैं, पर इनमें तनिक टूट (चोट होने) के द्वारा ये शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

सिफिलिस के संक्रमण विशेषकर लैंगिक संभोग से, चुंबन से या सिफिलिस वाले रोगी के शिशु का स्तनपान कराने से होता है। रोगी व्यक्ति द्वारा त्यागे गए संसर्गन पदार्थो से संदूषित वस्तुओं के द्वारा यह संक्रमण कम होता है : जैसे सार्वजनिक प्रयोग के लिए चम्मच, छुरी-काँटे, बिना धुले प्याले, रोगी व्यक्ति से सिगरेट की साझेदारी, इत्यादि। यदि चिकित्सा कर्मी संक्रमित और विसंक्रमण-रहित उपकरणों (दंतचिकित्सा उपकरण, योनिवीक्षक, इत्यादि) का इस्तेमाल करते है। तो अन्य रोगियों को यह रतिज रोग हो सकता है। यदि डाक्टरी जाँच के दौरान सभी सावधानियाँ न बरती जाएँ तो एक रोगी से दूसरे रोगी को सिफिलिस का संक्रमण हो सकता है। ऐसी घटनाएँ प्रसूति सहायकों, स्त्री रोग विशेषज्ञों, मुखरोग विज्ञानियों, रतिजरोग विशेषज्ञों और टी. पैलेडम इत्यादि वाले पदार्थो का परीक्षण करने वाले प्रयोगशाला कर्मियों के मामले में होती हैं। ऐसे संक्रमण से बचने के लिए अपने हाथों का ध्यान रखना चाहिए और त्वचा चोट रहित होनी चाहिए तथा हाथों में 1 : 1000 करोसिब सब्लीमंट का घोल मलना चाहिए। रोगी का परीक्षण करने के बाद हाथों को साबुन से धो लेना चाहिए (सिफिलिस के संसर्गी अवस्था वाले रोगी के परीक्षण के बाद यह अत्यंत आवश्यक है)। सिफिलिस से पीड़ित रोगी के रक्तदान का सीधा आधान करने के सिफिलिस के संक्रमण की घटनाएँ बहुत कम होती है।

सिफिलिस की सामान्य प्रक्रिया

पशुओं पर प्रयोग करने से यह निश्चित हो गया है कि टी. पैलीडम संक्रमण के प्रथम कुछ मिनटों और घंटों में ही इनका जनन सक्रिय रूप से होने लगता है और ये ऊतकों की गहराइयों में तथा साथ ही लसीका पर्वो में प्रवेश कर जाते हैं और फिर लसीका तथा रक्त के द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों और ऊतकों में आ जाते हैं। रोग के प्रथम लक्षण की अभिव्यक्ति तीन से चार सप्ताह में होती है। संक्रमण और प्रथम

लक्षण दिखने के अंतराल को उष्मायन काल कहते हैं। इस समय शरीर में रोग प्रतिरक्षा का पुनर्गठन होता है। अंतरालों के परिवर्तन से सिफिलिस की सामान्य प्रक्रिया लक्षित होती है : सक्रिय अभिव्यक्ति के बाद रोग का गुप्त काल होता है। रोग के सक्रिय काल प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक अवस्थाओं में होते हैं। यदि उपचार न किया जाय तो ये एक के बाद एक अवस्थाएँ आने लगती हैं। इनके अतिरिक्त सिफिलिस की देर वाली अवस्था में तंत्रिका तंत्र और आंतरिक अंगों की सिफिलिस हो जाती है। रोग का एक दीर्घ स्थायी लक्षण-रहित काल होता है, जिसमें संक्रमण के बाद सिफिलिस के कोई बाह्य लक्षण नहीं होते और कई वर्षों के बाद तंत्रिका तंत्र या आंतरिक अंगों की सिफिलिस का रक्त की सीरमी प्रक्रिया से पता लगता है। यह संभव है कि उन लोगों में सिफिलिस बिना लक्षणों के हो, जिनके शरीर में टी. पैलेडम सिस्ट या एल-रूप में हो।

सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था

सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था में विशिष्ट लक्षण हैं--**कठोर शैंकर,** क्षेत्रीय श्वेत पटल त्वक और कभी-कभी लसीका शोथ।

उष्मायन काल के उपरांत बहुधा तीन या चार सप्ताह में कठोर शैंकर विकसित होता है और यह उस स्थान पर होता है, जहाँ से टी. पैलेडम ने शरीर में प्रवेश किया है। कठोर शैंकर बहुधा जाना जननांगों की त्वचा और श्लेष्मल कला पर होते हैं तथा जंघाओं, जघनास्थियों और पेट में बहुत कम होते हैं। जननांगेतर कठोर शैंकर होंठों, जिह्वा टौंसिल, पलकों और उँगलियों इत्यादि में हो सकते हैं।

चित्र 80. प्राथमिक सिफिलिसी व्रण।

कठोर शैंकर का रोग लक्षण चित्र बड़ा विलक्षण होता है। यह एक निर्धारित सीमा वासी फुंसी होती है, जो ठीक गोलाकार या अंडाकार या छोटी तश्तरी जैसी शक्ल की होती है तथा इसका आकार छोटी उँगली के नाखून के बराबर तक हो सकता

है। इसका रंग लाल मांस या दूषित गोवसा जैसा होता है। यह फुंसी अपने परिसर में कुछ ऊपर उठी होती है और धीरे-धीरे फर्श की ओर ढाल लिए होती है (तश्तरी के आकार में)। अपर्याप्त सीरमी स्राव होने से शैंकर चमकीला वार्निस किया जैसा हो जाता है (चित्र 80 ओर 81)। फुंसी की जड़ में गाढ़े लोचदार सघनता वाले

चित्र 81. निचले होंठ का कठोर शैंकर

परिस्पर्शन अंतःसंचरण का होना कठोर शैंकर का विशेष लक्षण है (इसीलिए इनका नाम कठोर शैंकर और प्राथमिक काठिन्य है)। व्रण युक्त कठोर शैंकर बहुत कम होता है। इसके किनारे थोड़े उठे हुए होते हैं और अंतःसंचरण अधिक स्पष्ट होता है। व्रण युक्त कठोर शैंकर के ठीक हो जाने पर व्रण चिह्न पड़ जाता है (जब कि अपरद शैंकर के ठीक हो जाने पर कोई चिह्न नहीं रहता)। अंधक्षेत्र परीक्षा से कठोर शैंकर के स्राव में टी. पैलीडम जीवाणु आसानी से दिखाई देते हैं।

प्ररूपी कठोर शैंकर (एमाइग्डेलाइटिस शैंकर दृढ़ताभूत शोथ और बिसहरी शैंकर) का रोग बहुत कम पाया जाता है। जब पूयजन्य संक्रमण में कठोर शैंकर होता है तो लाली बहुत होती है तथा शोथ हो जाता है। इसका स्रवण प्रचुर और सपूय होता है और यह मुलायम लगता है। फाइमोसिस (जब शिश्न मुंड के ऊपर की त्वचा शोथ और सूजन के कारण सरलता से शिश्न से हटाई नहीं जा सकती) हो जाने से कठोर शैंकर और जटिल हो जाता है। पैराफाइमोसिस (शिश्नमुंड की त्वचा की सलवट पर अवरोधन से) तथा आसपास के ऊतकों में कोथ (गैंग्रीन) होने से भी कठोर शैंकर जटिल रोग बन जाता है।

कठोर शैंकर से शुरू होने क बाद सात से दस दिन में **श्वेत पटल डेनाइटिस** यह गिल्टी बन जाती है। कठोर शैंकर के सबसे निकट का लसीका पर्व (अधिकतर वंक्षण पर्व) मटर या पिंघल के आकार का हो जाता है और गाढ़ी लोचदार सघनता से युक्त हो जाता है। ये पड़ोस के ऊतकों और त्वचा से लगे नहीं रहते हैं तथा पीड़ा रहित होते हैं। इसके ऊपर की त्वचा सामान्य होती है।

सिफिलिसी लसीका वाहिनी शोथ (लसीका वाहकों का शोथ), जो सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था का तीसरा लक्षण है, बहुत कम होता है। लसीका वाहिका (जो कि बहुधा शिश्न के पृष्ठ पर होती हैं) कठोर, पीड़ा-रहित डोरी की तरह परस्पर्शित होती है।

सिफिलिस की प्राथमिक अवस्था के दो चरण होते हैं : 1) **प्राथमिक ऋण सीरमी सिफिलिस**–कठोर शैंकर बनने से लेकर रक्त में धनात्मक सीरमी प्रतिक्रिया (वासरमान और अवसादी परीक्षणों में) प्राप्त होने तक का अंतराल है; 2) **प्राथमिक धन सीरमी सिफिलिस**–धनात्मक सीरमी प्रतिक्रिया प्राप्त होने के क्षण से लेकर प्राथमिक सिफिलिस की अभिव्यक्ति के लोप हो जाने (जैसा की अक्सर होता है) और सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था शुरू होने तक का अंतराल। यदि प्राथमिक अवस्था के लक्षण लुप्त हो जाते हैं और द्वितीयक अवस्था के लक्षण अव्यक्त रहते हैं (ऐसा विशेषतः खास इलाज के कारण होता है), तो **प्राथमिक अव्यक्त सिफिलिस** रोग होता है। द्वितीय अवस्था की विक्षतियाँ कठोर शैंकर होने के पाँच से सात सप्ताह में, या संक्रमण शुरू होने के क्षण से आठ या दस सप्ताहों के बाद, प्रकट होती हैं। कुछ रोगियों में इसके पूर्व कमजोरी, अस्वस्थता, सिरदर्द, हड्डियों और जोड़ों में दर्द, आदि हो जाता है।

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था में त्वचा और श्लेष्मल कला पर बहुरूपी आकृतिक विक्षति वाली फुंसियाँ हो जाती हैं। सिफिलिस को द्वतीयक अवस्था के दो भागों में बाँटा जाता है : **द्वितीयक अभिनव सिफिलिस,** जिसमें फुंसियाँ पहली बार होती हैं; और **पुनरावर्ती द्वितीयक सिफिलिस,** जिसमें फुंसियाँ बार-बार कुछ समय के पश्चात होती रहती हैं। यदि उपचार न किया जाय तो सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था की पुनरावृत्ति दो से चार वर्ष में कई बार होती है। फुंसियों के द्वारा होने से पहले **द्वितीयक गुप्त (अव्यक्त) सिफिलिस** का निदान किया जाता है। द्वितीयक काल में विक्षति का होना, इसका लुप्त होना, इनकी संख्या और इनके आकृतिक गुण टी. पैलीडम की सक्रियता की अवधि और रोगी के शरीर की प्रतिरोग क्षमता से संबंधित होते हैं। द्वितीयक अवस्था (**द्वितीयक सिफिलाइड**) की फुंसियों की आम बातें निम्नलिखित हैं : ये एक क्षेत्र पर स्थानिक होती हैं, इनकी बहिर्रेखाओं की गोल और

साफ निश्चित सीमा होती है, इनकी फुंसियों में गल कर जुड़ने की प्रवृत्ति नहीं होती, ये गुलाबी-लाल रंग की तथा नीली वर्ण आभा वाली होती हैं, स्वप्रत्यय विकार नहीं होते और विक्षति सुदम्य स्वभाव की होती है (ये अपना कोई चिह्न छोड़े बिना लुप्त हो जाती हैं)। द्वितीयक सिफिलिस में (रसोली) रक्तधर चकत्ते, पिटिका और कभी-कभी पूय स्फोटिका होती हैं। द्वितीयक अभिनव सिफिलिस में सिफिलाइड छोटी-छोटी तथा प्रचुर मात्रा में होते है तथा सममितीय रूप से व्यवस्थित होते हैं। पुनरावृत्तिक द्वितीयक सिफिलिस में सिफिलाइड इससे बड़े, संख्या में कम होते है। और बहुधा सममितीय रूप से व्यवस्थित नहीं होते हैं और इनकी प्रवृत्ति एक समूह बनाने की होती है (विभिन्न प्रकार की आकृतियों, माला या चाय के रूप में)। द्वितीयक सिफिलिस में वासरमान और अवक्षेपन जाँच सदैव ही सुस्पष्ट, धनात्मक (4+और 3+) होती है।

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था सबसे ज्यादा होने वाली आकृतिक विक्षिति **रोजेला या चित्तिक सिफिलाइड** है। ये गुलाबी लाल होती हैं और चकत्ते नीली वर्ण आभा के होते हैं जो दबाने से लुप्त हो जाते हैं और इनकी बहिर्रेखाएं गोल होती हैं। चकत्ते मसूर के बराबर होते हैं और ये त्वचा के स्तर से ऊपर उठे नहीं होते (प्लेट II) (कभी-कभी उभरी हुई शीतभित्ति रोजेला होती है)। इनमें शल्कन नहीं होता है। जब ये उपशमित होते है। तो ये बिना कोई चिह्न छोड़े लुप्त हो जाते हैं। रोजेला अधिकतर धड़, सीने, पेट और ऊपरी अंगों की पार्श्व सतह पर स्थित होते हैं। ये विक्षति फुंसियाँ धीरे-धीरे एक दो सप्ताह तक होती हैं, फिर एक से तीन सप्ताह तक इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसके बाद ये हल्की पड़ कर लुप्त हो जाती हैं।

सिफिलिस पिटिका या पिटिका सिफिलाइड भी द्वितीय अवस्था का आम विस्फोट है। पिटिकाएँ त्वचा की अंकरुक सतह पर स्थिति होती हैं। इनका आकार भिन्न-भिन्न होता है। अधिकतर मसूर के आकार वाली पिटिका होती है (**मसूरपादक पिटिका**)। सुई की नोक के आकार वाली पिटिका (**विकिरित पिटिका या सिफिलिसी शैवाक**) बहुत कम होती है। मसूर पादपीय पिटिकाएँ अर्धवृत्तीय आकार की होती हैं। इनका सीमांकन साफ होता है, इनकी बहिर्रेखाएँ सम होती हैं तथा रंग सूखे मांस जैसा होता है। ये एक-दूसरे से गल कर जुड़ती नहीं हैं (प्लेट III)। इनमें बहुधा शल्कन होता है और ये शल्क इसके परिसर पर व्यवस्थित हो जाते हैं। विकिरित पिटिका रोमकूप के छिद्रों के चारों ओर स्थित होती हैं। ये बहुधा निर्बल रोगियों में पाई जाती हैं, अर्थात ऐसे रोगियों में जो यक्ष्मा से भी पीड़ित हों। 1.5 से 2.0 सें मी. व्यास वाली बड़ी पिटिकाओं को **नाणकाभ पिटिका** कहते हैं। रगड़ या विभिन्न स्रावों के साथ होने वाले क्षोभ से त्वचा की सलवटों में स्थित पिटिकाएँ तथा गुदा और जननेंद्रियों के आस-पास होने वाली पिटिकाएँ **अतिवृद्ध पिटिका** का रूप ले लेती हैं। जब ये गलकर जुड़ जाती हैं तो (कौंडिलोमेटा सिफिलिसी) बड़ी कांडीलोमा या अधिमास

सदृश पिटिका बन जाती है (चित्र 82)। सिफिलिसी कांडीलोमेटा, अतिवृद्धि पिटिका, त्वचा की सलवटों में होने वाली पिटिकाएँ अधिकतर अपरदन होने से (**अपरदक पिटिका**) और आर्द्र होने से (**आर्द्र पिटिका**) होती है। अपरदक और आर्द्र पिटिकाओं तथा कांडीलोमा में होने वाले स्राव में टी. पैलीडन सूक्ष्मजीवी अत्यधिक मात्रा में होते है। और इसीलिए ऐसे रोगी बहुत ही छूत होते हैं।

चित्र 82. सिफिलिस पिटिका या सिफिलिसि कांडिलोमा।

चित्तिक या पिटिका सिफिलाइड की अपेक्षा **पूय-स्फोटी सिफिलाइड** बहुत ही कम होता है। पयू-स्फोटी सिफिलाइड केवल निर्बल या मद्यपी रोगियों को होता है। देखने में यह उपरिस्थ या पूयत्वक रोग सा लगता है, लेकन पूय स्फोटी सिफिलाइड में अतिरक्तता बहुत होती है। इसका आधार पर अंतःसंरचरण कठोर होता है, इसमें तनिक भी दाब वेदना नहीं होती।

श्लेष्मल कला द्वितीयक सिफिलाइड अक्सर देखने को मिलता है। सिफिलिसी पिटिकाएँ वहुधा मुँह में होती हे या वृहत भगोष्ठ या लघु भगोष्ठ की श्लेष्मल कला और गुदा में होती हैं। मसृणीकरण होने के कारण यह सफेद रंग की होती है तथा ढीली हुई त्वचा में शल्कन आसानी से हो जाता है और फुंसियाँ बन जाती हैं (प्लेट IV)। पिटिकाएँ अधिकतर संलयित हो जाती हैं। श्लेष्मल कला की अपरदक पिटिकाएँ (विशेषकर सिफिलिसी पिटिका की गलार्ति) अत्यधिक सांसर्गिक होती हैं और रोग का संक्रमण केवल लैंगिक संभोग से ही नहीं, वरन रोजमर्रा के संपर्क से भी हो जाता है।

चित्तिक सिफिलाइड श्लेष्मल कला में **एरिथेमाटोस सिफिलिटिक एंजीना** के रूप में होता है। तीव्र सीमांकित लालिमा और सूजन में पीड़ा न होना इसे आम प्रतिश्याय (जुकामी) अंगीना से अलग करते हैं।

सिफिलिसी गंजापन या खल्वाटता का रोग सूक्ष्म विकार स्थानिक, विसारित या मिश्रित होता है। सूक्ष्म विकार स्थानिक खल्वाटता में शिरोवल्क पर पतले बालों वाले छोटे गोल विकार स्थान होते हैं, पर इनमें कोई शोथ या शल्कन नहीं होता। कुछ ही महीनों में बाल दुबारा फिर पूरी तरह उग आते हैं। विसारित खल्वाटता में पूरे शिरोवल्क के वाद नियमित रूप से झड़ते रहते हैं, लेकिन कनपटियों पर यह अधिक होता है। द्वितीयक पुनरावर्ती सिफिलिस वाले रोगियों में खल्वाटता अधिक होती है।

श्वेत त्वक रोग (श्वित्र) या वर्णक सिफिलाइड : यह रोग संक्रमण होने के पाँच या छः महीनों से पहले प्रकट नहीं होता, अर्थात यह द्वितीयक पुनरावर्ती सिफिलिस का रोग है। गर्दन की पार्श्व और पश्च सतहों पर, काँखों में और छाती के आस-पास गोल या अंडाकार वर्णक चकत्ते पड़ जाते हैं, जिनके चारों ओर की त्वचा पीलापन लिए हुए भूरी होती है। श्वित्र फीता या जाल से मिलता-जुलता है (चित्र 83)। इसके साथ बहुधा प्रमस्तिष्क मेरु तरल में अपसामान्यता हो जाती है।
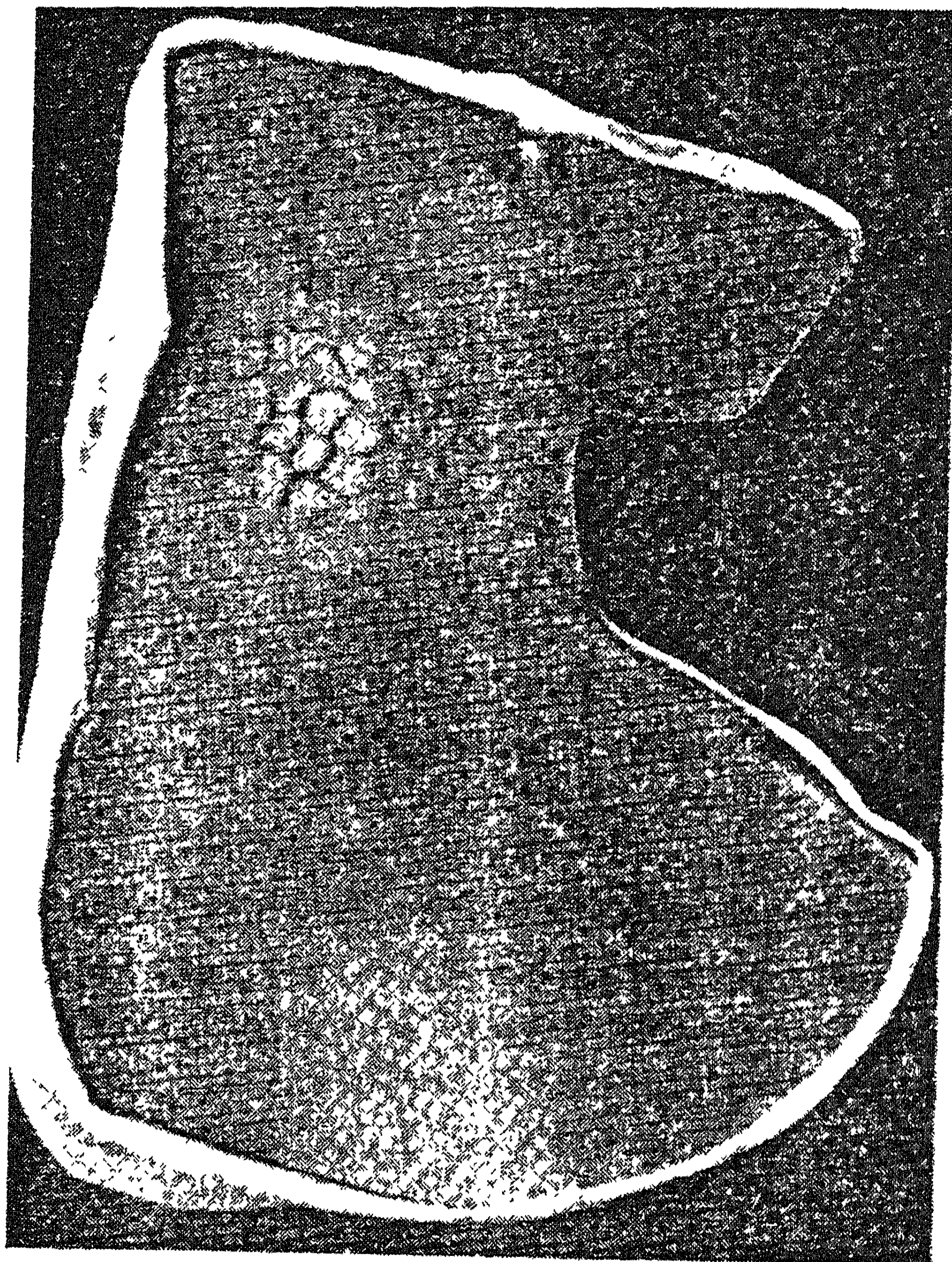
चित्र 83. सिफिलिस श्वित्र

सिफिलिस की द्वितीयक अवस्था में तंत्रिका तंत्र में परिवर्तन होता है (विशेषकर प्रमस्तिष्क मेरु तरल में)। इससे परिवर्तन आंतरिक अंगों और हड्डियों में भी होता है। यह रोग नियमतः सुदम होता है और कुछ समय के बाद पूरी तरह ठीक हो जाता है। (विशेष रूप से उपचार किए जाने पर)।

अपरदक पिटिकाओं (त्वचा और श्लेष्मल कला पर), कोंडाइलोमेटा लाटा (सिफिलिसी) तथा अन्य विक्षतियों के अति सांसर्गिक होने के कारण सामाजिक दृष्टिकोण से यह रोग एक महान संकट है।

सिफिलिस की तृतीयक अवस्था

सिफिलिस की तृतीयक अवस्था बहुत कम रोगियों में होती है। यह केवल ऐसे रोगियों में होती है, जिन्होंने ठीक ढंग से उपचार न लिया हो या उपचार बिल्कुल ही न किया हो। उपचार-रहित रोगियों में भी यह अवस्था जरूरी नहीं कि विकसित हो ही। वृद्धावस्था और युवावस्था, अभिघात चिरकारी रोग, विषालुता, मदात्यय इस अवस्था के विकसित होने को पूर्वानुकूलित करते हैं। संक्रमण के बहुधा तीन या चार वर्ष बाद और कभी-कभी कई दशाब्दियों के बाद सिफिलिस की तृतीयक अवस्था आती है।

सोवियत संघ में सिफिलिस की तृतीयक अवस्था बहुत कम प्रेक्षित होती है, यद्यपि जार के समय में यह रोग, विशेषकर गाँवों में, बहुधा होता था।

तृतीयक सिफिलाइड (यक्ष्मज और लसदार) त्वचा पर, अधस्त्वक वसा पर, पेशियों, हड्डियों, आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र पर होते हैं। विक्षति फुंसियाँ कम संख्या में होती हैं (दर्जनों की संख्या में यक्ष्मिका, लसदार फोड़ा, बहुधा अकेला ही) और ये दुर्दम रूप ले लेती हैं। इनके विक्षति चिह्न सदैव के लिए रह जाते हैं (यदि ये शरीर के प्राणाधारी महत्त्वपूर्ण अंग पर होते हैं, तो ये जीवन के लिए संकट पैदा करते हैं) और चिकित्सा न करने पर रोगी बहुत धीरे-धीरे मरते हैं। इनकी सांसर्गिकता कम होती है, क्योंकि टी. पलीडम की संख्या बहुत कम होती है और ये, अंतःसंचरण में बहुत गहरे होते हैं। विक्षति पर सिफिलिस-रोधी उपचार का प्रभाव तेजी से होता है। यह याद रखना चाहिए कि तृतीयक सिफिलिस वाले 25 से 35 प्रतिशत रोगियों में सीरमी जाँच का परिणाम नकारात्मक होता है।

यक्ष्मज सिफिलाइड त्वचा के थोड़े से भाग में होती है और बहुधा असममितीय होती है। गुलिकाएँ अर्द्धवृत्तीय या चपटी होती हैं। इनका रंग ताँबे जैसा होता है और वर्णभा नीली होती है। इनका आकार चेरी की गुठली के बराबर होता है, ये कठोर होती है और इनका सीमांकन स्पष्ट होता है। सिफिलिस की गुलिका के अंतःसंचरण में सदैव ही परिगलन होता है या यह गुलिका सूखी किस्म की होती है (जिसमें त्वचा पर शोष बना रह जाता है) अथवा इसमें वर्ण हो जाते हैं, जिसके व्रण-चिह्न रह जाते हैं। गुलिकाएँ रुक-रुक कर होती हैं, और इसीलिए ये उपशमन की विभिन्न स्थितियों में होती हैं। इसके परिणामस्वरूप खानेदार व्रण चिह्न बन जाते हैं (प्लेट V)। इन व्रण चिह्नों को देखकर कई वर्षों के बाद भी इस बात का पता करना संभव है कि रोगी को तृतीयक अवस्था की सिफिलिस हुई थी। सामूहिक गुलिका सिफिलाइड अधिकतर होती है (इसमें गुलिकाएँ समूह या झुंड के रूप में होती हैं

तथा इनका संलयन नहीं होता)। यक्ष्मज सिफिलाइड में गुलिकाएँ संलयित होती हैं। विकार स्थान के बीच की गुलिकाओं का विरोहण होता है जबकि परिसर पर नई गुलिकाएं बन जाती हैं। यक्ष्मज सिफिलाइड गुलिकाएँ संलयित होकर एक धब्बा बनाती हैं और कभी-कभी वामन सिफिलिसी गुलिकाएँ (बाजरे के बराबर) बन जाती हैं। यक्ष्मज सिफिलाइड से कोई स्वप्रत्यय विकार नहीं होता।

गम्मा सिफिलाइड या सिफिलिसी गम्मा : इसमें अधस्त्वक ऊतक पर अखरोट के बराबर पीड़ारहित पर्विका बन जाती है। पहले यह त्वचा और आस-पास के ऊतकों से जुड़ी नहीं होती पर आगे चलकर बढ़ जाती है और त्वचा से चिपक जाती है (प्लेट VI) और इसमें दाब वेदना होती है। पर्विका बीच में नरम होकर फूट जाती है और इसमें छोटा सा छेद हो जाता है जिसमें से गाढ़ा चिपचिपा-सा पदार्थ निकलता है (इसीलिए इसका नाम गम्मा है)। यह छेद बड़ा हो जाता है और व्रण बन जाता है। इसके किनारे सख्त होते हैं और फर्श की तरफ ढालू होते हैं। परिगलित ऊतक, गंमाटस कोर व्रण के फर्श पर होते हैं तथा गहरा ताराकार व्रणचिह्न रह जाता है। बहुधा एक गम्मा होता है और इससे अधिक बहुत ही कम होते हैं।

गम्मा के सर्वथा अनुकूल स्थान टाँगों, मत्था और कलाई की अग्र सतह होते हैं।

तृतीय अवस्था वाला सिफिलाइड (गम्मा और गुलिकाएँ) बहुधा नाक, कोमल तालू और काकलक (युवुला) की श्लेष्मा कलाओं पर होता है। जब इसका प्रभाव नाक की हड्डियों पर होता है तो नासा-सेतु गिर जाता है तथा पर्याण नासा हो जाता है और नासा-पट के अस्थि भाग में छिद्र हो जाता है। मृदु और कठोर तालू में छिद्र हो जाने से और काकलक (युवुला) के क्षतिग्रस्त होने से भोजन करते समय अन्न मुँह से नाक में पहुँच जाता है। रोगी की आवाज नुकसुरी हो जाती है।

बहुधा कपाल की हड्डियों और अंतर्जंघिका में गम्मा अस्थि-पर्यास्थि शोथ और अस्थि मज्जाशोथ हो जाते हैं। अंतःसंचरण में या तो अस्थिभवन हो जाते हैं और हड्डियाँ मोटी हो जाती हैं या इसका विघटन होकर व्रण हो जाता है। अंततः व्रण का दाग रह जाता है।

तृतीयक सिफिलिस में **आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र के आवेष्टन** के परिणाम गंभीर हो सकते हैं।

आंतरिक अंगों के सिफिलिसी रोग में सर्वाधिक प्रचलित रूप है, सिफिलिस महाधमनी शोथ। यह संक्रमण के 10 से 20 वर्ष बाद होता है और इससे महाधमनी कपाट तथा महाधमनी ऐंजूरिज्म में अपर्याप्तता हो जाती है। सिफिलिसी हृदयपेशीशोथ और यकृत, गुर्दे, मस्तिष्क तथा अन्य अंगों में शोथ और गम्मा हो सकते हैं।

सिफिलिसी तानिका शोथ तथा मस्तिष्क और मेरुरज्जु की वाहिकाओं में सिफिलिस होने के फलस्वरूप आंशिकघात, संवेदन विकार, इत्यादि हो सकते हैं।

मस्तिष्क या मेरु रज्जु पदार्थ के प्रकोपित होने पर (तंत्रिका तंत्र की सारऊतकी सिफिलिस होने पर) प्रगामी पक्षाघात और टेबीज डॉर्सेलिस हो जाता है।

जन्मजात सिफिलिस

बीसवीं सदी के प्रारंभ में यह सिद्ध हो गया था कि सिफिलिन रोग से पीड़ित माँ की अपरा पार कर के टी. पैलीडम सूक्ष्मजीवी उसके गर्भ में प्रवेश कर जाते हैं। क्योंकि वह सूक्ष्मजीवी शुक्राणुओं के सिर में फिट नहीं होते हैं, इसलिए पिता के द्वारा शिशु पर सिफिलिस का संक्रमण होने की धारणा निर्मूल साबित हुई है। स्वस्थ अपरा टी. पैलीडम के लिए अवेध्य मानी जाती है, पर इसके संपर्क में आने से इसमें परिवर्तन होने लगते हैं और अपरा इन सूक्ष्मजीवियों को गर्भ में प्रवेश करने से रोक नहीं पाती है। चार महीने का गर्भ होने पर नाभि रज्जु की शिराओं और लसीकाओं के द्वारा टी. पैलीडम गर्भ के ऊतकों में पहुँच जाता है।

महिलाओं में सिफिलिस का उपचार न होने से उनके गर्भवती होने के बाद पाँचवें छठे महीने में गर्भपात हो जाता है, या मृत जन्म होता है अथवा काल-पूर्व प्रसव हो जाता है। काल-पूर्व या पूर्णकालिक शिशु में सिफिलिस हो जाती है। माँ में सिफिलिसी संक्रमण जितना ही ताजा हो, उतनी ही अधिक इसके गर्भ में संचरण की संभावना होती है। समय के साथ-साथ संक्रमण की तीव्रता घटती जाती है।

माता या पिता के सिफिलिस से पीड़ित होने के बावजूद भी जब कभी टी. पैलीडम गर्भ में प्रवेश नहीं कर पाते हैं तो ये लिंग कोशिकाओं को, भ्रूण और गर्भ को (गर्भवती होने के बाद चार महीने तक), क्षति पहुँचाते हैं। ऐसी दशाओं में जन्मे शिशुओं में विभिन्न प्रकार के मानसिक विकार (मंदबुद्धिता, मनोविकृतियाँ) हो जाते हैं। इन शिशुओं में तंत्रिका तंत्र की कायिक विक्षति के लक्षण तथा अस्थि अपविकास के लक्षण होते हैं। वास्तविक जन्मजात सिफिलिस (जिसमें सूक्ष्मजीवी गर्भ में प्रवेश कर जाते हैं) से भिन्न इस रोग को **पैरासिफिलिस** कहते हैं। जन्मजात सिफिलिस को गर्भस्थ, शिशु और पूर्वबाल्यकाल की सिफिलिस (एक से चार वर्ष की आयु में) तथा पश्च बाल्यकाल जन्मजात सिफिलिस में विभाजित किया जाता है। सोवियत संघ में महिलाओं में पूर्व-कालिक निदान के फलस्वरूप, गर्भवती होने से पूर्व या गर्भवती होने पर सक्रिय उपचार से तथा महिला परामर्श कक्ष वाले चिकित्सालयों के कार्य से स्वास्थ्य शिखा, इत्यादि के शिशुओं में जन्मजात सिफिलिस की सक्रिय अभिव्यक्ति बहुत कम हो गई है।

गर्भ में सिफिलिस होने से आंतरिक अंगों में समग्र अपसामान्यता हो जाती है। यकृत और तिल्ली बहुत बढ़ जाती है तथा कठोर हो जाती है तथा इनमें टी. पैलीडम जीवाणु अत्यधिक संख्या में पाए जाते हैं। फुफ्फुस ऊतक भी दृढ़ीभूत हो जाता है (सफेद न्यूमोनिया)। लंबी नलिकाकार अस्थियों और परलियो में सिफिलिसी

उपास्थि व्यपजनन और अस्थि पर्यास्थिशोथ होता है। गर्भस्थ शिशु की मृत्यु छठे और सातवें महीने के बीच हो जाती है।

जन्मजात शिशु सिफिलिस की अभिव्यक्ति या तो जन्म के समय और अधिकतर जीवन के पहले दो महीने में या दो से चार महीने की अवस्था में होती है। त्वचा, श्लेष्मल कला, अस्थियों, आंतरिक अंगों, तंत्रिका तंत्र और ज्ञानेंद्रियों पर इस अवस्था में बहुरूपी विक्षतियाँ होती हैं। ऐसे शिशुओं का विकास कम होता है, उनकी लंबाई और वजन सामान्य से कम होता है तथा वे निर्बल और बेचैन होते हैं।

विसरित अंतःसंचरण (त्वचा का मोटा और दृढ़ीभूत होना, शल्कन होने के बाद गहरे विदर होना, जो जीवन भर के लिए मुँह के आस-पास विक्षति चिह्न छोड़ जाते हैं; (दे. प्लेट VIII) चेहरे पर (गालों, होंठों, चिबुक और मत्थे पर), साथ ही हथेलियों, पैर के तलवों तथा नितंबों पर विकसित होता है। कभी-कभी हथेलियों, तलवों, टाँगों और कलाइयों पर सिफिलिस पेंफीगस, मसूर या मटर के आकार के फफोले पड़ जाते हैं, जिनमें सीरमी सपूय द्रव्य होता है और यह अंतःसंचरित बोर्डर से घिरा रहता है। शिशु की जन्मजात सिफिलिस में होने वाली **सिफिलिस पिटिका** उपार्जित द्वितीय अवस्था की सिफिलिस के समान होती है। इसमें सिफिलिसी नासा शोथ होता है, जिसमें सीरमी सपूय स्राव की जमकर पपड़ी बन जाती है और नाक से साँस लेना कठिन हो जाता है। नाक से सीटी सी बजती है, आवाज होती है या साँस लेना एकदम असंभव हो जाता है। बच्चे माँ का दूध मुश्किल से पी जपते हैं और इसके परिणामस्वरूप कुपोषण होता है।

लंबी नलिकाकार हड्डियों का **सिफिलिसी अस्थिउपास्थि व्यपजनन** बहुधा होता है। इसकी प्रारंभिक अवस्था को रेडियों चित्रण में पहचाना जाता है। रोग के अधिक वढ़ जाने पर ऐपीफिसिस और डाइफिसिस पृथक-पृथक हो जाते हैं। बच्चा रोगी हाथ को धड़ में दबाता है। रोगी पैरों को घुटनों और कुल्हों के जोड़ों पर आंकुचित करता है, सक्रिय संचलनों से बचता और निष्क्रिय संचालनों से रोता है। यकृत, तिल्ली, गुर्दे, फेफड़ों और अंडकोशों में काठिन्य के साथ-साथ विसरित अंत-संचरण होता है। तानिकाशोथ, तानिका-मस्तिष्कशोथ और जलशीर्ष रोग हो जाते हैं।

शिशुओं के जन्मजात सिफिलिस रोग में उनका विकास घट जाता है। वे बहुधा बीमार रहते हैं तथा अन्य संक्रमणों से मर जाते हैं।

प्रारंभिक बाल्यकाल की जन्मजात सिफिलिस का पता एक से चार वर्ष आयु के बीच लगता है। इसमें विक्षतियाँ कम संख्या में होती हैं। अधिकतर आर्द्र और अपरदक पिटिकाएँ होती हैं तथा ऐनोजेनिटल भाग में बड़े कांडीलोमा होते हैं। इस काल को बहुधा कांडीलोमाटस अवस्था कहते हैं। कभी-कभी बाँहों की हड्डियों का पर्यास्थि शोथ और आँखों में पटल रोगी हो जाते हैं।

पश्च (देर वाले) बाल्यकाल जन्मजात सिफिलिस का निदान छह से 15 वर्ष की

आयु या इसके बाद किया जाता है। इस दौर में यह तृतीयक अवस्था की सिफिलिस से मिलती-जुलती है, क्योंकि त्वचा, श्लेष्मल कला, हड्डियों, आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र में गम्मा बन जाते हैं। तंत्रिकातंत्र में गम्मा होने वाले रोग को गम्मा तानिक शोथ कहते हैं। देर वाली जन्मजात सिफिलिस के विशिष्ट लक्षण अकेले भी होते हैं। ये लक्षण हैं—हचिन्सन ट्रियाड और साब्रेशिन। **हचिन्स ट्रियाड** में पारऊतकी स्वच्छ पटल शोथ (कार्निया का लाल और अपारदर्शक होना, प्रकाश असह्यता तथा दृष्टि तीक्ष्णता में कमी होने के साथ अश्रु-स्रवण होना) सिफिलिसी गहन शोथ होना (कम सुनाई पड़ना, कर्णश्वेण), हचिन्सन दाँत होना इत्यादि सम्मिलित हैं।

चित्र 84. अंतर्जंघिका सेबर।

साब्रेशिन के लक्षण हैं टिबिया की उन्नतोदरता (चित्र 84), जो अस्थि उपास्थि व्यपजनन के बाद होती है, और रात्रि में पीड़ा होना।

कुछ रोगियों में टेबीजडार्सेलिस और प्रगामी होता है।

सीरमी जाँच

सिफिलिस के निदान के लिए और सिफिलिस प्रतिरोध चिकित्सा के परिणामों को नियंत्रित करने के लिए रोग लक्षण के अलावा टी. पैलीडम पदार्थ की जाँच के परिणाम, रोग वृत्त, लैंगिक संपर्कों व खून की सीरमी जाँच (वासरमान और अवक्षेपण जाँच) इत्यादि बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सदैव याद रखना चाहिए कि सिफिलिस रोगियों में सीरमी प्रक्रिया बहुधा नकारात्मक होती है (अर्थात 25 से 35 प्रतिशत रोगी सक्रिय तृतीयक सिफिलिसी अवस्था में होते हैं)। आश्चर्य की बात है कि ऐसे लोगों में सीरमी जाँच के परिणाम स्वीकारात्मक होते हैं, जिन्हें कि सिफिलिस नहीं होती है। ऐसी हालत में इन्हें विशिष्टता रहित या नकली सिफिलिस सीरमी जाँच की पहचान के लिए टी. पैलीडम इममोबिलाइंजेशन रिएक्शन TPI से सहायता मिलती है। TPI रिएक्शन ऐसे लोगों में कभी स्वीकारात्मक नहीं होता है, जिन्हें सिफिलिस का रोग न हो।

सिफिलिस का उपचार

सिफिलिस के निदान की पुष्टि होते ही यथासंभव जल्दी-से-जल्दी उपचार शुरू कर देना चाहिए (रोग के सक्रिय रूप में पुष्टि होने से 24 घंटों के अंदर)। जितना ही जल्दी उपचार शुरू किया जाता है, उसकी सफलता की संभावना उतनी ही अधिक होती है। सिफिलिस का उपचार योजनानुसार अंतराल देकर किया जाता है। इस अंतराल में रोगी को चिकित्सा से आराम मिल जाता है और शरीर में से सिफिलिस प्रतिरोधी औषधियाँ निकल जाती हैं। ऐसे उपचार को चिरकारी सविरामी कहते हैं।

प्रत्येक रोगी के लिए उपचार की विधि कायचिकित्सक द्वारा निश्चित की जाती है। सिफिलिस के उपचार में पेंसिलीन (जल में घुलनशील या अधिक समय तक कारगर रहने वाली) के कोर्स बार-बार दिए जाते हैं या एक पेंसिलीन कोर्स के बाद बिस्मथ योग देकर फिर पेंसिलीन (बारी-बारी) से दी जाती है। अनुषंगी प्रभाव तथा उपद्रव पैदा होने के डर से आरसेनिकल (नियोआर्सफेनामीन, सल्फार्सफेनामीन, ऐसीटारसोन) और मरक्यूरियल का प्रयोग सिफिलिस के उपचार में बहुत कम हो गया है। केवल सिफिलिस के देर वाले रूप में नीला मलहम लगाया जाता है। उपचार के कोर्स के अंतराल होने पर आयोडीन योग दिए जाते हैं। कोर्सो की संख्या रोग की अवस्था और उसकी प्रगति पर निर्भर होती है।

आजकल सिफिलिस के उपचार में प्रयुक्त मुख्य औषधि पेंसिलीन है, क्योंकि इसका शक्तिशाली प्रभाव टी. पैलीडम पर अन्य सिफिलिस प्रतिरोधी औषधियों की अपेक्षा अत्यधिक होता है। इसका प्रभाव गुप्त रूप से सिफिलिस की अपेक्षा सक्रिय सिफिलिस में बेहतर होता है।
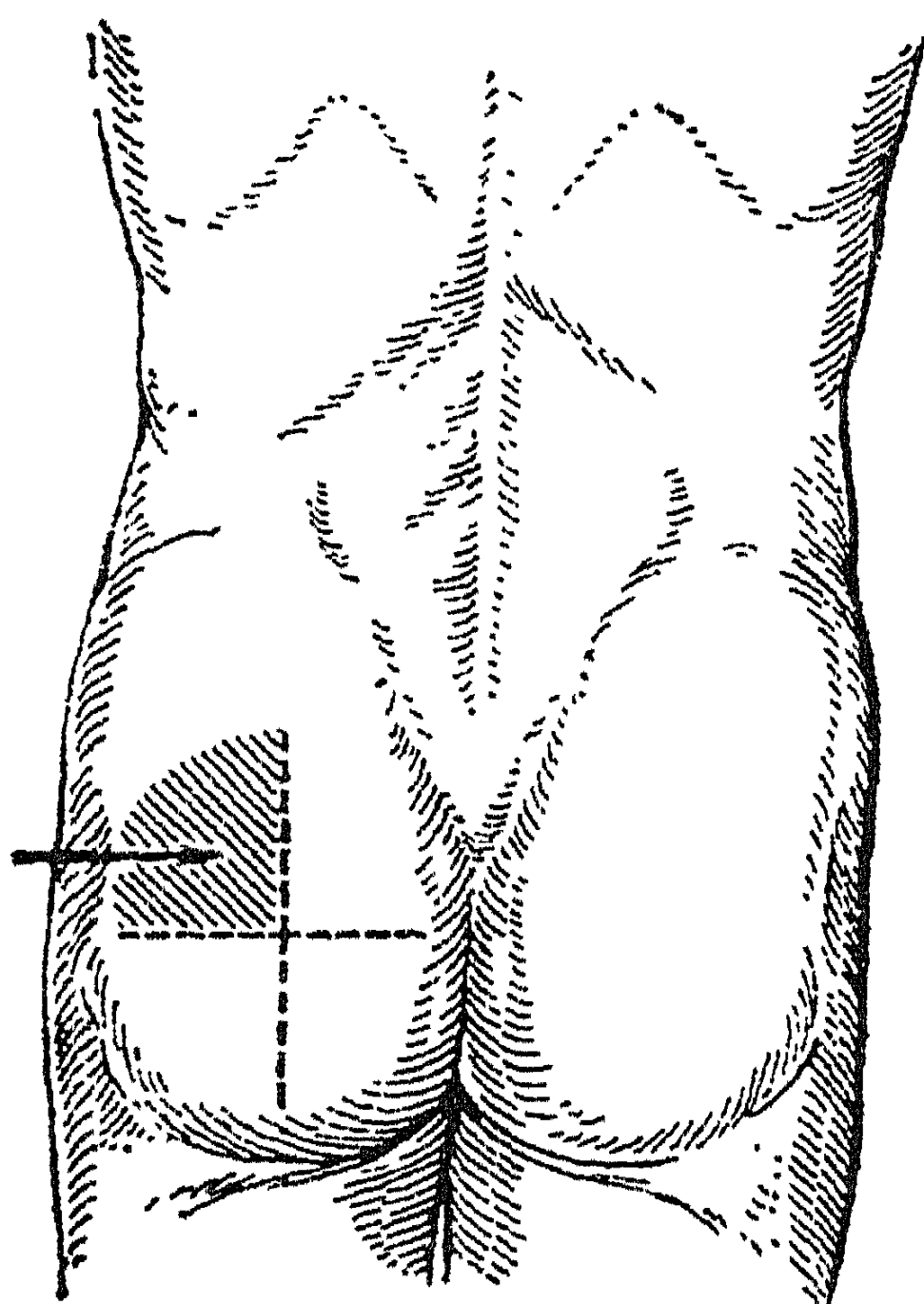
चित्र 85. अतंरपेशीय इंजेक्शन लगाने के लिए नितंब का भाग।

तीन-तीन घंटे के अंतर पर लगातार (चौबीसों घंटों में) 50 000 इ. पेंसिलीन (जल में घुलनशील) के अंतरपेशी रूप में इंजेक्शन लगाते हैं। बहिरंग रोगी विभाग में अधिक समय तक सक्रिय रहने वाली पेंसिलीन, जैसे एकमोनोवोसिलीन (बेंजाइल पेंसिलीन प्रोकेन का एकमोलीन में निलंबन, ट्राइप्रोटामीन सल्फेट घोल), बाइसिलीन-1 (बेंजाथीन बेंजाइल पेंसिलीन), बाइसिलीन-3, बाइसिलीन-4, बाइसिलीन-5, दी जाती हैं। एकमोनोवोसिलीन की दिन में 600000 ई. की एक खुराक दी जाती है। बाइसिलीन-1

की 1200000 ई. की एक खुराक अंतरपेशीय रूप में छः दिन में एक बार दी जाती है या दस दिन में एक बार 2400000 ई. की खुराक अंतरपेशीय रूप में देते हैं। बाइसिलीन-3 और बाइसिलीन-4 की 1200000 ई. की एक खुराक पाँच दिन में या 2400000 ई. की एक खुराक आठ दिन में अंतरपेशीय इंजेक्शन से देते हैं। बाइसिलीन-5 की 1500000 ई. की एक खुराक दस दिन में एक बार दी जाती है। हर बार इस एक इंजेक्शन को दो बराबर भागों में बाँट कर एक भाग को दाएँ नितंब पर दूसरे भाग को बाएँ नितंब पर लगाते हैं।

अंतरपेशीय इंजेक्शन (बाइसिलीन, बाइयोचिनोल, विस्मोवेरान, इत्यादि) को लंबी सुई (5-6 सें.मी.) से नितंब के ऊपरी पार्श्व के चतुर्थांश में लगाते हैं (चित्र 85)। पहले सुई को तेजी से त्वचा में घुसा देते हैं और दुबारा गति देकर पेशी में बढ़ाते हैं। यदि एक-दो मिनट तक सुई से रक्त न बहे तो इसे (सुई) की मजबूती से पकड़े रहते हुए इसमें औषधि से भरी हुई पिचकारी फिट की जाती है और औषधि का इंजेक्शन लगा दिया जाता है। यदि सुई से रक्त निकलने लगे तो इसे बाहर निकालकर नितंब के ऊपरी पार्श्व भाग के चतुर्थांश में फिर से लगाना चाहिए।

सिफिलिस की अवस्था के अनुसार ही पेंसिलीन या अधिक समय तक क्रियाशील रहने वाले योग की मात्रा उपचार के कोर्स के लिए निश्चित की जाती है। औषधि की मात्रा शरीर के भार के अनुसार भी निश्चित की जाती है। सीरम नकारात्मक सिफिलिस रोगी को पेंसिलीन 100000 ई. प्रति किलो भार के हिसाब से दी जाती है। प्राथमिक सीरमी स्वीकारात्मक जाँच या ताजी द्वितीयक सिफिलिस में यह 120000 ई. प्रति किलो के हिसाब से दी जाती है। द्वितीय पुनरावर्ती या तृतीयक सिफिलिस के रोगियों में या आंतरिक अंगों और तंत्रिका तंत्र की सिफिलिस में प्रतिजीवी औषधि 140000 ई. प्रति किलो के हिसाब से दी जाती है।

पेंसिलीन चिकित्सा के पहले 24 घंटों में प्रकोपन क्रिया होती है: शरीर का ताप बढ़ जाता है, सिर दर्द और कमजोरी तथा हड्डियों और जोड़ों में दर्द महसूस होता है। फुंसियों के रंग में तीव्रता आ जाती है। प्रकोपन प्रक्रिया से रोगी के शरीर में टी. पैलीडम के सामूहिक विघटन का पता लगता है। सिफिलिस के प्राथमिक रूप में इस अभिक्रिया से बचने के लिए कोई उपाय नहीं करना चाहिए। परंतु रोग की बाद की अवस्था (तृतीयक सिफिलिस, तंत्रिकातंत्र और आंतरिक अंगों की सिफिलिस) में इस अभिक्रिया को रोकने या बढ़ाने के उपाय करने चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखते हुए आयोडीन और बिस्मथ के योग के उपचार प्रारंभ करके बाद में पेंसिलीन दी जाती है।

पेंसिलीन असह्य होने पर इसके योगों की जगह पर एराइथ्रोमाइसिन देते हैं। इसका इंजेक्शन तीन-तीन घंटे के अंतर पर दिन में पाँच बार 300000 ई. की खुराक में देते हैं तथा रात में नहीं देते हैं। इस प्रकार एक दिन की पूरी खुराक 30000000 ई. है।

ऐसे बच्चों और वयस्कों का उपचार, जिन्हें पेंसिलीन योग या एराइथ्रोमाइसिन नहीं दी जा सकती, फेनाक्सीमेथिल पेंसिलीन से करते हैं। इसकी खुराक जल में घुलनशील पेंसिलीन (100000. ई. दिन में आठ बार) की अपेक्षा दुगुनी होती है।

विस्मथ योग के समूह में बायोचिनाल (उदासीन परसिक तेल में क्विनाइन विस्मथ का 8 प्रतिशत निलंबन), बिसमोवेराल (उदासीन परसिक तेल में मोनोबिस्मथ टारटैरिक एसिड के भस्मीय विस्मथ लवण का निलंबन) और पेंटाबिसमोल (बिस्मथ का जल में घुलनशील योग) आदि सम्मिलित हैं।

वायोक्विनाल का 2 मि. ली. का इंजेक्शन एक दिन छोड़ कर दिया जाता है या 3 मि.ली. का इंजेक्शन तीन दिन के अंतर पर (24 घंटे में 1 मि.ली.) दिया जाता है। कुल खुराक 40 से 50 मि.ली. होती है।

विस्मोवेरोल की 1.5 मि.ली. की खुराक हफ्ते में दो बार 0.5 मि.ली. प्रति 24 घंटे की दर से दी जाती है। कुल खुराक 20 मि.ली.।

पेंटाबिस्मोल की 2 मि.ली. की खुराक एक दिन छोड़ कर दी जाती है। कुल खुराक 40 से 50 मि.ली.।

इंजेक्शन लगाने से पूर्व बाइक्विनाल या बिस्मावेराल की छोटी बोतल 40-45^0 सें. उष्ण जल में रखते हैं। इसके गर्म हो जाने पर इसे सावधानी से हिलाकर एकसार निलंबन बना कर इंजेक्शन देते हैं। ऊपर बताए गए दो चरणों में बिस्मथ योग का इंजेक्शन अंतरपेशीय रूप में नितंब के ऊपरी पार्श्व भाग में लगाते हैं।

आयोडीन के योग को पोटैशियम आयोडाइड या सोडियम आयोडाइड के घोल के रूप में दिन में तीन बार भोजन के बाद आधा गिलास दूध में एक बड़ा चम्मच मिलाकर लेते हैं। घोल की सांद्रता को धीरे-धीरे बढ़ा कर 2-3 प्रतिशत से 7-8 प्रतिशत कर देते हैं। यह उपचार तीन से चार सप्ताह तक चलता है।

निरोधक या रोग निरोधी उपचार ऐसे लोगों को दिया जाता है जिन्होंने सिफिलिस के सक्रिय रूप से पीड़ित रोगी के साथ या तो संभोग किया हो या जो उसके, रोगी व्यक्ति के, रोज-ब-रोज निकट संपर्क में रहे हों और विशेष रूप से ऐसे बच्चों को, जिनके माता-पिता सक्रिय सिफिलिसी विक्षति से पीड़ित हों। काय चिकित्सक के आदेशानुसार उपचार किया जाता है।

सिफिलिस प्रतिरोधी उपचार पूरा होने के बाद रोगी को बहिरंग रोगी विभाग में दो से दस वर्ष तक निगरानी में रखा जाता है (समय काल इस बात पर निर्भर करता है कि उपचार सिफिलिस की किस अवस्था में शुरू किया जाता है)। इस अवधि में रोगी चिकित्सालय में डाक्टरी जाँच के लिए तीन से छह महीने में एक बार आता है और उसकी सीरमी जाँच की जाती है। निश्चित अवधि के पूरा होने पर रोगी पूर्णरूपेण डाक्टरी जाँच और प्रयोगशाला जाँच करके इस बात का निश्चय किया जाता है कि उसे रोगी होने के रिकार्ड से हटा दिया जाय।
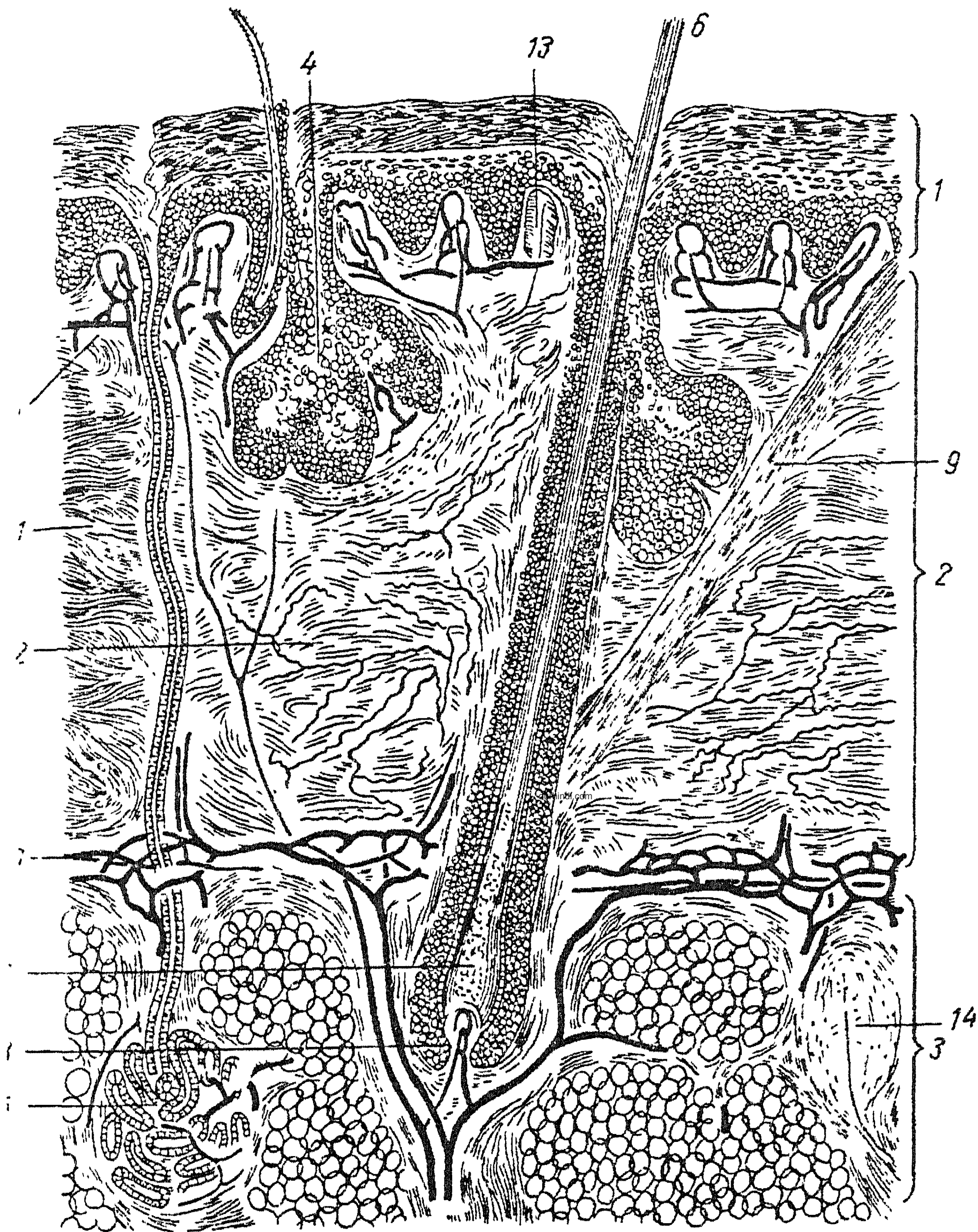
प्लेट I. त्वचा की संरचना

1. बाह्य त्वचा, 2. वास्तविक त्वचा, 3. अघस्त्वग्वसा, 4. त्वग्वसीय ग्रन्थि, 5. श्वेद ग्रन्थि, 6. रोम, 7. लोमकन्द, 8. रोम अंकुरक, 9. पेशी को सीधा करने वाला रोम, 10. रक्तवाहिकाएं, 11. कोलेजन उत्पादी तन्तु, 12. लचीले तन्तु, 13. माइसनरकणिका, 14. फेटर-पासनी कणिका।
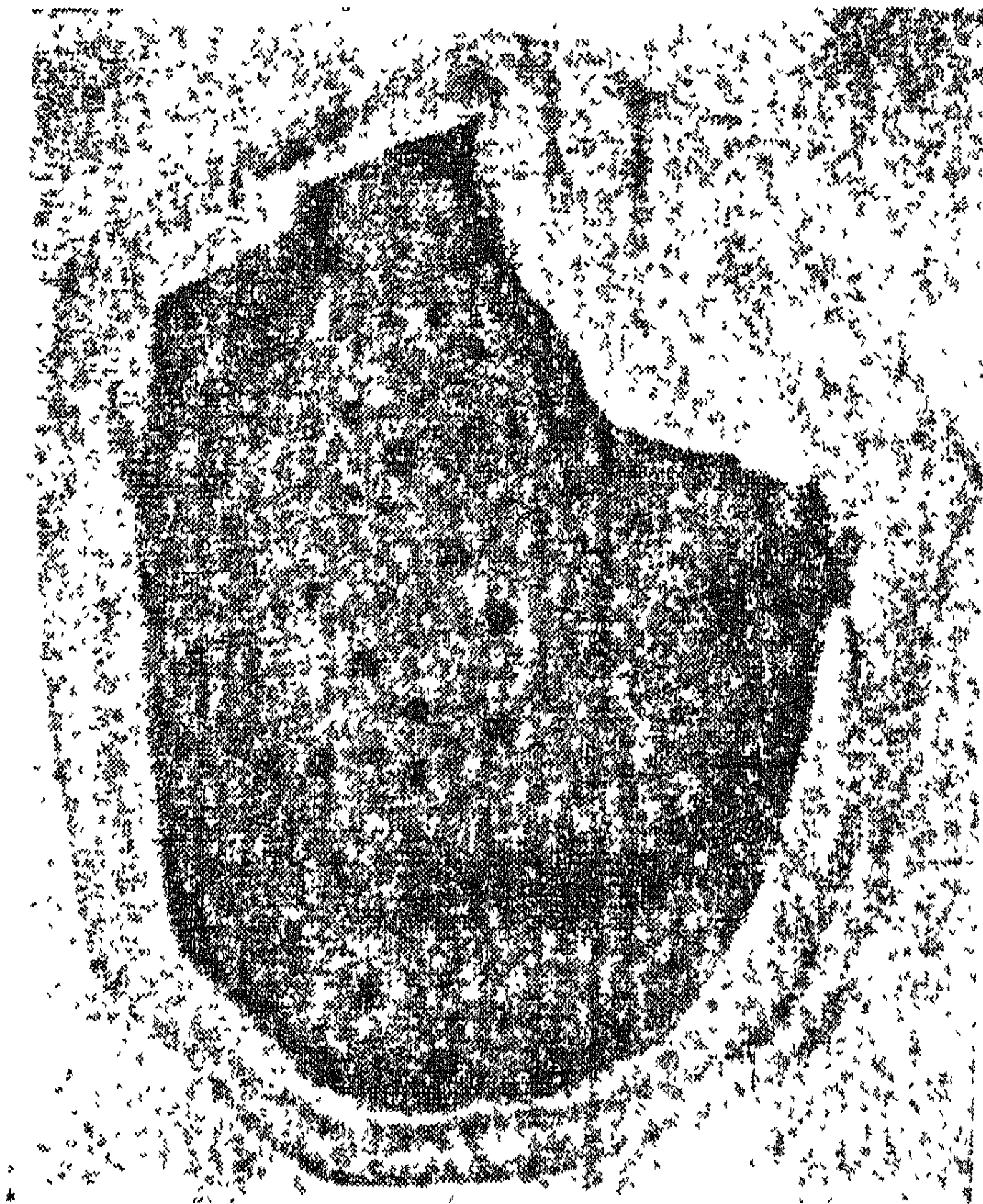
प्लेट II. सिफिलिसी रोजियोला (ददोरा)
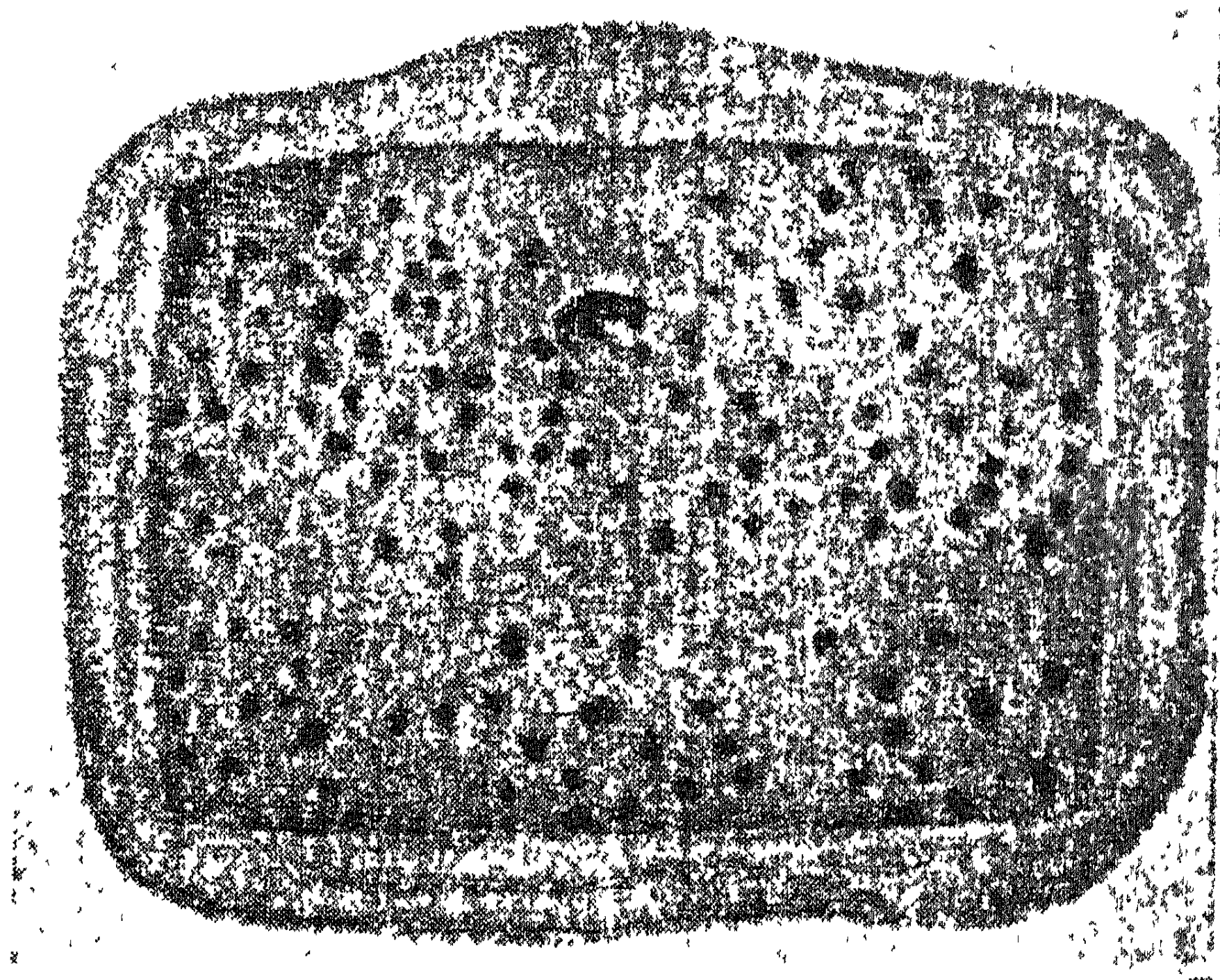
प्लेट III. मसूराकार सिफिलिसी पीटिका
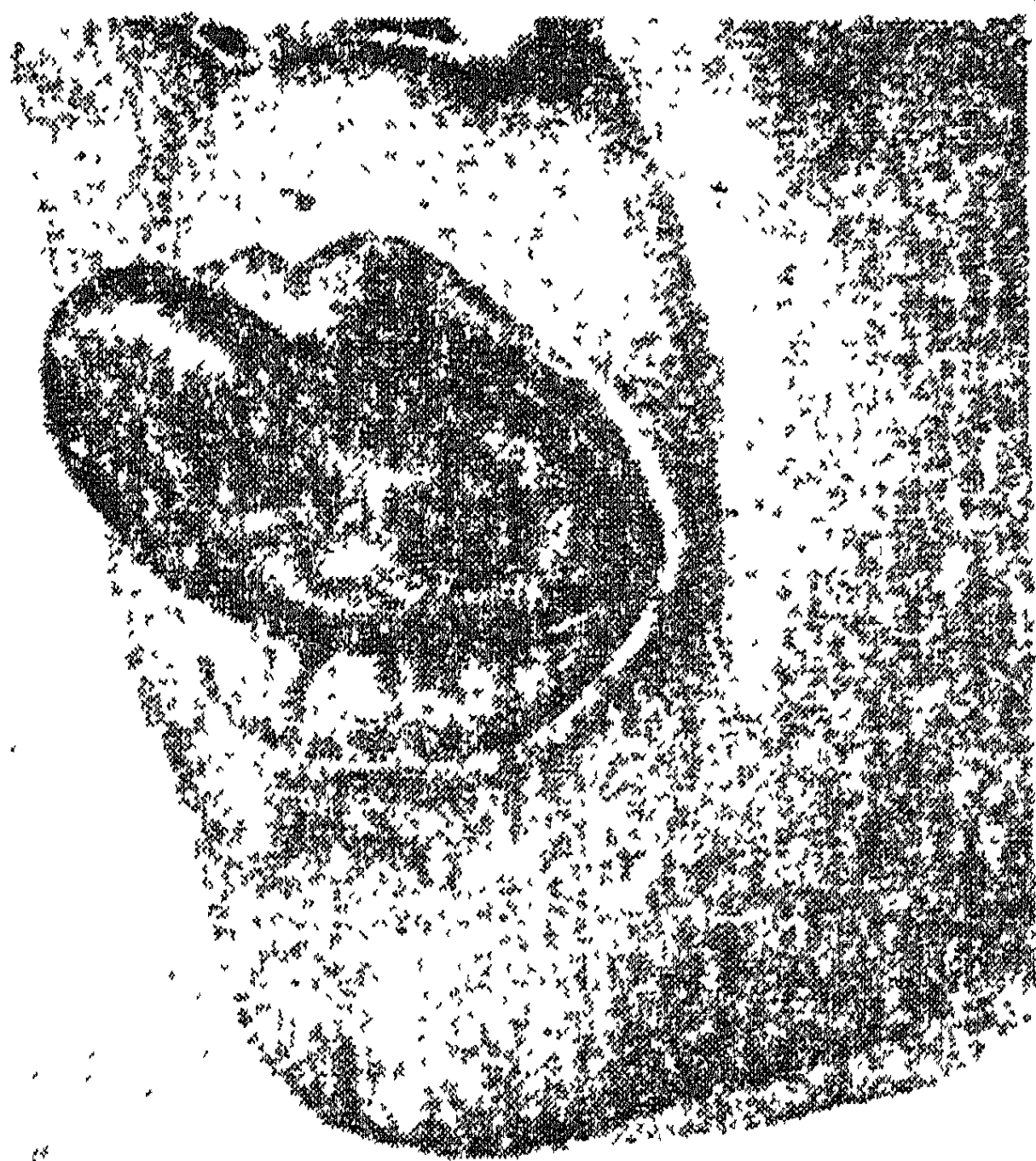
प्लेट IV. जिह्वा पर अपरदन पीटिका
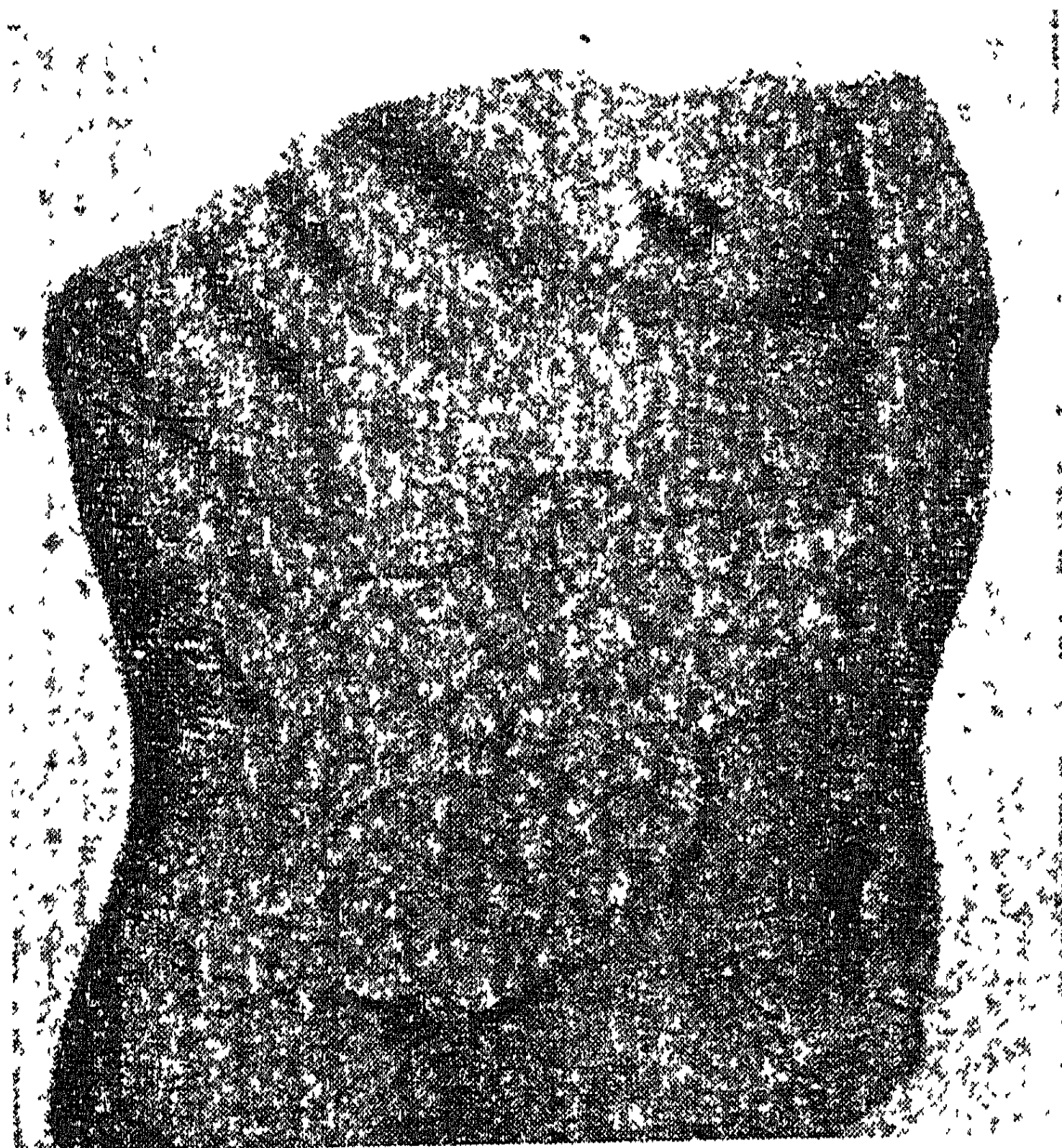
प्लेट V. यक्ष्मज सिफिलिस के बाद खानेदार क्षतचिन्ह
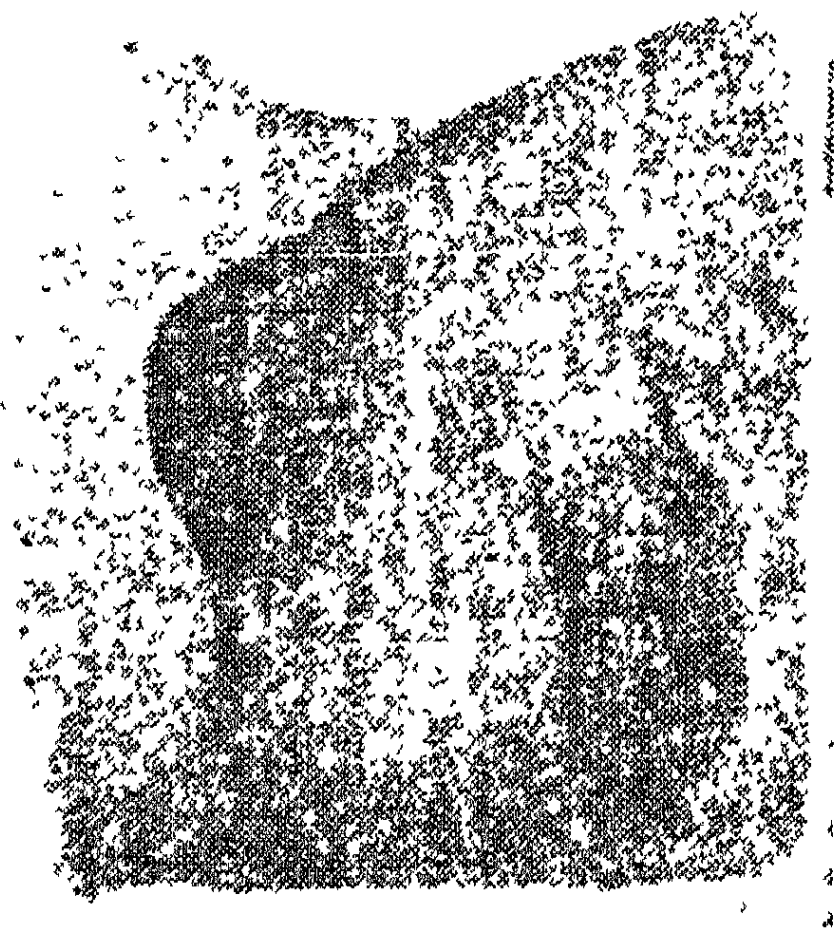
प्लेट VI निचले जबड़े का गम्म
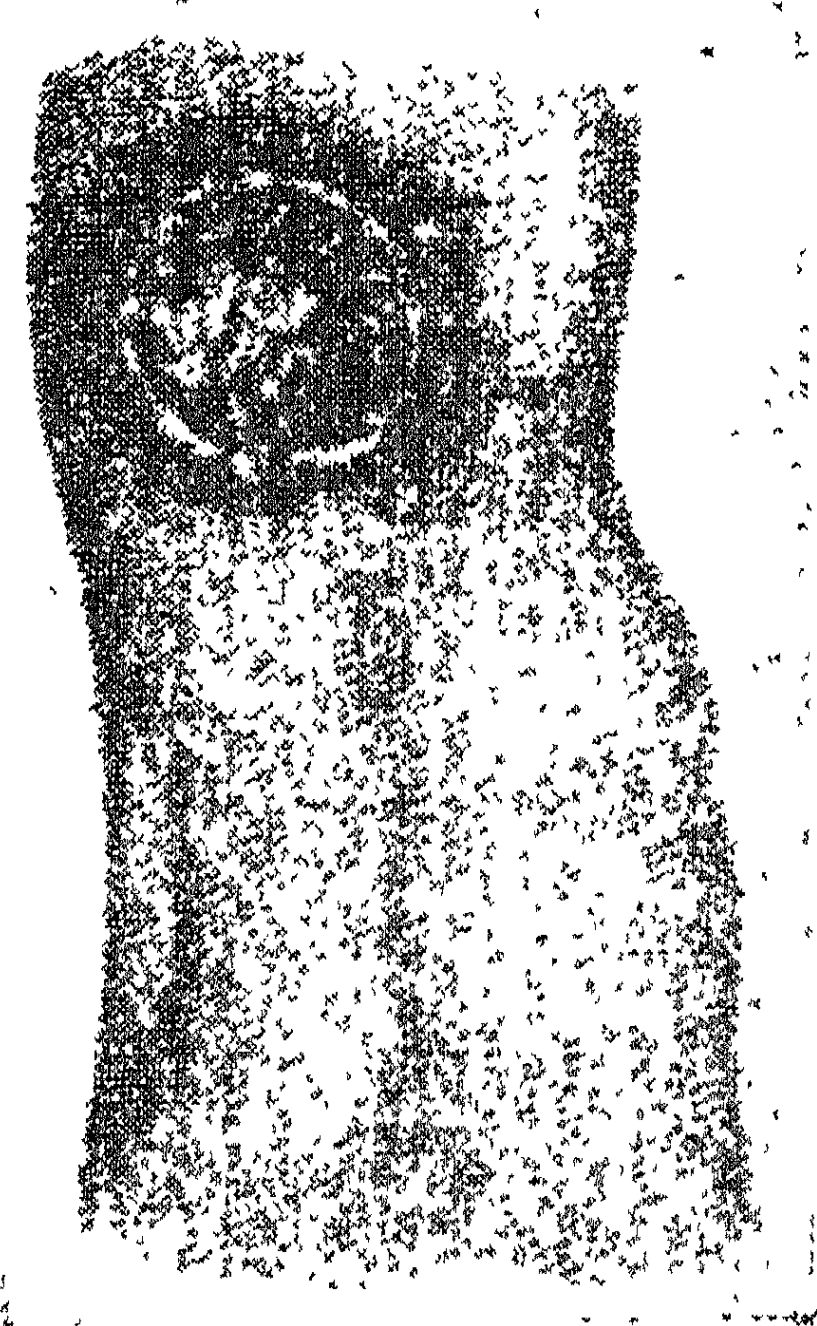
प्लेट VII. गम्मायुक्त व्रण
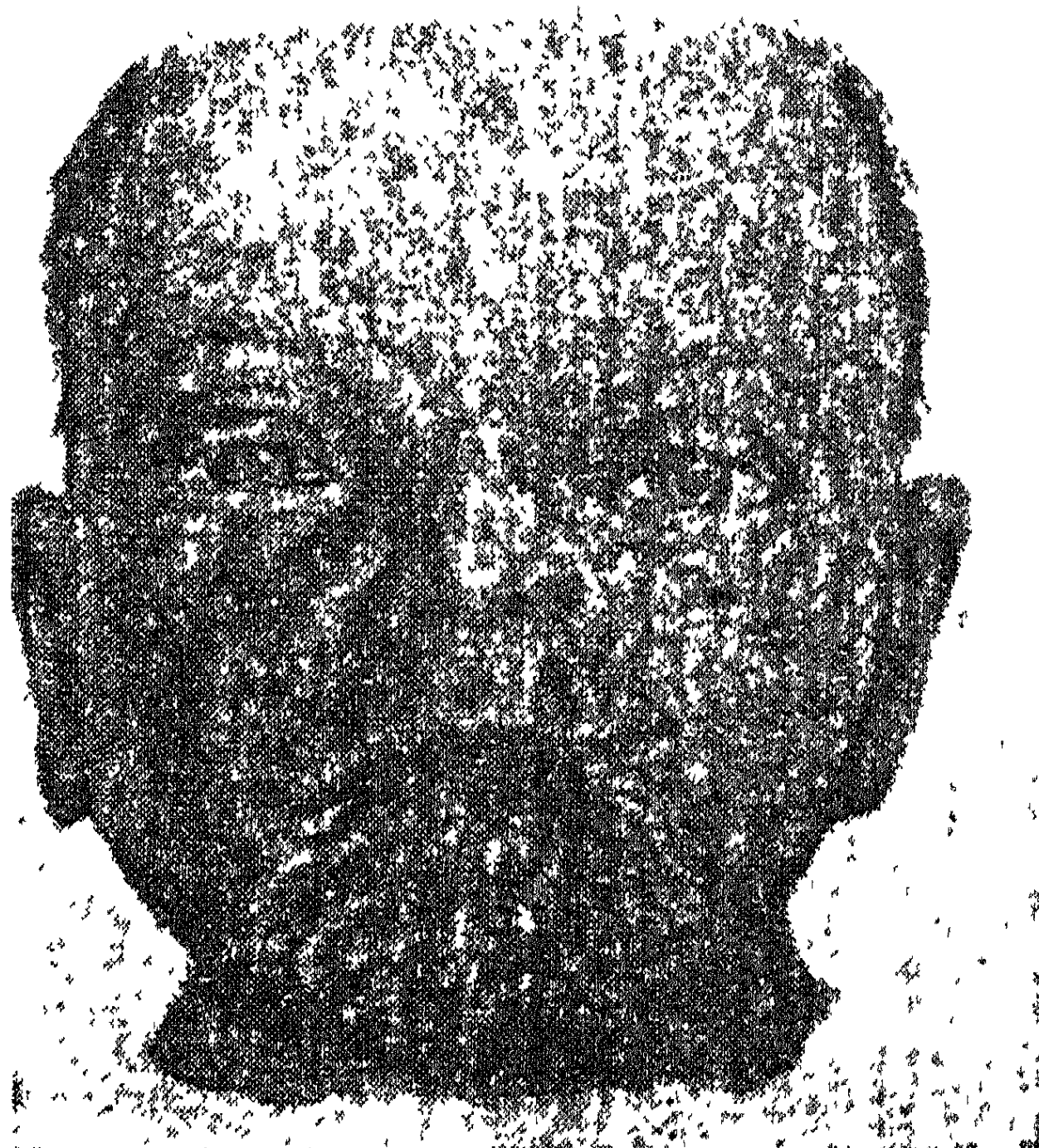
प्लेट VIII. त्वचा का विसरित सिफलिसी अंतः संचरण
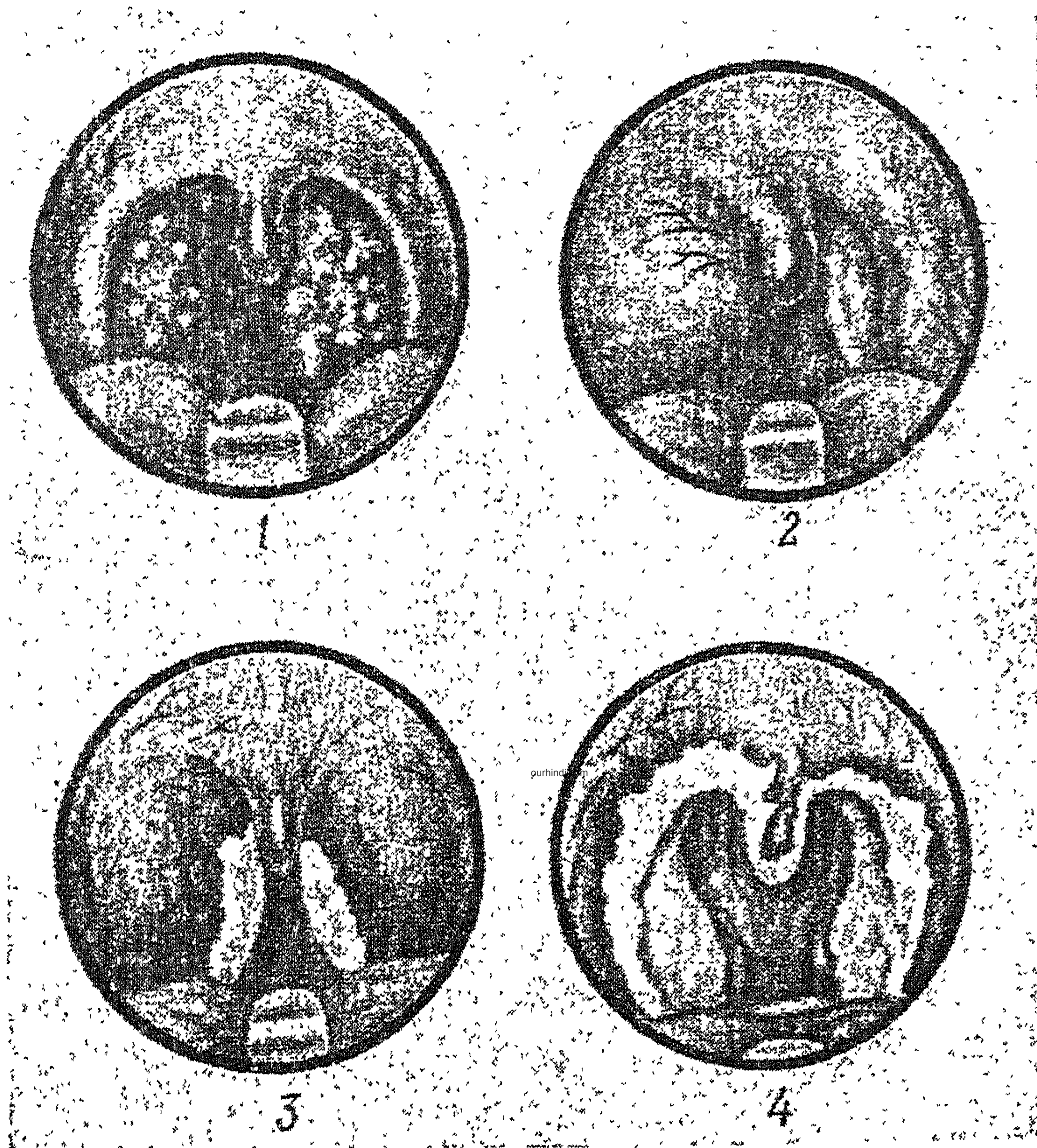
प्लेट XV. गलतोरणिका की संक्रामक विक्षतियां :

1. पुटिकीय (दाहिनी ओर) और रिक्तिका (बाई ओर) गलतुण्डिका शोथ, 2. दाहिना फलेग्मोनी गलतुण्डिका शोथ, 3. गलतोरणिका डिफ्थीरिया का स्थानिक रूप, 4. गलतोरणिका डिफ्थीरिया का विसरित (विषालु) रूप
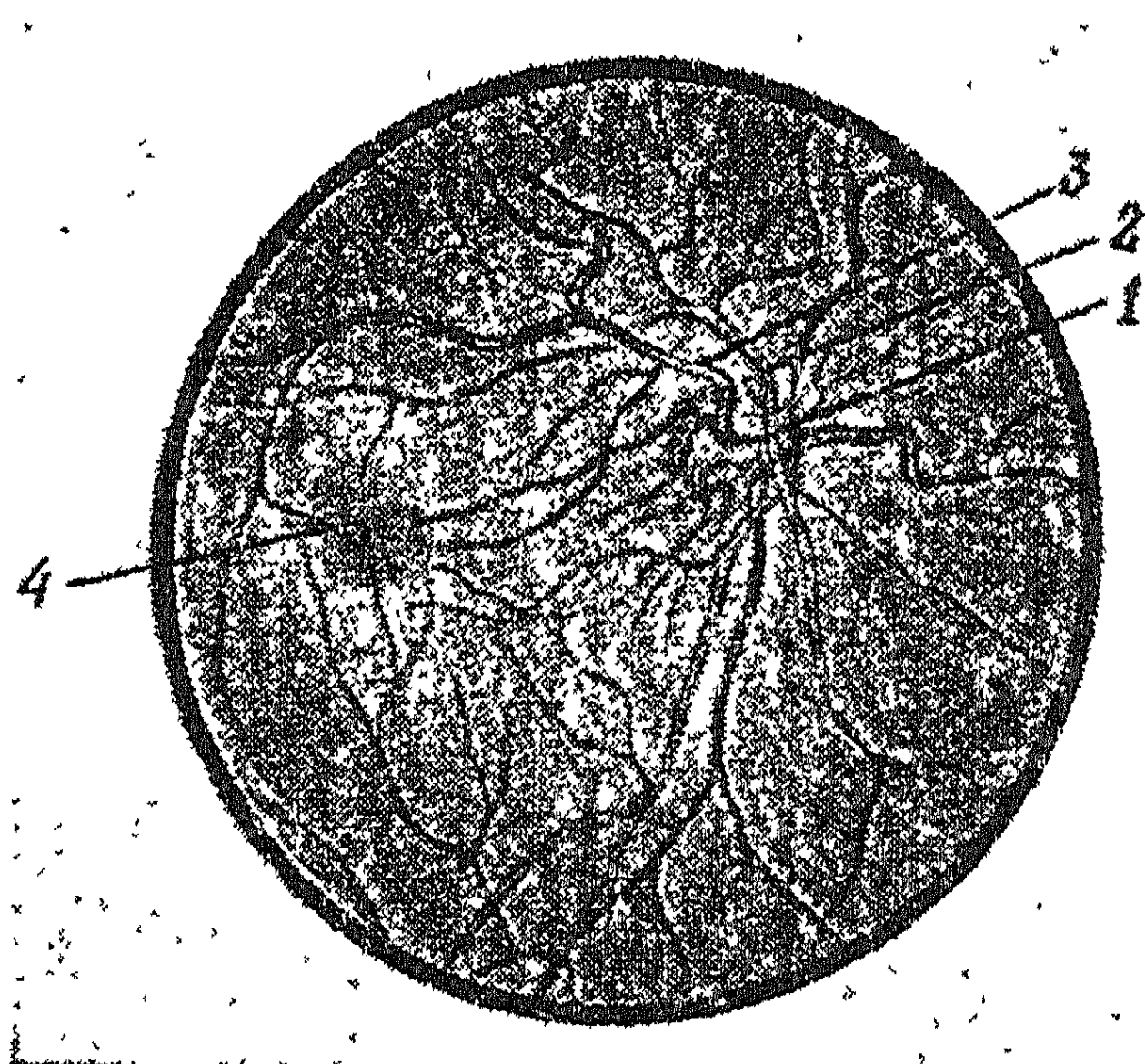
प्लेट X. सामान्य नेत्रवुघ्न :

1. अक्षिविम्ब, 2. धमानी, 3. शिरा, 4. पीत विन्दु
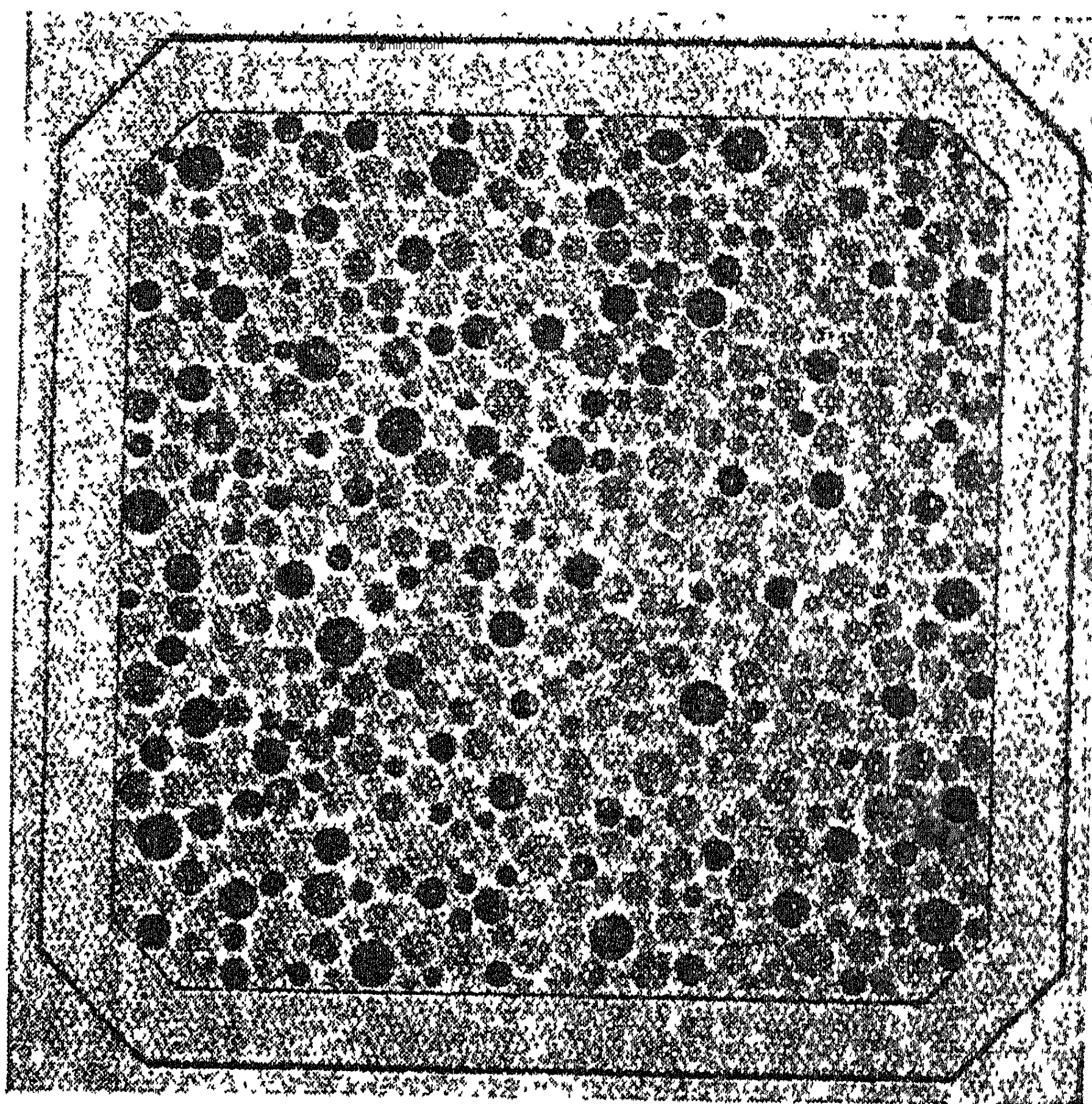
प्लेट XI. रंग बोध की जांच करने वाली एक सारणी
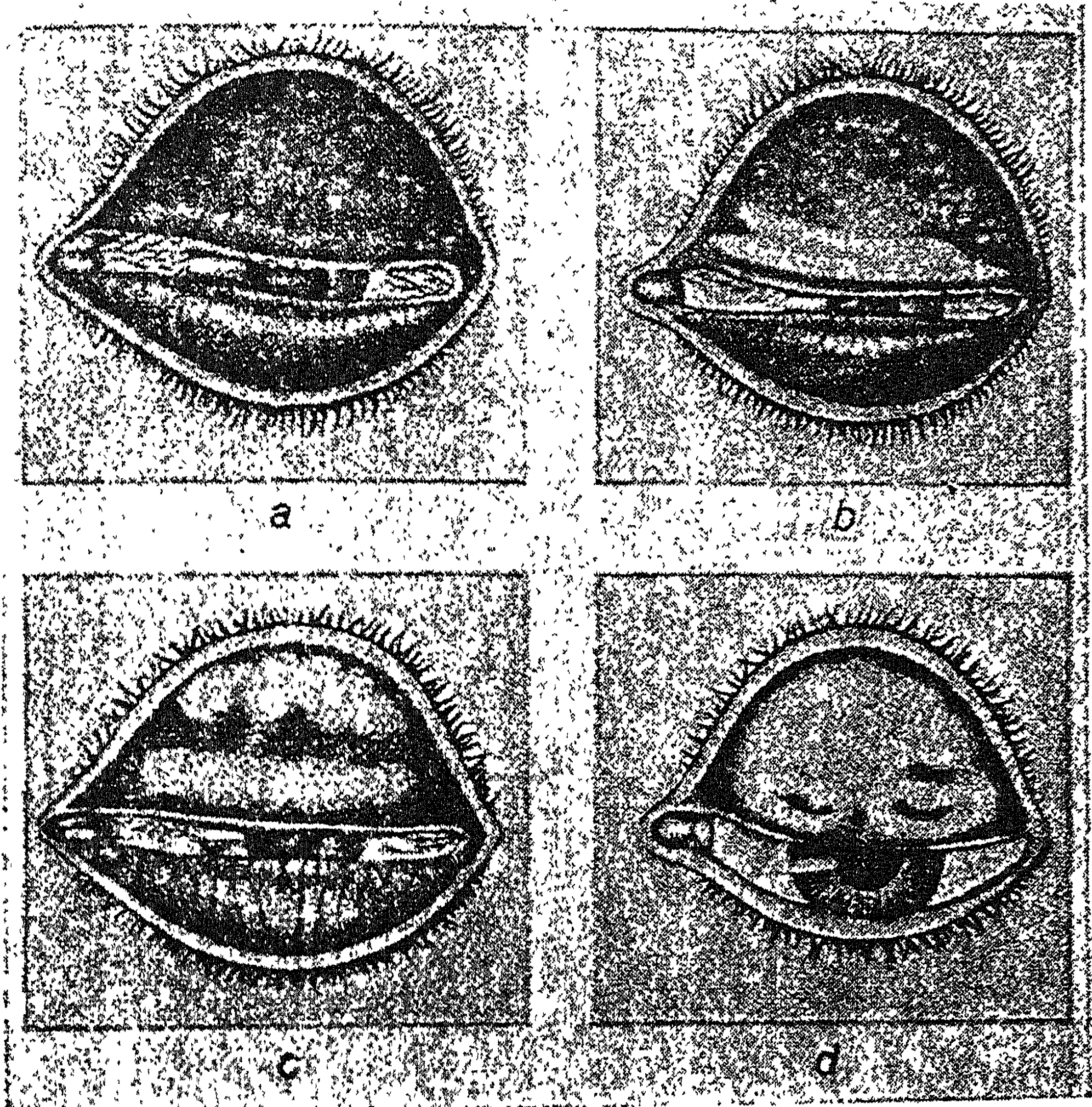
प्लेट XII. रोहे के चार चरण

A. ट्रेकोगा या रोहे 1, B. रोहे 2, C. ट्रेकोमा 3, D रोहे 4
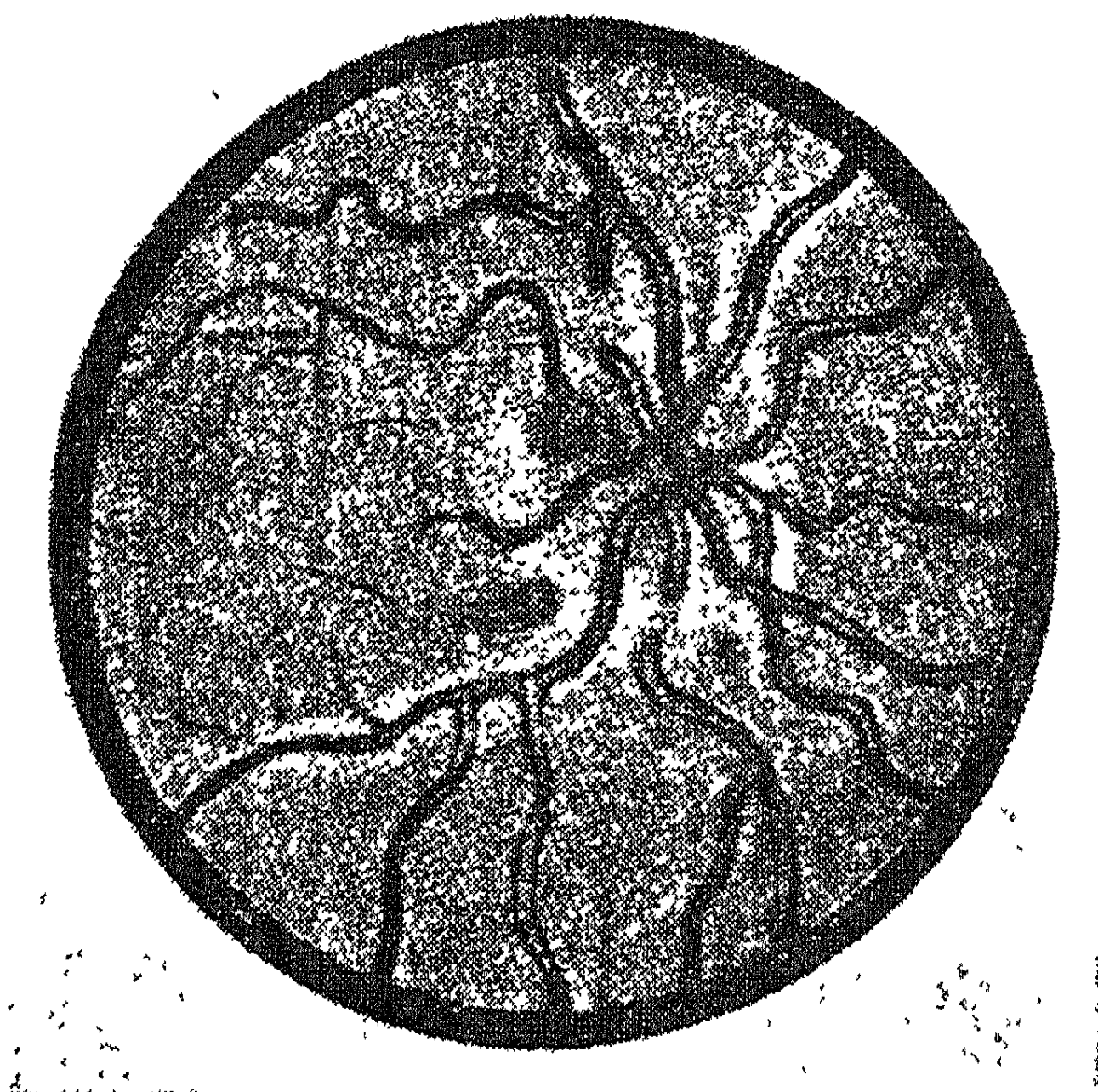
प्लेट XIII. दृष्टि तंत्रिका शोथ
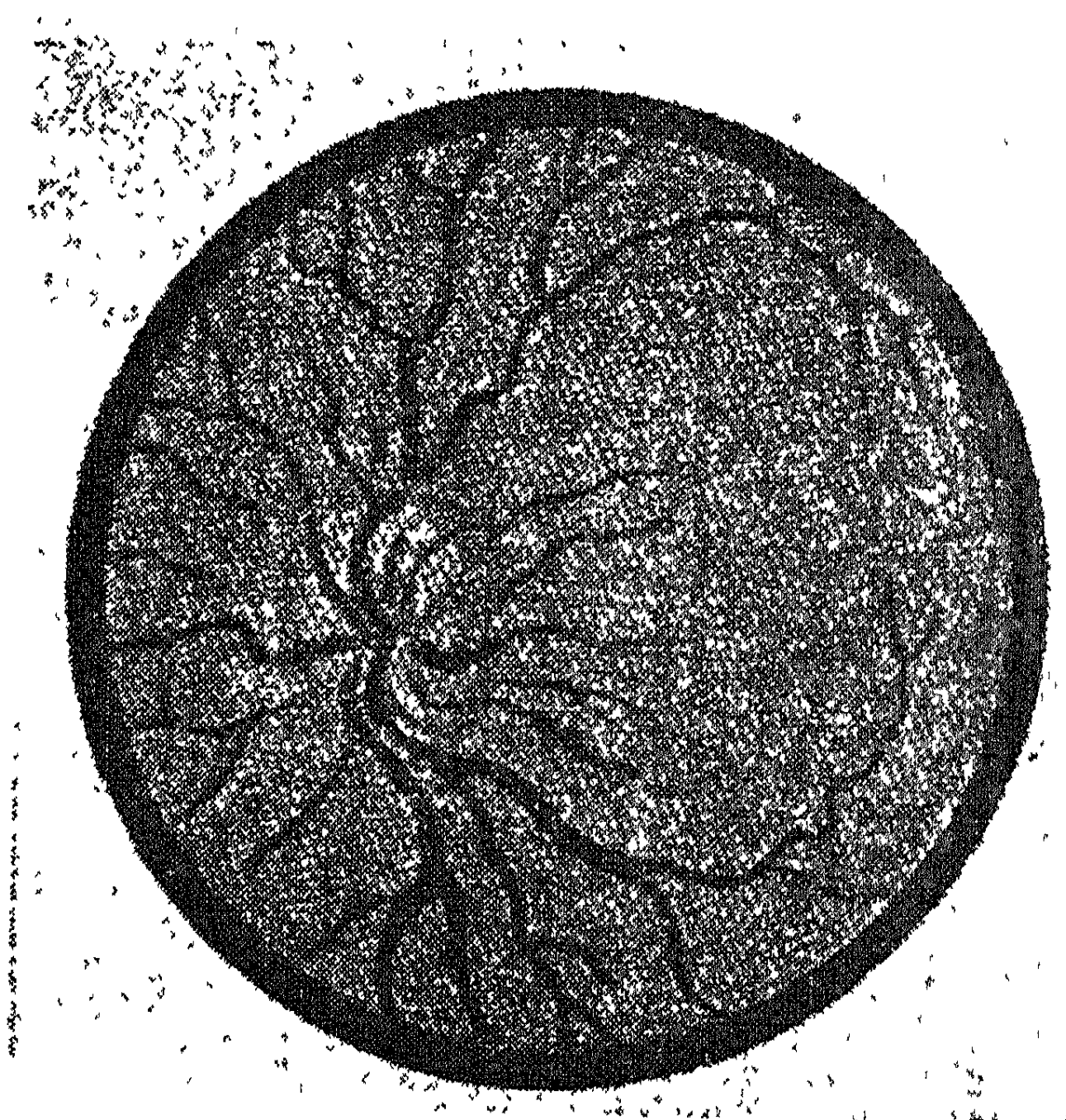
प्लेट XIV. अक्षिबिम्ब शोफ

सिफिलिस प्रतिरोधी उपचार में होने वाले उपद्रव : पेंसिलीन योग से एलर्जी अभिक्रिया (जैसे तीव्रग्राही धक्का, विषालुत्वक रोग, तीव्र शोथ, विभिन्न प्रकार की फुंसियाँ) और विषालुता के लक्षण (सिरदर्द होना या रक्तोत्पत्ति होना) हो सकते हैं। कोक्कल सूक्ष्मजीवियों और एश्चेरीचियाकोली की क्रिया के अवरोधन करने से कैंडिडरूग्णता हो सकती है। विस्मथ योग से वृक्कीय उपद्रव हो सकते हैं (मूत्र में 'बिस्मथ कोशिकाएँ' और प्रोटीन जाने लगते है।) और श्लेष्मा में शोथ (मसूड़ाशोथ, मुखपाक और बिस्मथ बार्डर) हो सकता है। आयोडीन योग से नासाशोथ, नेत्रश्लेष्मलाशोथ और 'आयोडीन एकनी' हो सकती है।

इन उपद्रवों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सिफिलिस प्रतिरोधी उपचार देने से पूर्व रोगी की ध्यानपूर्वक जाँच की जाय, उसके चिकित्सा वृत्त का विस्तार से अध्ययन किया जाय, ताकि उसकी प्रतिजीवी सहन करने की क्षमता संबंधी सूचना मिल सके तथा उपचार के समय इस बात की ध्यानपूर्वक सावधानी बरती जा सके कि वह औषधि को कैसे सहन करता है। रोगियों को नियमित विधान का पालन करना चाहिए, विटामिन से पूर्ण ज्यादा कैलोरी वाली खुराक लेनी चाहिए तथा अपने दाँतों और मसूड़ों की सही देखभाल करनी चाहिए।

सूजाक (गोनोरिया)

सूजाक एक ऐसा संक्रामक रोग है जिसमें मनुष्य के मूत्र-प्रजनन अंग मुख्य रूप से संबद्ध होते हैं। यह संक्रमण बहुधा मैथन से होता है। लड़कियाँ इस रोग को बहुधा जननांगेतर पथ से ग्रहण करती हैं। इसका कारक गोनोकोकस है (चित्र 86)। इसकी खोज 1879 में हुई है।

इसका उष्मायन काल तीन से पाँच दिन तक है, पर कभी-कभी यह दो से तीन सप्ताह तक भी हो सकता है। इसमें हृदय और जोड़ कभी-कभी आवृत्त होते हैं और गोनोकोकल पूत्तिका हो जाती है। इसलिए गोनोरिया पूरे शरीर का सामान्य संक्रमण है, यद्यपि अधिकतर रोगियों में मूत्र प्रजनन अंगों की श्लेष्मा कला संक्रमित होती है। गोनोरियल या ब्लेनोरियल नेत्र श्लेष्मलाशोथ तब हो जाता है, जब हाथों के द्वारा पस का संक्रमण आँखों में हो जाता है या यह रोग माता की जन्म कैनाल में संक्रमित शिशु में होता है।
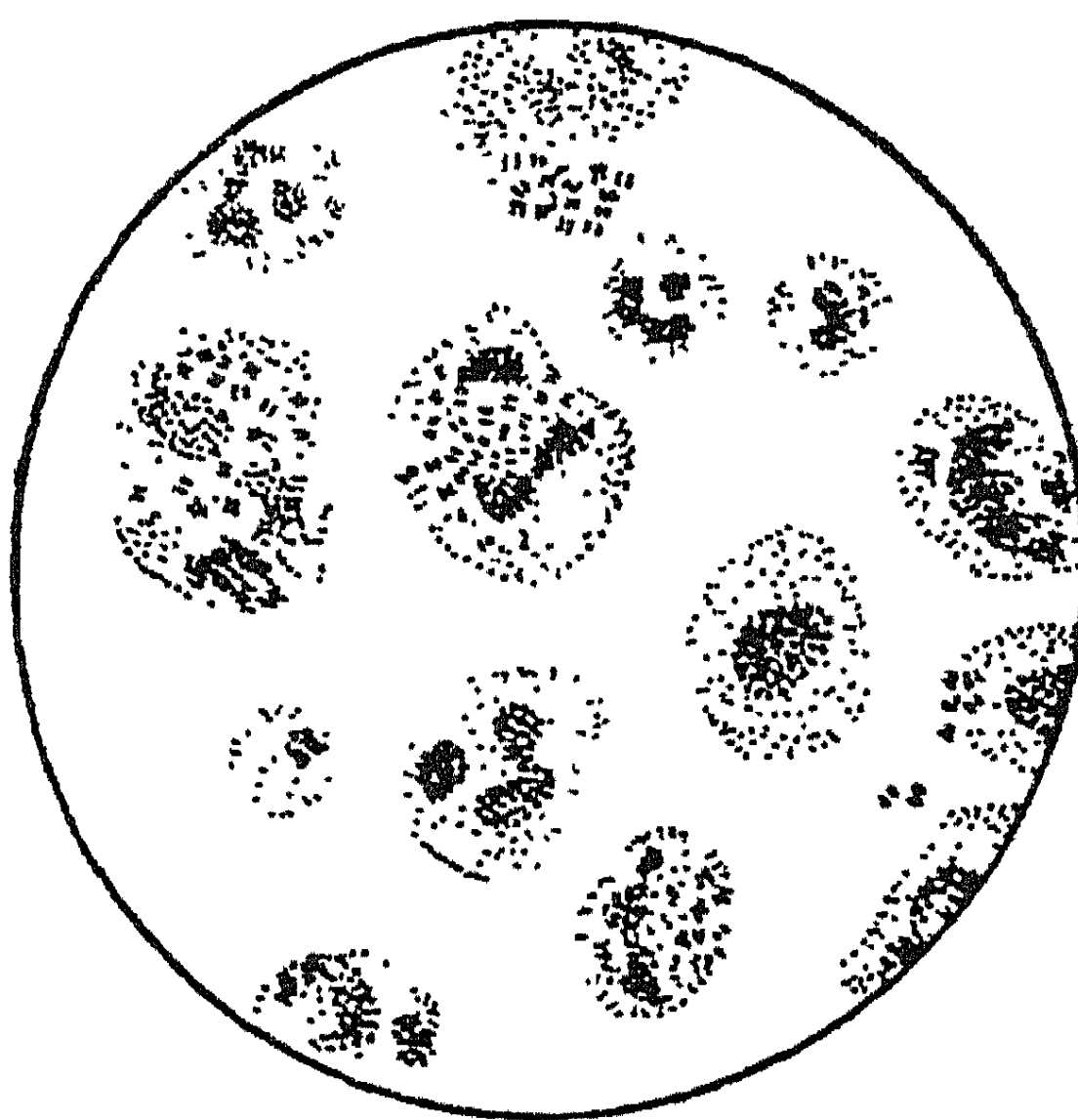
चित्र 86. कार्यप्रदर्शी वित्रण के लिए गोनोकोकस का विन्यास

पुरुषों में सूजाक

रोगी महिला से मैथुन करने से पुरुष संक्रमित हो जाता है। मूत्र पथ के अग्रभाग के संक्रमित होने से रोग (एक्यूट यूरेथ्राइटिस) की शुरूआत होनी है। उष्मायन काल के पूरा होते ही मूत्रपथ में जलन और खुजली महसूस होती है और मूत्रण पीड़ायुक्त होता है। मूत्रपथ से पीलापन लिए हुए हरा पस स्रवित होता है और कुहर (द्वार) पर लाली और सूजन हो जाती है। यदि कोई उपचार न किया जाय तो यह प्रकम दो-तीन हफ्तों में मूत्रपथ के पीछे वाले भाग तक फैल जाता है और पश्च गोनोरियल मूत्रमार्ग शोथ हो जाता है। इसमें बार-बार पीड़ादायक मूत्रण की इच्छा होती है। मूत्रण के बाद तेज पीड़ा होती है और मूत्र की आखिरी बूँद में खून के धब्बे होते हैं। मूत्रपथ में सँवरणी के द्वारा मूत्रपथ का अग्रभाग पश्च भाग से अलग हो जाता है और इसलिए शुरू में पस पश्च भाग में नहीं पहुँच पाता है। दो-ग्लास मूत्र-जाँच इसी पर आधारित है। रोगी दो गिलासों में पेशाब करता है। अग्रभाग के मूत्रपथ का मूत्र पस मिले होने के कारण मलिन होगा, जबकि पश्च भाग के मूत्रपथ से आया हुआ मूत्र स्वच्छ होगा।

यदि तीव्र यूरेथ्राइटिस का उपचार न किया जाय तो शोथज ठीक होने पर रोगी व्यक्ति को सवेरे के मूत्रण में मूत्रपथ से श्लेष्मपूयी स्राव की कुछ बूँदें दिखती हैं तथा हल्की खुजली और जलन होती है। इसे चिरकारी गोनोरियल यूरेथ्राइटिस कहते हैं। इस रोग में दो गिलास जाँच करने में पहले भाग में पस के धागे और पत्रक होते हैं और दूसरे लिगास में मूत्र साफ होता है। अल्कोहल और संभोग से चिरकारी गोनोरियल यूरेथ्राइटिस का प्रकोप होता है : मूत्रण पीड़ादायक होता है। स्राव सपूय होता है और मूत्र मलिन होता है। चिरकारी गोनोरियल यूरेथ्राइटिस की तरह पुरस्थ में शोथ हो जाता है। शुक्राणु पुटिकाएँ और अधिवृषण (एपीडिडीमिडेस) हो जाता हैं (चित्र 87)।
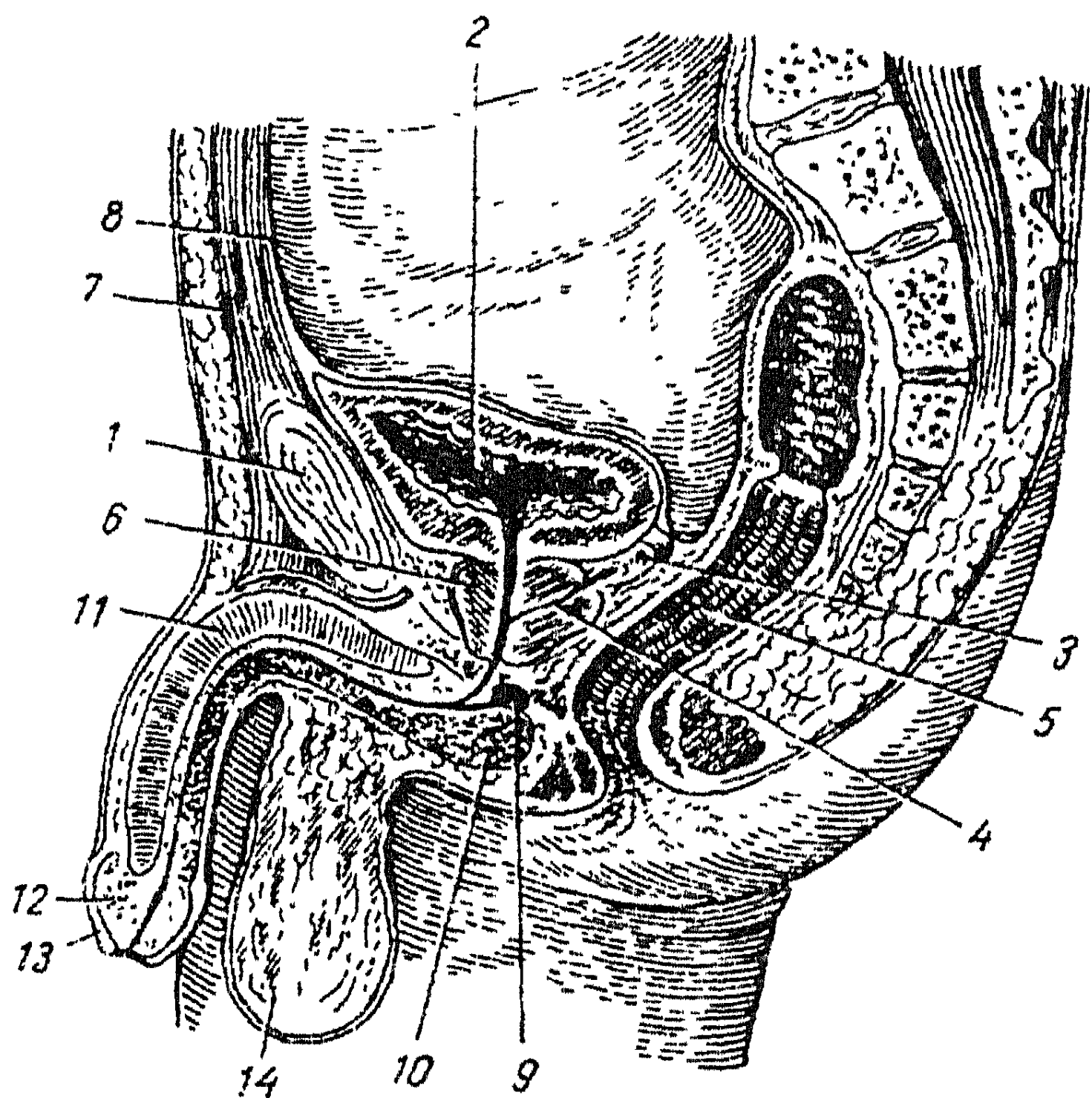
चित्र 87. मनुष्य के मूत्र-प्रजनन अंग।
1. जघन संधानक, 2. मूत्राशय, 3. शुक्राशय, 4. शुक्रप्रसेचक वाहिनी, 5. मलाशय, 6. पुरस्थ, 7. उदरीयभिजत्ति, 8. पर्युदर्या, 9. कुपरिग्रंथि, 10-12. मूत्र-पथ और शिश्न के रक्तधर पिंड, 13. शिश्नमुंडच्छद, 14. वृषण कोश।

नई जड़ वाले गोनोरिया में शुरू में हल्का शोथ होता है : मूत्र मार्ग से थोड़ा श्लेष्मल सपूय या श्लेष्मा स्राव आता है। मूत्रण पीड़ा-रहित होता है या हल्की पीड़ा होती है। मूत्रण का पहला भाग कुछ मलिन होता है और उसके बाद का मूत्र स्वच्छ होता है। गोनोरिया की ऐसी प्रक्रिया को ऐसे समझाया जा सकता है कि गोनोकोकस के गुण बदल जाते हैं या रोगी के शरीर कि क्रियाशीलता घट जाती है। जानपदिक दृष्टिकोण से नई जड़ वाला गोनोरिया महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस रोग से पीड़ित व्यक्तियों को इस बात का आभा सही नहीं हो पाता है कि वे रोग से पीड़ित है तथा वे अपना लैंगिक संभोग जारी रखते हैं और महिलाओं को गोनोरिया से संक्रमित करते रहते हैं।

गलत उपचार से या उपचार न होने से, अल्कोहल (मद्यपान) से, रोग-प्रतिरोधी शक्ति घट जाने से (उदाहरण के लिए अन्य अनुषंगी रोग), लैंगिक उत्तेजना, इत्यादि से जटिल (सम्मिश्र) गोनोरिया हो जाता है। पुरुषों में गोनोरिया संबंधी पुरस्थ शोथ, अधिवृषण शोथ, शुक्राशयशोथ गोनोरिया के उप्रदव (जटिलता) में सम्मिलित हैं।

गोनोरिया पुरस्थशोथ तीव्र या चिरकारी हो सकता है। जब यह प्रक्रिया ग्रंथि की शुक्रप्रेचक वाहिनी में होती है तो श्लेष्मास्रावी पुरस्थशोथ होता है। यदि पुरस्थ के पृठक खंडक रोगी होते हैं तो पुटकीय पुरस्थशोथ होता है। यदि ग्रंथि के सारे ऊतक प्रभावित हों तो पार-ऊतकी पुरस्थरोग होता है। पुरस्थ (या इसके खंडक) आकार में बढ़ जाते हैं और स्पर्श असह्य होते हैं। शौच के समय पीड़ा होती है और मनुष्य को बार-बार मूत्रण की इच्छा होती है।

गोनोरिया अधिवृषण शोथ (अधिवृषण का शोथ) में वृषण में पीड़ा होती है, आकार बढ़ जाता है, अधिवृष्ण में मोटाई आ जाती है और दाब वेदना होती है, वृषण कोश की त्वचा में शोफ और लाली हो जाती है। अधिवृषण से विभिन्न वाहिकाओं में अवरोध उतपन्न हो जाता है तथा द्विपार्श्वीय वृष्ण शोथ के परिणामस्वरूप बाँझपन हो जाता है।

गोनोरिया शुक्राशय शोथ (शुक्र पुटिकाओं का शोथ) बहुधा पुरस्थशोथ और अधिवृषण शोथ के साथ होता है।

महिलाओं में गोनोरिया रोग

गोनोरिया से महिलाओं में हल्की-सी स्वप्रत्यय संवेदना होती है और अधिक समय तक उन्हें इस रोग का आभास नहीं होता है। इसलिए वे चिकित्सकीय परामर्श भी नहीं लेती हैं। इस प्रक्रिया में एक साथ बहुत से अंग प्रभावित होते हैं : गर्भाशय की ग्रीवा, मूत्र-पथ, ब्राथोंलिस ग्रंथियाँ (चित्र 88)। ऐसी हालत को उपद्रव-रहित गोनोरिया कहते हैं। शोथज जब गर्भाशय गुहिका, इसके उपांगों, परिमितीय वसा या छोटी श्रोणि की पुर्यदर्या तक फैल जाता है तो इसे **आरोही गोनोरिया** कहते हैं।
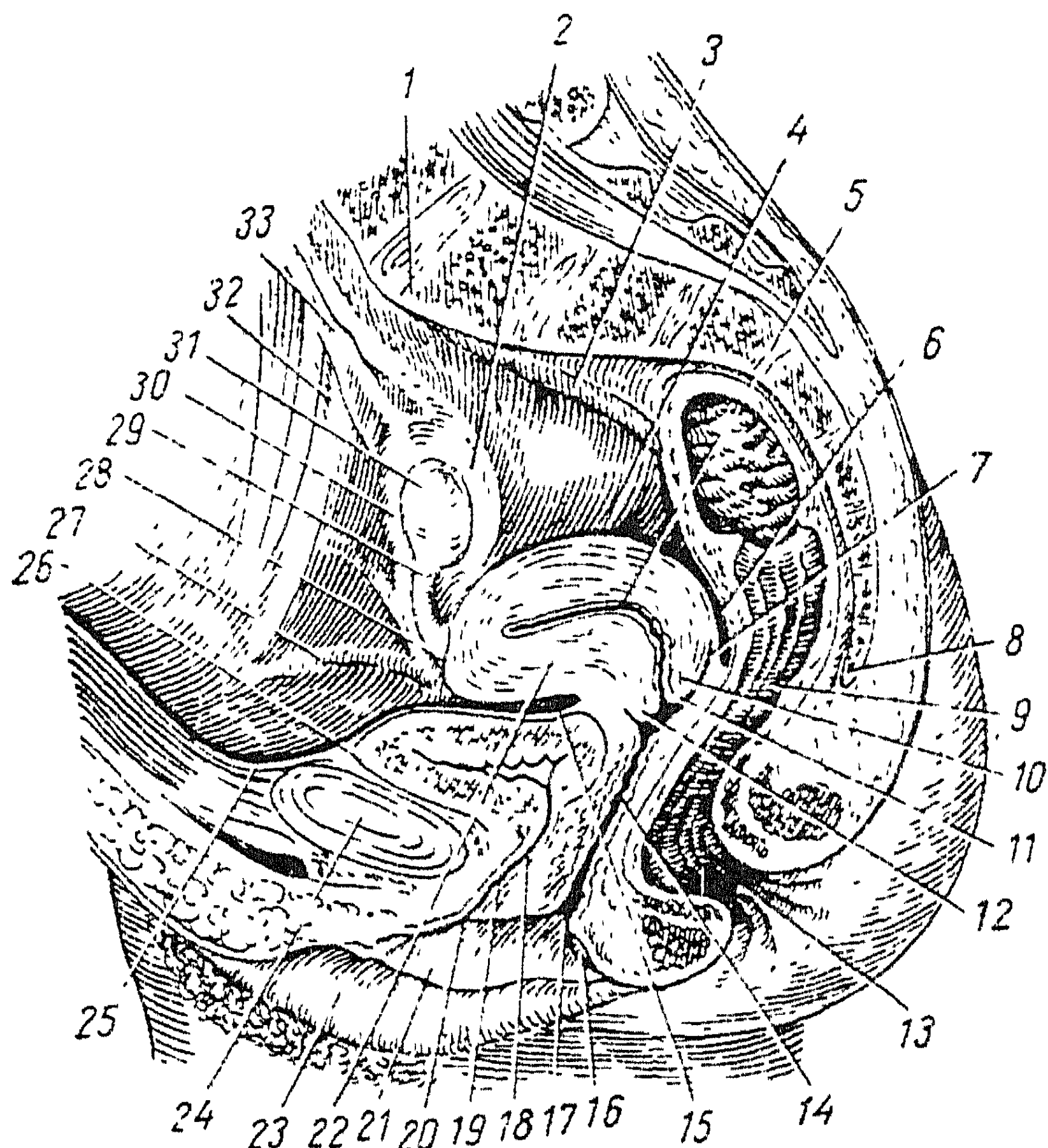
चित्र 88. स्त्री के जननांग।

1. सेक्रमी उत्सेध, 2. और 30. फैलोपी नलिका, 3. पर्युदर्या, 4, 22 ओर 28. गर्भाशय, 5. आंतरिक गर्भाशय द्वार, 6, 15. डोगलस अवकाश, 7. पश्च तोरणिका, 8. अनुत्रिक, 9. मलाशय, 10 और 12, गर्भाशय तोरणिका, 13. गुदा, 14. योनि, 16 व 17. योनि का प्रवेश द्वार और योनिच्छद, 18,19 20. मूत्रमार्ग, 21. लघुभगोष्ठ, 23. वृहदभगोष्ठ, 24. जघन संधानक, 25. नाभि स्नायु, 26. मूत्राशय, 27, 29, 33. गर्भाशय स्नायु, 31. डिम्ब ग्रंथियाँ, 32. श्रेणिशिरा।

गोनोरिया में गर्भाशय की ग्रीवा के शोथ को गोनोरिया का **अंतर्गर्भाशय ग्रीवा शोथ** कहते हैं। यह रोग सभी तीव्र चिरकारी या नई जड़ वाले गोनोरिया से पीड़ित महिलाओं में होता है। गर्भाशय की ग्रीवा में जलशोथ और लाली होती है, गर्भाशय के छिद्र के चारों ओर चमकीली लाल फुंसियाँ हो जाती हैं और छिद्र से श्लेष्मा सपूय पदार्थ स्रवित होता रहता है। रोगी महिला कभी-कभी छोटी श्रोणि में भारीपन की शिकायत करती है और पीठ में कभी-कभी पीड़ा होती है। इसके अतिरिक्त और कोई शिकायत नहीं होती है।

महिलाओं में **गोनोरिया मूत्र मार्ग शोथ** में मूत्रमार्ग के छिद्र के आस-पास के ऊतकों में लाली और सूजन आ जाती है। मूत्रमार्ग से पस जाता है। मूत्रण के समय हल्की पीड़ा और जलन की संवेदना होती है।

गोनोरिया बार्थोलिनशोथ में केवल बार्थोलिन ग्रंथि वाहिनी के छिद्रों में शोथ हो सकता है।

महिलाओं में **गोनोरिया मलाशय शोथ** अधिकतर योनि से गुदा में पस चले जाने से हो जाता है।

आरोही गोनोरिया उपचार न होने से, या गलत उपचार करने से हो जाता है। लैंगिक संभोग, मद्यपान, घटी हुई प्रतिरोधी शक्ति और मासिक धर्म से भी आरोही गोनोरिया बढ़ जाता है। शरीर का ताप बढ़ जाता है, पेट के निचले भाग में तथा पीठ में पीड़ा महसूस होती है। गर्भाशय ग्रीवा से स्राव बढ़ जाता है। श्रोणि पर्युदर्या क्षोभ में (जो कि उपांग शोथ में होता है अर्थात गर्भाशय के उपांगों में शोथ होता है) इन लक्षणों के साथ निम्न भी मिलती हैं : मिचली, उलटी, कब्ज और पेट की मांसपेशियों में कठोरता।

लड़कियों में गोनोरिया जननांगेतर पथ से होता है, जब वे किसी रोगी महिला के साथ उसी बिस्तर में सोती हैं या एक ही शौचालय का प्रयोग करती हैं अथवा एक ही अंतरवस्त्र और स्पौंज आदि इस्तेमाल करती हैं। योनि के प्रयोगद्वार या योनि का रोग होना सबसे प्रचलित रोग है। इसे **गोनोरिया भग-योनिशोथ** कहते हैं। मूत्रमार्ग और गुदा श्लेष्मा भी बहुधा प्रभावित होती है। इसे **गोनोरिया मलाशय शोथ** कहते हैं। लड़कियों में अंतगर्भाशयग्रीवाशोथ और आरोही गोनोरिया बहुत कम होता है। नई जड़ वाले गोनोरिया में थोड़ा स्राव होता है। हलकी-सी लाली और जलशोथ (शोफ) होता है और स्वप्रत्यय संवेदना होती है। शिशुओं में इसके संक्रमण और ठंड, इत्यादि के प्रभाव में रोग का लघुकालिक प्रकोपन होता है।

पुरुष रोगियों के द्रव्य का एकत्रीकरण और आलेपन बनाना

तीव्र शोथ (तीव्र गर्भाशय शोथ, और पुरस्थ शोथ) में मुक्त रूप से प्रवाहित स्राव का परीक्षण किया जाता है। दूसरे रोगों में गर्भाशय की गहरी पर्तों में से द्रव्य लेते हैं या पुरुषों में शुक्राणु पिटिकाओं और पुरस्थ से विशेष विधि द्वारा द्रव्य का एकत्रीकरण करते हैं।

मूत्रमार्ग में से आलेप तीव्र मूत्रमार्ग शोथ में मूत्रमार्ग से मुक्त रूप से निकलने वाली प्रथम बूंद को साफ गाज टैंपन से अलग कर लेते हैं और सपूय स्राव को काँच पट्टिका के कोने पर ले कर एक दूसरी साफ काँच पट्टिका पर एक दिशा में चला कर आलेप बनाते हैं। सूक्ष्मदर्शी के लिए एक सरल तथा उत्तम आलेप तब मिलता है, जब द्रव्य वाली पट्टिका के ऊपर 30^0-40^0 के कोण पर पकड़ कर किनारे से मिला कर स्पर्शित कराते हैं। यदि स्राव कम हो तो रोगी के प्रातःकाल मूत्रण से पूर्व द्रव्य लेना चाहिए या हल्के से शिश्न मुंड को दबाकर मूत्रमार्ग के द्रव्य को निकाल लेना चाहिए। जब कभी मूत्रमार्ग से कोई स्राव न हो तो प्लैटिनम लूप की सहायता

से मूत्र पथ के श्लेष्मा से खुरचन को एकत्रित करते हैं (प्लैटिनम लूप को प्रयुक्त करने से पूर्व उसे वर्नर की लौ में थोड़ी देर रखने के बाद ठंडा करके मूत्रमार्ग में 2-4 सें. मी. अंदर तक प्रवेशित किया जाता है)। खुरचने का काम वहुत सावधानी से करना चाहिए, जिससे श्लेष्मा को क्षति न पहुँचे। प्लैटिनम तार के सिरे को तेजी से वहिर्विष्ट नहीं करना चाहिए। प्लैटिनम लूप पर आए द्रव्य को काँच पट्टिका पर स्थानांतरित कर देते हैं।

मूत्रपथ ग्रंथियां और मूत्रपथ शिरानाल से आलेप लेने से पूर्व मूत्र पथ की सीधी शलाका पर मर्दन किया जाता है। मर्दन से पूर्व मूत्राशय को खाली किया जाता है। और इसमें (मूत्राशय में) 50 मि.ली. अच्छी तरह उबाला हुआ उष्ण जल या 1 : 6000 मरकरी आक्सीयायेनाइड घोल प्रवेशित किया जाता है। मूत्रपथ का मर्दन शलाका पर तीन से पाँच मिनट तक किया जाता है, इसके बाद प्लैटिनम लूप से बड़ी सावधानी से इसे खुरचा जाता है, या स्रवित धोवक जल में उपस्थित सूत्र-खंडों की जॉच करते हैं।

पुरस्थी द्रव का एकत्रीकरण रोगी केहुनों को टेवुल पर रख कर बैठने की मुद्रा में खड़ा रहता है। इस स्थिति मे उसके पुरस्थों की मालिश की जाती है (इसके पहले मूत्राशय खाली करा के उसमें 50-60 मि.ली. उबले गुनगुने पानी में पारद आक्सीसायनाइड का 1 : 6000 घोल प्रविष्ट करा देते हैं)। बाह्य मूत्र-द्वार से प्रकट दूधिए बूँद को काँच की पट्टी पर लेकर उसे दूसरी पट्टी से दबा देते हैं। यदि वंद न निकले, तो धोवक-जल की तलछटी की जाँच करते हैं (इसके लिए धोवक को नचा कर अपकेंद्रित कर लेते हैं)

महिलाओं के द्रव्य का एकत्रीकरण

ड्रेसिंग संदंश की निर्जीवाणुक धार या स्पेचुला से योनि आलेप तैयार करने के लिए हर स्थान से द्रव्य विभिन्न उपकरणों में लिया जाता है। रोगी को कहा जाता है कि आलेप से पूर्व मूत्राशय को खाली न करे। मूत्रमार्ग से नमूना सबसे पहले लेते हैं। उपस्थीय भगोष्ठ को बाएँ हाथ की उँगलियों से हटाते हैं कि मूत्रपथ मार्ग दिखने लगे। उपरोक्त वर्णित औजार के द्वारा इसके स्राव को इकट्ठा करते हैं और साफ काँच पट्टिका पर रखते हैं। कभी-कभी चिरकारी मूत्र मार्ग शोथ होने पर मूत्र मार्ग का बड़ी सावधानी से मर्दन करना पड़ता है और दबाकर पेंदे से स्राव लिया जाता है। कस्को स्पेकुलम या, कोई सहायक होने पर, दो सिम स्पेकुलाओं को योनि मार्ग में प्रवेश कराते हैं जिससे कि गर्भाशय ग्रीवा खुल जाती है और इसमें से स्राव को निर्जीवाणुक औजार से एकत्रित करके इसकी पतली पर्त को दो काँच की पट्टियों पर लगाते हैं। इसके बाद द्रव्य को योनि के पश्च कक्ष से दूसरे औजार से निकाल कर इन काँच पट्टियों ij yxk;k tkrk gSA iV~Vdkdsvuqi Hkkx dksv {kjksals fpfUgr djrs gSa% u (मूत्रमार्ग), s (ग्रीवा) और v (योनि)। ये आलेप दो काँच पट्टिकाओं पर तैयार किए जाते हैं, क्योंकि दो विभिन्न अभिरंजक विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। यदि सभी

आलेपों के लिए एक ही काँच पट्टी इस्तेमाल की जाय तो आलेप एक निश्चित प्रक्रम से एक दूसरे से कुछ दूरी पर लेने चाहिए। लेप स्थिरीकरण के लिए काँच पट्टिकाओं को एक या दो बार बर्नर की लौ पर से गुजारते हैं। और फिर सांकेतिक चिह्न के साथ पट्टिकाओं को प्रयोगशाला में भेज देते हैं।

गोनोरिया का उपचार

गोनोरिया के सामान्य उपचार के लिए **प्रतिजीवी** एक मुख्य उपाय है। जल में घुलनशील पेंसिलीन (200000 इ.) का प्रति तीन या चार घंटे के अंतर पर इंजेक्शन लगाते हैं, एक्मोनोवोसिलीन (600000 इ.) को प्रत्येक 10 से 12 घंटे के अंतर पर, बाइसिलीन-1 या बाइसिलीन-3 की 1200000 इ. (प्रत्येक नितंब में 600000 इ. की) खुराक देते हैं। तीव्र, पर उपद्रव-रहित गोनोरिया में पेंसिलीन की पूरी खुराक 2000000 इकाई तथा तीव्र, जटिल और ताजी जड़वाली और रोग के चिरकारी रूप में 3000000 इकाई की पूरी खुराक दी जाती है। पेंसिलीन को रोगी के स्वरक्त में मिलाकर इंजेक्शन दिया जा सकता है (500000 इ. पेंसिलीन को 1 मि.ली. शरीर वृत्तिक लवण घोल में विलीन करके तथा 5 मि.ली. रोगी का रक्त मिलाकर इस मिश्रण का नितंब की मांसपेशी में इंजेक्शन लगाते हैं)।

स्ट्रेप्टोमाइसीन को 0.5 ग्रा. की खुराक का अंतर्पेशीय इंजेक्शन दिन में दो बार लगाया जाता है (उपद्रव-रहित गोनोरिया के तीव्र रूप में कुल खुराक 1.0 ग्रा. तथा दूसरे रूपों में 2.0 से 4.0 ग्रा. तक दी जाती है) क्लोरोम्फेनिकोल की 0.5 ग्रा. की खुराक दिन में चार बार और उपद्रव-रहित तीव्र गोनोरिया में 5.0 ग्रा. तथा अन्य रूपों में 6.0-7.0 ग्रा. की खुराक दी जाती है। क्लोरटेट्रासाइक्लीन हाइड्रोक्लोराइड (बायोमाइसीन), टेट्रासाइक्लीन और आक्सीटैट्रासाइक्लीन डिहाइड्रेट की 0.2 ग्रा. की खुराक दिन में पाँच बार दी जाती है (कुल खुराक 3.0-4.0 ग्रा. उपद्रव रहित तीव्र गोनोरिया में और अन्य रूपों में 5.0-7.0 ग्रा. दी जाती है)। फेनाक्सीमेथाइल पेंसिलीन (200000 इ.) की खुराक दिन में छः बार भोजन के एक घंटा पहले दी जाती है (कुल खुराक 4000000-8000000 इ.)। ओलेटेट्रीन योग में ओलिएनडोमाइसीन फास्फेट का एक भाग और टेट्रासाइक्लीन के दो भाग होते हैं। इसकी 1500000 इ. की खुराक पहले दिन (500000 इ. पहली बार और फिर 250000 इ. चार बार) दी जाती है और इसके अगले दिनों में 250000 इ. की खुराक दिन में चार बार दी जाती है। कुल खुराक 4000000-7000000 होती है। एराइथ्रोमाइसिन की कुल खुराक 6000000-8000000 इ. (दो दिन तक 400000 इ. दिन में छः बार और बाकी अगले दिनों तक दिन में चार बार 400000 इ. प्रति खुराक दी जाती है) और मोनोमाइसीन को 2000000-3000000 इ. (500000 इ. 0.5 प्रतिशत प्रोकेन घोल में) 12 घंटे के अंतर पर दिया जाता है।

सल्फानिलामाइड का प्रतिजीवी के साथ या अकेले ही ऐसे रोगियों को देते है जिनके लिए प्रतिजीवी औषधियाँ प्रति-निर्देशित होती हैं। सल्फाथियाजोल ओर सल्फामेथाजीन 1.0 ग्रा. की खुराक में दिन में पाँच बार दी जाती हैं और कुल खुराक 20 ग्रा. है।

गोनोरिया के तीव्र, पर उपद्रव-रहित रूप को छोड़कर अन्य सभी रोगियों को **प्रतिरक्षा चिकित्सा** दी जाती है।

टीका के रूप में शुरू में 20-30 करोड़ सूक्ष्मजीवी पिंडों की खुराक का अंतरपेशीय इंजेक्शन दिया जाता है। और फिर इस खुराक को बढ़ाकर एक अरब सूक्ष्मजीवी पिंड कर दी जाती है। दो या तीन दिन के अंतर पर चार से छः इन्जेक्शन तक दिये जाते हैं।

दुग्ध चिकित्सा (दुग्ध का इन्जेक्शन) यह इन्जेक्शन तीन से पाच दिन में एक बार दिया जाता है। पूरा उपचार चार या पाँच इंजेक्शन का होता है। पहली बार 1-2 मि.ली. का इंजेक्शन दिया जाता है और फिर हर इंजेक्शन में 2-3 मि.ली. मात्रा बढ़ाते जाते हैं, जब तक कि खुराक 5-10 मि.ली. न हो जाय। खुराक का बढ़ाना शरीर की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। गाय के ताजे दूध को परखनली में डालकर पाँच से दस मिनट तक उबालते हैं और फिर ठंडा करते हैं। फिर दूध की आवश्यक मात्रा को पिचकारी में सुई लगाकर गहराई में से चूषण करते हैं। फिर इंजेक्शन को नितंब के ऊपरी पश्च चतुर्थांश में लगाते हैं।

स्वरक्त चिकित्सा तीन दिन में एक बार करते हैं। 5 से 10 मि.ली. रक्त के चार से छः इंजेक्शन लगाए जाते हैं।

स्थानिक उपचार की आवश्यकता तीव्र उप्रदव-रहित गोनोरिया में नहीं पड़ती है, पर रोग के अन्य सभी रूपों में यह रोग-मुक्ति में बहुधा महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

'kSkdkmipkj ikSfk;e ijeSXusV ¼38^0-40^0 सें.) के 1 : 10000-1 : 60000 घोल से एशमार्क धोवक द्वारा मूत्रपथ की धोवन क्रिया से किया जाता है। शोथ जितना ही अधिक तीव्र हो, घोल की सांद्रता उतनी ही कम होनी चाहिए। धोवक के काँच वाला सिरा विसंक्रमित होना चाहिए। रोगी को किसी कोच या दीवान पर लिटा दिया जाता है। धोवक को जननांगों से 1 से 1.5 मी. की ऊँचाई पर लटकाते हैं। मूत्रपथ छिद्र के आस-पास की त्वचा तथा पुरुषों में शिश्नमुंड के ऊपर की त्वचा को धोवक के घोल की धार से धोते हैं। फिर धोवल के अग्रभाग को मूत्रपथ में घुसा का घोल को तब तक मूत्रपथ में बहने देते हैं। जब तक कि रोगी यह न महसूस करे कि यह (मूत्रपथ) भरकर फूल गया है। धावक के अग्रभाग को मूत्रपथ से बाहर निकाल देते हैं और यह घोल मूत्रपथ से बाहर निकलने लगता है। यह विधि 10 से 12 बार दोहराई जाती है।

पहले कुछ दिनों तक मूत्रपथ के अग्रभाग का धोवन किया जाता है पर आगे चल कर मूत्रपथ क पिछले (अंदर) के भाग का भी धोवन किया जाता है। एशमार्क धोवक से उसी तरह से घोल अंदर पहुँचाया जाता है, पर धोवक के अग्रभाग को तब तक बाहर नहीं निकालते हैं जब तक कि मूत्राशय में घोल न पहुँच जाय (मूत्राशय में पहुँचने पर मूत्रण की इच्छा होती है)। मूत्राशय में यह घोल कई बार भरा जाता है जब तक कि इसमें से बहनेवाले घोल की मलिनता समाप्त न हो जाय।

योनि का धोवन एशमार्क धोवक से करते हैं, जिसका अग्रभाग शीशे का होता है। धोवक को एक मीटर से कम ऊँचाई पर बिस्तर के स्तर पर रखते हैं। रोगी महिला अपनी पीठ के बल लेट जाती है। इस स्थिति में योनि की दीवारों की धुलाई बेहतर और अधिक समय तक होती है तथा धोवन के बाद भी कुछ घोल योनि में शेष रह जाता है। धोवक के अग्रभाग को योनि की पिछली दीवार तक घुसा दिया जाता है और साथ-साथ घोल चलता रहता है। 45^0 सें. तक गर्म जल द्वारा धोवन से योनि की दीवारों को क्षति नहीं पहुँचती है, पर जननेंद्रिय की बाह्य त्वचा तथा जांघों की त्वचा जल सकती है। इसके बचाव के लिए इस त्वचा पर वैसलीन का आलेप कर दिया जाता है। धोवन के बाद रोगी कम-से-कम 30 मिनट तक उत्तान स्थिति में रहता है। धोवक के अग्रभाग को विसंक्रमित कर लिया जाता है। धोवक से 60 से 90 मिनट बाद योनि टैंपन लगाए जाते हैं। एक रुई का टैंपन (संतरे से बड़े आकार की रुई की टिकिया) धागे से क्रास के आकार में बाँधी जाती है और के सिरे ज्यादातर लंबे होते हैं। ये टैंपन विसंक्रमित तथा किसी औषधीय पदार्थ में (सल्फानिलामाइड घोल, कोडलिवर तेल या ग्लीसरीन, इत्यादि में) भिगोए हुए होते हैं और इन्हें टैंपन को योनि के पिछले कक्ष तक वीक्षण यंत्र से घुसाया जाता है। वीक्षण यंत्र को बाहर निकालते हैं पर टैंपन को उँगलियों या लंबी चिमटी से अंदर पकड़े रखा जाता है। योनि के बाहर लटकते हुए धागे को खींच कर रोगी टैंपन को 8-10 घंटे बाद बाहर निकाल लेता है।

अनुतीव्र और चिरकारी मूत्र मार्ग शोथ में 0.25-1.0 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का 6 से 8 मि.ली. मात्रा का या सिल्वर प्रोटीन घोल के 1.0-2.0 प्रतिशत का मूत्र-मार्ग में बिंदुपात की अनुशंसा की जानी है।

बिंदुपातक को फारमलडिहाइड की भाप में विसंक्रमित करते है या प्रयोग से एक घंटा पूर्व मरकरी आक्सीसायेनाइड घोल में रखा जाता है। इसे मूत्रमार्ग सँवरणी से घुसाया जाता है और फिर धीरे-धीरे घोल (पुरुषों में 6-8 मि.ली. और महिलाओं में 3-5 मि.ली.) का बिंदुपात करते हुए बिंदुपातक को बाहर निकाल लिया जाता है। रोगी इस औषधि को अपने मूत्र मार्ग में दो से तीन मिनट तक बने रहने देता है। यह क्रिया दो दिन के अंतर पर दोहराई जाती है।

बूजी (शलाका) प्रवेशन : जब मूत्रपथ व्रण चिह्नों के कारण संकरा हो गया हो तो इसमें शलाका प्रवेशित की जाती है। यह क्रिया अपूतित अवस्था में की जाती

है : उपकरण तथा हाथों को वैसे ही उपचारित करते हैं जैसे कि शल्य कार्य से पूर्व। ये शलाकाएँ धातुई, मुलायम (रेशम और प्लैटिक के) या मिश्रित होते हैं। धातु-शलाकाओं का विसंक्रमण उबालकर और प्लास्टिक के उपकरणों को सोडा के बिना, कम देर तक पानी में उबाला जाता है।

बूजी (शलाका) प्रवेशन का कार्य चिकित्सक द्वारा किया जाता है। उपचारिका उपकरणों को सँभालती है तथा इन्हें विसंक्रमित करती है तथा इस कार्य में चिकित्सक की सहायता करती है और रोगी की हालत देखती रहती है।

मूत्रपथ का धेवन या बिंदुपातन करते समय या शलाका प्रवेशन से पूर्व रबर के दस्ताने पहनने चाहिए।

तीव्र पुरस्थ शोथ और शुक्राशय शोथ होने पर 10-15 मिनट तक उष्ण ($40-42^0$ सें.) सूक्ष्मएनीमा दिया जाता है तथा रोग के चिरकारी होने पर मर्दन और डायाथर्मी करते हैं।

तीव्र अधिवृषण शोथ में पूर्णरूप से शय्या विश्राम आवश्यक होता है या रोगी को निलंबी पहननी चाहिए। अनुतीव्र और चिरकारी रोग में डायाथर्मी, पैराफीन चिकित्सा तथा स्थानिक उष्ण स्नान की सलाह दी जाती है।

महिलाओं को होने वाले मूत्रपथ शोथ के स्थानिक उपचार में मूत्रमार्ग का धावन, बिंदुपातन तथा इच्छथेमोल से मूत्र मार्ग का आलेपन किया जाता है। मूत्रमार्ग में 1.0 सें. मी. की गहराई तक काँच के अग्रभाग को प्रवेशित करके धोवन करते हैं। उपयुक्त घोल की 3-5 मि.ली. मात्रा का बिंदुपातन किया जाता है। योनि स्नान, पोटैशियम परमैंगनेट से धोवन तथा मूत्राशय ग्रीवा पथ का ल्यूगोल घोल से आलपेक किया जाता है तथा अंतर गर्भाशय ग्रीवा शोथ में स्थानिक चिकित्सा की जाती है। मलाशय शोथ होने पर गुदा में रबर के गुब्बारे के द्वारा 3 प्रतिशत सिल्वर प्रोटीन घोल की 5 मि.ली. मात्रा का आधान किया जाता है।

चिरकारी रोग से पीड़ित लड़कियों का उपचार योनिधोवन द्वारा (उष्ण पोटेशियम परमैंगनेट घोल की महीन रबर की शलाका के प्रवेशन द्वारा) तथा योनि में 1-2 प्रतिशत सिल्वर प्रोटीन घोल (3-5 मि.ली.) के बिदुंपातन द्वारा किया जाता है। सिल्वर प्रोटीन घोल (1 प्रतिशत) की कुछ बूँदें आँख वाले पिपेट के द्वारा पथ में बिंदुकित की जाती है।

गोनोरिया से पूर्णतया रोग-मुक्त होने की पहचान : उपचार के पूरा होने के सात से दस दिन बाद गोनोरिया से पूर्णरूप से रोग मुक्त होने की जाँच की जाती है। इस उद्देश्य से मिश्रित प्रोत्तेजन किया जाता है : धातु बूजी को 5 से 10 मिनट तक के लिए मूत्र-पथ में प्रवेशित करते है और फिर 0.5 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल के 0.5 प्रतिशत की 10 मि. ली. मात्रा का बिंदुपात किया जाता है। गोनोवैक्सीन (50 करोड़ सूक्ष्मजीवी पिंड) का अंतरपेशीय रूप से इंजेक्शन दिया जाता है तथा रोगी को मसालेदार भोजन तथा बियर लेने की सलाह दी जाती है। प्रोत्तेजन के तीन दिन बाद स्राव से

आलेप तैयार किए जाते हैं। पुरुषों में नकारात्मक परिणाम मिलने के एक महीने बाद प्रोत्तेजना फिर की जाती है। महिलाओं में प्रोत्तेजना मासिक धर्म (तीन मासिक धर्म होने के बाद) होने के बाद की जाती है और सिफिलिस के लिए रक्त की जाँच की जाती है।

प्रोत्तेजना के अनुकूल परिणाम मिलने के बाद ही रोगी को पूरी तरह रोग मुक्त समझा जाता है।

ट्राइकोमोनसता

इस बात की अब पुष्टि हो चुकी है कि ट्राइकोमोनसता एक ऐसा रतिज रोग है जिसका संक्रमण मुख्य रूप से मैथुन करने से होता है। यह संक्रमण जननांगेतर पथ से भी होता है (विशेषकर लड़कियों में), जब लड़कियाँ एक ही स्पंज या तौलिए का इस्तेमाल करती हैं या वे संक्रमित महिला के साथ एक ही शय्या में सोती हैं।

इस रोग का कारण **ट्राइखोमोनस वैजीनैलिस** है, जिसका अन्वेषण 1837 में डाने ने किया था। यह अमीबा की शक्ल वाला गतिशील सूक्ष्मजीवी है, जो गोल, अंडाकार या नाशपाती की शक्ल का होता है, जिसमें चार गतिशील कशाभिकाएँ होती हैं। ट्राइकोमोन 7 से 20 माइक्रोन तक के आकार का होता है।

टी. वैजीनैलिस से स्त्रियों और महिलाओं को दीर्घकालिक और कभी-कभी दीर्घ स्थायी रोग (कोलपाइटिस, भग-योनिशोथ इत्यादि) हो सकते हैं। इससे पुरुषों को भी, हालाँकि कभी-कभी ही, रोग (मूत्रपथ शोथ, पुरस्थशोथ इत्यादि) हो सकते हैं।

महिलाओं और लड़कियों में इस रोग की अभिव्यक्ति श्वेत प्रदर से होती है, जो बहुधा झाग वाला होता है। श्लेष्मल कला में अतिरक्तता होने से रक्त जल्दी आने लगता है, पीड़ा तथा खुजली होती है तथा मूत्रण के समय जलन। ट्राइकोमोनसता में महिलाओं को स्वप्रत्यय लक्षण अधिकतर नहीं होते हैं। स्वप्रत्यय लक्षण या तो होते नहीं हैं या नाम मात्र को होते हैं, जिनकी वजह से ये रोगी जानपदिक रोग के दृष्टिकोण से विशेष रूप से खतरनाक होते हैं।

यदि गर्भवती महिला के चिकित्सा वृत्त में इस बात का उल्लेख किया गया हो कि महिला ट्राइकोमोनसता से पीड़ित है, तो प्रसूतिगृह में इस वृत्त के मिलते ही सभी संभव उपाय किए जाएँ कि नवजात शिशु को इसका संक्रमण न हो (भग में प्रति सिल्वर नाइट्रेट घोल की दो-तीन बूँदें डाल दी जाती हैं)। प्रसूतिगृह के बाल-कक्षा में, बालचिकित्सालयों, किंडरगार्टेनों तथा शिशु गृहों में कार्यरत लोगों में से ट्राइकोमोनसता से पीड़ित लोगों को पहचानने तथा यथासंभव जल्दी-से-जल्दी उनके उपचार करने के सभी सक्रिय उपाय करने चाहिए। यदि किसी लड़की में ट्राइकोमोनसता का पता चलता है तो उसके परिवार के सभी सदस्यों की अवश्य ही जाँच की जानी चाहिए।

पुरुष में ट्राइकोमोनस संक्रमण से ऐसा रोग होता है जिसके लक्षण चिरकारी गोनोरिया के प्रक्रम से मिलते-जुलते हैं, पर इन रोगियों के मूत्रपथ का स्राव सफेद और झाग वाला होता है, न कि पीतसंपूय। यदि पुरुष में ट्राइकोमोनसता का निदान

होता है तो उसकी पत्नी या उससे लैंगिक संपर्क रखने वाली महिलाओं की जॉच की जानी चाहिए और उनका उपचार किया जाना चाहिए, भले ही उनमें रोग लक्षण की अभिव्यक्ति न हो।

गोनोरिया के प्रक्रम में रोगी में बहुधा ट्राइकोमोनाड भी होते हैं जो रोग की अपवृद्धि करके उसे विरूपित कर देते हैं तथा रोग की अवधि को बढ़ा देते हैं।

प्रयोगशालिक निदान : विसंक्रमित खातिकायुक्त प्रोब या विसंक्रमित कॉच की छड़ से जाँच के लिए विसंक्रमित परखनली में द्रव्य एकत्रित करते हैं। द्रव्य सहित परखनली को उष्ण जल में रखकर फौरन ही प्रयोगशाला में जांच के लिए भेजते हैं। इस द्रव्य को उष्ण (37^0 सें.) शरीरवृत्तिक लवण-घोल की एक बूंद में मिलाकर काँच पट्टिका पर लेते हैं। मूत्र मार्ग से स्राव लेने के बाद रोगी को साफ बर्तन में पेशाब कराया जाता है। इस बर्तन में से मूत्र को परखनली में लेकर अपकेंद्रित किया जाता है और तलछट की जाँच की जाती है। नवजात लड़कियों मे यह द्रव्य शीशे की पतली छड़ से लिया जाता है या विसंक्रमित पिपेट को उनकी योनि में प्रवेश करके द्रव्य का चूषण किया जाता है।

प्रयोगशाला में इन नमूनों का अध्ययन उच्च आवर्धन वाले सूक्ष्मदर्शी के द्वारा किया जाता है और बेहतर हो कि उद्दीप्त पृष्ठभूमि में परीक्षण किया जाय। ट्राइकोमोनाड की विशिष्ट प्रतिक्षेपी गतियों से या उनकी कशाभिकाओं की आक्षेपी स्वतः-गतिशीलता से इनके निदान में सहायता मिलती है।

उपचार : खाने की दवाइयों में मेट्रानिडाजील (फ्लेजिल, ट्राइखोपोल, इत्यादि) दी जाती है (ये औषधियाँ चिकित्सक द्वारा निर्देशित की जाती हैं), इसे दिन में 0.5 ग्रा. की मात्रा में चार बार लिया जाता है। कुल खुराक 5 ग्रा. होती है।

भग योनिशोथ के स्थानिक उपचार में योनि का 2 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल से धोवन करने के बाद एसीटारसोन वर्तिका लगाई जाती है। पुरुषों का स्थानिक उपचार 5-10 प्रतिशत एसीटारसोन निलंबन को दैनिक रूप से बिंदुकित करके किया जाता है। अन्य सभी बातों के लिए स्थानिक उपचार की योजना उन्हीं सिद्धांतों पर बनाई जाती है जो गोनोरिया के रोगी के संबंध में अपनाए जाते हैं।

मृदु शैंकर (उपदंश)

उपदंश का रोग स्ट्रेप्टोसूक्ष्मजीवों द्वारा होता है, जो एक कड़ी के रूप में पस के लेप में जुड़े होते हैं। इसका संक्रमण केवल संभोग के द्वारा होता है, जबकि स्ट्रेप्टोसूक्ष्मजीवी क्षतिग्रस्त त्वचा या श्लेष्मा कला के द्वारा शरीर में प्रविष्ट कर जाते हैं। सोवियत संघ में इस रोग का सफाया किया जा चुका है, पर अन्य देशों में यह रोग कभी-कभी पाया जाता है।

जिस स्थान से स्ट्रेप्टोसूक्ष्मजीवी शरीर में प्रविष्ट होते हैं उस स्थान पर दो-तीन दिन में गहरे लाल दाग पड़ जाते हैं, जो पिटिका का रूप ले लेते हैं और फिर वहाँ

पूयस्फोटिकाएँ बन जाती हैं। पूयस्फोटिका फूट जाती है और व्रण बन जाता है, जिसका आकार बढ़ते-बढ़ते 1.0-1.5 सें मी. व्यास वाला या इससे अधिक बड़ा हो जाता है। उदंश में बहुधा बहुत से व्रण होते हैं, जो रोग के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में होते हैं। इनका आकार अनियमित होता है तथा किनारे मुलायम होते हैं। व्रणों का फर्श खुरदरा होता है और इन पर सपूय स्राव जमा होता है। ये व्रण बहुत पीड़ादायक होते हैं तथा दो या तीन महीनों में भरते हैं, पर इनका व्रण चिह्न पड़ जाता है। उपदंश के रोगियों में फाइमोसिर, पैराफाइमोसिस, गैंग्रीन और विनाशीव्रण (पृ. 27-8) हो जाता है। 35 से 40 प्रतिशत रोगियों में वक्षण लसीका पर्व शोथीय, सपूय तथा फटने वाली होती है, और इनके ठीक होने के बाद व्रणचिह्न रह जाता है।

उपचार : सल्फानिलामाइड तथा प्रतिजीवी औषधियों के परिणाम अच्छे होते हैं। सल्फानिलामाइड और सल्फाथायोजोल को पानी में मिलाकर एक लेप बना लेते हैं, जिसे व्रणों पर लगाते हैं।

सोवियत संघ में रतिज और संक्रामक रोगों का नियंत्रण

रतिज और संक्रामक रोग के नियंत्रण का सोवियत तंत्र सार्वजनिक चिकित्सा सेवा पर आधारित है। इसमें अत्यंत कुशल विशेषज्ञों की शुल्क-रहित सेवा उपलब्ध है और इस सेवा का गठन औषधालय सेवा के रूप में किया गया है (इसमें सारी आबादी के लिए नियमित, संपूर्ण चिकित्सकीय जाँच, रोकथाम के उपाय और उपचार उपलब्ध होते हैं)। औषधालय पद्धति सोवियत जन स्वास्थ्य सेवा की निरोधक प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्थापित हुई है।

सोवियत संघ में रतिज और संक्रामक रोगों का नियंत्रण निम्नलिखित सिद्धांतों पर आधारित है।

सभी रोगी व्यक्तियों के नाम निश्चित रूप से दर्ज किए जाते हैं। सभी नए रोगियों के कार्ड और सूचना पत्र उच्च चिकित्सा अधिकारियों को भेजे जाते हैं। प्राप्त आँकड़ों के सांख्यिकीय विवेचन से पूरे देश, गणराज्य, संभोग, नग और जनपद के पैमाने पर उपचारात्मक और निरोधक उपायों की योजना बनाना संभव हो जाता है।

अंतरंग चिकित्सालयों के विशाल तंत्र (विशेषीकृत प्रतिष्ठानों सहित) के अंतर्गत त्वचा-यौन रोग चिकित्सालयों, ग्रामीण चिकित्सालयों के बहिरंग औषधालयों व विभागों में अतिकुशल विशेषज्ञों द्वारा निःशुल्क सेवा प्रदान की जाती है। संपूर्ण देश के त्वचा-यौन रोग संबंधी तंत्र का वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली संबंधी मार्गदर्शन और परामर्श संबंधी सहायता का काम चिकित्सा विद्यालयों तथा स्नातकोत्तर चिकित्सा संस्थानों और त्वचा और यौन रोगों की विभागीय पीठों पर और वैज्ञानिक त्वचा रतिज रोग संस्थानों पर निर्भर करता है।

चिकित्सकीय सलाह की अर्जी देने से 24 घंटों के अंदर ऐसे रोगियों को चिकित्सालय में भरती करना अनिवार्य है जो सिफिलिस के संक्रामक रोग से पीड़ित

हों। उपचार का पहला दौर अंतरंग विभाग में ही दिया जाता है।

उपचार के सही होने का नियंत्रण औषधालय सेवा पर निर्भर करता है। रतिज रोग में पहले उन लोगों को पहचाना जाता है जो इस संक्रमण का स्रोत होते हैं तथा रोगी के संपर्क में रहने वाले सभी व्यक्तियों की जाँच की जाती है। सोवियत कानून के अनुसार रतिज रोग के संक्रामक रूप से पीड़ित व्यक्तियों को उपचार से अस्वीकार करने तथा अन्य लोगों में छूत संचारित करने पर दोषी ठहराया जाना है।

निरीक्षण उपचारिका जो रोगियों को उनके घर पर देखती है या पत्र द्वारा रोगियों को अपने पास बुलाती है, रोगियों की नियमित नियंत्रण जाँच करने और संक्रमण के स्रोतों और उनके संपर्कों को पहचानने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

औषधालय-तंत्र बाल संस्थानों और खान-पान संस्थानों के कर्मचारियों की रोगनिरोधी जाँच करता है। बच्चों की सामूहिक रूप से समय-समय पर जॉच करता है। गर्भकाल में जाँच का उद्देश्य जन्मजात सिफिलिस को रोकना होता है।

स्वास्थ्य शिक्षा भी औषधालय तंत्र का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस शिक्षा के इन रोगों के संबंध में जनता का ज्ञान बढ़ता है तथा उन्हें स्वतः उपचार के भयानक परिणाम और चिकित्सक के पास उपचार के लिए देर करने के भयंकर परिणामों का ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रति-रतिज सहायता-केंद्रों पर निम्नरूप से व्यक्तिगत रोग निरोधी उपाय किए जाते हैं। पुरुष रोगी अपने मूत्राशय को खाली करके अपने हाथों को अच्छी तरह साबुन और पानी से धोता है। शिश्न, वृषण कोश की त्वचा, जघन और जांघों तथा मूलाधार को बड़ी सावधानी के साथ गर्म पानी और साबुन से धोते हैं। सूखने के बाद इसे कोरासिव सब्लीमेट (1 : 4000) या मरकरा आक्सासायनाइड (1 : 3000) के घोल से अच्छी तरह पोंछा जाता है। मूत्रपथ के अग्रभाग का पोटैशियम परमैगनेट घोल (1 : 6000) के 0.5 लिटर से एशमार्क धावक से धोवन करते है तथा जननांगों पर (सिफिलिस को रोकने के लिए) 33 प्रतिशत कैलोमल मलहम लगाया जाता है। गंदे अंतरवस्त्रों को जननांगों को बचाने के लिए रोगी को गाज नैपकिन दी जाती है और उसे सलाह दी जाती है कि वह अपने घर पहुँच कर अंतरवस्त्रों को बदल डाले। महिलाएँ भी अपनी मूत्र थैली को खाली करती हैं; बाह्य जननांगों को ध्यानपूर्वक उष्ण जल में साबुन मिलाकर धोती हैं। फिर पोटैशियम परमैंगनेट घोल (1 : 3000) से योनि का धोवन करके मूत्रपथ में 1-2 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का बिंदुपात किया जाता है। गर्भाशय की ग्रीवा, योनि श्लेष्मा और वाह्य जननांगों पर 2-3 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल का लेप किया जाता है। महिलाओं में सिफिलिस की रोकथाम के उपाय पुरुष रोगियों के उपायों के समान ही होते हैं।

रतिज और संक्रामक त्वक रोगों के नियंत्रण की वहुत कुछ जिम्मेदारी उपचारिकाएँ सँभालती हैं। यह विशेष रूप से ऐसी उपचारिकाओं के साथ लागू होता है जो कि

स्वतंत्र रूप से चिकित्सा केंद्रों पर काम करती हैं, जहाँ रतिज या त्वक रोग का जल्दी निदान करना, चिकित्सा सहायता देना, रोगी को अस्पताल में भर्ती कराना, परिवार तथा संपर्क में आने वाले सभी लोगों की जाँच करना तथा संक्रमण के स्रोत का पता लगाना आदि आवश्यक होता है।

त्वचा और रतिज रोग से पीड़ित लोगों के उपचार की बहुत कुछ व्यवस्था (आधान करना, इंजेक्शन लगाना, मलहम तथा लेप की मरहम-पट्टी करना, कवक संक्रमण का उपचार करना), प्रयोगशाला जाँच के लिए द्रव्य (रक्त, मूत्र, मूत्रमार्ग का स्राव, कवक से प्रभावित बाल, शल्क इत्यादि) एकत्रित करने तथा विभिन्न प्रकार के चिकित्सा फार्मों को भरने का काम भी उपचारिका ही करती है।

3

नाक, कान और गले के रोग

भूमिका

कर्णनासाकंठविज्ञान नाक, कान और गले के रोगों से संबंधित विज्ञान को कहते हैं।

नाक, ग्रसनी और स्वर यंत्र के रोगों को चिकित्सा शास्त्र की एक संकुचित विशिष्ट शाखा समझने के पुराने दृष्टिकोण को त्याग देना आवश्यक है। ऊपरी श्वसन पथ के रोगों का प्रभाव संपूर्ण शरीर पर पड़ता है।

सोवियत संघ में जन-स्वास्थ्य सुधार हेतु विशाल सम्मिश्र उपाय किए गए हैं। इनमें ऐसे बहिरंग और अंतरंग चिकित्सालयों का विशाल ताना-बाना शामिल है, जिसमें नाक, कान और गले की बीमारियों वाले लोगों को कुशल-सेवा प्रदान की जाती है।

कर्णनासाकंठ विज्ञान में रोग-निरोध का भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऊपरी श्वसन पथ के रोग-निरोधी उपचार से सभी प्रकार के रोगों की घटनाएँ कम होती जाती है तथा बहुत से चिरकारी दैहिक रोग (आमवात, बहुसंधि शोथ, वृक्कशोथ, इत्यादि) बढ़ नहीं पाते है तथा विशेष रूप से बाल्यकाल में शारीरिक विकास पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

सोवियत आयुर्विज्ञान का यह सिद्धांत कि उपचार रोगी का किया जाता है न कि रोग का, कर्णनासाकंठ विज्ञान का मुख्य नियम है और यह नाक, कान और गले से संबंधित सभी समस्याओं के उपयुक्त समाधान को भी सुनिश्चित करता है। उपचारिका विद्यालयों की छात्राओं को कान और ऊपरी श्वसन पथ की वैकृत अवस्थाओं की मौलिक जानकारी प्राप्त करनी चाहिए और उन्हें इन रोगों से पीड़ित लोगों की देखभाल करने की विशेष बातों का ज्ञान होना चाहिए। सामान्य देखभाल की मौलिक बातों का ज्ञान होने पर उपरोक्त कार्य सरल हो जाता है। नाक, कान और गले के रोगियों की व्यवस्था करने के लिए हेतुकी, रोग-संप्राप्ति, रोग-लक्षण चित्र और इनके उपचार का समकालीन सैद्धांतिक आधार पर अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपरोक्त ज्ञान न होने पर उपचारिका चिकित्सा के औषध-निर्देशपत्र का निष्ठा के साथ पालन नहीं कर सकती और न रोगी की ठीक ढंग से देखभाल या आवश्यकता पड़ने पर, प्राथमिक चिकित्सा ही कर सकती है।

उपचारिका को ऊपरी श्वसन पथ की रोग-निरोधी समस्याओं की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। इससे विकृति (रोग) को कम करने में सहायता मिलती है।

नाक, कान और गले के रोग-लक्षण बताने से पूर्व उपचारिकाओं को इनकी शरीर-रचना और शरीरक्रिया-विज्ञान का संक्षिप्त ज्ञान दिया है, ताकि रोग के निदान में वे अधिक पारंगत हो सकें।

नाक, कान और गले के रोगियों की देखभाल पर व्याख्यान देने से पूर्व चित्रों, माडलों व प्रसाधनों आदि द्वारा छात्राओं को इन अंगों की शरीर-रचना को समझाया जाना तथा इसकी पुनरावृत्ति की जानी आवश्यक है।

इन अंगों के विकारों में **शोथज रोगों** की संख्या सर्वाधिक है। **गलतुंडिका-शोथ** अस्थायी अशक्तता का एक आम कारण है। उपद्रव-रहित गलतुंडिका-शोथ होने पर व्यक्ति पांच से छह दिन तक काम करने योग्य नहीं रहता है, जबकि रोग के फ्लैग्मोनी प्रदाह में तो रोगी 10 से 12 दिन के लिए अशक्त हो जाता है। गलतुंडिका शोथ में जब-तब होने वाले उपद्रवों के रोग की अवधि और अधिक बढ़ जाती है।

ऊपरी श्वसन पथ का जुकाम बुंदिक संक्रामण (जीवाणु-अंतर्वेशन) है। गलतुंडिका शोथ की तरह ही जुकाम भी शिशुओं को जल्दी पकड़ लेता है। रोग का संचरण छींकने चुंबन और यहाँ तक कि शिशु से बातचीत करने से भी होता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए रोगनिरोध के उपाय निश्चित किए जाते हैं। सर्दी लगे हुए रोगी को रूमाल लगाकार छींकना चाहिए, चुंबन लेने तथा सार्वजनिक प्याले और तश्तरियों का प्रयोग करने से बचना चाहिए। हाथों को बहुत अच्छी तरह साफ करना चाहिए। किसी से बातचीत करते समय या हँसते समय अपने सिर को दूसरी ओर मोड़ लेना चाहिए या मुँह पर रूमाल लगा लेना चाहिए। अधिक बेहतर हो कि स्वस्थ व्यक्तियों से संपर्क करते समय नाक और मुँह पर जालीदार कपड़े का आवरण डाल लिया जाय। शिशु-प्रतिष्ठानों (शिशुगृह, शिशुपालनगृह तथा शिशु-चिकित्सालयों) के कर्मचारियों के लिए उपरोक्त सावधानियाँ बरतना आवश्यक है। शिशु प्रतिष्ठानों के कर्मचारियों को ज्वर या गला खराब होने की स्थिति में काम पर नहीं आने देना चाहिए।

यदि किसी अंतरंग रोगी को गलतुंडिका-शोथ हो जाए तो उसे फौरन पृथक कक्षा में भेज दिया जाना चाहिए।

इन सावधानियों को बरतने के साथ-साथ शरीर को कठोर बनाने तथा संक्रामक रोगों के प्रति प्रतिरोधी क्षमता बढ़ाने के उपायों पर बल देना चाहिए। बच्चों का सही पालन-पोपण तथा तापमान के उतार-चढ़ाव को सहने का प्रशिक्षण सबसे पहली बात है। ठंडे जल से स्पंजिंग करना, स्नान करना, हवा में घुमाना और वजाय इसके कि बच्चे का स्वेटर, पफ्लर और जाड़े के भारी कोटों से लाद दिया जाय, उसे हल्के कपड़े पहनने की आदत डालना, बहुत महत्त्वपूर्ण है। शिशुओं में ही नहीं, वरन वयस्कों में भी शारीरिक प्रशिक्षण और खेल-कूद से श्वसन संक्रमण का निरोध होता है।

ऊपरी श्वसन-पथ के वृत्तिक रोगों को रोकने के लिए सामूहिक और वैयक्तिक रोग-निरोध आवश्यक है। धूल, वाष्प, गैस, तापमान का तीव्र उतार-चढ़ाव, शोर और कंपन इत्यादि ऐसे मुख्य वृत्तिक कारण हैं, जिनका ऊपरी श्वसन पथ पर कुप्रभाव पड़ता है। अन्य प्रतिकूल कारणों से मिलकर ये ऊपरी श्वसन पथ को शोथज प्रक्रिया को बढ़ाते हैं, जिससे सारा शरीर और विशेष रूप से निचला श्वसन-पथ और फेफड़े प्रभावित होते हैं। रोग-निरोधी जाँच तथा ऊपरी श्वसन-पथ का उपचार और वृत्तिक परामर्श संबंधी उपाय अब अधिक महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। इन उद्यमों में नौकरी के लिए अर्जी देने वाले युवा जनों की डाक्टरी जाँच उनकी शारीरिक स्थिति और क्षमता के अनुकूल उनके व्यवसाय को चुनने में सहायता प्रदान करती है। उदाहरण के लिए, तीव्र नासा-शोथ से पीड़ित युवक धूल भरे वातावरण में काम नहीं कर सकता, क्योंकि इससे श्वसनी और फेफड़ों में रोगोत्पति का भय रहता है। चिरकारी नासाशोथ और कंठशालूका से पीड़ित रोगी को पहले उपचार कराना चाहिए (कंठशालूका उच्छेदन और नासा शोथ की व्यवस्था) और उसके बाद ही उसे काम करने की अनुमति देनी चाहिए। चिकित्सा कर्मी जब अपने कार्य को केवल एक जाँच तक सीमित न रख कर कामगसर की हालत पर बराबर निगाह रखता है, तो व्यवसाय के चुनाव का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

क्रोमियम से संबंधित उद्यमों में काम करने वालों को अपनी नासा गुहिका में तेल लगाना चाहिए तथा नाक, ग्रसनी और स्वर यंत्र में अभिश्वसन और धोवन करना चाहिए तथा निजी रोग-निरोधी सावधानी बरतनी चाहिए : धूल वाली कर्मशाला में काम समाप्त करने के फौरन बाद अभिश्वसन बहुत ही महत्त्वपूर्ण साबित होता है। धूल से श्वसनपथ बचाव के लिए कई प्रकार के श्वसिम मास्क बताए गए हैं। सामूहिक-निरोध उपायोग में उत्पादन क्रियाओं में तकनीकी सुधार भी शामिल हैं, जिसके फलस्वरूप हानिकारक चीजों (धूल, वाष्प, गैस इत्यादि) से बहुधा छुटकारा मिल जाता है। उद्यमों के मजदूरों के स्वास्थ्य की रक्षा हेतु वायु संचार की बेहतर व्यवस्था की जाती है। जब नए संयंत्रों और उद्यमों का निर्माण करते है और उनका स्वरूप तैयार करते हैं तब इन तकनीकी उपायों को ध्यान में रखा जाता है।

उपचारिका को कान के मध्य भाग के शोथज रोगों का अच्छा ज्ञान हो, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कान से पीप बहने की उपेक्षा करने से भी तीव्र उपद्रव हो सकते हैं, जैसे कर्ण तानिकाशोथ, पूतिता या अनुमस्तिष्की विद्रधि, इत्यादि।

सोवियत स्वास्थ्य-रक्षा व्यवस्था में रोगों के सक्रिय निरोध को और आबादी की नियमित निरोधक जाँच की व्यवस्था है। इसमें 8 घंटे का कार्यदिवस, सप्ताह में दो दिन का विश्राम, नियमित छुट्टियाँ और स्वास्थ्य गृहों तथा सेनोटोरियम में विश्राम के दिन बिताने के अवसर, लोगों के कल्याण और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा करना, तथा नशाखोरी पर नियंत्रण, आदि बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

I. नाक के रोग

शरीर रचना

नाक ऊपरी श्वसन पथ का पहला भाग तथा वायु-गुहिकाओं का तंत्र है। इस तंत्र में नासा गुहिकाएँ और परानासा विवर होते हैं, जो एक-दूसरे से संकरे द्वार से संयोजित होते हैं। नाक की गुहिका कपाल की गुहिकाओं, नेत्र गुहा और मुँह के बीच स्थित होती है। नासा गुहिका एक पट के द्वारा दो भागों में बँटी होती है, जो बाहर की ओर किंचित तिरछे स्थित **नथूनों** के द्वारा खुली होती हैं। यह संयोजन दो गोल **पश्चनासा छिद्रों** द्वारा होता है।

नासा गुहिका की पार्श्व दीवार एक अत्यंत जटिल शरीर संरचना है और कार्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण भी। इसके साथ तीन **शुक्तिका या नासा शुकिताएँ**
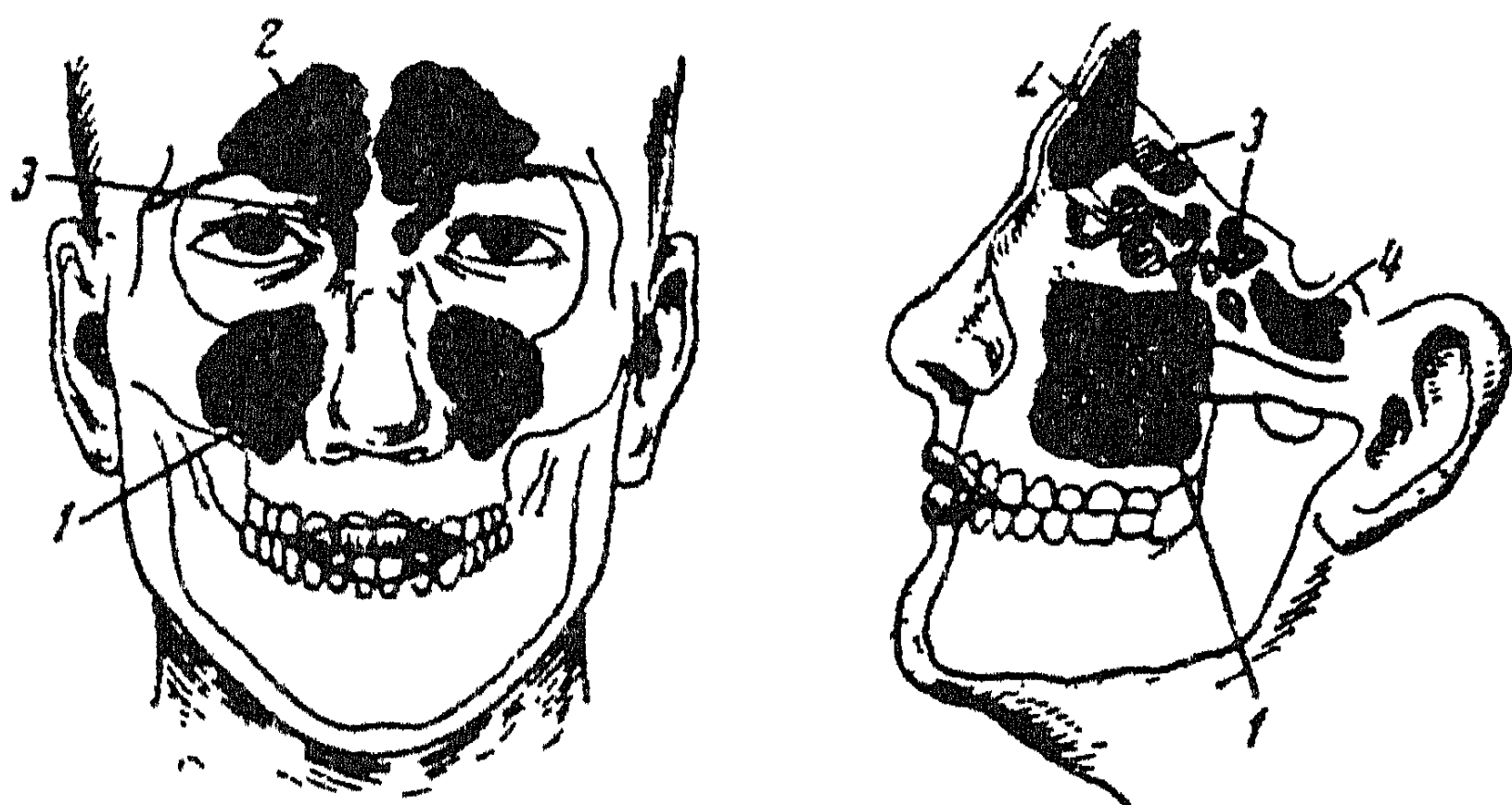
चित्र 89. परानासाविवर के अंतर्संबंध का कार्यप्रदर्शी चित्रण।
1 ऊर्ध्वहन विवर, 2. ललाट विवर, 3. झर्झरिका गहन, 4. जतूक विवर।

जुड़ी होती हैं, जिसमें नासा गुहिका तीन नासा पथों में विभाजित हो जाती है : ऊर्ध्व, मध्य और अधः कुहर। नासाश्रु-नलिका के निचले मुँह के सहारे अश्रु प्रवाहित होते

हैं। यह अध-शुक्तिका आगे वाले भाग के नीचे स्थित होती है। परानासा विवर छोटे छिद्रों के द्वारा मध्य कुहर में खुलते है। जो कार्य की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये हैं **ऊर्ध्वहन विवर** या **हाइमोर कोहर**–सबसे बड़ा परानासा विवर, जो ऊर्ध्वहन के शरीर में स्थित होता है। **अग्र विवर** सामने की हड्डी के पट्टक में और **झर्झरिकास्थि की कोशिकाओं** में स्थित होता है (चित्र 89)

पश्च झर्झरिका कोशिकाएँ और **जतूक-विवर** जतूक-अस्थि के शरीर में स्थित होते हैं। जतूक-अस्थि नासा गुहिका से संयोजित होती हैं। पूरी नासा गुहिका में श्लेष्माकला की धारियाँ होती हैं, जो रोमक उपकला से ढकी होती हैं। ये रोमक पीछे की ओर, पश्च नासाद्वार की ओर चलने में सक्षम होते हैं। विशेष घ्राण-उपकला नासागुहिका के ऊपरी भाग की श्लेष्मा में ही होती हैं।

नासा श्वसन का क्रिया विज्ञान

नाक में पर्याप्त अनवरुद्धता होने से ही सामान्य श्वसन संभव होता है। अभिश्वसित वायु संकरे कुहर से गुजरने पर आर्द्र और गर्म हो जाती है तथा आर्द्र श्लेष्मा से चौड़ी सतह पर संपर्क में आती है। वायु में लटके हुए धूल के कणों का कुछ भाग नासा-गुहिका में रुक जाता है जो कि नाक साफ करने या कफोत्सारण करने पर बाहर निकल जाते हैं, इसलिए फेफडों में पहुँचने वाली वायु काफी हद तक साथ होती है। मनुष्य और जानवरों के अध्ययन से पता चलता है कि अभिश्वसित धूल का 50 प्रतिशत नाक में रह जाता है। पर मुँह से अविश्वसन करने पर सारी धूल ग्रसनी और स्वरयंत्र से होते हुए सीधे श्वसन पथ में प्रवेश कर जाती है तथा उनमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार मुँह द्वारा श्वसन की अपेक्षा नासा-अभिश्वसन के प्रत्यक्ष लाभ हैं। नासा-अभिश्वसन के बिल्कुल न होने पर या उसमें विकार होने के दूरस्थ श्वसन-पथ में उपद्रव होते हैं (ग्रसनीशोथ, स्वरयंत्र-शोथ, श्वास प्रणालशोथ, श्वसनी शोथ, इत्यादि)। कुछ उद्यमों में काम करने वाले व्यक्तियों में नासा-अभिश्वसन न होने के अप्रिय परिणाम होते हैं।

वायु के साथ नाक में प्रवेश करने वाले ऐसे जीवाणु, जो धूल के कणों के साथ बाहर नहीं निकलते हैं, नासाश्लेष्मा के संपर्क में आने पर या तो मर जाते हैं या हानि-रहित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, नासा-ग्रसनी और नासागुहिकाएँ स्वर के अनुनादक का काम करती हैं। इन गुहिकाओं में वाय के कंपन आवाज की सुस्वनिक को तेज करते हैं और व्यक्ति विशेष की ध्वनि-गुणता बनाते हैं। नाक बंद होने पर आवाज बहुधा बदल जाती है तथा इसकी सुस्वनिकता का गुण नहीं रहता है और आवाज नकसुरी हो जाती है तथा **अनुनासिकता का दोष** उत्पन्न हो जाता है।

नासा अभिश्वसन के पूर्ण या आंशकि रूप से कमजोर होने का प्रभाव घ्राण-क्रिया

पर भी पड़ता है और उसकी तीव्रता लुप्त हो जाती है। विशेष रूप से रासायनिक और खाद्य उद्योगों में काम करने वाले कर्मचारियों की घ्राण-शक्ति घट जाने से वे अपने कार्य में असमर्थ हो जाते हैं।

इस बात को बहुत पहले लक्षित किया गया था कि जो लोग नाक से अभिवश्सन नहीं कर पाते हैं, उनके फुफ्फुसी संवातन में गड़बड़ी हो जाती है तथा आक्सीजन का अवशोषण घट जाता है। यह एक सुनिश्चित सत्य है कि मुँह से साँस लेने से शारीरिक विकास में विघ्न तो पड़ता है (जैसे चेहरे के पंजर का अपर्याप्त विकास, दाँतों की अपसामान्य व्यवस्थाएँ, रक्त संरचना में परिवर्तन इत्यादि), साथ ही बच्चे की स्कूल में भी प्रगति नहीं हो पाती।

पहले जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि अभिश्वसित वायु के लिए नाक फिल्टर का काम करती है। इसकी शारीरी संरचना से इसके फिल्टर करने के गुण का पता लगता है। श्लेष्मा में स्थित श्लेष्मा ग्रंथियों की क्रिया से आर्द्रता बराबर बनी रहती है। नासा श्लेष्मा में आर्द्रता नासाश्रु वाहिका के द्वारा नाक में पहुँचने वाले अश्रुओं से होती है तथा यह शुक्तिका की श्लेष्मा कला में स्थित शिरा तंत्र से निकलने वाले तरल से भीगी रहती है।

नाक की जाँच

नाक के प्रवेश द्वार की जाँच करने के लिए रोगी के सिर को पीछे करके नाक के सिरे को अँगूठे से उठाते हैं। यह जाँच एक्जीमा के लिए की जाती है, जो नई वृद्धि, त्वचा में दरार आदि उत्पन्न करती है। नाक की गुहिकाओं की जाँच कृत्रिम रोशनी में शीर्शदर्पण और नासा-वीक्षण (चित्र 90) द्वारा की जाती है। पश्च नासा-द्वार का निरीक्षण नासाग्रसनी में से पश्च नासा-दर्शन द्वारा किया जा सकता है।

चित्र 90. नासा विक्षण यंत्र, (1) फ्रेंकल और हार्टमेन (2)।

देखभाल और उपचार की सामान्य विधियाँ

त्वचा की तरह नासागुहिका की शल्य क्षेत्र का विसंक्रामण करना असंभव है। विसंक्रामण की क्रिया नासागुहिकाओं के पास और श्लेष्मा की सफाई तक ही

सीमित है। इसे विसंक्रामित रुई को प्रोब (शलाका) पर लपेट कर बहुत हल्के से साफ करते हैं। अनुभव से पता चलता है कि श्लेष्मा को सावधानी पूर्वक विसंक्रामित किए बिना ही नासा-गुहिका के घाव भर जाते हैं, लेकिन ऐसा तभी हो सकता है जब अन्य शल्य-चिकित्सा के नियमों का भली-भाँति पालन किया जाय, उचित रूप से विसंक्रामित पदार्थ और उपकरणों का प्रयोग किया जाए और हाथों को भली-भाँति धो लिया जाए, इत्यादि। नासा-गुहिका में मृदुल ऊतकों तथा अस्थियों, दोनों की शल्यचिकित्सा में श्लेष्मल-कला पर स्थानिक संज्ञाहरक का आलेप किया जाता है। यह संज्ञाहरक का घोल होता है—5-10 प्रतिशत कोकेन या 1-2 प्रतिशत डिकेन (पर्याय—टेट्राइकेन हाइड्रोक्लोराइड)। श्लेष्मा को रक्तहीन करने के लिए एड्रेनैलीन घोल (1 : 1000) की एक-दो बूँदों को संज्ञाहरक की 1 मि.ली. मात्रा में मिलाते हैं जिससे साथ ही साथ कोकेन या टेट्राकेन के शोषण में देर लगती है। कुछ शल्य-क्रियाओं में निस्यंदन-संज्ञाहरक में 0.5 प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल आवश्यक होता है। सार्वदैहिक संज्ञाहरक का प्रयोग बहुत कम किया जाता है। इसका प्रयोग तभी किया जाता है, जब दुर्दम अर्बुद को निकालना हो या आगंतुक शल्य को उत्तेजित बच्चे में से निकालना हो।

नासा-श्लेष्मा पर कोकेन घोल का आलेप संज्ञाहरण के लिए किया जाता है या उपचारार्थ औषधि घोल को पेंचदार प्रोब (शलाका) पर रुई लपेट कर लगाते हैं। प्रोब का सिरा रुई से ढका होना चाहिए जिससे नासा श्लेष्मा में चोट न लगे। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि औषधि लगाते समय कहीं रुई प्रोब से खिसककर नाक गुहिका में न छूट जाए तथा गले या श्वास-प्रणाल के अंदर न चली जाय। इसलिए प्रोब पर रुई को सावधानीपूर्वक लपेटना चाहिए।

कमरे के तापक्रम तक गर्म की हुई औषधि की बूँदें नाक में डाली जाती हैं। नाक में दवाई डालते समय रोगी के खड़े या बैठे होने की स्थिति में सिर पीछे की ओर झुका होना चाहिए तथा जिस नथुने में दवाई डालनी हो, उस ओर झुका होना चाहिए। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है कि इन बूँदों से नाक की पार्श्व दीवार की अधिक से अधिक सतह आर्द्र हो जाए और फिर ये बूँदें कुहर के अंदर प्रवेश कर जाएँ। यदि सिर को पीछे की ओर सीधा झुका दिया जाए, तो ये बूँदें अधःकुहर से होती हुई सीधे नासा ग्रसनी में प्रवेश कर जाती हैं, जिसका प्रभाव अधिक नहीं होता है। उपचरार्थ **नासा-प्रधमन** विभिन्न प्रकार के पाउडर पदार्थों से प्रधमनित्र के द्वारा किया जाता है। नासा-प्रधमन शल्य-चिकित्सा के बाद भी किया जाता है । घर पर रोगी नाक को पहले रुई के टैंपन से या उच्छ्वास को अच्छी तरह से साफ करके औषधि की छोटी चुटकी लेकर प्रत्येक नथुने में एक के बाद दूसरे में श्वास से खींच सकता है।

नाक में **मलहम** माचिस की तीली या चिकने प्रोब पर रुई के छोटे टैंपन को

लपेट कर लगाते हैं।

नासा श्लेष्मा का **दहन** उपचारार्थ या विशेष रूप से नाक से रक्त स्राव होने पर किया जाता है। दहन के लिए सिल्वर नाइट्रेट और ट्राइक्लोरोऐसेटिक एसिड और क्रोमिक एसिड का प्रयोग किया जाता है। दागने से पहले श्लेष्मा पर 3 प्रतिशत कोकेन या 1 प्रतिशत टेट्राकेन घोल में एड्रेनेलिन मिला कर आलेप किया जाता है।

नाक में आगंतुक शल्य

आगंतुक शल्य वहुधा उन वच्चों में प्रत्यारोपित हो जाता है, जो खेलते-खेलते नाक में कुछ डाल लेते हैं। दाने, बटन, मटर, चेरी के बीज, सूर्यमुखी के वीज आदि आम चीजें है। जो बच्चे अपनी नाक में डाल सकते हैं। यदि आगंतुक शल्य अधिक समय तक नाक में बना रहता है, तो इसके चारों ओर कैल्शियम लवण जमा हो जाता है और नासाश्मरी बन जाती है। आगंतुक शल्य बहुधा अंतःकुहर में (नथुने के पास) हो जाता है, पर इसे निकालने का प्रयत्न असफल होने पर यह और अंदर खिसक जा सकता है।

लक्षण : जैसे ही नाक में कोई आगंतुक शल्य पहुँचता है, इसका पथ बंद हो जाता है, बाद में श्लेष्मल-कला का शोथ हो जाता है और नाक के एक ओर से प्रचुर और बहुधा सपूय, तेज गंध वाला और कभी-कभी रक्त मिश्रित स्राव निकलता है। नाक में आगंतुक शल्य होने का यह एक सबसे विशिष्ट लक्षण है।

चित्र 91. कुंठित अंकुश की सहायता से नासागुहा ह से आगनुक शल्य को निकालना।

उपचार : यदि आगंतुक शल्य को निकालने के लिए अनुकूल परिस्थिति न हो, तो इसे निकालने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। आगंतुक शल्य को निकालने का काम केवल चिकित्सक द्वारा ही किया जाना चाहिए और इस क्रिया से पूर्व 1 प्रतिशत टेट्राकेन या 2-3 प्रतिशत कोकेन घोल में एड्रेनैलीन मिलाकर स्थानिक संज्ञाहग्ण या बहुत उत्तेजित शिशु के मामले में सार्वदेहिक संज्ञाहरण किया जाना चाहिए। एक टेढ़ी कंदीय सिरे वाली प्रोब या भुथरे हुक को आगंतुक शल्य की स्थिति में आगे तक डाल कर सावधानी से चीज को नाक से बाहर निकाल लेते हैं (चित्र 91)। उपचारिका बच्चे के सिर को पकड़कर स्थिर रखने में सहायता करती है।

तीव्र नासा-शोथ

तीव्र नासा-शोथ (Rhinitis Acuta) ऊपरी श्वास पथ के सर्वाधिक आम रोगों में से है। यह दोनों रूपों में एक स्वतंत्र रोग के रूप में या संक्रामक रोग के लक्षण के रूप में—जैसे इन्फ्लूएंजा, ऊपरी श्वास पथ का तीव्र जुकाम (केटार) इत्यादि—हो सकता है। तीव्र नासा शोथ बहुधा संक्रमण के कारण होता है।

लक्षण : पहले नाक में सूखापन, छींकें और गले तथा नासाग्रसनी में जलन महसूस होती है। इसके वाद नाक वंद हो जाती है और नाक से प्रचुर पानी-सा और बाद में मलिन और श्लेष्मा सपूय स्राव होने लगता है। एक ही समय सिर में भारीपन, सिरदर्द, तंत्रिकाकार्तिक पीड़ा, अनुनासिकता दोष और नेत्राश्लेष्मला शोथ महसूस होता है।

शिशुओं में तीव्र नासा-शोथ गंभीर रूप ले सकता है। जीवन के पहले कुछ वर्षो में (बचपन में) नासा कुहर बहुत संकरे होते है और थोड़ी सी सूजन होने से श्लेष्मल कला कुहर को अवरुद्ध कर देती है। इसके परिणामस्वरूप न केवल श्वसन में ही कमी होती हैं, वल्कि बच्चे को स्तनपान में भी बहुत कठिनाई होती है। नींद गड़बड़ हो जाती है। शोथ कभी-कभी वढ़कर नासा श्लेष्मा से श्वास प्रणाल और श्वसनी तक फैल जाता है, जिसके फलस्वरूप श्वास प्रणाल का शोथ, श्वसनी शोथ और न्यूमोनिया हो सकता है।

निवारण : तीव्र नासा शोथ की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए शरीर का दृढ़ीभवन प्राथमिक उपाय है। नियमित प्रशिक्षण, वायु-स्नान या निश्चित मात्रा में सूर्यस्नान, जल-चिकित्सा तथा विभिन्न प्रकार के खेलों में हृद्वाहिका तंत्र और श्वसन-उपकरण शक्तिशाली वनता है। इन सबसे शरीर में बाह्य उद्दीपकों के प्रति सामान्य अभिक्रिया का विकास होता है। सही ढंग के शारीरिक पालन-पोषण से तथा शरीर के दृढीभवन से शरीर में सर्दी से वचने की आवश्यकता क्षमता तथा ऊपरी श्वास पथ सहित अन्य संक्रामक रोगों को रोकने की क्षमता आ जाती है।

उपचार : दो प्रतिशत बोरिक एसिड घोल में एड्रेनेलीन की कुछ बूँदें मिलाकर, दो प्रतिशत एफीड्रीन घोल या 0.5% मेंथोल आयल या एक प्रतिशत मेंथोल मलहम से बंद नाक में आराम आ जाता है।

Rp. Sol Adrenalini 1 : 1000 guttae X
Sol Acidi borici 2% 10.0
Sig. शिशु के लिए नासा-बूँद स्तनपान कराने से पूर्व हर नथुने में 1:2 बूँद डाली जाती है।

Rp. Ephedrini hydrochloridi
2% 10.0
Sig. नासा बूँद; 5 बूँद, दिन में 2-3 बार।

Rp. Mentholi crystallisati 0-1
Acidi borici pulverati
Zinci oxydati aa 0.5
vaselini flavi 10.0
Sig. नाक के लिए मलहम

तीन वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए कोकीन और मंथोल वाली औषधि का निर्देश नहीं दिया जाता है, क्योंकि इससे कोकीन विषालुता या स्वरयंत्र का आकर्ष उत्पन्न हो सकता है। इन बच्चों का उपचार नाक में एड्रीनेलीन सहित बोरिक एसिड या 0.5 प्रतिशत एफ़ीड्रीन दिन में कई बार डाल कर किया जाता है। हर बार नाक के प्रवेश द्वार को रुई की गोली से साफ किया जाता है। बच्चे को स्तन पान कराने से पूर्व हर बार नाक की सफाई करके दवा की बूँदें डाली जाती हैं।

चिरकारी नासा-शोथ

अगल-अलग साधारण चिरकारी (श्लेष्मा स्त्राव) और अति वृद्ध नासा शोथ होते हैं। नासा श्लेष्मा के तीव्र शोथ, संक्रामक रोगों , व्यवसायिक हानिकर कारणों और कंठशालूक इत्यादि के उपशमल रहित रहने के फलस्वरूप चिरकारी नासाशोथ (Rhinitis chronica) होता है।

साधारण चिरकारी नासा-शोथ के **लक्षण** भी तीव्र नासा शोथ के समान है, पर इनकी अभिव्यक्ति कम होती है। लेटे हुए होने पर श्वसन बहुत कठिन होता है। नासा स्राव पतला, पानी जैसा या श्लेष्मा सपूय होता है। अतिवृद्ध नासा-शोथ में नाक स्थायी रूप से भरी रहती है तथा सिर और शरीर की स्थिति बदलने पर भी इसमें परिवर्तन नहीं होता है। श्लेष्मा गाढ़ा और श्यान होता है तथा यह मुश्किल से बाहर निकालता है।

उपचार : चिरकारी नासा शोथ के कारण को समाप्त करना चाहिए (कंठशालूक को निकाल देना चाहिए, वायु विवर शोथ का उपचार करना चाहिए, इत्यादि)। कषाय वर्ग का उपयोग स्थानिक रूप से करते हैं : एड्रेनेलीन या प्रोटोर्गल (सिल्वर प्रोटान) घोल की कुछ बूँदों का बिंदुपात किया जाता है या 1 प्रतिशत सिल्वर-नाइट्रेट घोल का आलेप किया जाता है।

Rp. Sol. Protargoli 2% 10.0

Sig. नाक की बूँदें 5 बूँदों का दिन में 2-3 बार बिंदूपात किया जाता है।

पृथक-पृथक अतिवृद्ध शुक्तिक क्षेत्र को क्रोमिक एसिड या ट्राइक्लोर एसिटिक एसिड से दागा (दहन) जाता है या गैल्वनो-काटरी द्वारा इसका उपचार किया जाता है। शुक्तिका के उग्र रूप से अतिवृद्ध भागों को शल्य चिकित्सा द्वारा निकाल दिया जाता है।

शोपीय नासाशोथ (पीनस रोग)

यह रोग कम अवस्था में होता है और वर्षों तक चलता रहता है। इसमें नासा श्लेष्मा में शोथ हो जाता है तथा नासा स्राव घट जाता है। यह स्राव श्यान होता है, जो सूख कर पपड़ी वन जाती है।

लक्षण : नाक में खुजली और खुष्की महसूस होती है। श्वसन में कठिनाई होती है, कभी-कभी सिर दर्द होता है तथा घ्राण की अनुभूति कम हो जाती है। अग्र नासा दर्शन से पता चलता है कि नासा गहिका चौड़ी हो गई है। श्लेष्मा सूख कर पतली हो जाती है और कहीं-कहीं स्राव के थक्के और पपड़ी पड़ जाते हैं। नासा शोथ में श्लेष्मा शोथ की तीव्रता का लक्षण है—इसके स्राव में अरुचिकर गंध का होना (पीनस)। इस रोग की हेतुकी का पता नहीं है। शोथ प्रक्रिया शक्तिक के अस्थि पंजर तक फैल जाती है और गाढ़ा आस्राव दुर्गंधित होता है, जिसकी पपड़ी जमने लगती है। यदि रोगी पपड़ी को जोर से उखाड़ने का प्रयास करता है तो रक्त-स्राव होने लगता है। घ्राण शक्ति आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से लुप्त हो जाती है।

उपचार : क्षारीय (और तैल) अभिश्वसन 1-2 प्रतिशत सोडा और मेंथोल तेल का निर्देश दिया जाता है। आयोडीन घोल और ग्लीसरीन को नासा-बिंदु (बूँद) के रूप में प्रयुक्त किया जाता है तथा खुष्की वढ़ने पर नासा श्लेष्मा पर उपरोक्त घोल का आलेप किया जाता है।

Rp. Jodi 0.05
Kalii jodidi 0.2
Glycerini
Aq. destill aa 5.0
Ol. Menthae pip guttae 1

Sig. हर नथुने में 5-5 बूँदें दिन में दो बार डाली जाती है।

उपरोक्त औषधियों के अलावा, पीनस रोग के उपचार में ऊतक चिकित्सा, स्वरक्त चिकित्सा और निकोटिनिक एसिड मिली हुई स्ट्रेप्टोमाइसीन का प्रयोग किया जाता है।

दुर्गंध के कारण पीनस के रोगी के साथ रहना असहनीय होता है। उनकी सहायता करना चिकित्सक का कर्त्तव्य है। पीनस रोगियों को यह समझाना चाहिए कि नाक के आस्राव को साफ करना आवश्यक है और इस बात पर जोर देना चाहिए कि तभी दुर्गंध दूर होगी । रोग को स्वयं इस दुर्गंध का आभास नहीं होता है और वह समझता है कि आस-पास के लोग उससे घृणा करते हैं।

वाहिका प्रेरक (या तंत्रिका प्रतिवर्त) और एलर्जी जनक नासा शोथ

इन दोनों प्रकार के नासा शोथ के रोगलक्षण एक समान हैं और इनका दौरा सा

पड़ता है, जिसमें लगातार छींके आती हैं, नाक अवरुद्ध हो जाती है और प्रचुर मात्रा में नासा स्राव होता है। कुछ रोगियों में इन लक्षणों के साथ-साथ सिर दर्द और नेत्रश्लेष्मा का शोथ हो जाता है।

चूँकि इन रोगों में बहुधा शोथीय परिवर्तन नहीं होते, या ये परिवर्तन बहुत हल्के होते हैं, इसलिए बहुत से लेखक इसे नासा-शोथ न मानकर रिनोपैथी कहते हैं।

वाहिका प्रेरक नासा-शोथ

यह रोग बहुधा ऐसे व्यक्तियों को होता है, जिनमें सामान्य वर्धी विकार हो और जिनकी नासा श्लेष्मा के तंत्रिका उपकरण में अत्यधिक अस्थिरता और संवेदनशीलता हो।

रोग की सक्रियता बढ़ जाती है, जिसके कारण विभिन्न कारकों, जैसे शीतन, भौतिक और रासायनिक कारणों, से होने वाले प्रतिवर्त से दौरे पड़ सकते हैं।

निदान : इसका निदान नासा दर्शन और विशेष शिकायतों के आधार पर किया जाता है। शुक्तिक की सूजी हुई श्लेष्मा नीले रंग की होती है और नासा कुहर में पतली श्लेष्मा भर जाती है।

उपचार : इस उपचार का अभिप्राय तंत्रिका-तंत्र की अति अभिक्रियता को घटाना है। इसके साथ-साथ शरीर को धीरे-धीरे दृढ़ीभूत करते हैं (जल चिकित्सा, अधिक समय तक खुली वायु में रहना, खेल-कूद, जलवायु चिकित्सा आदि से)।

वर्धी तंत्रिका तंत्र को प्रभावित करने वाले टानिक और औषधियों (एट्रोपीन, एफेड्रीन, कैल्शियम क्लोराइड, इत्यादि) का कुछ रोगियों पर लाभकारी प्रभाव होता है।

एलर्जी नासा-शोथ

शरीर में विभिन्न प्रकार के प्रत्यूर्जताजनकों के प्रवेश कर जाने की ओर विशेष रूप से अभिश्वसन द्वारा इनके प्रवेश कर जाने की, नासा शोथ की हेतुकी में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। एलर्जिक अभिक्रिया की पूर्व प्रवृत्ति ही इस रोग के विकसित होने का मुख्य कारण है। यह प्रवृत्ति वंशानगत भी हो सकता है या प्रत्यूर्जताजनक के संपर्क में बार-बार आने से, अर्थात् प्रत्यूर्जताजनक के साथ काम करने वाले लोगों में (जो प्रतिजीवी, रासायनिक रंजक इत्यादि के साथ काम करते हैं) हो सकती है।

निदान : वाहिका प्रेरक नासा-शोथ रोगियों की अपेक्षा एलर्जिक रिनौपैथी में दूसरी प्रकार की एजर्ली की अभिव्यक्ति के पीछे पारिवारिक या व्यक्तिगत इतिहास होता है (जैसे शीतपित्ति, श्वसनिका दमा, अधकपारी और एक्जीमा, इत्यादि) या कुछ खाद्य पदार्थों के प्रति असहनशीलता (गिरोदार फल, चाकलेट, स्ट्राबेरी तथा मांस-मछली की कुछ किस्में, इत्यादि)। नासा श्लेष्मा शोथीय, निलापन लिए हुए नीला और कभी-कभी एकदम सफेद होता है। नाक तथा परानासा विवर के लिए गए पदार्थ में इयोसिनाफीलिया का मौजूद होना एलर्जी नासा-शोथ का आम लक्षण हैं।

उपचार : इस रोग का उपचार विशेष रूप से तभी कारगर होता है, जब प्रत्यूर्जताजनक से संपर्क छोड़ा जाए। इन रोगों में अधस्त्वक रूप से इन प्रत्यूर्जता-जनक की छोटी खुराक का इंजेक्शन लेने से इनके प्रति संग्राहिता घट जाती है। दुर्भाग्यवश सभी प्रत्यार्जताजनकों की सदैव पहचान नहीं की सकती है। इसलिए विशिष्टता रहित अतिसुग्राहिता में प्रतिहिस्टामिनिक औषधि (डाइफेनेहाइड्रामीन, सुप्रास्टीन, डिप्राजिन, परनेविन, डाइजोलीन, इत्यादि) का प्रयोग किया जाता है। स्थानिक उपचार में प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड का इंजेक्शन (1-2 प्रतिशत घोल के 2.0 मि.ली. को छः से दस दिन तक) दिया जाता है और हाइड्रोकार्टीजोन (12.5 मि. ग्रा. प्रतिदिन और एक दिन छोड़ कर हर नाक में तीन से पाँच इंजेक्शन) अधः शक्तिका में दिए जाते हैं।

एलर्जी रिनोपैथी का इलाज करने में रोगी व्यक्ति की नियमित जॉच विशेषज्ञ द्वारा होनी चाहिए।

परागज ज्वर एलर्जी नासा-शोथ की एक विशेष किस्म है। यह शुद्ध रूप में मौसमी एलर्जी प्रक्रिया है। यह रोग बहुधा ऐसे लोगों को होता है, जो कुछ पेड़ों, घास और फूलों के प्रति अल्प सुग्राही होते हैं।

पराग नेत्रश्लेष्मा और नासा-श्लेष्मा के संपर्क में आने पर नेत्रश्लेष्मा शोथ और नासा-शोथ हो जाता है जिससे ऑखों की पलकों में, नासा गुहिकाओं में एक और कठोर तालु में खुजली होती है तथा नाक से प्रचुर मात्रा में पानी आने लगता है तथा छींकों का दौरा शुरू हो जाता है। इसके अलावा, बहुधा दमाग्रस्त दौरा भी पड़ता है।

निदान : रोग-लक्षण और चिकित्सा वृत्त के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के परागों से लिए गए सत्व से त्वचा की जाँच करके रोग के निदान में सहायता मिलती है।

उपचार : परागसत्व के अधस्त्वक इंजेक्शन लगाकर अल्पसुग्राहीकरण किया जाता है। इसमें प्रत्यूर्जताजनक पराग संचरण करने वाली घास के पराग का सत्व निकालते हैं और उसका इंजेक्शन लगाते हैं। पहले बहुत ही तनूकरित सत्व का प्रयोग किया जाता है और धीरे-धीरे इनकी सांद्रता बढ़ाई जाती है। बहुत से लोगों में परागज ज्वर का आक्रमण वार्षिक रूप से वसंत, हैमंत और शरद् ऋतु में होता है। इसीलिए प्रतिरोधी सुग्राहीकरण रोगज घास के परागण होने से छः से आठ सप्ताह पूर्व प्रारंभ करना चाहिए।

नाशा-शोथ में देखभाल

तीव्र नासा-शोथ से ग्रस्त शिशुओं की उपचर्या देख-रेख की विशेष रूप से आवश्यकता होती है। नथुनों में बनी पपड़ी को जतून के तेल से मुलायम किया जाता है या फिर गर्म सोडे के घोल से। इसके बाद बड़ी सावधानीपूर्वक नाक के प्रवेश द्वार को श्लेष्मा और पपड़ी को हटाने के लिए भीगी हुई रुई या गाज से पोंछ कर साफ करते हैं। बच्चा आसानी से स्तनपान कर सके, इस उद्देश्य से एड्रेनेलीन की एक बूँद का

दो प्रतिशत बोरिक एसिड में 1 : 10000 के अनुपात में तनूकरण करके, या एफीड्रीन घोल के 0.5 प्रतिशत घोल की एक बूँद का, स्तनपान से पूर्व बिंदुपात किया जाता है। वयस्क रोगियों को पहले ही निर्देश दे दिए जाते हैं कि नाक को सही ढंग से कैसे साफ करते हैं और हर नथुने को अलग-अलग कैसे साफ किया जाता है। इस क्रिया को सही ढंग से करने से कान के ऐसे रोग होने का भय नहीं रहता जो संक्रामित श्लेष्मा की श्रवण-नलिका के द्वारा कान के मध्य में पहुँचने से हो सकता है। जहाँ तक संभव हो नाक की धोवन क्रिया नहीं करनी चाहिए। परंतु आवश्यकता हो, तो जैसे कि पीनस रोग में, धोवन क्रिया बहुत ही सावधानी से करनी चाहिए।

नासा धोवन के लिए विशेष नासा संसेचक का प्रयोग किया जा सकता है। रोगी को अपना सिर आगे की ओर लटकाने को, तथा थोड़ा सा एक तरफ झुकाने को कहा जाता है। नासा संसेचक की टोटी को उपरिस्थ नासा गुहिका में थोड़ा अंदर की ओर बढ़ाते है और धीरे-धीरे जल को प्रवाहित होने देते हैं, जिससे इसका दबाव न बढ़े। धोवन-जल को श्रवण-नलिका के द्वारा मध्यकान में पहुँचने से रोकने के लिए रोगी को धोवन के समय और इसके थोड़ी देर वाद तक निगरण और नाक साफ करने की अनुमति नहीं दी जाती है। नासा गुहिका को साफ करने के लिए विभिन्न प्रकार के फुहारित्रों का प्रयोग किया जा सकता है। बहुधा सोडे का 1-2 प्रतिशत घोल प्रयुक्त होता है। हर नथुने में अलग-अलग गर्म किए हुए नासा-बिंदु का नेत्रपिपेट द्वारा बिंदुपात किया जाता है (एक दो से पाँच बूँद तक)। रोगी को थोड़ा सा पीछे की ओर लटका देते हैं और नाक के सिरे को उँगली से उठा कर उसमें बिंदुपात करते हैं। पर नासा विवर के तीव्र और चिरकारी रोगों में वयस्कों का उपचार 1 से 2 प्रतिशत कोकीन की 10 बूँदों तक की मात्रा का दिन में चार से पाँच बार बिंदुपात करके किया जाता है। (फारमूला देखिए)। बिंदुपात के समय रोगी का सिर पीछे की ओर लटका दिया जाता है और रोगी को कान की तरफ झुकाकर बिंदुपात करते हैं। औषधि का बिंदुपात मध्य कुहर में किया जाता है।

Rp. Cocaini hydrochloridi
Ephedrini hydrochloridi aa 0.2
Sol. Acidi borici 3% 10.0
Sig. हर नथुने में 5 से 6 बूँद तक दिन में 3-4 बार डालते हैं।

नासा श्लेष्मा में पेंचदार प्रोब पर रुई लपेट कर मलहम लगाया जाता है। प्रयुक्त रुई को प्रोब पर से चिमटी या सूखी रुई की सहायता से हटाते ह। नाक में जमी पपड़ियों को पहले उष्ण सोडा-घोल या वैसलीन से भिगो कर निकालते हैं।

नासा-गुहिका के आदाहन (दागने) और शल्य संबंधी औजारों की तैयारी करना उपचारिका का कर्त्तव्य है। क्रोमिक एसिड क्रिस्टल को आदाहन हेतु प्रोब के उष्ण चपटे सिरे पर रखते हैं और बर्नर की लौ के ऊपर थोड़ी देर पकड़े रखते हैं, जिससे

क्रिस्टल पिघल जाए। क्रिस्टल को ज्यादा गर्म नहीं करना चाहिए, नहीं तो क्रोमिक एसिड भूरा हो जाएगा और इसका दाहण-गुण खत्म हो जाएगा। नाक में बचे क्रोमिक एसिड को उदासीन करने के लिए 2 प्रतिशत सोडा घोल मौजूद होना चाहिए। आदाहन के बाद सोडा घोल में भिगोई हुई रुई को प्रोब पर लपेट कर नाक में बचे हुए क्रोमिक एसिड को साफ करते हैं।

उपचारिका नासा गुहिका की शल्य चिकित्सा (शुक्तिका उच्छेदन, नासापट के उच्छेदन, पीली पस को निकालने) हेतु शल्य चिकित्सक के निर्देशानुसार चुने हुए उपकरणों को चिसंक्रामित करती है तथा संज्ञाहरण के लिए कोकीन का घोल तैयार करती है (शल्य-कर्म के समय वह कोकीन को आवश्यक मात्रा को विसंक्रामित काँच के गिलास में डालकर उसनें एड्रेनेलीन की एक बूँद प्रति 1.0 मि.ली. घोल की दर से मिलाती है तथा आवश्यकता पड़ने पर फिर से गिलास में भर देती है)। उपचारिका ही शल्य-चिकित्सा के नियमों के अनुकूल शस्त्रकर्मशाला में व्यवस्था करती है। वह विसंक्रामित वस्तुओं को तैयार करती है, जैसे नाक से रक्त बहने की हालत में नाक की टैंपोनेड के लिए लंबी गाज पट्‌टी या नाक के शस्त्र कर्म के बाद पैकिंग की टैंपन। शस्त्र कर्म के समय वह शल्य चिकित्सक के निर्देशानुसार उसे उपकरण देती है। शस्त्रकर्म के बाद वह इस बात का ध्यान रखती है कि रोगी गर्म भोजन न करे, अन्यथा रक्त स्राव हो सकता है। शस्त्रकर्म के एक दिन बाद टैंपन को हटाकर उपचारिका नाक के प्रवेशद्वार को हाइड्रोजन पर आक्साइड में भिगोई हुई रुई से साफ करती है।

नासा रक्तस्रवण

नासा रक्तस्राव का कारण सार्वदैहिक या स्थानिक हो सकता है। वाहिका तंत्र और रक्त-संरचना में परिवर्तन होना, जैसे रक्ताल्पता, होमोफीलिया, एथिरोकाठिन्य, हृदय, गुर्दे और जिगर के रोग इत्यादि नासा-रक्तस्राव के सार्वदैहिक कारण हैं। बहुत से संक्रामक रोगी (आंत्र रोग, पुनरावर्ती ज्वर, स्कारलेट ज्वर, इन्फ्लूएंजा, मलेरिया) से ग्रस्त लोगों के साथ बहुधा प्रचुर नासा रक्तस्राव होता है। इस रक्तस्राव का कारण विषालुता या शरीर की ज्यादा गर्मी होती है। अंततः सिर में स्थिरता, गले में अबुर्दन और कूकर खाँसी से भी नासा रक्तस्राव हो सकती है।
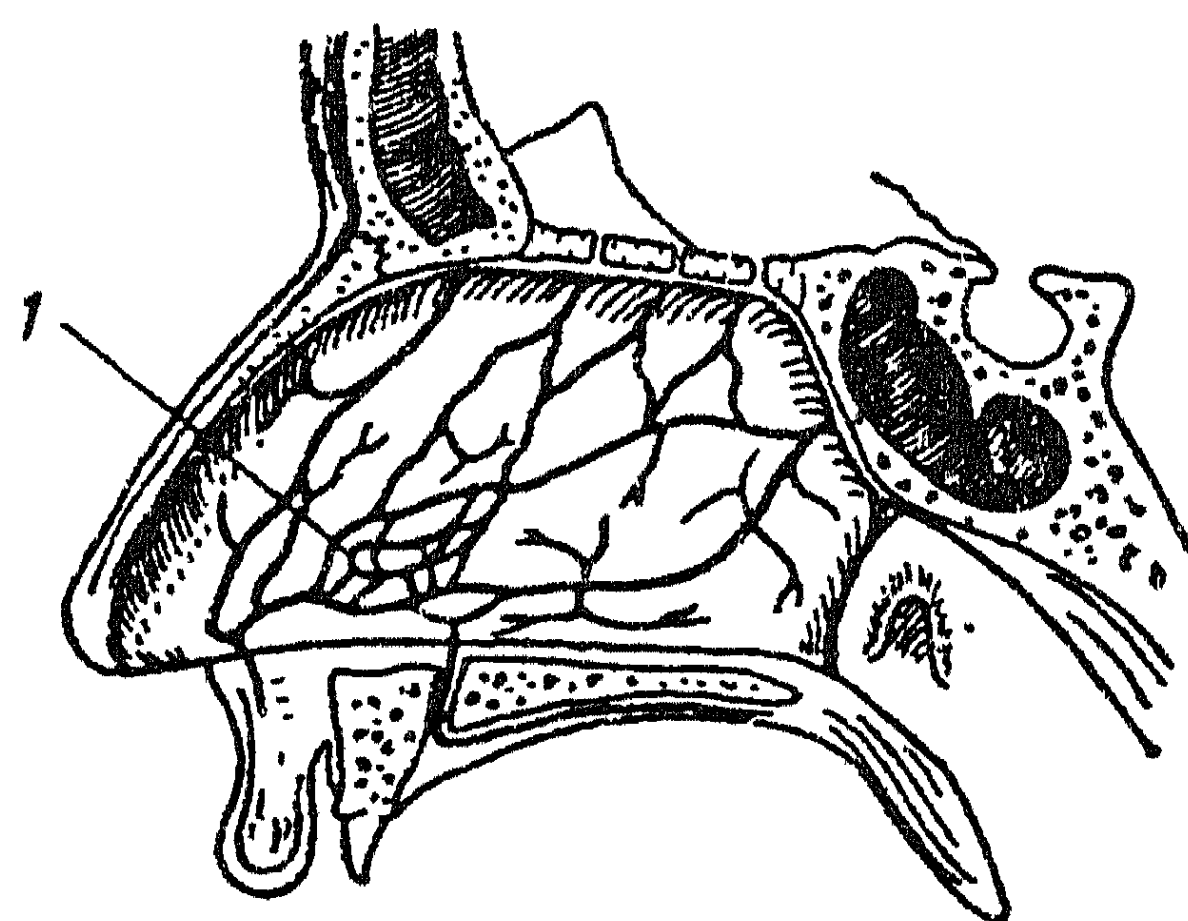
चित्र 92. नासापटिका वाहिकाएँ। 1. पेट का वह भाग जहाँ से बहुधा रक्तस्राव होता है।

नासा रक्तस्राव के स्थानिक कारक नाक पर अभिघात, गहरी चिपकी हुई पपड़ी को उँगली से उखाड़ना, रक्तस्रावी अर्बुद और व्रण हो सकते हैं।

नासा-रक्तस्राव अधिकतर नासा पट के अग्रभाग में नासा-द्वार से 1 सें. मी. की दूरी पर होता है (चित्र 92)। शक्तिका तथा श्लेष्मल कला के अन्य भागों में रक्तस्राव बहुत कम होता है। नासा रक्तस्राव बहुधा एकाएक और बिना किसी स्पष्ट कारण के प्रारंभ हो जाता है। कभी-कभी रक्तस्राव स्वतः ही रुक जाता है। लेकिन कभी-कभी यह बहुत समय तक चलता रह सकता है, जिसके फलस्वरूप रक्ताल्पता हो सकती है, नाड़ी की गति कम हो जाती है। सर्वदैहिक कमजोरी महसूस होती है और मूर्छा आ जाती है।

उपचार : सामान्य परिस्थितियों में नासा के रक्तस्राव को रोकने का सबसे आसान तरीका यह है कि विसंक्रामित रुई या गाज के फाहे को हाइड्रोजन पैराआक्साइड में भिगो कर उसकी गोली को नाक में लगाया जाय (चित्र 38)। रोगी कुछ देर तक इस रुई की गोली को स्वयं ही अपनी उँगली से नथुने में दबाए रहता है। खासकर पुनरावर्ती नासा-रक्तस्राव में परावर्तक और नासा-वक्षीण यंत्र से रक्तस्राव के स्थान की जाँच करके उस पर 3 प्रतिशत कोकीन (जिसमें एड्रेनेलीन हो) से आलेप करके क्रोमिक एसिड से या गैल्वनोकाटेर से दाग दाग देना इससे बेहतर उपाय है।

अपवादात्मक मामलों में, विशेषकर नासा या नासाग्रसनी के शस्त्र कर्म के बाद तथा नाक में चोट लगने के बाद, इन उपायों से रक्तस्राव बंद नहीं होता है तथा पश्च भाग में टैंपोनेड लगाना पड़ता है।

पश्च भाग टेंपोनेड में रबर की एक पतली शलाका को अधःनासाकुहर के द्वारा ग्रसनी में घुसाते हैं और जैसे ही शलाका का सिरा मृदुल तालु के पीछे दिखाई देता है, उसे ड्रेसिंग चिपटी से पकड़कर मुँह से बाहर खींच लेते हैं।
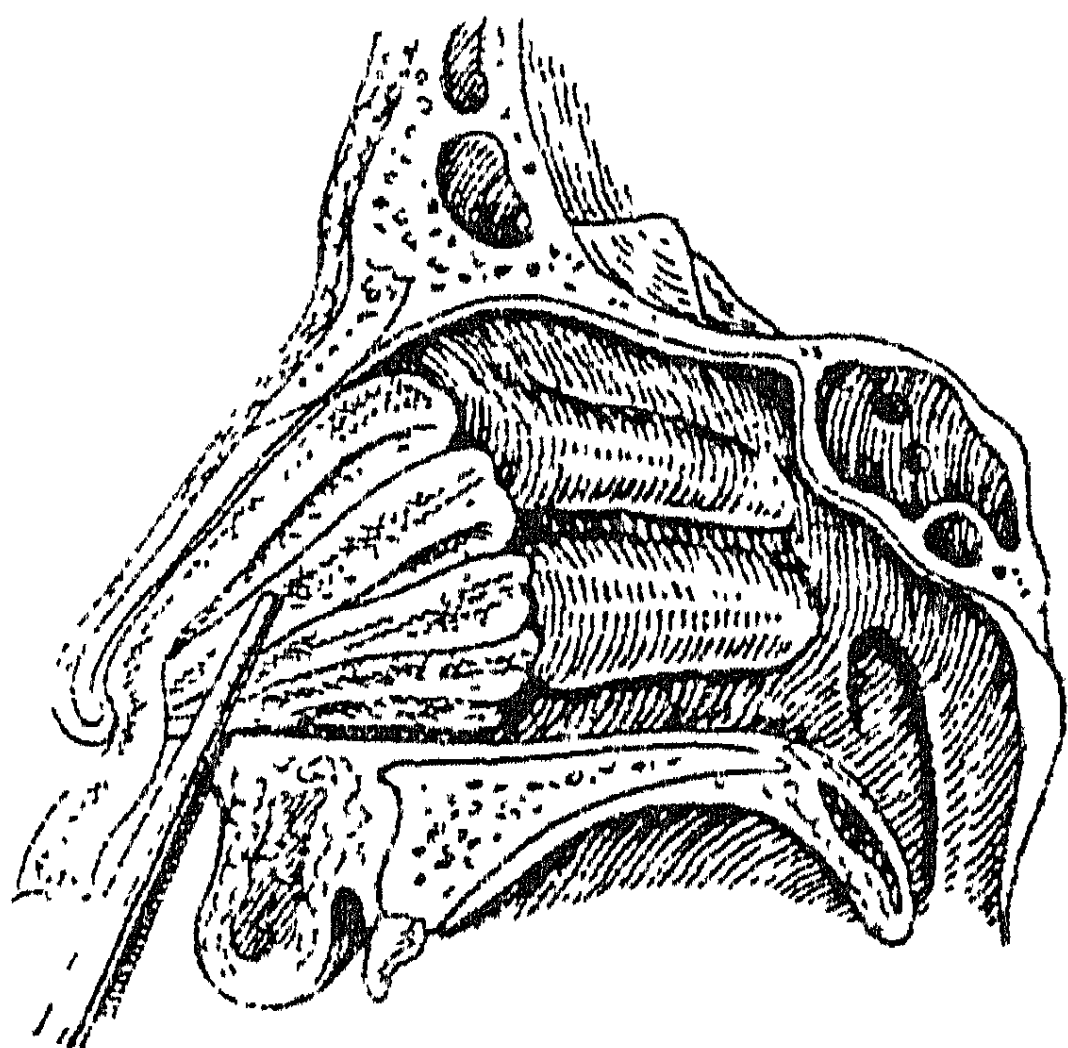
चित्र 93. नाक का अग्र तीव्र संपीडन।
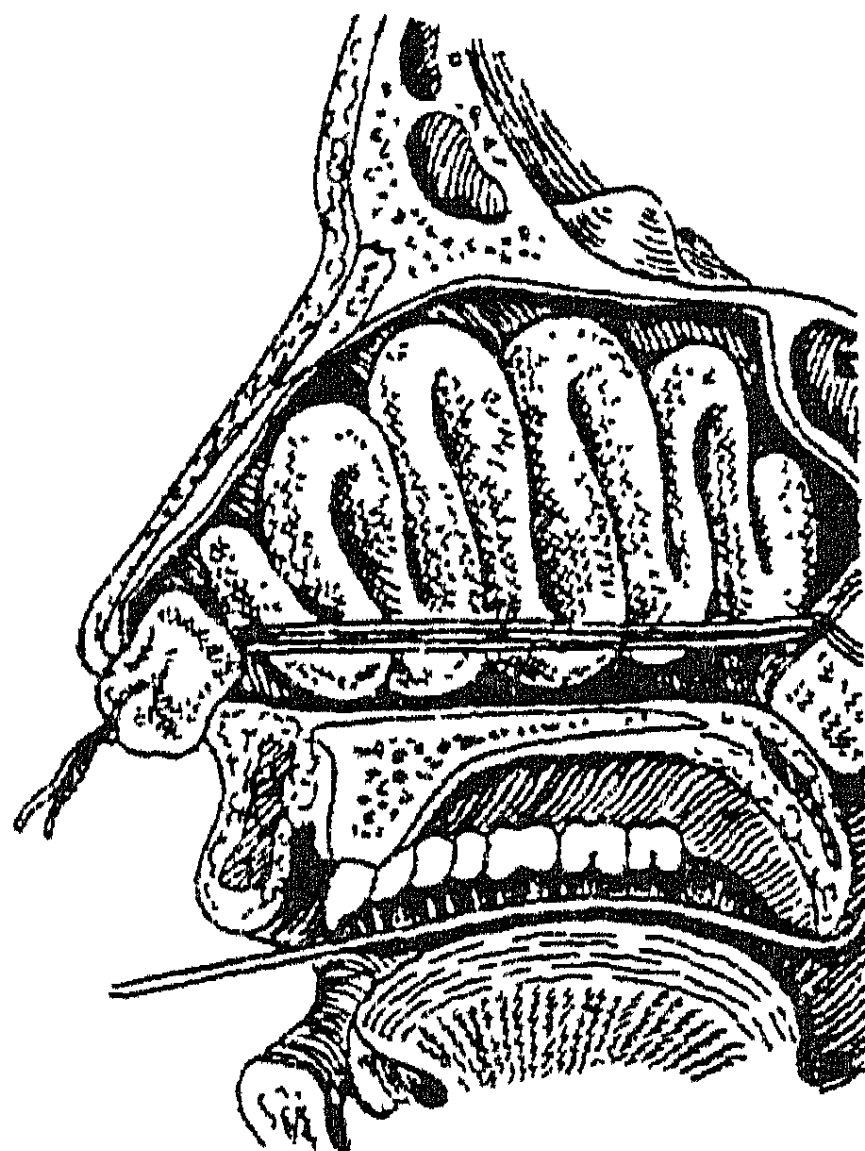
चित्र 94. नाक का पश्च तीव्र संपीडन (अंतिम चरण)।

नासाग्रसनी के आकार की पहले से बनाई हुई गाज-टैंपन को मजबूत रेशम के धागे से एक पैक के समान तिर्यक बाँधते हैं। शलाका के मुख वाले सिरे पर इस पैक को दो धागों से बाँधा जाता है और फिर शलाका के नाक के द्वारा फिर बाहर निकालते हैं। इस तरह से दोनों धागे नथुनों से बाहर निकाल लिए जाते हैं और इस पैक को मुँह के द्वारा नासाग्रसनी में खींचते हैं। इस क्रिया में उँगली की सहायता लेते हैं। नासाग्रसनी में इस पैक को धागों से रोक कर नाक में टैंपन लगाते है और धागे के सिरों को नथुनों पर रुई का पैड लगाकर बाँध देते हैं। धागे के तीसरे सिरे को गाल से चिपका देते हैं या मृदुल तालु से एक सें.मी. नीचे करके काट देते हैं (चित्र 94)। पश्चनासा में प्रयुक्त टैंपन को 24 घंटे से पहले निकाल देना चाहिए, क्योंकि नासाग्रसनी में जमे रक्त के थक्के जीवाणुओं के अच्छा पोषक भोजन हैं और श्रवण नलिका के सहोर ये मध्य कान तक पहुँच सकते हैं।

तीव्र दशा में रक्त स्कंदन के उद्दीपकों का प्रयोग किया जाता है। कैल्शियम क्लोराइड (10 प्रतिशत घोल को) अंतरशिरा में इंजेक्शन द्वारा देते हैं या मुँह से इसके कई चम्मच खिलाए जाते हैं। विटामिन K दिया जाता है। छोटी खुराकों में रक्त-आधान (50-100 मि.ली.) किया जाता है और मुख्य रोग का उपचार किया जाता है। नासा सेतु पर शीत सेक करते हैं या सिर के पीछे बर्फ की थैली रखते हैं।

रोगी की देख-रेख : नासा रक्तस्राव के रोगी को सहायता देने के लिए उपचारिका को स्वयं सक्षम होना चाहिए। क्योंकि रक्तस्राव बहुधा पट के अग्र भाग से होता है, इसलिए हाइड्रोजन पैराक्साइड में भिगोए हुए टैंपन को फौरन अध:कुहर में लगा देना चाहिए और पट तक नाक को कस कर दबाए रखना चाहिए। रोगी को उत्तानपाद स्थिति में करके सिर को थोड़ा-सा उठा देते हैं तथा उसे न तो उठने देते हैं और न ही उसे गर्म भोजन करने दिया जाता है। रुई में लपेटकर बर्फ की थैली को सिर के पीछे रखते हैं। चतुष्पुच्छी पट्टी को नाक पर लगाते है। ताकि टैंपन बाहर न निकल सके। टैंपन को हटाने के बाद रोगी को चेतावनी दी जाती है कि वह नाक के अंदर उँगली न डाले या जोर से नाक साफ न करे।

परानासा शिरा नालिकाओं का शोथ (तीव्र और चिरकारी वायु विवर शोथ) (Sinuitis Acuta Chronica)

परानासा शिरानलिकाओं के तीव्र शोथ से इन्फ्लूएंजा, तीव्र नासा-शोथ, खसरा, स्कारलेट ज्वर व अन्य संक्रामक रोग और भी बिगड़ जाते हैं।

लक्षण और अवधि : रोगी प्रभावित विवर-क्षेत्र में खिंचाव व दबाव के संवेदन की शिकायत करता है। एकपार्श्वीय या द्विपार्श्वीय श्लेष्मा सपूय या सपूय नासा स्राव और सिरदर्द होता है। बहुधा रोगी शिरानाल (सामने के, ऊर्ध्वहनु) में दबाव महसूस करता है। कभी-कभी मत्थे, कपाल, गंडास्थि, नासामूल, जबड़ों और दाँतों में तंत्रिकार्ति

संबंधी पीड़ा होती है। इसकी तीव्र प्रक्रिया होने पर शरीर का ताप 38-39^{0} सें. हो जाता है। उर्ध्वहनु विवर के शोथ में गाल में स्पर्शसह्य सूजन हो जाती है। मत्थे में सूजन और पीड़ा होती है। ऊपरी नेत्रच्छद सूज जाता है तथा प्रकाश असह्यता हो जाती है और सामने के विवर से अश्रुश्रवण होता है। झर्झरिका गहन की कोशिकाओं में शोथ के साथ-साथ उर्ध्वहनु, सामने के और जतूक-पार्श्विक शिरानाल भी प्रभावित हो जाते हैं।

चिरकाली में आत्मगत लक्षण हल्के होते हैं। बहुधा रोगी व्यक्ति की घ्राणशक्ति घट जाती है। चिरकारी वायु विवर शोथ के फलस्वरूप नासा और परानासा में पोलिप बन जाते हैं। ये सफेद-भूरे या कभी-कभी पीले-लाल, जेली के माफिक होते हैं और इनकी सतह चिकनी होती है। कुछ-कुछ रोगियों में पूरी नासा गुहिका में छोटे पोलिप भर जाते हैं और कुछ में एक बड़ा पोलिप गुहिका को घेर लेता है और कभी-कभी नथुने से बाहर तक बढ़ जाता है। पोलिप बहुधा मध्य और ऊर्ध्व नासिका कुहर में होते हैं।

निर्णायक निदान और उर्ध्वहनु, सामने के और जतुक शिरानाल तथा झर्झरिका गहन की कोशिकाओं को पहचानने के लिए विशेषज्ञ द्वारा की जाने वाली अतिरिक्त जाँच की आवश्यकता होती है। शिरानाल के पारप्रदीपन, एक्स-रे जाँच और अन्वेषणात्मक वेधन के साथ विवर का धोवन आवश्यक होता हैं

उपचार : शरीर का ताप बढ़ जाने पर रोगी को या तो चिकित्सालय में भेजा जाता है या शय्या विश्राम की सलाह दी जाती है। एंटी पायरिटिक (एसेटीसैलीसिलिक एसिड के 0.5 ग्रा. और कैफीन के 0.1 ग्रा.) का औषधि-निर्देश दिया जाता है। एक पाउडर को दिन में दो या तीन बार लेते हैं। श्लेष्मा सूजन में आराम के लिए, विशेष रूप से विवर के चारों ओर, तथा विवर के द्रव्य को बहाने के लिए मध्य नासा कुहर में 1-2 प्रतिशत कोकीन घोल और 3 प्रतिशत एफीड्रीन घोल का आलेप करते हैं या 2-3 प्रतिशत एफेड्रीन या कोकीन घोल में एड्रेनेलीन मिलाकर नाक में डालते हैं। रोगी को क्षैतिज स्थिति में उसके सिर को पीछे करके तथा रोगी भाग की ओर घुमाकर औषधि का बिंदुपात किया जाता है। ऐसे में बिंदु ऊर्ध्व या मध्य कुहर में पहुँचते हैं। सोलक्स लैंप और पराबैंगनी किरणों से विकिरण, अति उच्च तरंग चिकित्सा, ऊष्मा पैड और उष्ण सेंक से परनासा विवर के तीव्र शोथ में आराम मिलता है।

डायाथर्मी[1] (10 से 15 मिनट वाली 12 से 15 सत्र, दैनिक या एक दिन के अंतर पर) से लंबे अर्से वाले शोथ में आराम मिलता है। सार्वदेहिक विषालुता वाले

1. गहराई में स्थित ऊतकों को कम वोल्टता वाली उच्च आवृत्ति की विद्युत-धारा द्वारा गर्मी देना।—सं.

तीव्र रोग में तेज सिर-दर्द और प्रचुर नासा-स्राव का उपचार प्रतिजीवी औषधियों द्वारा तीन से पाँच दिन तक किया जाता है। लंबे अर्से वाले रोग मे प्रचुर मात्रा में मास का स्राव होने पर या प्रतिकूल शारीरी संबंध होने पर विशेषज्ञ द्वारा लघु शस्त्रकर्म किया जाता है। पालिपों को निकालना, मध्य नासा-शुक्तिका का उच्छेदन, ऊर्ध्वहनु शिरानाल में बार-बार बेधन और प्रतिजीवी घोल का आधान किया जाता है। सिरदर्द में आराम के लिए एसीटील सैलीसीलिक एसिड, अनाल्जिन और एमिडोपाइरीन दी जाती है।

परनासा शिरानाल का चिरकाली शोथ होने पर रोगी का उपचार तीव्रप्रक्रम वाले रोगी की तरह किया जाता है। इसके असफल होने पर शस्त्र कर्म किया जाता है। रोगी विवर का मुँह खोलकर नाक के रास्ते इसे साफ कर देते हैं। शल्य-क्रिया इस क्षेत्र के विशेषज्ञ द्वारा की जाती है। प्रतिजीवी औषधियों में व्यापक प्रयोग के कारण वायु विवर शोथ के रोगियों में शल्य कर्म की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है।

शस्त्रकर्म पूर्व तथा पश्च उपचार

शल्य कर्म के सामान्य नियमों के अनुसार उपचारिका रोगी को शस्त्रकर्म करने के एक दिन पहले तैयार करती है। पेट और आँतें खाली करा दी जाती हैं तथा रोगी को स्नान भी कराया जाता है। उपचारिका यह भी देखती है कि रोगी ने अपना मुँह साफ कर लिया है तथा उसे अपने दाँतों में ब्रश करने और मुँह साफ करने को कहती है (मुँह की सफाई बोरिक एसिड, हाइड्रोजन परआक्साइड इत्यादि के घोल से की जाती है)। नासा श्लेष्मा के लिए संज्ञाहरण की तैयारी करना, इंजेक्शन का घोल (प्रोक्रेन) बनाना, शस्त्रकर्म के लिए उपकरण तैयार करना इत्यादि उपचारिका की जिम्मेदारियाँ हैं। शस्त्रकर्म के बाद उर्ध्वहनु शिरानाल को खोलने के लिए तौलिए में लपेटी हुई बर्फ की थैली को गाल के पास सूजन कम करने के लिए छः से आठ घंटे तक लगाए रखना पड़ता है। हर 30 मिनट के बाद बर्फ की थैली को 10 से 15 मिनट के लिए हटा देते हैं। रोगी को तरल और उष्ण भोजन चार या पाँच दिन तक दिया जाता है। शस्त्रकर्म के पाँचवें, छठे या सातवें दिन चिकित्सक ऊर्ध्वहनु विवर का धोवन करता है। धोवन हेतु उष्ण शरीरवृत्तिक लवण घोल, रबर नल सहित प्रवेशिनी और रबर के गुब्बारे की आवश्यकता होती है। इस सबको पहले से उबाल कर विसंक्रामित कर लेते हैं। अगली धोवन-क्रिया उपचारिका कर सकती हैं, पर चिकित्सक की देख-रेख में।

नाक का दुर्दम अर्बुद (कर्सीनोमा और सार्कोमा)

लक्षण और अवधि : नाक का एकपार्श्विक अवरुद्धन होना, गंधयुक्त और रक्त मिश्रित

पदार्थ का उस नथूने से स्राव होना, नासा या ग्रसनी से रक्त-स्राव होना, इत्यादि इसके आम लक्षण हैं। अर्वुद की वृद्धि होने के साथ-साथ चेहरे का अस्थि पंजर विकृत हो जाता है। नेत्रगोलक विस्थापित हो जाता है और तंत्रिकार्तिक पीड़ा होने लगती है। नासादर्शी से ग्रंथिल अर्वुद का पता चलता है, जिससे प्रोब के छूने पर रक्तस्राव होने लगता है।

निदान : अर्बुद के नमूने की ऊतकशास्त्रीय जाँच से निश्चित हो जाता है। अर्वुद के आकार और प्रसार का एक्सरेचित्रण से पता लगाया जाता है।

उपचार : विकिरण-चिकित्सा के साथ शस्त्र कर्म किया जाता है। उपचारिका आबादी के रोग-निरोधी परीक्षण में सहायता करती है। ऐसा परीक्षण सोवियत संघ में व्यापक रूप से किया जाता है और ऐसे लोगों की अलग से जाँच की जाती है, जो ऊपरी श्वास पथ के कैटार से दीर्घकाल से पीड़ित होते हैं। यह जानना बहुत आवश्यक है कि दुर्दम अबुर्द से पहले बहुधा एक या दूसरा चिरकाली रोग, जैसे परानासा विवर और पुनरावर्ती पोलिपता, तथा नासा प्रवेश द्वार के व्रण होते हैं, जो बहुत समय तक ठीक नहीं होते। इसलिए अर्बुदीय रोग के निरोध हेतु उपचारिका को चाहिए कि ऐसे रोगी को, जिसमें उपरोक्त कोई भी संदेहात्मक चिह्न मिलें, विशेषज्ञ के पास भेजे, क्योंकि विशेषज्ञ ही इस नवीन वृद्धि के लक्षणों को पहचान सकता है।

नाक और परानासा विवर में चोट

नीलन, (चोट से) मृदुल ऊतकों में चोट और उपस्थिसम व अस्थिसम पिंडों के साधारण व सम्मिश्र अस्थि-भंग में भेद किया जाता है। नाक की अस्थियाँ बहुधा क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। अभिजात से भी नासा पट में विरूपण, उखाड़, विस्थापन या अस्थिभंग हो सकता है। उसी दशा में नाक की चोट से पट का अवश्लेष्मक रक्तगुल्म बन जाता है, जिससे द्वितीयक संक्रामण के कारण बहुधा सपूयन होता रहता है, जो कि आगे चलकर विद्रधि का रूप ले लेता है।

लक्षण : नाक में चोट लगने पर बहुधा नासा रक्तस्राव होता है। अस्थि खंडों के विस्थापित होने से नासा-अवरुद्ध हो जाती है तथा इसमें पीड़ा होती है तथा अभिघात के स्थान पर अनुषंगी सूजन और रक्तस्राव होता है। अस्थिभंग के स्थान पर परिस्पशन द्वारा अस्थि का विस्थापन, क्रेपीटेशन और स्पर्शसह्यता का पता चलता है। नासा अरिस्थ के एक्सरे चित्रण द्वारा चोट के लक्षण की पुष्टि होती है।

उपचार : सबसे पहले नासा रक्तस्राव को रोकना आवश्यक है (देखिए भाग 'नासा-रक्तस्राव') और फिर अस्थि खंडों को कम करने के लिए उन्हें अग्रटैंपोनेड से सही स्थिति में स्थिर करना चाहिए। खंडों को कम करने का काम चिकित्सक के द्वारा ही होना चाहिए।

नासा पट के रक्तगुल्म का या तो चूपण करना चाहिए या इसका मुँह खोल

देना चाहिए। यदि रक्तगुल्म का यथासमय उत्सारण न किया जाय तो अनुषंगी संक्रामण की वजह से वह विद्रधि का रूप ले लेता है। यदि पट-विद्रिधि के मुँह को आवश्यकता होने पर न खोला जाय, तो इससे पट क्षतिविक्षत हो जाता है तथा नाक में पर्याण विरूपता आ जाती है। प्रतिजीवी चिकित्सा से संक्रामण बढ़ने से रुक जाता है तथा अन्य उपद्रव नहीं होते।

II. ग्रसनी के रोग

गलतोरणिका और ग्रसनी की शरीर रचना

ग्रसनी एक नली है, जो कपाल के आधार से लेकर ग्रासनली तक अखंड पुच्छक रूप से फैली हुई है (चित्र 96)। ऊपरी भाग शुक्तिका के द्वारा नासा गुहर तक जाता है, जिसे **नासाग्रसनी** कहते हैं। सतह से लेकर कठोर तालु तक का अखंड भाग नासाग्रसनी को ग्रसनी के मध्य भाग से अलग करती है जिसे **मुखग्रसनी** कहते हैं (चित्र 95)। ग्रसनी के इस भाग का मुँह सामने की ओर होता है और यह गलतोरणिका के द्वारा मुख-गुहा से जुड़ा होता है।

गलतोरणिका ऊपर से मृदुल तालु से और जिह्वा मूल के नीचे से घिरा रहता है और इसके दोनों ओर अग्र और पश्च तालु स्तंभ होते हैं।

ग्रसनी में लसीकापर्वाभ ऊतक प्रचुर मात्रा में होते हैं, जो बड़ी संख्या में दोनों ओर के तालुस्तंभ के बीच में स्थित होते हैं तथा इन्हें तालु गलतुंडिका कहते हैं (प्रथम और द्वितीय)। इनमें असंख्य प्रच्छन्न या रिक्तिकाएँ होती हैं, जो ग्रसनी के सामने की अबाध सतह पर स्थित होती है। तीसरी गलतुंडिका ग्रसनी के कक्ष में स्थित होती है और चौथी जिह्वा के मूल में। ये चार गलतुंडिकाएँ और लसीका पुतिकाएँ श्लेष्मल कला की गहराई में ग्रसनी लसीका रिंग बनाती हैं, जिसे वालडेयररिंग कहते हैं। श्रवण (यूस्टेशियन) नलिका नासा-ग्रसनी की पार्श्व सतह पर खुलती है, जो मध्य कान से जुड़ी होती है। ग्रसनी श्लेष्मल कला की सीध में होती है, जिसमें असंख्य श्लेष्मल ग्रंथियाँ होती हैं। निगरण में संकुचित होने वाली तथा भोजन को ग्रास-नली में धकेलने वाली पेशियों को श्लेष्मल कला ढके रहती है।
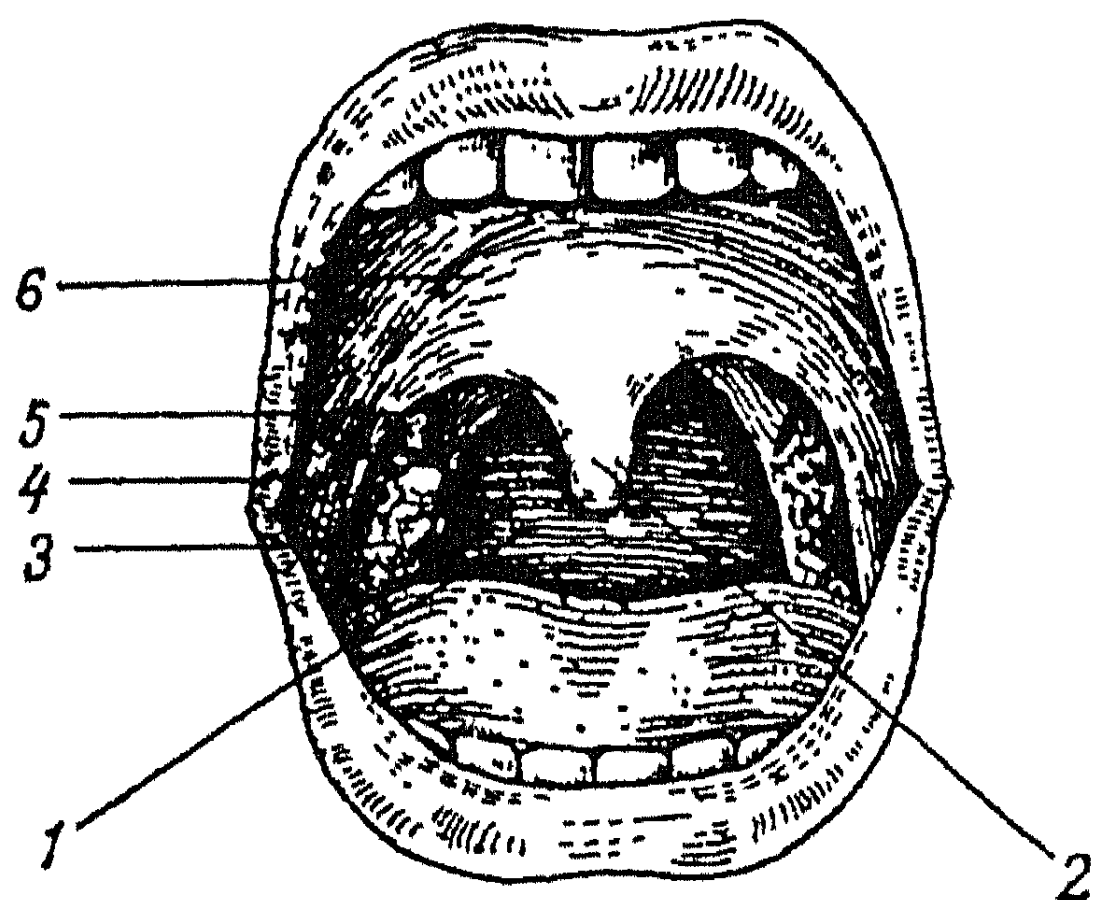
चित्र 95. ग्रसनी का मध्य भाग। 1. ऊर्ध्व ग्रसनी भित्ति, 2 युवुला, 3. गलतुंडिका तालु, 4. अग्रगलतुंडिका स्तंभ, 5. पश्च तालु स्तंभ, 6 कोमल तालु।
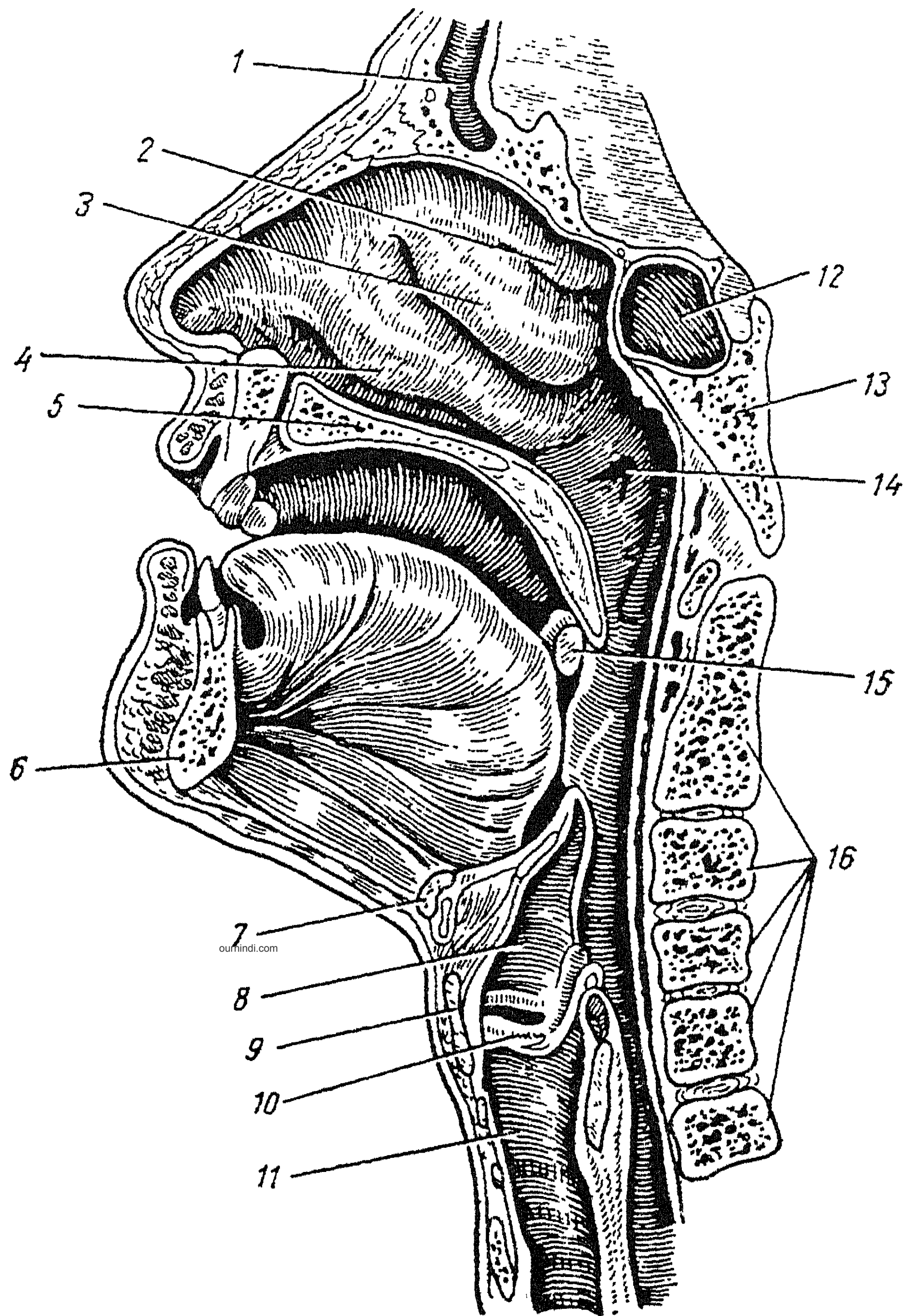
चित्र 96. नासागुहा, ग्रसनी और स्वर यंत्र का अग्र पश्च भाग।
1. ललाटविवर, 2. ऊर्ध्व शुक्तिका, 3. मध्यनासा शुक्तिका, 4. हनु शुक्तिका, 5. कठोर तालु, 6. अधोहु, 7. कंठिका अस्थि, 8. कंठकच्छद, 9. थाय-रायड (अवटु) उपास्थि, 10. स्वरपुटक, 11. श्वासप्रणाल, 12. जतुक विवर, 13. जतुक अस्थि का पिंड, 14. युस्तेशियन नलिका का ग्रसनी में द्वार, 15. गलतुंडिका तालु, 16. ग्रेव कशेरुका।

ग्रसनी के परीक्षण की विधियाँ

मुख-गुहा और ग्रसनी के मध्य भाग का निरीक्षण कृत्रिम प्रकाश में भी किया जा सकता है और दिन की रोशनी में भी।

प्रकाश के स्रोत को रोगी पर ऐसे डालते हैं जैसे कि नाक के परीक्षण में, और उसी प्रकार के शीर्ष-दर्पण का प्रयोग होता है।

ग्रसनी निरीक्षण से पूर्व मुख-गुहा की जाँच की जाती है। इसमें होंठों से निरीक्षण शुरू करके मुँह के प्रवेशद्वार का निरीक्षण करते हैं। पहले मुँह के एक कोने से शुरू करके दूसरे को स्पेचुला से खींचकर देखते हैं। ऊपरी और निचले होंठ को बड़ी सावधानी से पलटते हैं। श्लेष्मल कला का रंग, व्रणों को होना, निरत्वचन, या नालव्रण, मसूड़ों और दाँतों की हालत इत्यादि देखते जाते हैं। जिह्वा और कटोर तथा कोमल तालु का भी परीक्षण किया जाता है।

मुख गुहा के तल का भी निरीक्षण जिह्वा के सिरे को स्पेचुला से उठाकर किया जाता है। इसके बाद जिह्वा के पीछे वाले भाग को स्पेचुला से दबाकर तालव्य गलतुंडिका और पश्च ग्रसनी-भित्तिका का परीक्षण किया जाता है। स्पेचुला को मुँह में बहुत अंदर तक इसलिए नहीं डालते हैं कि कहीं वमन न हो जाय; परीक्षण के समय रोगी को अपनी जिह्वा अंदर खींचने या श्वास रोकने से मना करना चाहिए।

तालव्य गलतुंडिका का परीक्षण करते समय श्लेष्मल कला के रंग को ध्यान से देखा जाता है। साथ ही, गलतुंडिका के आकार, तालव्य खंभ से आसंजन और रिक्तिका के द्रव्य को भी ध्यान से देखा जाता है।

कंठशालुक

तीसरे (या नासाग्रसनीय) गलतुंडिका की अतिवृद्धि को कंठशालुक कहते हैं। कंठशालुक वर्धन बहुधा संक्रमक रोगों (खसरा, स्कारलेट ज्वर, रोहिणी, काली खाँसी, इंफ्लूएंजा इत्यादि) और पुनरावर्ती शोथ के कारण होता है। कंठशालुक का रोग 3 वर्ष तथा 8 से 10 वर्ष की आयु के बीच होता है।

लक्षण और अवधि : नासा अवरुद्ध और स्थायी नासाशोथ इस रोग के लक्षण। शिशु मुँह खोलकर सोता है तथा खर्राटे लेता है। जगने पर भी मुँह आधा खुला रहता है। बच्चे बहुधा सिर दर्द की शिकायत करते हैं तथा मानसिक कार्य में ध्यान नहीं लगा पाते (स्कूल में भी वे पीछे रहते हैं)। कंठशालुक से शारीरिक विकास भी रुक जाता है। ऐसे बच्चे अन्यमनस्क और कभी-कभी नैश असंयत मूत्रता से पीड़ित होते हैं। चिरकारी शोथीय कंठशालुक बहुधा नासा ग्रसनी और मध्यकाल के लिए पुनरावर्ती शोथ का कारण होगा। इस रोग में कम सुनाई पड़ता है।

पहचान : कंठशालुक का पता पश्च नासा-दर्शन या नासा ग्रहनी के उँगली से परिस्पशन से लगता है।

उपचार : बहुधा शस्त्र कर्म होता। यदि शस्त्र कर्म प्रतिदिष्टि हो, तो रेडियो कि रणन या परा-बैंगनी किरणन से उपचार किया जाता है।

कंठशालुक उच्छेदन के शस्त्र-कर्म में उपचारिका की सहायता बहुत ही महत्त्वपूर्ण

है। यह शस्त्र-कर्म बहुधा बहिरंग चिकित्सालय में किया जाता है। जो बच्चा चिकित्सालय में लाया जाता है, वह अपने को अपरिचित वातावरण में पाता है। उपचारिका को चाहिए कि वह उसे आराम से बिठाकर उसमें अपनत्व का भाव भरे। बहुधा शरीर का तापमान लिया जाता है। आवश्यक निर्देशों की जाँच करके शस्त्रकर्म के कक्ष में उचित परिवेश बनाया जाता है। शस्त्र कर्म के समय उपचारिका बच्चे को परिचारक की गोद में बिठाकर बच्चे के सिर को थाम लेती है, अन्यथा स्वयं ही बच्चे को थाम लेती है, जैसा कि चित्र 97 में दिखाया गया है।
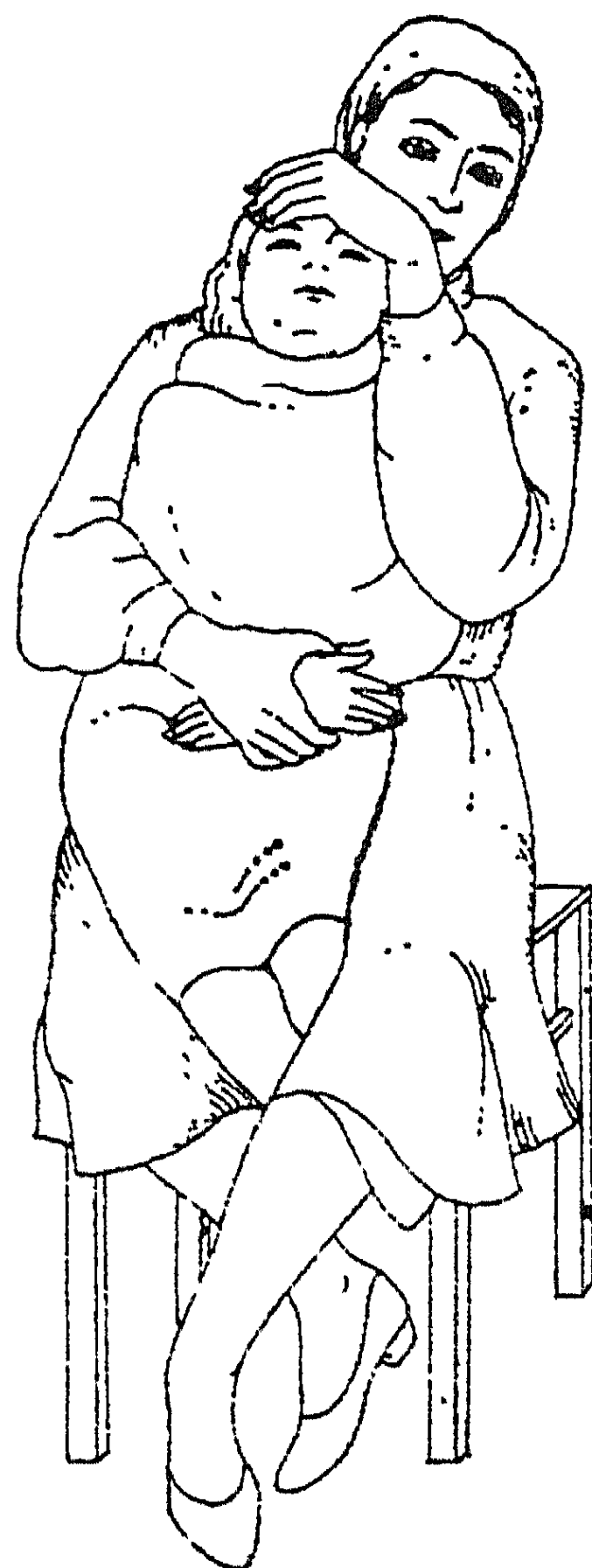
चित्र 97. कंठशालुक को निकालने के लिए शस्त्र कर्म करते समय रोगी का आसन।

शस्त्र-कर्म के बाद बच्चे को कोच या बिस्तर पर लिटा कर सिराहना ऊँचा कर देते हैं। रक्त-स्राव होना ही इसका एक आम उपद्रव है। इसलिए बच्चे को शांतिपूर्वक लिटाए रखना चाहिए। बेहतर है कि एक करवट से लेटे। रक्त मिश्रित लार को बेसिन या तौलिए में थूकना चाहिए (लेकिन निगलना नहीं चाहिए)। शस्त्र कर्म के फौरन बाद तथा 60 से 90 मिनट तक बच्चे को सोने नहीं देना चाहिए, क्योंकि बच्चे के सोते समय भी रक्तस्राव हो सकता है और अनजाने ही रक्त निगरित हो कर पेट में पहुँच सकता है। रक्तस्राव को यथासमय जान लेना उपचारिका का कर्त्तव्य है (प्रचुर मात्रा में रक्त का थूकना, रक्त वाली वमन, तेज नाड़ी, इत्यादि) इन लक्षणों के होने पर शल्य चिकित्सक को फौरन सूचित करना चाहिए और इसके नियंत्रण के लिए फौरन ही आवश्यक तैयारी कर लेनी चाहिए। रोगी की शय्या के पास टेबुल-लैंप तथा उपकरणों वाली चिलमची (स्पैचुला, लंबे फल वाली चिमटी, गोल शुक्तिका यंत्र, रुई और गाज के गोले) रख दी जाती है। शस्त्र कर्म के दो या तीन दिन बाद तक बच्चे को चरफरा रहित भोजन (अनछना सूप, पतला दलिया और दूध, इत्यादि) दिया जाता है।

अतिपाती (तीव्र) गलतुंडिकाशोथ

अतिपाती गलतुंडिकाशोथ एक तीव्र सार्वदेहिक संक्रामक रोग है। इसमें गलतोरणिका और ग्रसनी के लसीकापर्वाभ ऊतकों में विलक्षण शोथीय होते परवर्तन हैं। इनमें तालु की गलतुंडिकाओं का आवेष्टन होता है।

यह रोग वयस्कों की अपेक्षा अधिकतर बच्चों में होता है और विशेष रूप से स्कूल जाने से पूर्व की अवस्था में होता है।

हेतुकी : यह रोग विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवों और विषाणुओं, विशेष रूप से स्ट्रैप्टोकोकस और कभी-कभी डिप्लोकोकस, न्यूमोकोकस, स्टैफाइलोकोकस, पर्कुरूपी जीवाणु की स्पाइरोकीट के साथ सहजीविता, इत्यादि कारणों से होता है। गलतुंडिकाशोथ बिंदुक संक्रामण के द्वारा भी हो जा सकता है। रिक्तिका और गलतुंडिका की परतों में स्थायी रूप से रहने वाले सूक्ष्म-जीवियों की रोग जनकता बढ़ जाने से गलतुंडिका का स्वतः संक्रामण भी संभव है। शरीर के निर्बल होने पर यह संक्रमण अधिक पनपता है।

रोग की तीव्रता तथा गलतुंडिका की स्थानिक परत, गुण और लक्षणों के अनुसार गलतुंडिकाशोथ के पुटिकीय, रिक्तिकीय और श्लेष्मास्रावी रूपों को पहचाना जाता है (प्लेट IX)।

गलतुंडिका के साथ-साथ बहुधा तीव्र स्थानिक और दैहिक उपद्रव (परागलतुंडिकाशोथ, पुतिता, जोड़ों, हृदय, गुर्दे, इत्यादि के रोग) हो जाते हैं। कभी-कभी इनके साथ विभिन्न मूलों के दैहिक रोग (स्कार्लेट ज्वर, खसरा, रोहणी, सिफिलिस, रक्त के दोष, इत्यादि) हो जाते हैं।

श्लेष्मास्रावी गलतुंडिका (angina catarhalis) स्थानिक लक्षण : शुरू में गले में सूखापन और दाह होता है। इसके बाद निगरण में पीड़ा होती है, जो कान तक बढ़ जाती है। लालास्राव बढ़ जाता है और इसको निगलने की बहुधा आवश्यकता पड़ती है। छोटे बच्चो में इसके कारण बहुधा वमन होता है।

सामान्य लक्षण : वकुलता, सिरदर्द, जोड़ों और सारे शरीर में दर्द, ठंड लगना या ज्वर होना। शरीर का तापमान बढ़ जाता है। छोटे बच्चों मे तापमान बढ़कर 39^0 सें. तक हो जाता है। गलतुंडिका अतिरिक्तता, फूली हुई तथा श्लेष्मा से ढकी सी होती है। रोगी गलतुंडिका के पास वाली ग्रैवलसीक्त्र बहुधा बढ़ जाती है और स्पर्शसिह्य होती है।

रिक्तिकीय गलतुंडिकाशोथ (anigina lacunaris) : शलेष्मस्रावी गलतुंडिका शोथ की अपेक्षा इसके सामान्य लक्षण अधिक तीव्र होते है। इसकी शुरुआत एकाएक होती है और इसमें ठंड लगती हैं। शरीर का तापमान (बहुधा 39^0-40^0 सें.) बढ़ जाता है। व्याकुलता और सिरदर्द होता है तथा निगरण में पीड़ा होती है। गलतुंडिकाएँ सूज जाती हैं। तालव्य गलतुंडिका की लाल और सूजी हुई श्लेष्म कला की रिक्तिका पर पीलापन लिये हुए सफेद झिल्ली उभर आती है। यह झिल्ली धीरे-धीरे बढ़कर गलतुण्डिका के क्षेत्र का ढक लेती है। यह डिप्थीरिया से भिन्न होती है, क्योंकि ये गलतुंडिका से ग्रसनी श्लेष्मा के क्षेत्र तक नहीं फैलती हैं। इन झिलिल्यों को प्रोब पर रुई लेपट कर आसानी से निकाला जा सकता है। इस क्रिया-विधि के दौरान गलतुंडिका ऊतकों से रक्त-स्राव नहीं होता है। संभागीय ग्रैव और अवअधोहनु लसीका

पर्विकाएँ बड़ी और स्पर्शासह्य हो जाती है। रिक्तिकीय गलतुंडिका शोथ बहुधा पाँच से सात दिन तक रहता है।

पुटिकीय गलतुंडिकाशोथ (angina follicularis) यह रोग भी एकाएक प्रारंभ होता है। इसमें ठंड लगती है। निगरण पीड़ादायक होता है। सार्वदैहिक कमजोरी, सिरदर्द, पीठ और शाखाओं में पीड़ा होती है। शरीर का तापमान 39^0-40^0 सें. तक वढ़ जाता है। दोनों खुले हुए तालव्य गलतुंडिकाओं के लाल पृष्ठ बहुत सी गोल, पीलापन लिए हुए सफेद विक्षतियों से ढक जाते हैं। इनका आकार सूई की नोक के बराबर होता है तथा ये श्लेष्मा पृष्ठ से थोड़ा सा ऊपर होते हैं। (सपूय गलतुंडिका पुटिकाएँ); इन विक्षतियों के कारण गलतुंडिका का पृष्ठ तारों वाले आसमान की तरह दिखलाई देता है। संभागीय ग्रैव और अवअधोहनु लसीकाए बढ़ जाती हैं। यह प्रक्रिया बहुधा पाँच से सात दिन में पूरी होती है।

गलतुंडिका शोथ का देखरेख और उपचार : रोगियों को शय्या विश्राम, प्रचुर मात्रा में तरल पेय, उष्ण, पौष्टिक, क्षोभ्सकरहित भोजन, मलटी विटामिन और हल्के कषाय घोल (सेज, मैट्रीकारिया) व निःसंक्रामण (एक गिलास में आधा चम्मच बोरिक एसिड; पोटैशियम परमैगनेट 1:2000; तीन प्रतिशत हाइड्रोजन पैराक्साइड घोल, एक गिलास में एक या दो बड़े चम्मच–जल के एक गिलास में; एक गिलास पानी में 2 मि. ली. ग्रामीसाइडीन) से गले में गरारा निर्दिष्ट करते हैं। गले को अल्कोहल (बेहतर हो कि 1/3 आयतन अल्कोहल और 2/3–पानी) से सेंक देते हैं।

Rp. Acidi borici 20.0

Sig. गरारे के लिए उबले हुए गर्म पानी के एक गिलास में आधा चम्मच।

Rp. Kalii hypermanganatis 1.0

Sig. गरारे के लिए उष्ण उबले हुए पानी के एक गिलास में 2 या 3 दाने

Rp. Hydrogenii hyperoxydati 3% 100.0

Sig गरारे के लिए उष्ण उबले हुए पानी में एक बड़ा चम्मच।

Rp. Gramicidini 2.0

D.t.d. N 6 in amp.

Sig. गरारे के एक गिलास पानी में एक एंपुल को घोला जाता है।

सिर के चारों ओर से लपेट कर सेंक को बाँध देते हैं, जिससे यह अपने स्थान पर रहे। इस सेंक को दिन में प्रति दो या तीन घंटे बाद बदलते हैं और फिर दो, तीन, चार घंटे के अंतर पर बदलते हैं। सल्फानिलामाइड (सल्फाडायजीन, सल्फाथायोजोल, सल्फाडिमीडीन) की 0.1 से 0.6 ग्रा. की खुराक (आयु के अनुसार) हर चर घंटे के बाद ली जाती है।

Rp. Sulfadimezini 0.5

D. t. d. N 24 in tabul

Sig. एक गोली दिन में 4-6 बार ली जाती है।

पूतिता रोग तथा अन्य उपद्रवों में सल्फानिलामाइड और प्रतिजीवी औषधि दी जाती है। व्यक्ति को उसके काम पर जाने की अनुमति देने के पूर्व उसके रक्त की जाँच और मूत्र विश्लेषण किया जाता है। किसी भी प्रकार की अपसामान्यता होने पर अंतर्रोग-विशेषज्ञ द्वारा उसका परीक्षण किया जाता है।

गलतुंडिकाशोथ के निरोध में सामान्य स्वास्थ्यवर्धक उपाय किए जाते हैं, जिनसे शरीर पुष्ट हो तथा पर्यावरणीय कारकों के प्रति प्रतिरोध शक्ति बढ़े। इन उपायों के अंतर्गत हैं : (1) उद्यम में स्वच्छता, श्रम-स्वच्छता की तकनीकी शर्तों का पालन करना, गलतुंडिका शोथ से अक्सर पीड़ित कर्मियों की नियमित रूप से जाँच और उनका उपचार (2) दैनिक जीवन के स्वास्थ्यपूर्ण वातावरण को बनाए रखना, व्यक्तिगत स्वच्छता और शरीर के दृढ़ीभवन के उपाय (3) गलतुंडिकाशोथ (चिरकारी गलतुंडिकाशोथ, सपूय उर्ध्वहनु विवरशोथ, कंठशालूक, कीड़े लगे हुए दाँत) विकसित करने वाले रोगों का उपचार आदि।

यद्यपि गलतुंडिका शोथ का संक्रमण अति सांसर्गिक नहीं है, फिर भी इन रोगियों को अलग वार्ड में रखने की सलाह दी जाती है तथा उन रोगियों को प्याले, प्लेट इत्यादि तथा उनके प्रयोग की वस्तुएँ अलग-अलग दी जाती हैं। रोगियों और स्वस्थ व्यक्तियों के संपर्क को बचाया जाता है। यह सुझाव विशेषकर बच्चों के लिए है, जिन्हें गलतुंडिका शोथ हो सकता है, इसलिए बच्चों के सामूहिक स्थान (शिशुगृह, किंडरगार्टेन, बोर्डिंग स्कूलों, इत्यादि) के रोगी बच्चे को फौरन ही पृथक किया जाता है। इन स्थापनों के बच्चों के गले का दैनिक निरीक्षण आवश्यक है, जिससे कि रोग का जल्दी पता चल सके। गलतुंडिका शोथ से बहुधा पीड़ित रहने वाले व्यक्तियों को उपचार हेतु कर्णनासाकंठविज्ञानी के पास भेजना चाहिए। यदि आवश्यक हो, तो गलतुंडिकाओं को शस्त्र कर्म द्वारा निकाल देना चाहिए।

फ्लेगमोनी गलतुंडिकाशोथ या परागलतुंडिका विद्रधि (कंठप्रदाह) (angina phlegmanosa paratonsillitis absendens). यह चिरकाली गलतुंडिका शोथ के प्रकोपन या तीव्र गलतुंडिकाशोथ के बाद उपद्रव के रूप में विकसित होती है। संक्रामण गलतुंडिका ऊतकों में प्रवेश कर जाता है और वहाँ विसरित शोथ विकसित होता है, जो कि आगे चल कर विद्रधि का रूप ले लेता है।

लक्षण और अवधि : यह रोग तेजी से और बहुधा निगरण के समय पार्श्वीय पीड़ा के अनुभव से प्रारंभ होता है। यह पीड़ा कान तक पहुँच जाती है। शरीर का ताप (38^0-39^0 सें.) ऊँचा हो जाता है और सार्वदैहिक स्थिति बहुधा गंभीर हो जाती है। कोमल तालु का अनुरूपी आधा भाग लाल हो जाता है और सूज जाता है। और अलिजिह्वा भी सूज जाता है तथा बहुधा प्रतिपक्षी भाग की ओर विस्थापित हो जाता है। लसीका पर्विकाएँ (ग्रैव और अव-अधोहनु) बढ़ जाती हैं और स्पर्शासह्य हो जाती हैं। रोगी कठिनाई से अपना मुँह खोल पाता है और वह भी केवल थोड़ा सा, उसकी

आवाज अनुनासिक हो जाती है। भोजन करना कठिन या कभी-कभी असंभव हो जाता है। जल और तरल खाद्य नाक के द्वारा बहुधा बाहर निकल जाते हैं।

उपचार : अब अधोहनु भाग पर गरम पानी की थैली रखने से विद्रधि बढ़ जाती है। सौलक्स (सूर्य-लैंप) किरणन और गर्दन पर गरम सैंक तथा वाष्प अभिश्वसन से भी विद्रधि बढ़ जाती है। इसलिए प्रतिजीवी औषधियों का निर्देश दिया जाता है। तीव्र पीड़ा होने पर एसीटील सैलीसिलिक एसिड या कैफीन सहित एमिडोपाइरीन दी जाती है तथा अनिद्रा होने पर निद्रापक औषधियाँ देते हैं। जब स्पर्श तरंग उच्चावचन स्पष्ट हो जाता है तो विद्रधि के सबसे उभरे भाग को अग्र तालव्यखंभ के द्वारा खोला जाता है। यह कार्य स्केलपल (छुरी) द्वारा किया जाता है। आसंजक (ऐडिसिव) टेप इसके ऊपर लिपटा होता है और केवल 0.5 सें.मी. का सिरा खुला रहता है (जिससे अन्य वाहिकाओं को क्षति न पहुँचे)।

गलतोरणिका रोहिणी (डिप्थीरिया)

डिफ्थीरिया तीव्र संक्रामक रोग है जो कि लोएफ्लर दंडाणु से होता है। इसकी अभिव्यक्ति संक्रमण के दूसरे दिन से लेकर सातवें दिन तक होती है। रोग का संचरण या तो रोगी से सीधे संपर्क से होता है, जबकि वह खाँसता, छींकता, या बोलता है अथवा ऐसी वस्तुओं के संपर्क में होता है, जिन्हें रोगी छूता है। रोग से स्वस्थ हुए व्यक्ति में या दंडाणु को वहन करने वाले स्वस्थ व्यक्ति द्वारा संक्रमण संचरित हो सकता है। यह रोग अधिकतर दो से छः वर्ष की आयु वाले बच्चों में होता है और इसमें विशेष रूप से गलतोरणिका और गलतुंडिका प्रभावित होती हैं।

शिशु और वयस्कों की गलतोरणिकी डिफ्थीरिया बहुत कम होती है। डिफ्थीरिया का हल्का रूप (परिगत डिफ्थीरिया) आगे चल कर रिक्तिकीय या पुटकीय गलतुंडिका शोथ का रूप ले सकती है। बच्चों में शरीर तापमान कम बढ़ता है और वयस्कों में यह बहुधा सामान्य रहता है। डिफ्थीरिया के इस रूप में गलतुंडिका की थोड़ी सूजी हुई और लाल पृष्ठ पर भूरें या भूरापन लिए हुए सफेद बिंदुओं की पिल्ली बन जाती है, और हल्की सी सामान्य अभिक्रिया होती है।

अधिकांश रोगियों में झिल्ली के ये बिंदु जल्दी ही संश्लेषित होकर सफेद, भूरापन लिए हुए सफेद और कभी-कभी पीली दीपिका का रूप ले लेते हैं। ये झिल्लियाँ गलतुंडिका के स्वतंत्र तल को केवल ढकती ही नहीं हैं, बल्कि तालव्य खंभों और कोमल तालु तक फैल कर डिफ्थीरिया का विसरित रूप ले लेती हैं। और बहुधा ये श्लेष्मा से ऊपर उभरी हुई होती हैं।

डिफ्थीरिया के प्रचंड और विषालु रूप के साथ-साथ अति गंभीर सामान्य प्रतिक्रिया होती है। शरीर का तापमान बहुधा बढ़कर 39^0-40^0 सें. तक हो जाता है और रोगी पीला और भावहीन हो जाता है। उसके श्वास से दुर्गंध आती है; उसकी

नाड़ी कमजोर, तेज और अतालित होती हैं, जो कि हृदय के विषालुता से प्रभावित होने का संकेत है।

डिफ्थीरिया के रक्तस्रावी रूप में श्लेष्मलकला में रक्तस्राव होता है। त्वचा और झिल्ली रक्त से भर जाती है।

डिफ्थीरिया के परिगत रूप और रिक्तिकीय गलतुंडिका शोथ के भेद को पहचानना आवश्यक है। गलतुंडिका शोथ में झिल्ली बड़ी होती है। इस अंतर को पहचानने के लिए इन दोनों रोगों के विशिष्ट लक्षणों के आरेख के प्रयोग करने की सलाह दी जाती है।

आरेख का प्रत्येक लक्षण एक या दूसरे रोग का विशिष्ट व्याधिज्ञापक नहीं होता है परंतु सभी लक्षणों को मिलार कठिन रोग का सही निदान किया जाता है।

उपचार : जैसे ही निदान की पुष्टि हो जाती है, और संदेहास्पद रोगों में भी डिफ्थीरिया का प्रतिजीवविष का इंजेक्शन फौरन लगा देते हैं तथा जीवाणु विज्ञानी जाँच के परिणाम की प्रतीक्षा नहीं करते। प्रतिजीवविष का इंजेक्शन प्रभावी अल्पसुग्राहीकरण की विधि से लगाते है। : पहले अधस्त्वक रूप से 0.1 मि.ली. का इंजेक्शन देते हैं तथा इसके एक घंटे बाद प्रतिजीवविष की पूरी आवश्यक खुराक अंतर्पेशीय रूप से लगाई जाती है।

बड़े बच्चों के स्थानिक उपचार के बच्चों के मुँह और गले का बोरिक एसिड के हल्के विसंक्रामक घोल से सोडियम टैटराबोरेट या हाइड्रोजन पराक्साइड से सफाई और गरारा करते हैं।

छोटे बच्चों की मुखगुहिका की सफाई इसी घोल में या दो प्रतिशत सोडा के घोल से करते हैं, परंतु सफाई की यह क्रिया पिचकारी से छिड़काव या धोवन के द्वारा किया जाता है।

रोग का निरोध और देखरेख : डिफ्थीरिया के रोगी को फौरन पृथकभूत किया जाना चाहिए। चिकित्सालय में भरती करना पृथकभूत का सबसे भरोसे वाला साधन है। क्योंकि यही रोगी की सबसे अच्छी देखरेख हो सकती है।

डिफ्थीरिया के रोगी की देखरेख करने वाले व्यक्ति को रोगी से हर बार संपर्क के वाद हाथ अच्छी तरह धोने चाहिए और फिर विसंक्रमित घोल से साफ करना चाहिए। रोग के संचरण से बचने के लिए यह सलाह दी जाती है कि कोई रोगी के बिस्तर पर न बैठे तथा दर्शकों को वार्ड में आने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। रोगी द्वारा प्रयोग में लाई हुई वस्तुओं को वार्ड से बाहर नहीं लाने देना चाहिए। रोगी के मुँह और नाक को साफ करने के लिए प्रयुक्त गाज और रुई को फौरन जला देना चाहिए।

रोहिणी और गलतुंडिका-शोथ के लक्षण

लक्षण	गलतुंडिका-शोथ	रोहिणी (डिफ्थीरिया)
गलतुंडिका में सूजन	रोहिणी से कम, दोतरफी	अधिक स्पष्ट। साथ में पिलर, युवूला (अलिजिह्वा) ओर नर्म तालू का शोथ, एकतरफा भी हो सकता है।
झिल्ली	गलतुंडिका की सिर्फ मुक्त सतह पर फैलती है	गलतुंडिका के परे पिलर, नर्म तालू और पश्चग्रसनी-भीत पर
झिल्ली का रंग	पीला सा	सफेद, भूरा-सफेद, मटमैला भूरा
झिल्ली हटाना	आसानी से, क्योंकि सतह पर होती है	गहरी होती है, ज्यादातर हालतों में मुश्किल से हटती हैं; कोशिश से रक्त-स्राव
निगलने में दर्द	तेज	तेज, पर हमेशा नहीं
स्थानीय लसीका ग्रंथियों की अवस्था	बड़ी; कुछ गंथियाँ छू कर देखी जा सकती हैं, अत्यधिक कोमलता, संवेदनशीलता	रोग के प्रथम दिनों में से ही दोनों तरफ स्पष्ट सूजन, अवत्वक कोशिकीय ऊतकों का शोथ, गले के उभार आदि दिखने बंद हो जाते हैं।
	रोहिणी से कम गंभीर	विषालुक रूपों में अवस्था गंभीर होती है, बदतर होती जाती है।
	39-40^0 सेंटीग्रेड के परास में	अवज्वर से 38.5^0 तक. अधिक स्थायी।
	तापक्रम के अनुसार जैसा होना चाहिए	शुरू में धीमी, फिर तेज, नर्म और लयहीन
जीवाण्किवीय अध्ययन	नकारात्मक (लेफ्लर बैसीली की उपस्थिति के लिए)	ज्यादातर हालतों में स्वीकारात्मक

रोगी के तापमान और नाड़ी पर निगाह रखनी चाहिए, क्योंकि डिफ्थीरिया में हृदक्रिया का कमजोर होना सबसे चिंताजनक लक्षण है।

रोगी को तरल या दलिया जैसे दूध से बनाए हुए खाद्य (पतली खीर), शोरबा, मक्खन और प्रचुर मात्रा में विटामिन वाले फल, विशेष रूप से (विटामिन सी युक्त, या ऐस्कार्बिक एसिड के योग), खाने को दिए जाते हैं।

ग्रसनीशोथ

ग्रसनी श्लेष्मलकला के शोथ को ग्रसनी शोथ कहते हैं। तीव्र और चिरकारी ग्रसनी शोथ में भेद किया जाता है।

तीव्र ग्रसनी शोथ आम तौर पर नाक और नासा ग्रसनी का अवरोहित अभिष्यंद होता है।

लक्षण : ग्रसनी में सूखापन खरोंचने जैसा और बेआराम करने वाला संवेदन होता है। श्लेष्मल कला लाल होती है, जो कि सपूय श्लेष्मल स्राव से ढक जाती है। कभी-कभी इसकी पश्च भित्ति में पृथक-पृथक लाल दाने उभर आते हैं (लसीकापर्वाभ ऊतक की पुटिटकाएँ बड़ी और शोथीय हो जाती हैं)

चिरकारी ग्रसनी शोथ : चिरकारी ग्रसनी शोथ का पता स्थानिक (चिरकारी नासा शोथ, परनासाविवरों का सपूयशोथ, चिरकारी गलतुंडिका शोथ) और सार्वदैहिक कारणों (हृदय, फेफड़ों, जिगर, गुर्दो चयापचयी विकारों, लंबे अरसे से धूम्रपान, एल्कोहल का इस्तेमाल, ठंडे, गरम और तीखे खाद्य पदार्थों का प्रयोग इत्यादि) से लगता है।

लक्षण : ग्रसनी शोथ के शोषीय रूप वाला रोगी गले मे सूखेपन और गुदगुदाहट शिकायत करता है। अतिशेपीय ग्रसनी शोथ में श्यान श्लेष्म स्राव नासा ग्रसनी में इकट्ठा हो जाता है और इन्हें बहुधा खाँस कर और कफोत्सारण द्वारा, विशेष रूप से प्रातः काल में निकालने की आवश्यकता होती है। शोषीय ग्रसनी शोथ में श्लेष्मा सूखी और इस कदर चमकीली होती है, जैसे कि उसमें वार्निश की हुई हो। इन पर भी बहुधा सूखा श्लेष्मा होता है। इसके अतिशोषीय रूप में ग्रसनी श्लेष्मा लाल और मोटी होती है तथा यह श्यान श्लेष्मा सपूय स्रावों से ढक जाती है।

उपचार : रोग के मुख्य कारण का निवारण किया जाता है। धूम्रपान और मदिरापान जैसी खराब आदतों को दूर करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। मुँह और गले का उष्ण क्षारीय घोल (सोडा, टेट्राबोरेट और सोडियम क्लोराइड) से प्रक्षालन किया जाता है। ग्रसनी पर सप्ताह में एक या दो बार 1-5 प्रतिशत सिल्वर नाईट्रेट घोल का आलेप शोथ के अति शोषीय रूप में तथा शेषीय रूप में 0.1-0.2 प्रतिशत आयोडीन ग्लिसिरीन का आलेप किया जाता है। क्षारीय तथा तेली अभिश्वसन करने की सलाह दी जाती है।

चिरकारी गलतुंडिका शोथ

तालव्य गलतुंडिकाओं के चिरकारी शोथ को चिरकारी गलतुंडिका शोथ कहते हैं। यह रोग कंठ-दाह के पुनरावर्तन के फलस्वरूप होता है। यह प्रक्रिया गलतुंडिका रिक्तिकाओं में स्थित होती है। पुट्टकीय त्वचा निकल जाती है और जीवाणुओं, कवक, श्वेत कोशिकाओं और खाद्य सहित रिक्तिका में एकत्रित हो जाती है। जिनका सपूय या किलाती विघटन होता है तथा उनसे दुर्गंध आती है। जब गलतुंडिका को अग्रीय तालव्य स्तंभ के द्वारा स्पेचुला से दबाते हैं तो रिक्तिका में एकत्रित पदार्थो का विसर्जन हो जाता है।

रोगी गले में, गलतुंडिका के भाग में कष्ट, मुँह में दुर्गंध और कभी-कभी कान तक पहुँचने वाली वेधनीय पीड़ा की शिकायत करते हैं। ग्रैव और अव-अधोहनु लसिका पर्विकाएँ बड़ी हो जाती हैं। अधिक समय तक उप-ज्वर रहना एक आम लक्षण है। रोगी में व्याकुलता सिर दर्द होता है तथा काम करने की क्षमता घट जाती है। कुछ तकलीफों, जैसे हृदय और जोड़ों में पीड़ा, नाड़ी का तेज चलना, हृदक्षिप्रता और अत्यधिक प्रस्वेदन का कारण आंतकिर अंगों का विकार होता है। कभी-कभी रोगी गुर्दे की बीमारी वाले लक्षणों की शिकायत करता है। बहुत से रोगियों में कंठदाह के पुनरावर्तन का इतिकृत मिलता है।

उपचार : उपद्रव रहित चिरकारी गलतुंडिका शोथ का उपचार शल्य-रहित विधियों से किया जाता है। मुँह और गले के क्षारीय प्रक्षालन का निर्देश दिया जाता है (ग्रसनी शोथ के धोवन के लिए ज्वर-हर और पूतिरोधी बाईकारमिंट का प्रयोग किया जाता है)।

Rp. Bicarminiti 0.5

D. t. d. N. 30 टिकियों में

Sig. कंठ प्रक्षालन के लिए आधे गिलास जल में एक या दो टिकियाँ।

प्लगों को धोवन या स्पैचुला से दबाकर निकाल दिया जाता है (चित्र 98), इसके बाद गलतुंडिका की रिक्ताओं पर 2-3 प्रतिशत आयोडीन टिंचर, 1-2 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल, 3 प्रतिशत कोलायडल सिल्वर या सिल्वर प्रोटीन
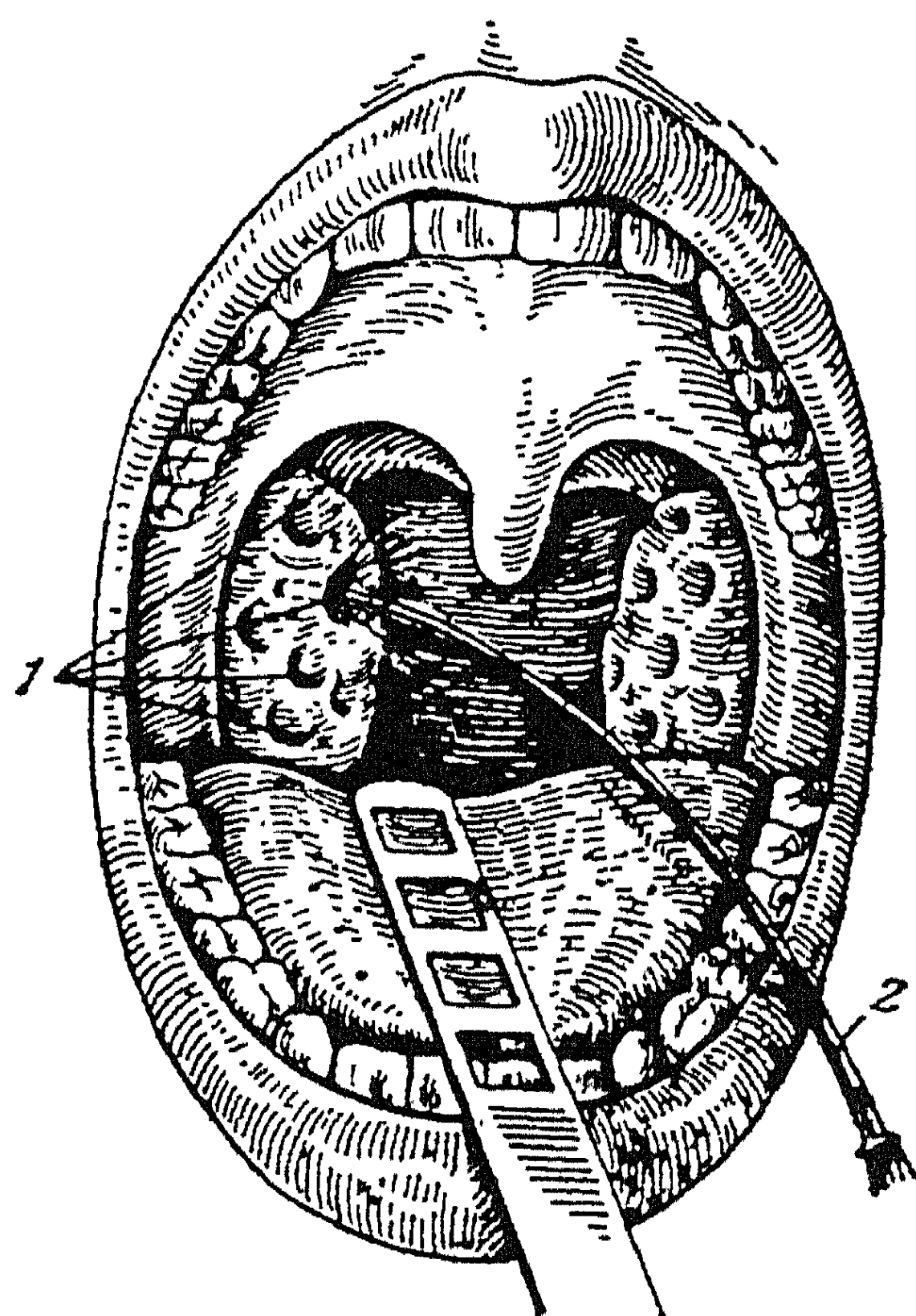
चित्र 98. गलतुंडिका रिक्तिकाओं का धोवन। 1. रिक्तिका, 2. रिक्तिका में प्रवेश किए हुए पिचकारी का सिरा।

घोल का आलेप किया जाता है। इस उपचार के साथ-साथ गलतुंडिकाओं का उपचार पराबैंगनी किरणन और अति उच्च तरंगीय चिकित्सा पद्धति से भी किया जाता है। यह उपचार लसीका पर्विका भाग के लिए होता है। शल्य-रहित चिकित्सा के असफल होने पर या आंतरिक अंगों के विकार से रोग के जटिल हो जाने पर गलतुंडिका उच्छेदन के शस्त्र-कर्म की सलाह दी जाती है।

III. स्वर यंत्र के रोग

शरीर-विज्ञान

स्वर यंत्र एक नलिका है जो कि तीसरी ग्रैव कशेरुका के स्तर से लेकर छठी ग्रैव कशेरुका के स्तर तक फैली होती है। यह अवटु-कंठिका स्नाय के द्वारा कंठिका अस्थि के ऊपर जुड़ी हुई होती है। यह नासा और मुख गुहिका का ग्रसनी से संयोजन करती है। यह वायु या श्वास नली से भी जुड़ी होती है। ग्रसनी में उपास्थियों का पंजर होता है। इन उपास्थियों में मुद्रिका उपास्थि मूल है। इसका सँकरा भाग आगे की तरफ होता है और इसकी सिग्नेट (मुद्रिका) पीछे की ओर होती है। मुद्रिका उपास्थि के ऊपर अवट उपास्थित होती है। इसमें दो पटल होते हैं जो एक कोणीय अवस्था में होते है तथा जोड़ने के स्थान पर खाँच बनाते हैं। दोनों दर्वीकल्प उपास्थियाँ मुद्रिका उपास्थि की उर्ध्व सतह के पीछे स्थित होती है। इसके मूल मे दो क्रियाएँ होती हैं, एक पोरीया तथा दूसरी स्वरीय। स्वरीय पेशी स्वर की प्रक्रिया में निवेशित होती है। स्वर यंत्र का प्रवेशद्वार एक विशेष उपास्थि से बंद रहता है। कंठच्छद स्नायुओं से खाँचे के किनारे से जुड़ा होता है। यह खाँचा अवटु कंठिका के ऊपर होता है। सभी स्वर यंत्र की उपास्थियाँ एक दूसरे से जुड़ी होती हैं तथा एक दूसरे से बँधी होती हैं। आसपास के ऊतकों से भी यह असंख्य स्नायुओं से जुड़ी होती हैं। (चित्र 99) असली स्वरपटुक अवटु-कंठिका उपास्थि के अंदर वाले सिरे और दर्वीकल्प उपास्थियों के स्वर के बीच तक फैली होती है। इनकी तरंगों की आवाज पैदा होती है। इनके ऊपर पट्रिटली उपकला होती है। असली स्वर पटुक के ऊपर और पार्श्व में श्लेष्मल कला की दो द्विगुणता स्थित होती है, जिन्हें मिथ्या स्वर रज्जु कहते हैं। असली और मिथ्या रज्जुओं के बीच श्लेष्मल कला के अंतर्वेशन को मोरग्गनी निलय कहते हैं (चित्र 100)। निलय की श्लेष्मा में बहुत-सी ग्रंथियाँ होती हैं, जिनके स्राव से असली स्वररज्जु का स्नेहन होता रहता है। केवल एक पेशी असली स्वररज्जुओं को पृथक करती है। यह पेशी पश्च मुद्रिका दर्विका पेशी होती है। असली स्वर रज्जु कंठरेखाछिद्र में खुलते हैं। यहाँ पर अन्य सभी पेशियाँ सीधे या परोक्ष रूप से कंठरेखाछिद्र को बंद रखती हैं तथा असली स्वर रज्जुओं को खींचती रहती हैं।

वेगस तंत्रिका, स्वर यंत्र तंत्रिकाओं की अधः और ऊर्ध्व शाखाएँ स्वर यंत्र को तंत्रिका-प्रेरित करती हैं।
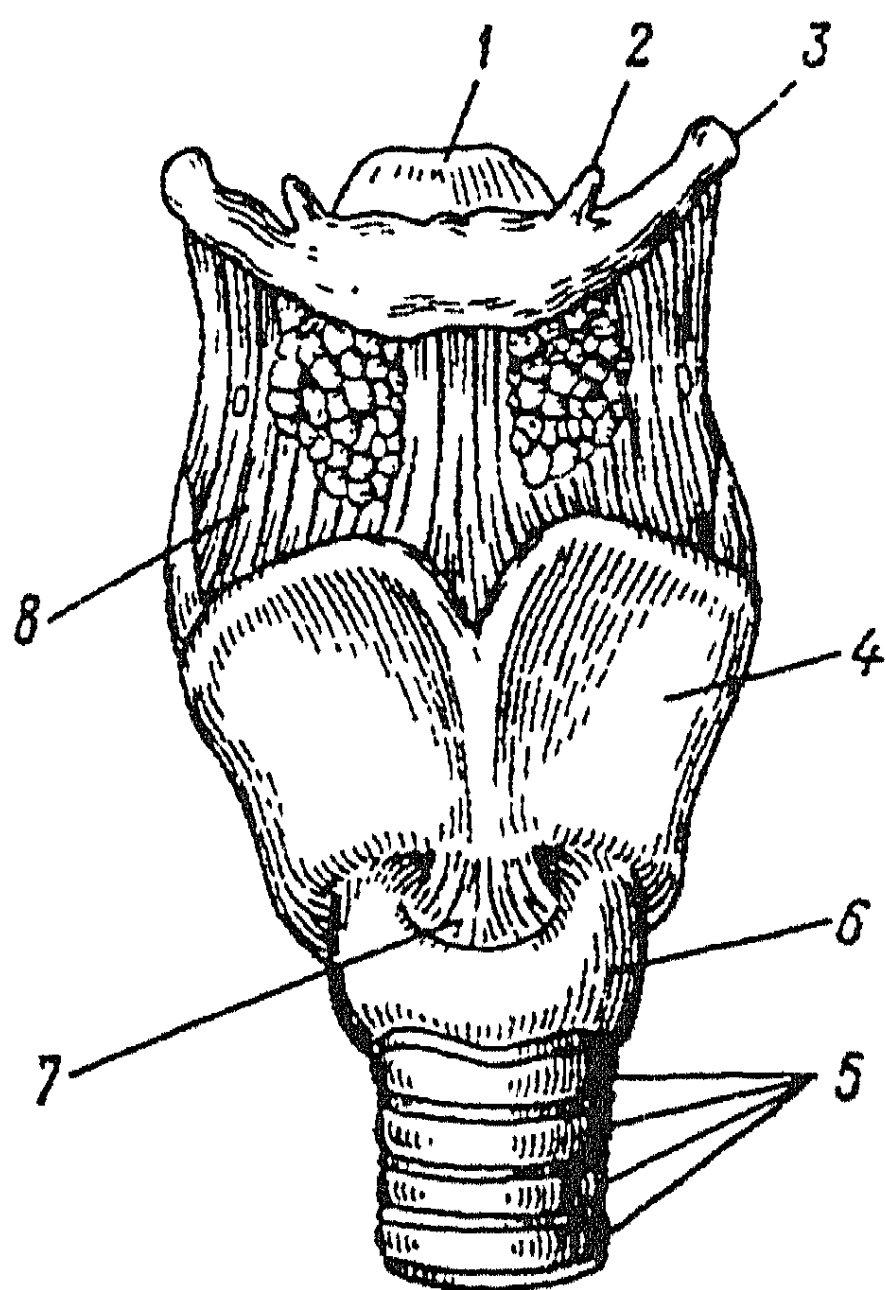
चित्र 99. स्वर यंत्र की स्नायु और उपास्थियाँ (सामने का भाग)।

1. कंठच्छद, 2. और 3. कंठिका अस्थि के छोटे और बड़े शृंग, 4. अवटु उपास्थि, 5. श्वास प्रणाल उपास्थियाँ, 6. मुद्रिका अवटु स्नायु, 8. अवटुकंठिका स्नायु।
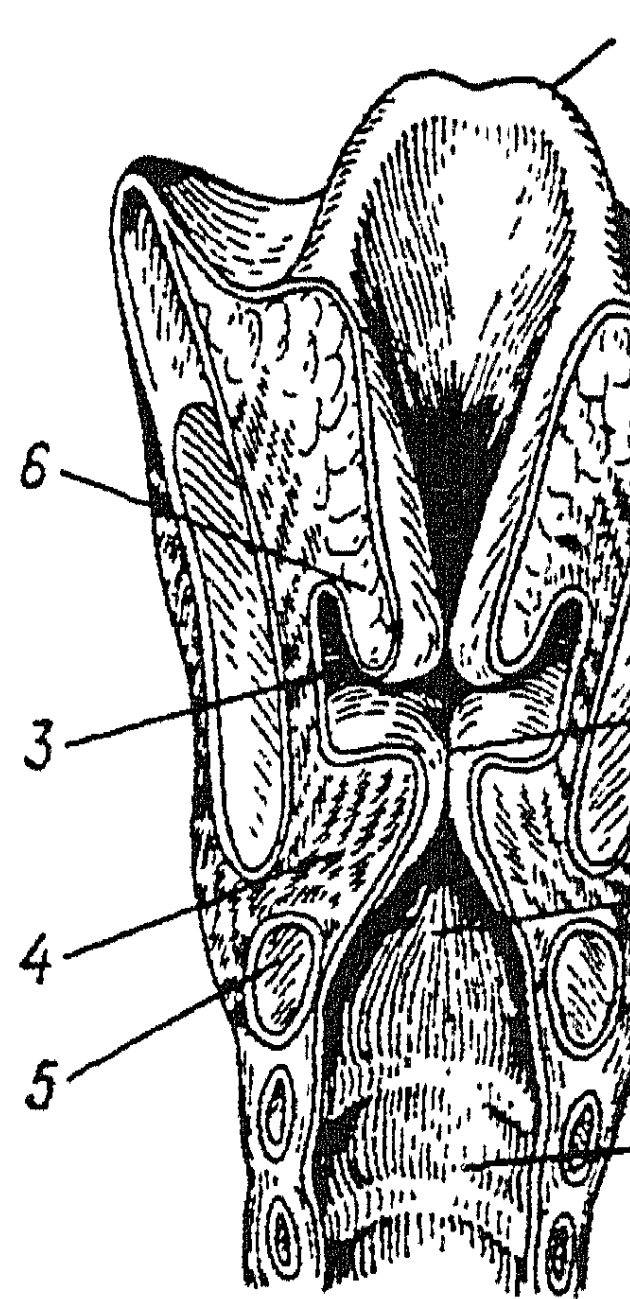
चित्र 100. स्वर यंत्र के मध्य के सामने का भाग।

1. कंठच्छद, 2. अवटु उपसिथ, 3. मोरगैनीनिलय, 4. असली स्वर परतें, 5. मुद्रिाक उपास्थि, 6. नकली पर्त, 7. कंठरेखा छिद्र, 8. उपकंठद्वार अवकाश, 9. श्वास प्रणाल।

स्वरयंत्र की जाँच

स्वर यंत्र केवल श्वसन का ही अंग नहीं है, बल्कि यह ध्वनि उच्चार का भी अंग है। स्वररज्जु की तरंगों और उनके तनाव से आवाज तब पैदा होती है जबकि वायु संकीर्ण कंठ रेखाछिद्र के द्वारा गुजरती है। (चित्र 101)
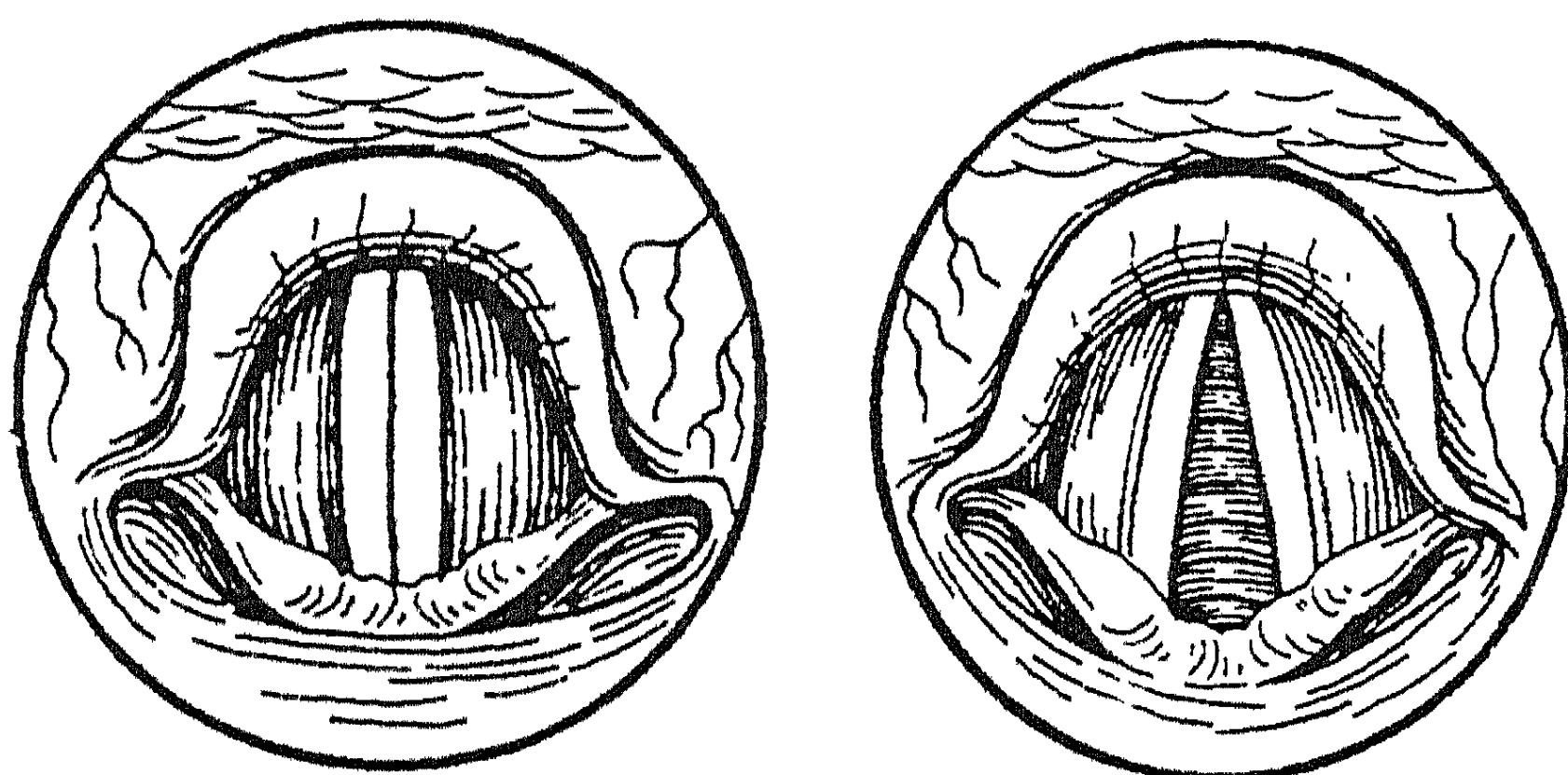
चित्र 101. सामान्य मध्य कर्ण कला।
A. उच्चारण करते समय, B. श्वास लेते समय।

स्वरयंत्र की जाँच प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वरयंत्र दर्शन से की जा सकती है। अप्रत्यक्ष स्वर यंत्र दर्शन में स्वरयंत्र दर्पण को स्वरयंत्र उपकरण के हैंडिल में फिट किया जाता है (चित्र 102)। रोगी को अपनी जीभ बाहर निकालने को कहा जाता है, जिसे एक गाज के टुकड़े से पकड़ कर बाहर खींच लेते हैं (यह क्रिया चिकित्सक या स्वयं रोगी द्वारा की जाती है) (चित्र 103)।
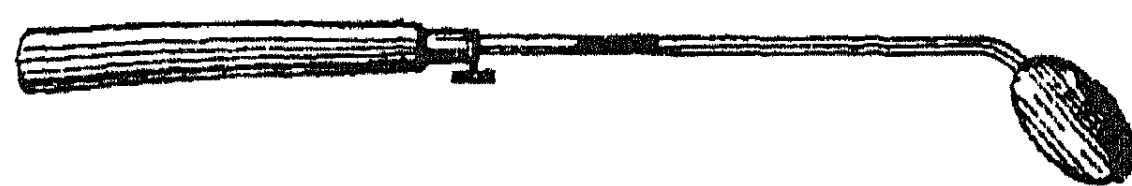
चित्र 102. हत्थे वाला स्वर यंत्र दर्पण।
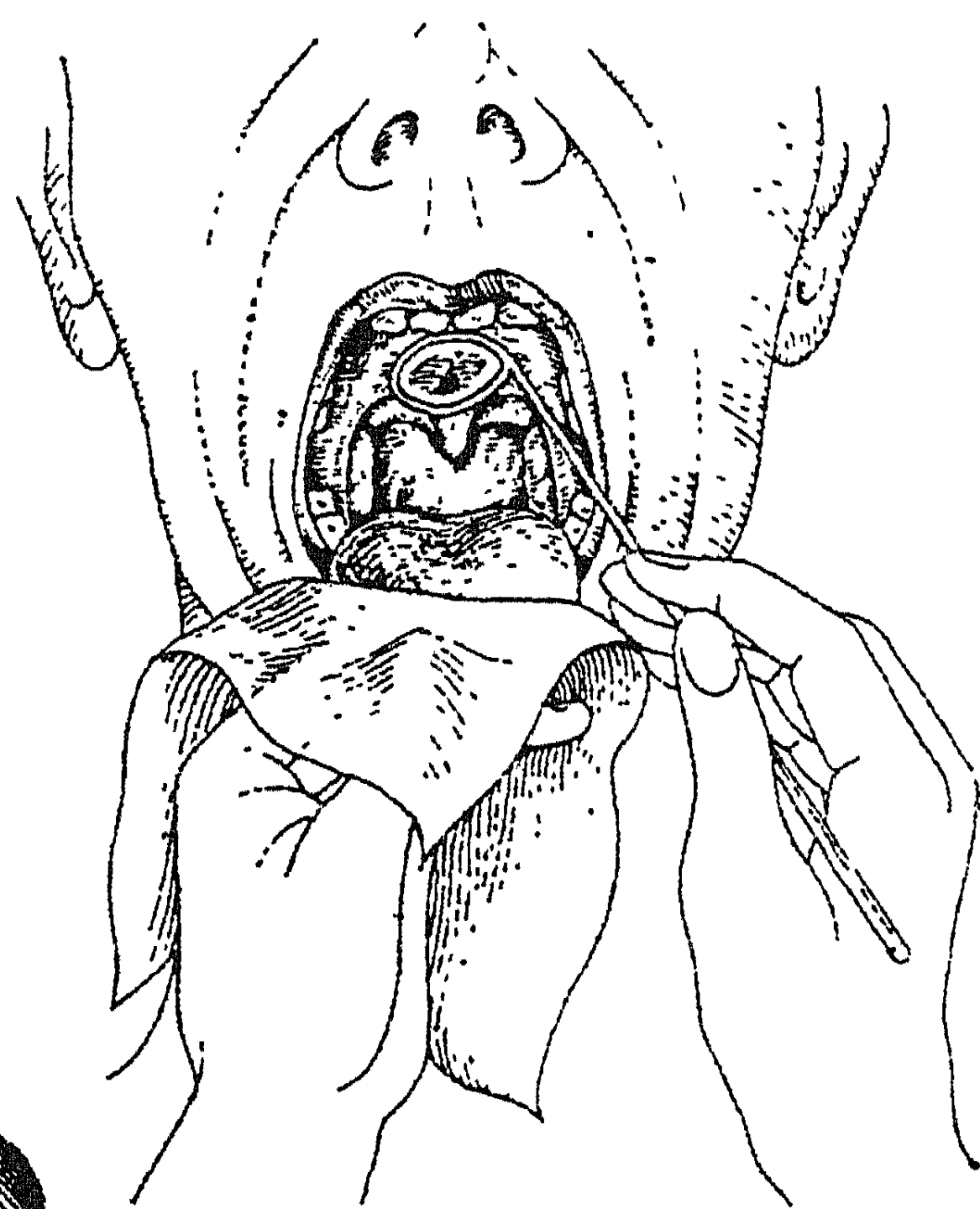
चित्र 103. अप्रत्यक्ष स्वर यंत्र दर्शन।

दर्पण को मुँह में डालने से पहले उसे अल्कोहल के लैंप पर गर्म कर लिया जाता है, जिससे इसमें धुँधलापन न रहें ऐसे स्वर यंत्र दर्पण, जिनके पीछे विशेष चिह्न होता है, उबाले जा सकते है। अन्य दर्पणों को पूतिरोधी घोल में डालकर विसंक्रामित किया जाता है (नाइसोल, कार्बोलिक एसिड और फार्मेल्हिाइड में) विसंक्रामन घोल में 10-15 मिनट तक डालकर किया जाता है। इसके बाद इनका प्रक्षालन उबले हुए जल से करते है और गाज की पट्टी से सुखा लेते हैं।

स्वरयंत्र की जाँच प्रत्यक्ष स्वरयंत्र दर्शन द्वारा की जा सकती है। जीभ को विशेष स्पैचुला द्वारा एक कोण पर कस कर दबाया रखा जाता है। रोगी के सिर को धीरे-धीरे पीछे ले जाते हैं, जिससे एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि मुखगुहिका ग्रसनी और स्वरयंत्र एक सीधी रेखा में होते हैं। इस प्रकार से स्वरयंत्र की जाँच सही ढंग से हैड लैंप की रोशनी में या परावर्ती रोशनी में की जाती है। आधुनिक चिकित्सा में वक्रस्पैचुला की जगह बेहतर उपकरण, विभिन्न डिजाइन के आटोस्कोप लिए जाते हैं।

उपचार की सामान्य विधियाँ और रोगियों की देखरेख

स्वरयंत्र का स्नेहन या आलेप करने के लिए स्वरयांत्रिक प्रोब का प्रयोग करते हैं। यह मृदुल धातु का बना होता है (ताकि आवश्यकता पड़ने पर इसे मोड़ा जा सके) और चूड़ीदार होता है (आवश्यक है)। रुई को प्रोब पर ऐसे लपेटते हैं, जिससे प्रयोग

के समय यह निकल न जाय तथा श्वास नली या श्वसनी में फँस कर दम न घोंट दे।

स्वरयंत्र के सारे हस्तोपचार, इसका स्नेहन और आलेप स्वरयांत्रिक-दर्पण के दृष्टि नियंत्रण में किया जाता है। स्नेहन से कभी-कभी स्वरयंत्र में आकर्ष हो जाता है। स्वरयंत्र की मांसपेशियों के आकर्षी संकुचन से अस्थायी रूप से श्वसन क्रिया कमजोर हो जाती है। इसलिए हस्तोपचार से पूर्व रोगी को बता देना चाहिए कि हस्तोपचार में थोड़ी देर के लिए श्वसन में कठिनाई हो सकती है और इस आकर्ष में किसी प्रकार का खतरा नहीं है।

स्वरयंत्र-सिरिंज (पिचकारी) का प्रयोग संज्ञाहरण और स्वरयंत्र में औषधीय पदार्थ आधान के लिए (चित्र 104) किया जाता है। पिचकारी का धातु का अग्रभाग प्रयोग से पूर्व हर उबाला जाता है। औषधि की थोड़ी मात्रा का (0.5-1.0 मि. लि.) पिचकारी में चूषण करके स्वरयंत्र में आधान किया जाता है। उपचारिका को चाहिए कि वह चिकित्सक को पहले यह फ्लास्क दिखाए जिसमें से औषण का चूपण किया जाता है तथा इसके लेबल को भी चिकित्सक को दिखाए। स्नेहन या आलेप की अपेक्षा आधान अधिक नाजुक हस्तोपचार है और इससे स्वरयंत्र में आकर्ष नहीं होता है।

पाउडर औषधियों का स्वरयंत्र में प्रधमन करने के लिए नासा गुहिका में प्रयुक्त प्रधमक के समान यंत्र का प्रयोग करते हैं। पर इसका अग्रभाग ज्यादा लंबा और टेढ़ा होता है जैसे कि अन्य स्वरयंत्र उपकरण होते हैं। प्रधमक में थोड़ा सा ही पाउडर लेते हैं क्योंकि ज्यादा पाउडर से तो स्वरयंत्र आकर्ष हो सकता है। अन्य सभी हस्तोपचारों की तरह प्रधमन भी दृष्टि नियंत्रण में किया जाता है।
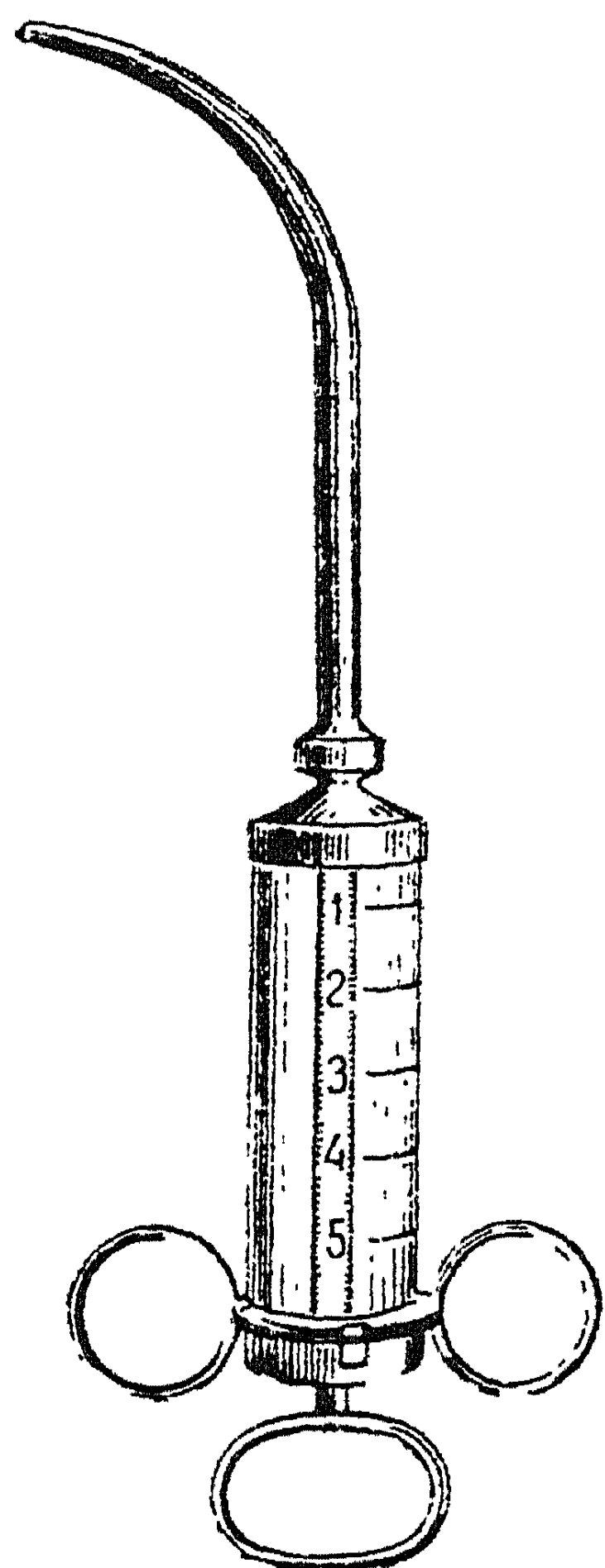
चित्र 104. स्वर यंत्र पिचकारी।
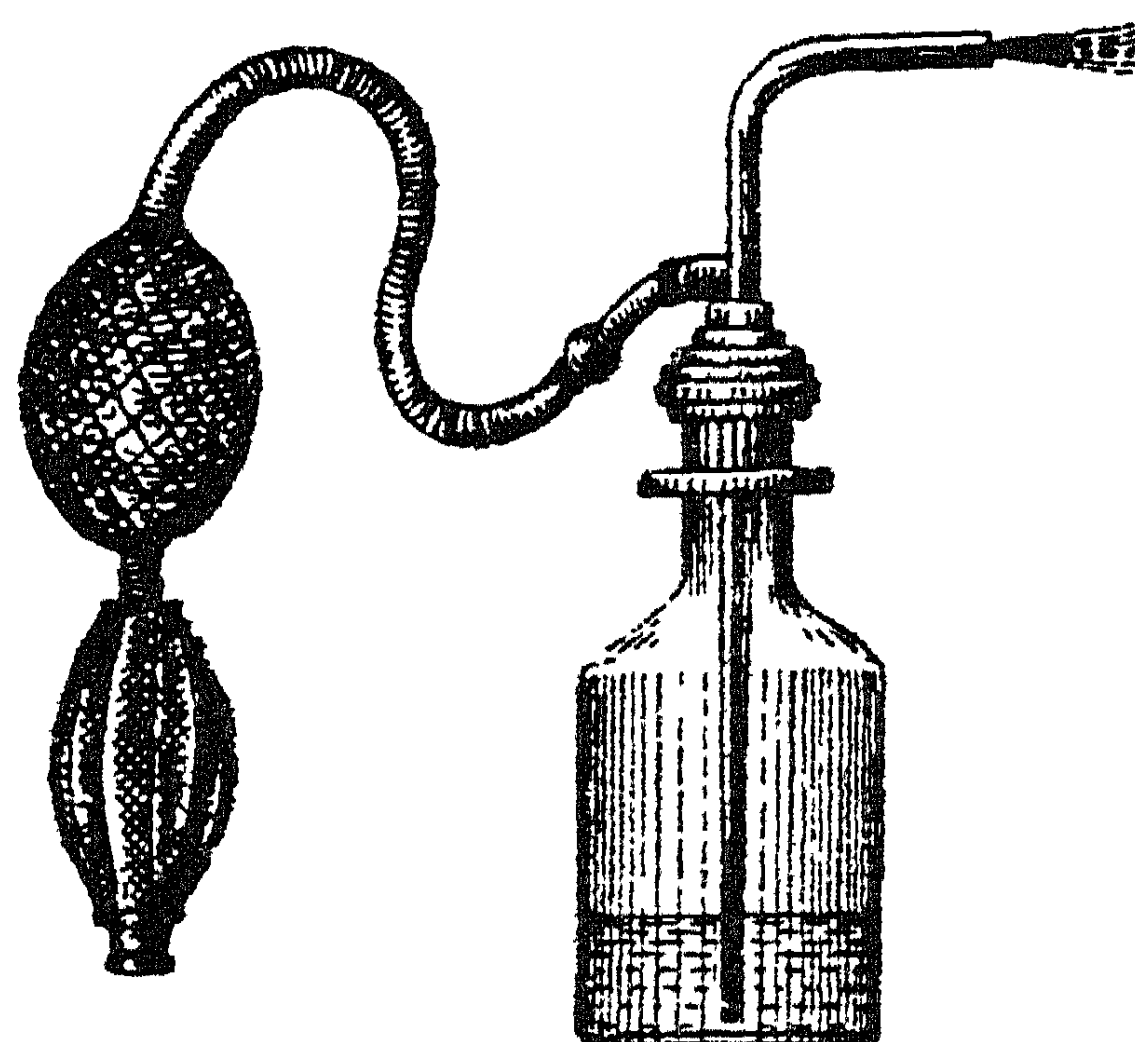
चित्र 105. फुहारित्र।

स्वरयंत्र रोगों के उपचार हेतु पिसी हुई औषधियों के अभिश्वसन के लिए विभिन्न प्रकार के फुहारित्र (चित्र 105) का प्रयोग किया जाता है।
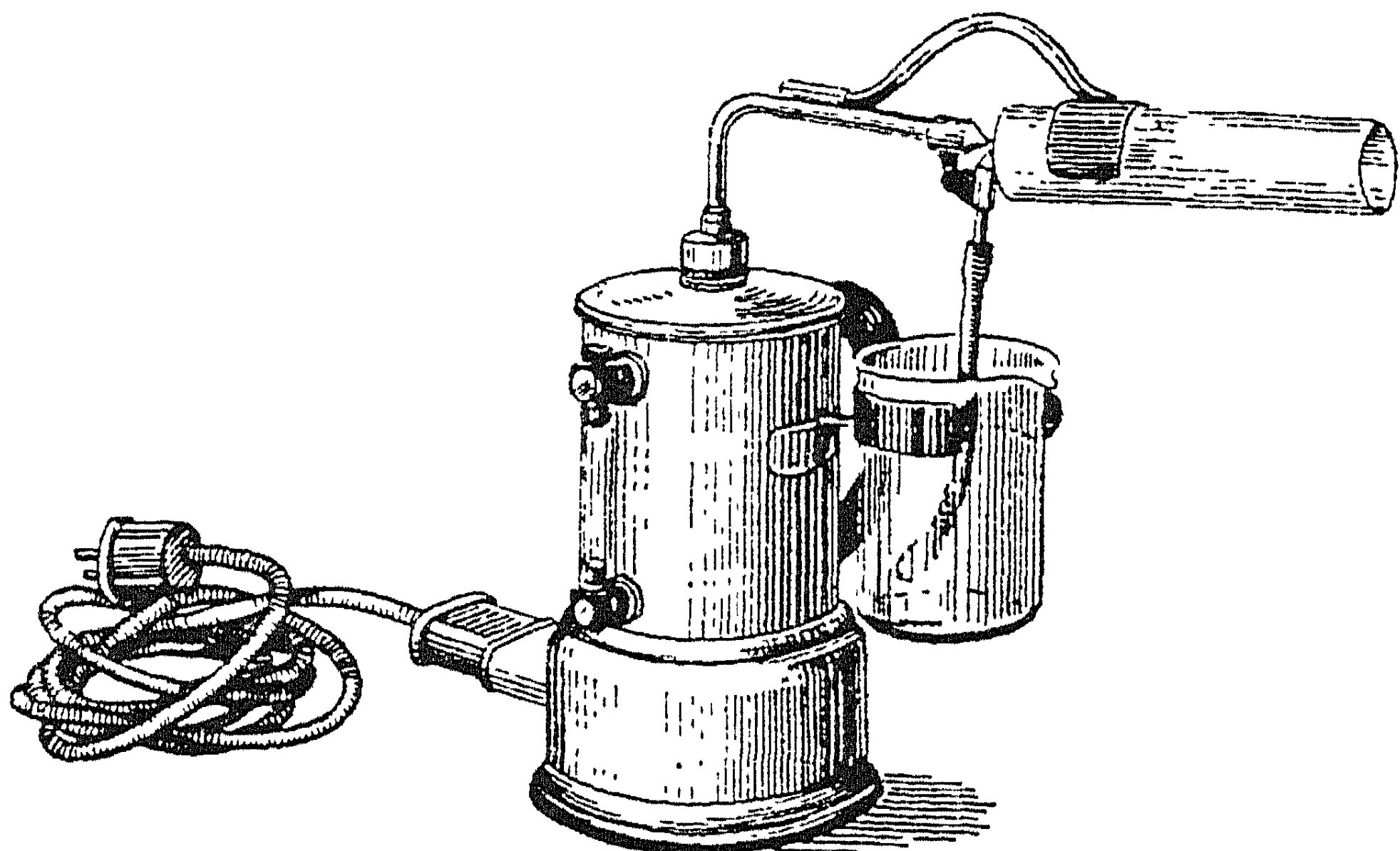
चित्र 106 अभिश्वसन।

वाष्प का अभिश्वसन विशेष उपकरण-श्वसित्र (106) से किया जाता है, जिसमें निम्नलिखित भाग होते हैं : पानी के लिए एक पात्र जिसे अल्कोहल लैंप या विजली की हीटर पर गर्म करते हैं। 90^0 के कोण पर मुड़ी धातु नलिका होती है जो पात्र से ठीक प्रकार से जुड़ी होती है। दूसरी नलिका का एक सिरा औषधि घोल के पात्र में डुबोया जाता है और दूसरा संकरा सिरा पहली नलिका की समतल शाखा को स्पर्श करता है। पात्र में बनने वाली वाष्प पहली नलिका में प्रवेश करके अपने साथ घोल को दूसरी नलिका में ले जाती है तथा रोगी के सामने वाली शीशे की नली से बाहर निकलती है। ऊष्ण वाष्प में मौजूद औषधि का रोगी एक फुहार के रूप में अभिश्वसन करता है।

सही फुहारित्र से स्वरयंत्र और नासा ग्रसनी तथा ग्रसनी में औषधि का फव्वारा किया जा सकता है। रोगी फुहारित्र नलिका के ऊपरी सिरे को अपने मुँह में घुसा लेता है पर बहुत अंदर तक नहीं (अन्यथा वमन परावर्त हो सकता है)। वह फ्लास्क को बाएँ हाथ में पकड़कर दाएँ हाथ से रबर के गुब्बारे को धीरे-धीरे दवाता रहता है। गुब्वारे को एक बार में 20 से 25 बार तक दबाया जाता है। अभिश्वसन के लिए कमरे के तापमान तक ऊष्ण घोल का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी तैलीय घोल का प्रयोग करते हैं जिससे श्लेष्मल कला जल्दी सूख न सके। स्वरयंत्र की शारीरिक विशिष्टता के कारण सभी प्रयुक्त उपकरण वक्र होते हैं। इसलिए प्रयोग से पूर्व हर बार इनका निरीक्षण कर लेना चाहिए, ताकि इनके निकलने वाले भागों के श्वास नली और श्वसनी में घुसने की संभावना न रहे।

स्वरयंत्र रोगों के आम लक्षण

स्वरयंत्र के कुछ भागों में श्वसन विकार एक अशुभ लक्षण है। यह कंठरेखाछिद्र की संकीर्णता के कारण होता है। इससे कभी-कभी स्वरयंत्र शोफ, डिफ्थीरिया और यक्ष्मा रोग हो सकता है। आगंतुक शल्य होने पर गुल्म, कंठरेखाछिद्र में खुलने वाली पेशियों का द्विपार्श्वीय अंगघात हो सकता है। श्वसन में हल्की-सी कमजोरी हो सकती है, जिसका रोगी की सामान्य हालत का कोई प्रभाव न हो; या तीव्र कष्ट श्वास, श्यावता और हृद् क्रिया के विकार भी हो सकते हैं।

आवाज में परिवर्तन : आवाज में तीव्र स्वर रुक्षता या पूर्णस्वरहानि हो सकती है, जोकि स्वरयंत्र रोगियों का आम लक्षण है।

पीड़ा अंतर या बहिर स्वरयंत्री हो सकती है। फलैग्मोनी और व्रणीय क्रिया में तथा तेज सिरे वाले आगंतुक शल्य के स्वरयंत्र में फँस जाने से पर्युपस्थित शोथ पीड़ा होती है।

स्वरयंत्री बलगम सूखा भी हो सकता है और गीला भी। बलगम वहुधा चिरकारी सूखे केटार (जुकाम में) या स्वरयंत्र में तीव्र शोथ के प्रारंभ में होता है। उपकंठद्वार और श्वासनली में सूजन और शोथ होने पर स्वर कर्कश सा हो जाता है।

तीव्र स्वरयंत्र शोथ

स्वरयंत्र का तीव्र शोथ एक स्वतंत्र रोग का रूप ले सकता है या ऊपरी श्वसन पथ, इंफ्लुएंजा, खसरा या स्कारलेट ज्वर जैसे रोग लक्षण होते हैं।

लक्षण : रोगी के गले में खोंच, गदुगुदाने और टीस की शिकायत होती है, जिससे खाँसी आने लगती है। शोथ की तीव्रता के अनुसार रोगी की आवाज रुक्ष हो जाती है। निगरण में पीड़ा होती है। सिरदर्द हो जाती है और कभी-कभी शरीर ताप भी बढ़ जाता है। स्वरयंत्र दर्शन के स्वरयंत्र-श्लेष्मा में विसरित अतिरक्तता, स्वर पटुक का सूजन और लाल होना तथा पटुकों पर श्यान श्लेष्मा और अंतरदर्वाकल्प में श्लेष्मा के जमा होने का पता लगता है।

उपचार : स्वरयंत्र का पूर्ण विश्राम आवश्यक है, अर्थात् रोगी को बोलने की अनुमति नहीं होती है। गले में सेंक (सौलेक्सलैंप, उष्ण संपीडन या गर्म पुल्टिश चढ़ा कर) देते हैं और वाष्प अभिश्वसन (क्षारीय या मेंथाल मिलाकर) तीन से पाँच मिनट के लिए दिन में कई बार किया जाता है।

Rp. Mentholi crystallısati 1.0
Spiritus aethylici 10.0

Sig. 10-20 बूँदें उबलते पानी में गिलास में डालकर भाप का बकारा लेते हैं।

एसिटाइल सैलीसिलिक एसिड की 0.5 ग्रा. की खुराक दिन में दो बार, स्वापन और कफोत्सारक दिए जाते हैं। रोग की तीव्रता में प्रतिजीवी औषधियों का निर्देश दिया जाता है।

Rp. Aethylmorphinıhydrochloritı 0.3
Aq. destillatae 15.0
Sıg. 15-20 बूंदें दिन में तीन बार ली जाती हैं।

चिरकारी स्वरयंत्र शोथ

स्वरयंत्र के पुनरावर्ती और लगातार रहने वाले तीव्र शोथ के फलस्वरूप चिरकारी स्वरयंत्र शोथ हो जाता है। यह रोग अधिकतर मद्यपी, धूमप्रान वाले या स्वर उपकरण का व्यवसायिक अतिश्रम करने वालों (बायक, व्याख्याता, अध्यापक, टेलीफोन केंद्र में काम करने वालों इत्यादि) को होता है।

लक्षण : स्वर रूक्षता, बोलने में थकान, गले में गुदगुदी और खरोंच का संवेदन और स्थायी खाँसी की शिकायत करता है। इस रोग में दीर्घाकलिक आराम और उसके बाद बिगाड़ होता है। स्वरयंत्र दर्शन से पता चलता है कि स्वरयंत्र श्लेष्मा का रंग भूरा-लाल, मोटी परत विशेष रूप से स्वर पटुक कुछ मोटे, तंतुअर्बुद हो जाते हैं। इन्हें गायक पर्विका कहते हैं तथा इनके कारण स्थायी स्वर रूक्षता हो जाती है। स्वरयंत्र और श्वासनली के श्लेष्माकला के शोष में श्लेष्मल पपड़ी और मोटापन हो जाता है जिससे कि पीड़ादायक कफ होता है।

रोकथाम और उपचार : रोग के कारणों को दूर किया जाता है। रोगियों को धूम्रपान और मद्यमान वर्जित कर दिया जाता है तथा स्वर पर अतिश्रम न करने की सलाह दी जाती हैं शरीरवृत्तिक लवण घोल या वनस्पति तेल द्वारा स्वरयंत्र का नियमित आधान करने का निर्देश दिया जाता है तथा श्लेष्मल कला पर सिल्वर नाइट्रेट घोल या आयोडीनग्लीसरीन घोल का आलेप (चिकित्सक द्वारा), क्षारीय (2 प्रतिशत सोडा घोल) और तेल (मेंथाल) अभिश्वसन, स्वरयंत्र का डायथर्मी और खनिज-जलीय उपचार किया जाता है।

स्वरयंत्र में अर्बुद

स्वरयंत्र के अर्बुद सुदम्य या दुर्दम हो सकते हैं। सुदम्य अर्बुद में तंतुअर्बुद, स्वरयंत्र पालिप्स, अंकुरकाबुर्द और वाहिकार्बुद शामिल हैं।

उपचार : सुदम्य अर्बुद का उपचार शस्त्र कर्म से करते हैं। स्थानीय संज्ञाहरक देकर अंतर स्वरयंत्र विधि से दर्पण के द्वारा नियंत्रण करके अर्बुद को निकाल देते हैं (चित्र 107)।
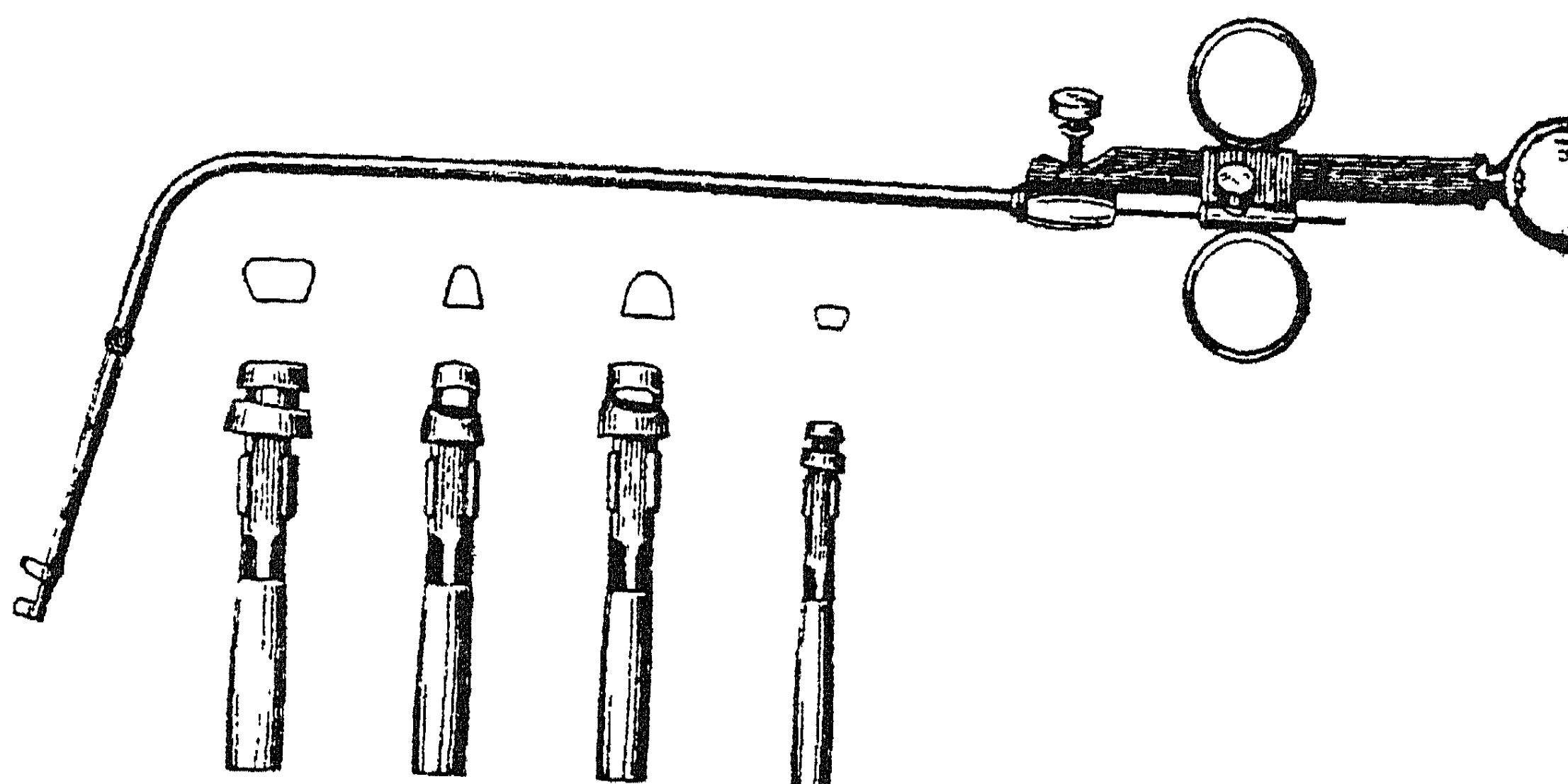
चित्र 107. अकंतरस्वर यंत्री शस्त्रकर्म के लिए वक्र स्वर यंत्री पिचकारियाँ और उनके लिए सिरों का सेट।

कार्सीनोमा बहुधा 40 वर्ष की आयु के पुरुषों को होता है। बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के ही धीरे-धीरे स्वर रुक्षता होने लगती है (इससे पूर्व जुकाम या शोथीय संक्रामण रोग नहीं होते हैं)। इससे स्वरयंत्र के कार्सीनोमा होने का संदेह होता है, विशेषकर बड़ी उम्र के लोगों में। अर्बुद बहुधा धीरे-धीरे बढ़ता है। स्वर रुक्षता बढ़ती जाती है और पूर्ण स्वर हानि लगती है।

निदान : अर्बुद का, विशेषकर इसके पहले चरण में, निदान करना कठिन है। साथ ही, जितनी जल्दी निदान हो सके उपचार उतना ही अधिक कारगर होता है। इसलिए किसी भी व्यक्ति में रोग निरोधी परीक्षण के समय स्वरयंत्र कार्सीनोमा के संदेहात्मक संकेत मिलते ही उपचारिका को चाहिए कि रोगी को कर्णनासाकंठविज्ञानी केपा स भेजें।

उपचार : रोग जिस चरण में हो, उसके अनुरूप ही उपचार दिया जाता है। यह उपचार शस्त्रकर्मी, एक्सरे किरणन, रेडियो चिकित्सा या दोनों मिश्रित हो सकती हैं।

शस्त्र कर्म के पूर्व और पश्च की देखरेख : दुर्दम अर्बुद के लिए स्वरयंत्र को पूर्ण या आंशिक रूप से निकालने के लिए शस्त्र कर्म किया जाता है पर इससे पूर्व रेडियो चिकित्सा की जाती है।

सार्वदैहिक स्वास्थ्यवर्धक उपाय (बार-बार रक्त का आधान, विटामिन और उच्च कैलोरी भोजन) शस्त्रकर्म से पूर्व दिया जाता है।

जिन रोगी को स्वरयंत्र का उच्छेदन करना है, उसकी मानसिक स्थिति पर विशेष ध्यान देना चाहिए। चिकित्सा को रोगों के साथ, आश्वासनात्मक बातचीत करनी

चाहिए। सभी कर्मचारियों को रोगी के प्रति ध्यान रखने का भाव भी बहुत जरूरी है। रोगी को शस्त्र कर्म से तीन-चार दिन पहले से ब्रोमाइड स्वापक और यदि आवश्यक हो तो हृद्उद्दीपक औषधियाँ दी जाती हैं।

शस्त्र कर्म से पूर्व संध्या को रोगी को स्नान कराते हैं तथा संज्ञाहरण तथा चिकित्सक की तैयारी शुरू हो जाती है।

शस्त्र कर्म के बाद में होने वाले उपद्रवों, विशेषकर रक्ताधिक्य न्यूमोनिया की रोकथाम के निरोध, की ओर विशेष ध्यान दिया जाता हैं शस्त्र कर्म के तीन-चार घंटे के बाद उपचारिका रोगी को करवट बदलने में सहायता देती है तथा अगले पाँच से सात दिन तक नियमित रूप से करवट बदलने में सहायता करती रहती है जब तक शरीर का तापमान सामान्य नहीं हो जाता है। चिकित्सक के निर्देश पर रोगी के सीने पर चषनक की जाती है ताकि न्यूमोनिया और रक्ताधिक्य श्वसनी शोथ न होने पाए। रोगी के मुँह को नियमित रूप से गाज को बोरिक एसिड के घोल या पोटैशियम परमैगनेट के घोल में भिगोकर साफ किया जाता है। विश्राम तथा तरल खाद्य पदार्थ के कारण आंतों में अतानता और कब्ज हो जाती है। इसलिए यह देखना जरूरी है कि रोगी की आंतें साफ हुई हैं या नहीं, अन्यथा उसे एनीमा देना पड़ता है।

शस्त्र कर्म के उपरांत रक्तस्राव हो सकता है तथा श्वसन पथ में पहुँच सकता है। इसलिए शस्त्र कार्मोपरांत पहले कुछ दिनों तक पट्टी को ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिए। श्वास प्रणाल नलिका में एकत्रित होने वाले रक्त के थक्कों और श्लेष्मा की सफाई नियमित रूप से होती रहनी चाहिए।

शस्त्र कर्म के बाद स्वरयंत्र की सिलाई करने के पहले एक रबर की नलिका नाक के द्वार से पेट में डाली जाती है। इस नलिका के द्वारा शस्त्रकर्मोपरांत काल में रोगी को भोजन देते हैं। पोषक मिश्रण भी इसी नलिका के द्वारा दो-तीन सप्ताह तक देते हैं। दलिया जैसा गाढ़ा भोजन थोड़ा-थोड़ा करके (एक बार में 250 घन से.मी.) दिन में पाँच-छह बार देते हैं। शस्त्रकर्मोपरांत काल में अधिक लालास्राव होने के कारण पर्याप्त मात्रा में तरल पदार्थ देना आवश्यक है। भोजन स्वादिष्ट और साथ ही अधिक कैलोरी वाला तथा आवश्यक मात्रा में विटामिनयुक्त होना चाहिए।

स्वरयंत्र का यक्ष्मा रोग

स्वरयंत्र का यक्ष्मा रोग बहुधा फुफ्फुसी यक्ष्मा के रोगी को होता है। यह संक्रामण स्वरंतंत्र में जमा तथा चिरकारी स्वरयंत्र अभिष्यंद में त्वचा के छिलने के स्थान, विसदारों में थूक के जमने आदि से हो जाता है।

लक्षण : स्वरयंत्र के यक्ष्मा रोग से पीड़ित रोगी को बार-बार स्वरयंत्र का अभिष्यंद अकारण ही होता है और यह रोग बहुत देर तक रहता है।

उपचार : प्रतिजीवाणु संयोगों के प्रयोग से अब कई प्रकार के यक्ष्मा तथा पहले असाध्य समझे जाने वाले (स्वरयंत्र यक्ष्मा के व्रणीय रूप) रोगों से भी मुक्ति मिलना संभव हो गया है। अब सारे सोवियत संघ में प्रतियक्ष्मा औषधालयों का विशाल तंत्र है, जिमनें यक्ष्मा रोगी बराबर चिकित्सक की निगरानी में रहते हैं। फुफ्फसी यक्ष्मा से पीड़ित सभी रोगियों की निरोधक जाँच कर्णकंठनासाविज्ञानी द्वारा की जाती है जिससे कि उन्हें आवश्यक उपचार जल्दी दिया जा सके।

यक्ष्मा रोग से पीड़ित रोगी की देखभाल में स्वच्छ-स्वास्थ्य विधान के निर्धारित नियमों को बताना भी उपचारिका का कर्त्तव्य है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह कफोत्सरण विशेष थूकदान में ही करे जिसमें विसंक्रामित घोल पड़ा हो क्योंकि रोगी का बलगम दूसरों के लिए रोग संचरण का स्रोत होता है। रोगियों के कमरे में सामान्य तापमान हो; हर मौसम में कमरे हवादार होने चाहिए। रोगियों को चिकित्सक द्वारा निर्देशित औषधि और भोजन लेने की हिदायत देनी चाहिए। उपचारिका को चाहिए कि वह रोगी को समझाए कि उसे अपनी आवाज पर प्रतिबल नहीं डालना चाहिए।

स्वरयंत्र, श्वासनली और श्वसनी में आगंतुक शल्य

विभिन्न आगंतुक शल्य स्वरयंत्र, श्वासनली और श्वसनी में मुँह से श्वास लेने पर एकाएक अंदर प्रवेश कर जाते हैं। ये व्यक्तियों के चिल्लाने, बात करने, हँसने और कभी-कभी खाते समय भी मुँह से प्रवेश कर सकते हैं। यह विशेष कर बच्चों में होता है।

लक्षण और अनुक्रम : स्वरयंत्र या श्वसनी में आगंतुकशल्य के प्रवेश करने का मुख्य लक्षण पुनरावर्ती आकर्षी खाँसी के साथ कष्ट श्वास है। जब कोई आगंतुक शल्य स्वर-पुटकों के बीच चिपक जाता है तो कष्ट श्वास के साथ-साथ एकाएक स्वर हानि या स्वर रूक्षता हो जाती है। आगंतुक शल्य के एक श्वसनी में (बहुधा दाहिने में) होने से उसी तरफ के फेफड़े की श्वसन ध्वनि कम हो जाती है और परिताड़न-ध्वनि अनुनादी और सीने के उसी ओर से श्वसन निष्क्रमण कठिन होता है। श्वसनी में आगंतुक शल्य के अधिक समय तक रह जाने से दीर्घकालिक न्यूमोनिया, विस्फार, फेफड़े में व्रण और यहाँ तक कि गैंग्रीन तक हो जाता है। इन रोगों को गलती से स्वरयंत्र रोग समझा जाता है। फेफड़े के एक्सरे चित्रण से धातु के आगंतुक शल्य का निदान हो जाता है।

उपचार : आगंतुक शल्य को स्वरयंत्र, श्वास नली और श्वसनी दर्शन करके चिकित्सक द्वारा निकाला जाता है। तीव्र श्वसन उपद्रव होने पर आपत्कालीन श्वास नली उच्छेदन करके आगंतुक शल्य को निकाला जाता है।

निरोध और देखरेख : अभिभावकों को यह चेतावनी दी जाती है, कि बच्चों

के लिए छोटी खेलने वाले चीजें (सिक्के, दाने, बटन, सूर्यमुखी, तरबूज, कद्दू, मटर और फलियों के बीज) बहुत खतरनाक हो सकते हैं। उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये चीजें बच्चों की पहुँच से दूर रहें। बच्चे के लिए बनाए जाने वाले भोजन में भी सावधानी बरतनी चाहिए (हड्डियाँ, फलों की गुठलियाँ, बीज आदि निकाल देना चाहिए)।

श्वसन पथ में आगंतुक शल्य के संदेह होने पर या उपरोक्त बताए गए लक्षणों के होने पर उपचारिकाओं को चाहिए कि वे बच्चे को फौरन कर्णनासाकंठविज्ञानी के पास भेजें, भले ही रोगी को कोई तकलीफ न होती हो।

शिशुओं में क्रूप-विषाणुकृत स्वरयंत्र श्वास प्रणाल शोथ (इन्फ्लूएंजाक्रूप)

तीव्र विषाणु श्वसन-पथ संक्रमण (एंफ्लूएंजा, परा-इंफ्लूएंजा, कंठशालूक विषाणुओं के कारण हुए रोग) के उपद्रव के फलस्वरूप यह रोग एक से तीन साल की उम्र तक के बच्चों को होता है। और यह शिशुओं की एक अत्यंत तीव्र रोगजनक स्थिति है जिसके तत्काल सही उपचार की आवश्यकता है।

स्वरयंत्र श्लेष्मा में विसरित अतिरक्तता और उपकंठद्वार क्षेत्र में सूजन होने से तीव्र स्वर ग्रसनी संकीर्णता चंद घंटों से लेकर एक या दो दिन में हो जाती है और बहुधा यह एकाएक रात में बहुत तेजी से होती है तथा दिन में संकीर्णता में कुछ आराम मिलता है पर रात्रि में फिर तीव्र हो जाती है।

स्फूर्जक होने के साथ-साथ इन्फ्लूएंजाक्रूप में सार्वदेहिक विषालुता के लक्षण होते हैं। शरीर तापमान बढ़ जाता है और अगतिका, बहुधा वमन, सारे ऊतकी अंगों में तीव्र रोग और कभी-कभी मस्तिष्क शोफ तक हो जाता है। मस्तिष्क शोफ के कारण श्वासावरोध से मृत्यु तक हो सकती है। कंठशालूकविषाणुओं द्वारा होने वाली परा-इन्फ्लूएंजा संकीर्णता से सार्वदेहिक विषालुता की अभिव्यक्ति होती है।

बच्चों की आयु स्वरयंत्र और श्वास नली की संकीर्ण अवकाशिका और रोगजनक शारीरी परिवर्तन (हल्के जुकाम से लेकर श्लेष्मलकला का तीव्र परिगलन) का प्रभाव स्वरयंत्र की संकीर्णता पर पड़ता है।

अभिष्यंदी रूप बहुत अधिक होता है तथा अधिकतर ठीक हो जाता है। रोग बढ़कर फाइब्रिनी तथा फाइब्रिनी परिगलित रूप ले लेता है। दीर्घकालिक रोग में द्वितीयक स्ट्रेप्टोस्टेफाइलोकोकल संक्रमण से बहुधा श्लेष्मल कला की गहन फ्लेग्मोनी परिगलित विक्षति होती है जो कि स्वरयंत्र और श्वास-प्रणाल की उपास्थियों तक पहुँच जाती है। फाइब्रिना परिगलित रूप बहुत कम होता है। विशेषकर तीव्र होने पर यह रोग प्राणघातक भी हो सकता है। स्वरयंत्र के रोगी होने पर तीव्रता का पता प्रत्यक्ष स्वरयंत्र दर्शन से लगता है और कभी-कभी श्वास प्रणाल और श्लेष्मा पर भी रोग के प्रभाव

का पता लगता है। इससे श्लेष्मा का प्रभाव के लक्षण का पता लगता है। इन तथा सामान्य लक्षणों के आधार पर अनुकूल उपचार किया जा सकता है।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए उपचारिका बच्चे के चिकित्सालय में भर्ती होते ही स्वरग्रसनी दर्शन के लिए सभी उपकरण तैयार कर लेती है। स्वरयंत्र प्रवेश द्वार तथा अवकाशिका में भरे हुए गाढ़े श्यास श्लेष्मा का जल्दी-से-जल्दी चूषण कर लेना चाहिए।

संकीर्णता के कोई लक्षण मिलने पर व्यक्ति को फौरन चिकित्सालय के विशेष विभाग में भर्ती किया जाता है। प्रतिवाइरस कारक विस्तृत, स्पैक्ट्रम प्रतिजीवी गामा, ग्लोबीन और हृदउद्दीपक औषधियों का निर्देश दिया जाता है। अति सुग्राहिताकारक औषधियों (कार्टिको स्टेरायड, प्रतिहिस्टामिनी, कैल्शियम ग्लूकोनेट या कैल्शियम क्लोराइड) का अंतःशिरा द्वारा आधान किया जाता है। यदि शिशु को ऐसे पृथक कक्ष में रखना संभव न हो जिसमें हवा में आक्सीजन प्रचुर मात्रा में हो, तो ऐसे उपाय करने चाहिए कि उसे आर्द्र और उष्ण आक्सीजन मिलती रहे, भले ही यह 2 प्रतिशत सोडियम बाइकार्बोनेट घोल वाले फ्लास्क से होकर आए।

प्रतिक्षोभ उपाय के रूप में सीने पर सरसों की पुल्टिश और सरसों द्वारा पादस्नान करना चाहिए।

यदि शस्त्र कर्म रहित तरीकों से कुछ घंटों में रोग में फर्क न पड़े और संकीर्णता बढ़ती जाय तो श्वास-प्रणाल छिद्रीकरण की सलाह दी जाती है (संकीर्णता के दूसरे और तीसरे चरण में)। इससे साँस आने लगती है तथा श्वासनली और श्वसनी में से श्याम बलगम का चूषण हो जाता है तथा श्वास नली में आक्सीजन और औषधियाँ पहुँच सकती हैं। यदि आवश्यक हो, तो श्वसन में सहायता हेतु मशीन लगा दी जाती है।

वाइरस हेतुकी वाली स्वरयंत्र-संकीणता होने पर श्वास प्रणाल छिद्रीकरण नलिका डालने के बाद करना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि श्वसन-पथ की शोथीय श्लेष्मा कला में अनजाने ही चोट लग सकती है।

ऐसे रोगियों के उपचार और देखरेख में उपचारिका की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। कक्ष में आवश्यक पर्यावरणीय स्थिति (अति आर्द्र ऊष्ण वायु) बनाए रखने की जिम्मेदारी के अलावा उपचारिका को रोगियों की सतत देखरेख और ठीक ढंग से चिकित्सक के निर्देशों का पालन भी करना चाहिए। सरसों की पुल्टिश लगाना तथा नियमित रूप से (प्रत्येक 10-15 मिनट पर) श्वास नली में 2 प्रतिशत सोडा घोल या हाइड्रोकारटीजोन घोल (25 मि. ग्रा. को 20 मि. ली. शारीरी लवण घोल में मिलाकर) की 8 से 10 बूँदें डालनी चाहिए। श्वासनली अवकाशिका से श्लेष्मा का चूषण नियमित रूप से चूषक द्वारा करना चाहिए (नीचे देखिए)। आवश्यकता पड़ने पर श्वास नली में प्रोटीयो-लायिटक एंजाइम का आधान किया जाता है या बलगम में श्यानता घटाने के लिए एयरोसोल दिए जाते हैं।

स्वरयंत्र की तीव्र और चिरकारी संकीर्णता

स्वरयंत्र की तीव्र संकीर्णता जल्दी ही (कभी-कभी एकाएक) अवकाशिका का संकीर्णन कर देती है।

स्वरयंत्र के संकीर्णन के कई कारण हो सकते हैं : कंठ रेखा छिद्र में खुलने वाली मांसपेशी का अंगघात (टायफस से या गलगंड के शस्त्र कर्म के वाद), आगंतुक शल्य स्वरयंत्र की शोथीय सूजन, विसर्प में होने वाली संकीर्णता, स्वरयंत्र में फ्लेग्मोन, इंफ्लूएंजा, तीव्र स्वरयंत्र वाला अभिष्यंद जिसमें कूट-क्रूप के रूप में उपकंठ द्वारा प्रभावित हो। कूट-क्रूप अधिकतर रक्ताल्पता वाले शिशुओं में होता है, जिनमें विभिन्न प्रकार के पोषक विकार होते हैं।

कूट-क्रूप (धर्धर स्वर यंत्राकर्ष) अधिकतर तीव्र नासाशोथ और इंफ्लूएंजा के बाद होता है। इसका दौरा एकाएक, अधिकतर रात में, जवकि बच्चा सो रहा हो, पड़ता है। बच्चा भौंकने जैसी आवाज से खाँसता हुआ जाग जाता है और उसे तीव्र श्वासकष्ट हो जाता है। अभिश्वसन के तीव्र विकार होने पर शिश श्यान और अत्यधिक बेचैन हो जाता है और कभी-कभी आक्षेप (एठन) हो जाता है। श्वासकष्ट का दौरा बहुधा 30 मिनट तक रहता है और कभी-कभी एक या दो घंटे तक रह जाता है। पर रात में इसकी पुनरावृत्ति कई वार होती है। इस रोग में स्वर-हानि नहीं होती है, क्योंकि शोथ उपकंठ द्वार में स्थानिक होता है (चित्र 108)। श्वासकष्ट के एकदम तेज होने का कारण है—शिशुओं के स्वरयंत्र और श्वास नली में अवकाशिता का छोटा होना।
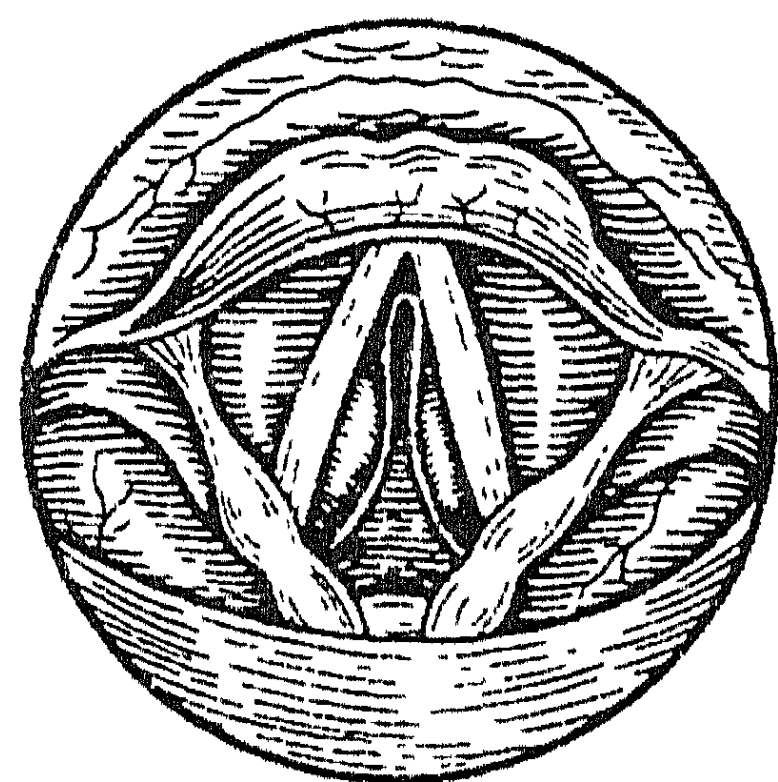
चित्र 108. कूट क्रुप; स्वरयंत्री उपकंठद्वार अवकाश की श्लेष्मल कला में शोफ।

स्वरयंत्र की डिफ्थीरिया (श्लेष्मा क्रूप)। रोगी धीरे-धीरे हवा की कमी महसूस करता है। और धीरे-धीरे श्वासकष्ट बढ़ने लगता है तथा साथ में स्वर हानि भी हो जाती है। सार्वदैहिक हालत गंभीर हो जाती है तथा विषालुता के लक्षणों की अतिरिक्त जाँच करके डिफ्थीरिया और कूट-क्रूप के भेद को जाना जा सकता है।

स्वरयंत्र शोथ में होने वाले श्वासकष्ट के विशिष्ट लक्षण होते हैं; स्वरयंत्र श्वासकष्ट की संकीर्णता के साथ खर्राटेदार श्वसन होता है तथा साँस लेने में कठिनाई होती है, जो कि श्वास नली और श्वसनी की संकीर्णता से भिन्न होती है, जिसमें साँस निकालने में कष्ट होता है। आक्सीजन की आपूर्ति की कमी को पूरा करने के लिए अभिश्वसन धीमा और गहरा होना चाहिए। बाद में संकीर्णता बढ़ने पर प्रत्येक अभिश्वसन में स्वरयंत्र तेजी से ऊपर-नीचे चलने लगता है। प्रश्वसन में अधिजत्रुक

और अंतरापार्शुका स्थान में काफी आकुंचन होता है। इसके बाद अनिप्टसूचक श्वासारोध के लक्षण होते हैं : त्वचा का श्यान होना, खुली और धीमी साँस चलना अचेत हो जाना। यदि समय से चिकित्सा सहायता न मिले तो कई खाली साँस आने के बाद अभिश्वसन तेज हो जाता है, साँस लेना बंद हो जाता है और जल्दी ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। चिरकारी स्वरयंत्र संकीर्णता (कार्सीनोमा, स्क्लेरोमा, यक्ष्मा, स्वरयंत्र उपस्थियों का पयु पस्थिशोथ इत्यादि) में श्वासकप्ट धीरे-धीरे बढ़ता है। आक्सीजन लेने की क्षमता घट जाने से ऐसा होता है।

रोगी की देखरेख और प्राथमिक सहायता : स्वरयंत्र का शोथ, और विशेपकर शिशुओं में, होने पर तत्काल चिकित्सीय सहायता की आवश्यकता होती है। वच्चे को फौरन बिठा कर कमरे में गीली चादरें लटका कर हवा में नमी लाते हैं। उप्ण पादक स्नान कराया जाता है तथा उपरिस्थ पिंडिका मांसपेशी पर सरसों की पुल्टिश चढ़ाई जाती है। स्वेदोत्पाकद औषधियों का निर्देश दिया जाता है। ऐसा वहुत कम होता है कि प्रति क्षोभक उपायों और प्रशांतक देने के उपरांत भी कूट-क्रूप से पीड़ित शिशु को आराम न पहुँचे। परंतु इससे कूट-क्रूप में आराम न मिलने पर नलिका डालकर श्वास-प्रणाल का छेदन किया जाता है।

स्वरयंत्र के शोथ से पीड़ित वयस्कों में भी प्रतिक्षोभक उपाय (उष्ण पादप स्नान, सरसों की पुल्टिश) किए जाते हैं। श्यान बलगम को द्रवित करने के लिए क्षारीय अभिश्वसन की सलाह दी जाती है। असली क्रूप का उपचार तत्काल डिप्थीरिया प्रतिजैव विष का इंजेक्शन देकर किया जाता है।

उपचार : स्वरयंत्र की संकीर्णता होने पर श्वासावरोध के आराम और संकीर्णता के कारणों को दूर करने के लिए आपदकालीन उपाय किए जाते हैं। सभी शोथीय प्रक्रियाओं में प्रतिजीवी औषधि का अंतरापेशीय इंजेक्शन तथा एड्रीनाल कोर्टेक्स के योग (कोर्टीजोन या इसी प्रकार की अन्य औपधियाँ) जितनी-जितनी जल्दी हो सके दिए जाते हैं। तीव्र सकीर्णता होने पर केवल नलिका प्रवेशन और श्वास-प्रणाल उच्छेदन ही आपादकालीन उपाय है, जो जितना जल्दी हो सके, करना चाहिए ताकि आक्सीजन की कमी से होने वाली हृद्क्रिया अधिक कमजोर न हो जाय और सारे शरीर में कमजोरी न होने पाए।

श्वास-प्रणाल-श्वसनी-दर्शन

श्वास प्रणाल-श्वसनी दर्शन स्वरयंत्र की सीधी जाँच करने का एक विकसित कदम है। श्वास-प्रणाल और श्वसनी की जाँच करने के लिए एक धातु नलिका को श्वसन-पथ के जरिए श्वसनी की द्वितीय और तृतीय शाखा में प्रवेश किया जाता है। श्वसनी दर्शन सेट में (चित्र 109) प्रकाश स्रोत वाला हैंडिल (1), श्वसनी दर्शन नलिकाए (2), सहायक और शस्त्र-कर्म के उपकरण : श्लेष्मा और रक्त को निकालने वाली
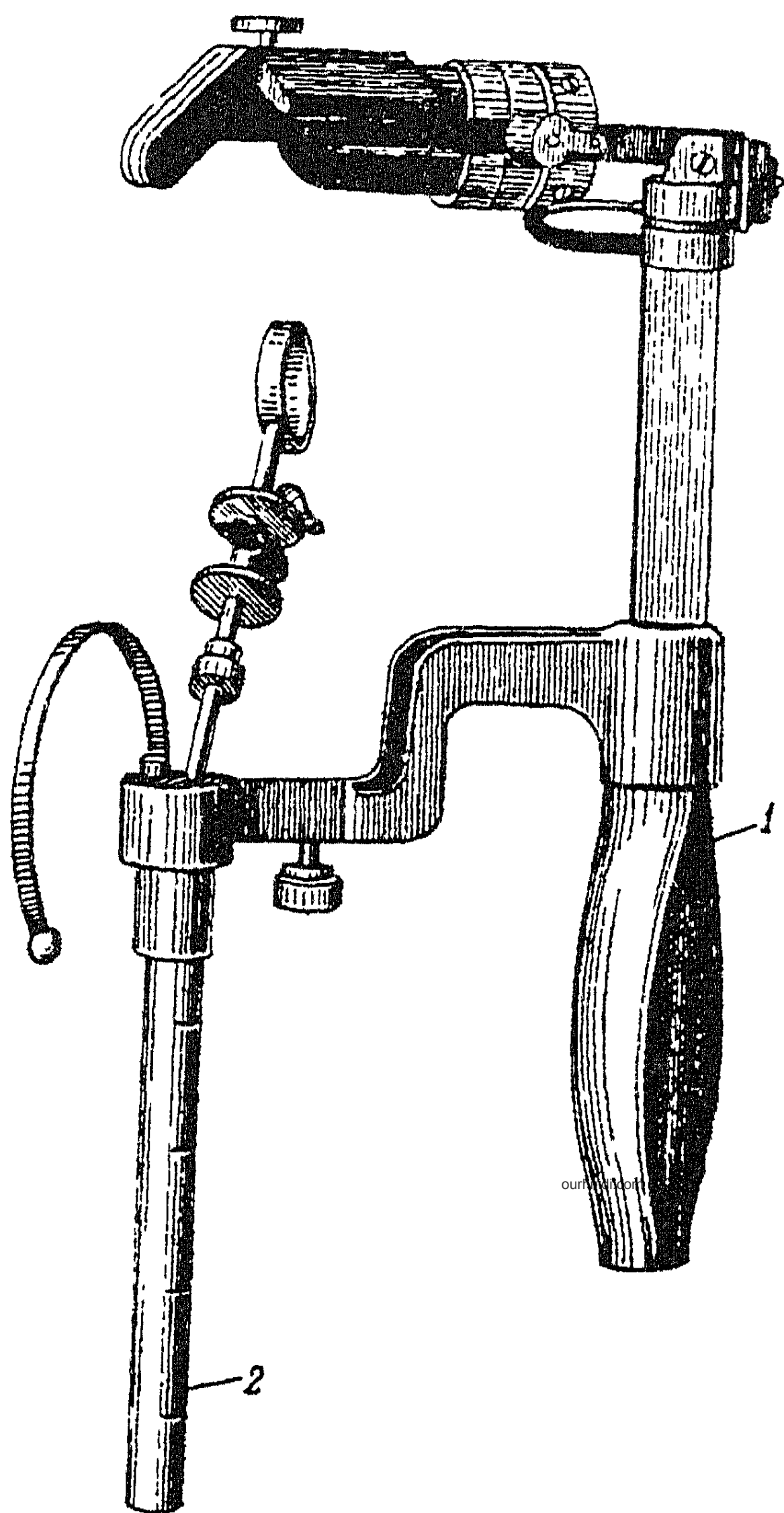
चित्र 109. श्वसनोदर्शी का संदंश जो कि नलिका में घुसाया गया है (इसकी पाठ में चर्चा की गई है)।
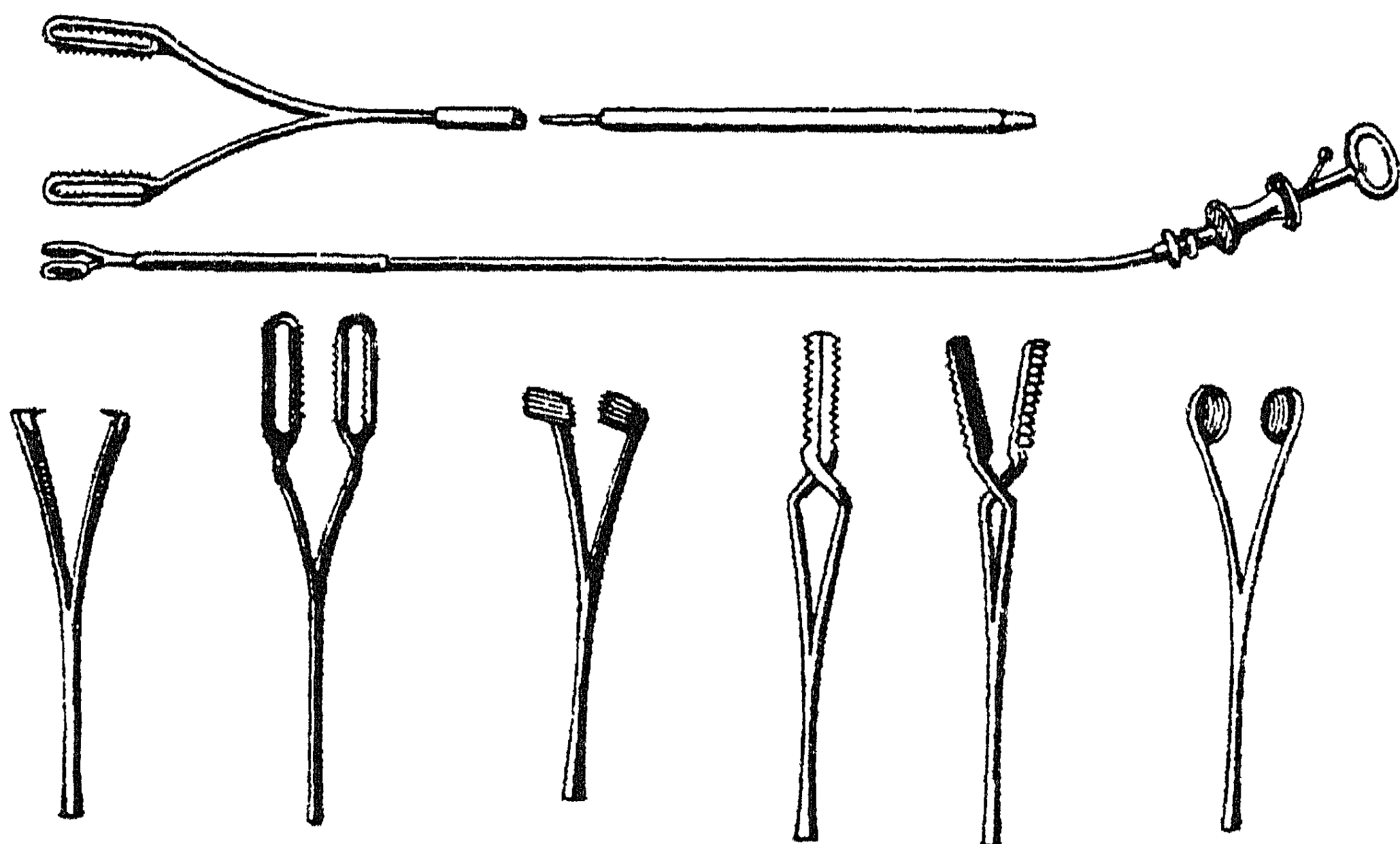
चित्र 110 आगंतुक शल्यों को निकालने के लिए विभिन्न सिरों वाली श्वसनीदर्शी संदंश।
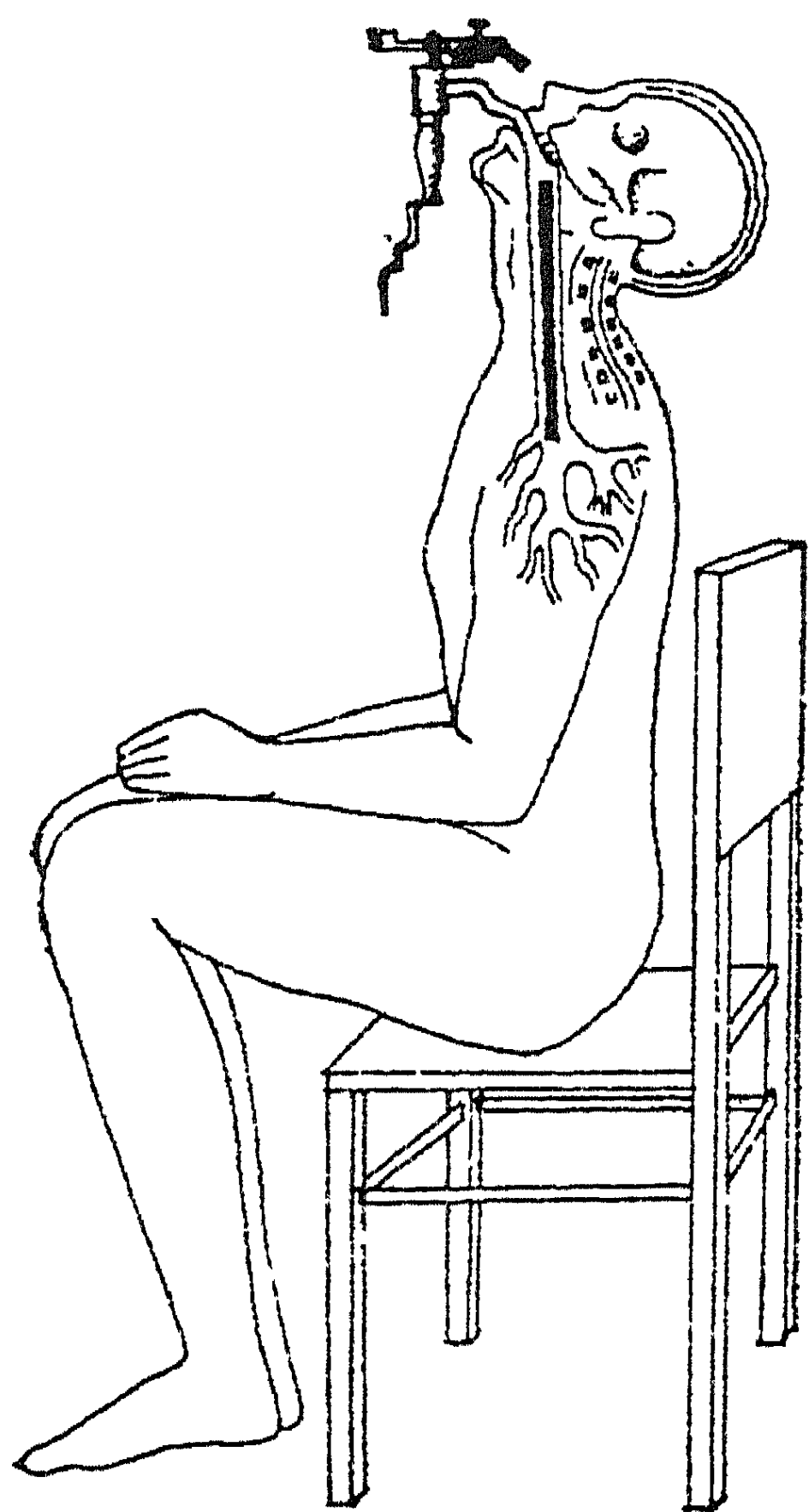
चित्र 111. रोगी का बैठी हुई स्थिति में श्वसनीदर्शन का किया जाना।

चूड़ीदार प्रोव, श्लेष्मा के चूषण के लिए साधन, विभिन्न प्रकार के मुँह वाली लंबी चिमटियाँ (चित्र 110), जिनसे कि आगंतुक शल्य निकाले जा सकें तथा श्वसनी में अन्य शस्त्र-कर्म किए जा सकें, आदि उपकरण होते हैं।

निम्न श्वसन-पथ की जाँच और प्रकाश के लिए श्वसनी-दर्शन की नलिका को (मुँह, स्वरयंत्र, ग्रसनी) के द्वारा इसमें प्रवेशित कराते है (चित्र 111)। इस विधि को उर्ध्वश्वसनी दर्शन कहते हैं। श्वास-प्रणाल के छेदन द्वारा किए गए छिद्र में से भी नलिका प्रवेशित की जा सकती है। इस विधि को अधःश्वसनी दर्शन कहते हैं। पाँच या छः वर्ष से कम आयु के वच्चों में श्वास-प्रणाल छेदन द्वारा अधः श्वसनी दर्शन किया जाता है। श्वास-प्रणाल और श्वसनी के रोगों को पहचानने के लिए तथा कुछ फुप्फुसी रोगों (फेफड़े का व्रण, श्वसनी विस्फार इत्यादि) का उपचार करने के लिए श्वसनी दर्शन किया जाता है।

श्वसनी दर्शन के लिए रोगी को जाँच के लिए तैयार करना, विशिष्ट उपकरणों को तैयार करना उपचारिका का कर्त्तव्य है। इस प्रक्रिया की पूर्वसंध्या में रोगी को ब्रोमाइड या बारबिटुरेट दिए जाते हैं। श्वसनी दर्शन प्रातःकाल रोगी के खाली पेट होने पर करना चाहिए। चिकित्सक के निर्देश पर संज्ञाहरण से 15 मिनट पहले। प्रतिशत पेंटोपोन का 0.5 मि. ली. का 1 प्रतिशत ट्रिंपेरीडीन हाइड्रोक्लोराइड घोल का 1.0 मि.ली. और 0.1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का 0.5-0.1 मि.ली. का अधस्त्वक इंजेक्शन लगाया जाता है।

उपचारिका सभी उपकरणों का निस्क्रमित करती है। संज्ञाहरण के लिए घोल तैयार करती हैं पहले से ही लंबी प्रोब के सिरे पर रुई लपेट कर तैयार करती है, इत्यादि। श्वसनी दर्शन के समय उपचारिका नासादर्शन संबंधी चिकित्सक के आदेशों का पालन करती है।

श्वसनी दर्शन के बाद रोगी चिकित्सालय में ही एक दो घंटे विश्राम करता है (यदि जाँच बहिरंग रोगी विभाग में की गई हो तो)। अप्रिय संवेदन के आराम पाने के लिए रोगी के मुँह और गले का प्रक्षालन उष्ण घोल से करते हैं।

नलिका-प्रवेशन

शिशुओं में लघुकलिक संकीर्णता, अर्थात डिफ्थीरिया या कूट-क्रूप में नलिका प्रवेशन किया जाता है। उपचारिका बच्चे को अपनी गोद में ले लेती है या बच्चे को ऐसे पकड़ती है जैसे कि कंठशालक उच्छेदन में। फिर खोखली धातु-नलिका को मुँह में डालकर बाएँ हाथ की तर्जनी उँगली के सहारे धीरे-धीरे एक विशेष उपकरण के द्वारा स्वरयंत्र के प्रवेश द्वार में पहुँचाया जाता है (चित्र 113)।

चित्र 112. स्वरकंठी नलिका प्रवेशन का सेट : मुखगैग, नलिका प्रवेशन, नलिका निष्कासन, विभिन्न व्यास वाली प्रवेशन नलिकाओं का सेट।
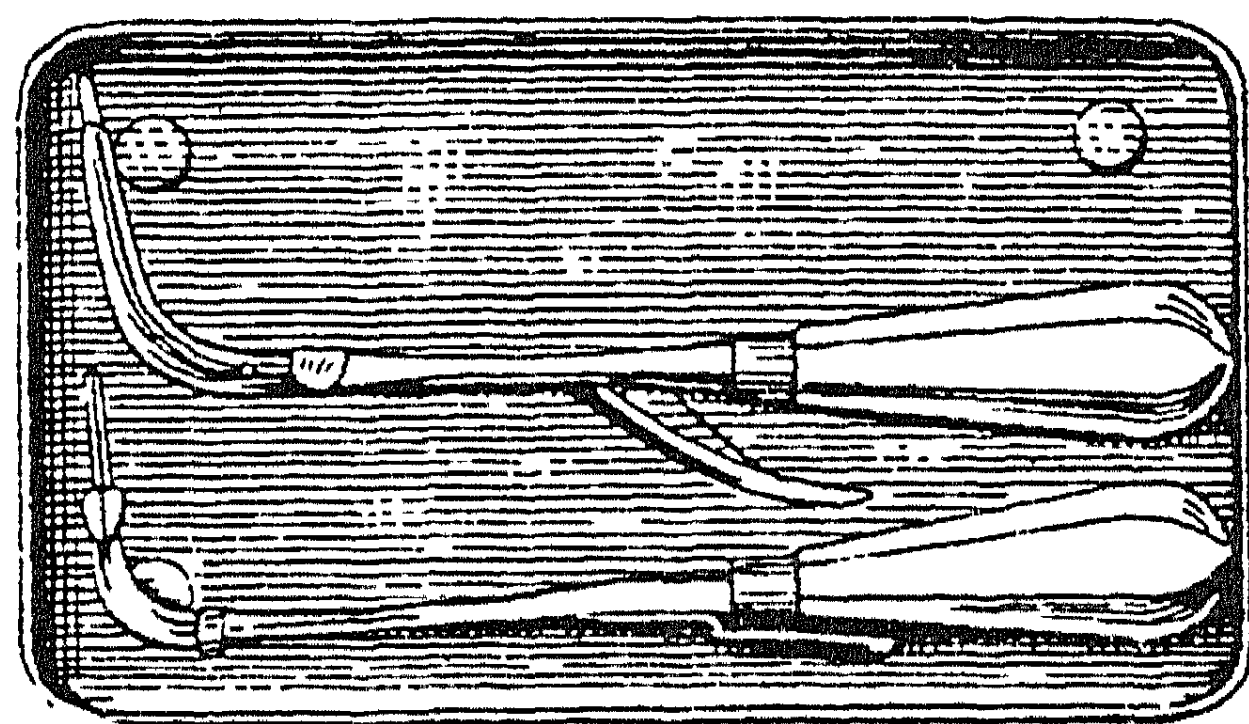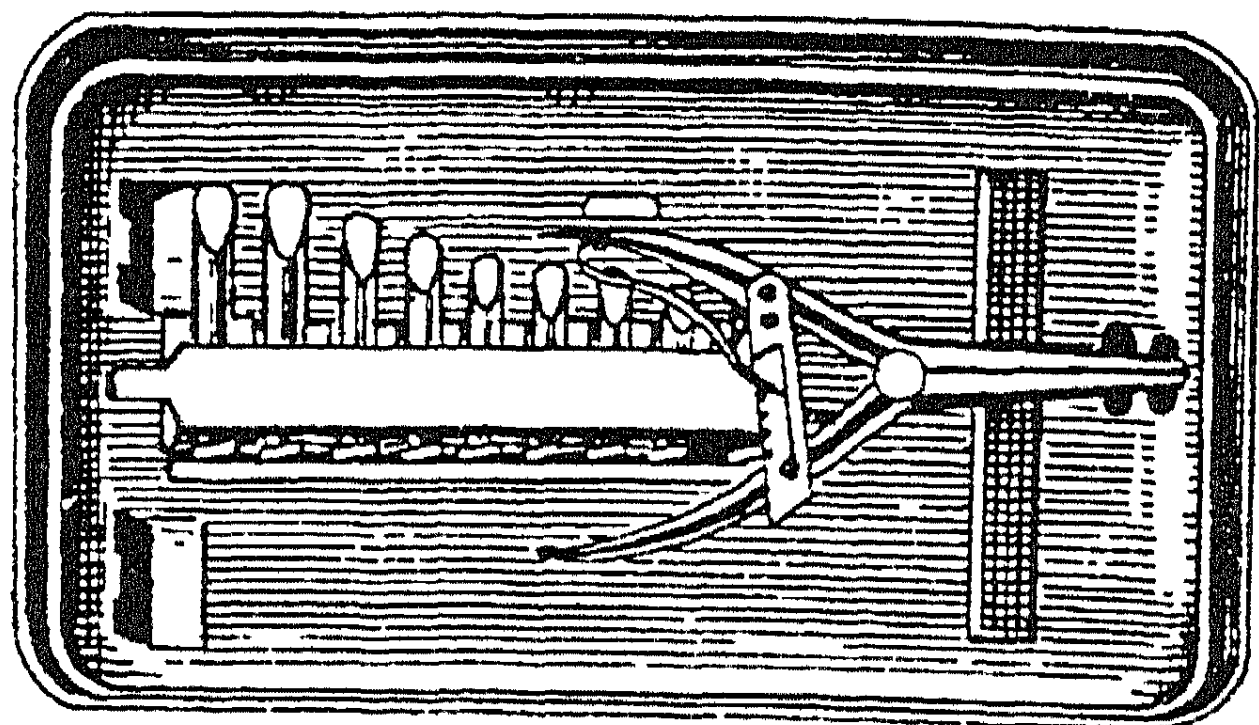
जैसे ही नलिका स्वरयंत्र में प्रवेश करती है, रोगी खाँसता है और नलिका के द्वारा मुक्त अभिश्वसन होने लगता है और मोटी-सी आवाज आने लगती है। नलिका को स्वरयंत्र में छोड़ दिया जाता है। प्रवेशन-नलिका में पहले से ही रेशम का धागा जोड़ दिया जाता है, जिससे कि इसे आसानी से निकाला जा सके। धागे के खुले सिरे को चिपकाने वाले टेप से गाल पर चिपका दिया जाता है। नलिका प्रवेश का नुकसान यह है कि इस नलिका को 24 से 36 घंटे के बीच निकालना पड़ता है, ताकि स्वरयंत्र में क्षैतिज स्थिति-व्रण न बन सके। नलिका-प्रवेशन में अनुभवी चिकित्सक या उपचारिका को बच्चे के बिस्तर के पास रहना चाहिए। अधिकतर ऐसा देखा गया है कि रोगी के खाँसने और उल्टी करने से नलिका आसानी से बाहर निकल जाती है या बेचैनी होने पर बच्चा स्वयं ही धागे से इसे खींच लेता है। इसे बचाने के लिए बच्चे की दोनों कुहनियों को स्प्लिट से अचल कर देते हैं। श्वास-प्रणाल छेदन की अपेक्षा नलिका-प्रवेशन बेहतर है (क्योंकि इसे जल्दी लगाया जा सकता है, कम सहायकों की आवश्यकता होती है और यह क्रिया रक्तरहित है)।

श्वास-प्रणाल-छेदन

स्वरयंत्र या श्वास नली के ऊपरी भाग (क्रूप, स्वरयंत्र का शोथ, आगंतुक शल्य, अर्बुद
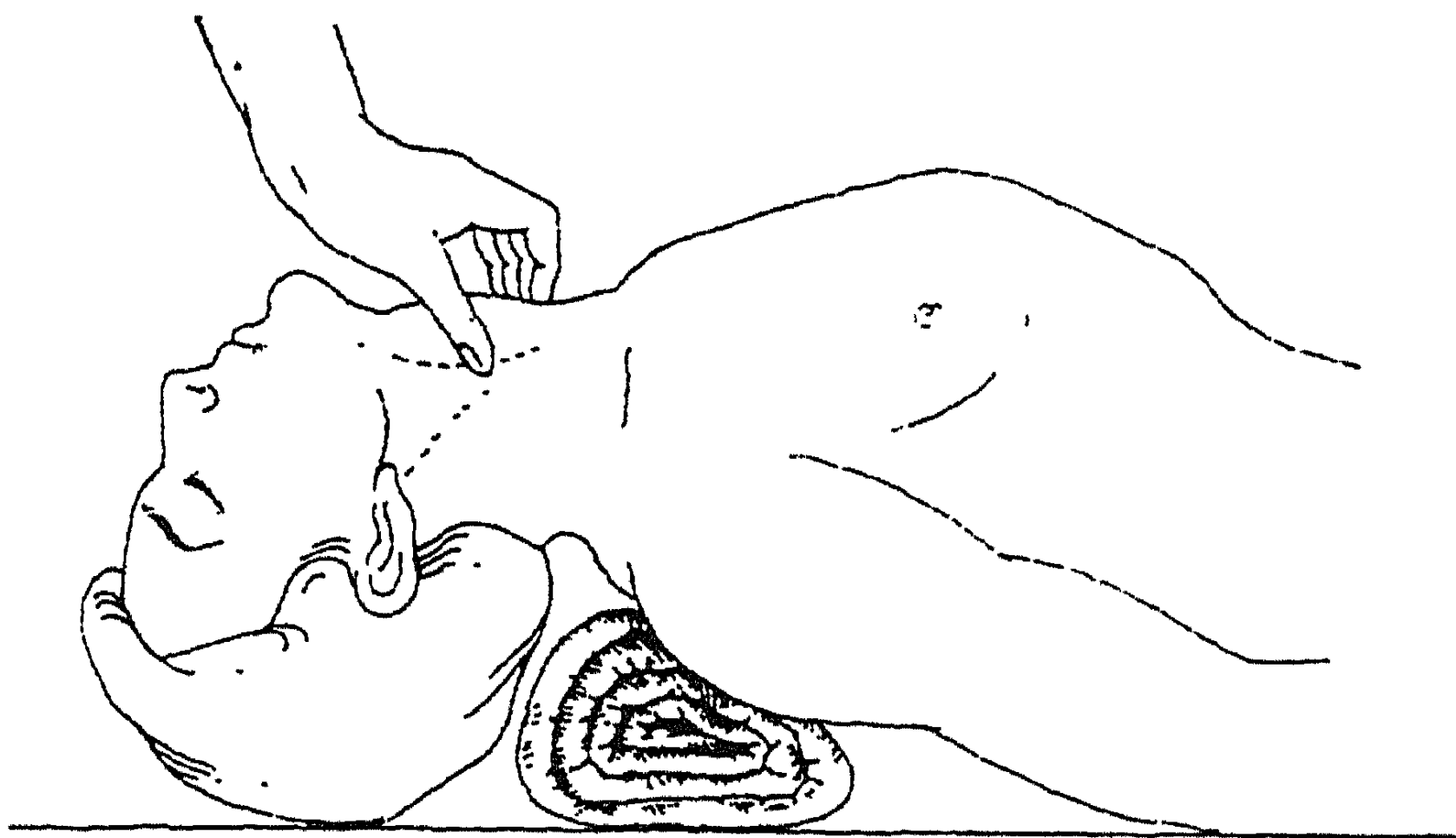
चित्र 113. श्वासप्रणाल छेदन के समय रोगी की स्थिति।

इत्यादि में) में तीव्र संकीर्णता होने पर, जबकि रोगी के जीवन को खतरा हो, तो श्वास-प्रणाल-छेदन किया जाता है। चिकित्सा की किसी भी शाखा में विशेषज्ञता-प्राप्त चिकित्सक रोगी का श्वास-प्रणाल छेदन करने के लिए सक्षम होता है।

अध : और ऊर्ध्व श्वास-प्रणाल उच्छेद श्वास नली के उच्छेदन के तल पर निर्भर होता है। संयोजन के ऊपर थायरोयेड ग्रंथि में संकीर्णन को ऊर्ध्व और नीचे वाले को अधः उच्छेदन कहते हैं। रोगी को मेज पर उतान स्थिति में लिटाकर कंधों के नीचे तकिया देते हैं, जिससे कि सिर पीछे की ओर झुक जाय (चित्र 113)। त्वचा और गर्दन की ठीक मध्यरेखा में उपरिस्थ प्रावरणी का छेदन किया जाता है, जो कि थायरोयेड उपास्थि के निचले किनारे से लेकर 6 सें.मी. नीचे तक होता है। कुंद तकनीक से मुद्रिका उपस्थि का अग्रतल मध्य रेखा तक खोल दिया जाता है। नीचे स्थित थायरोयेड ग्रंथि के संकीर्ण संयोजक संपुट को तिरछा काट दिया जतआ है, जिससे कि संकीर्ण संयोजक नीचे खिंच आता है। इसके फलस्वरूप, श्वास नली मुद्रिका खुल जाती है। सावधानी से रक्त स्तंभन करके दो या तीन श्वास नलिका मुद्रिकाओं को तेज स्कैल्पेल से खोल कर मुँह बना दिया जाता है और फिर श्वास-प्रणाल छेदन नली का इस मुँह में प्रवेशन किया जाता है। श्वास प्रणाल छेदन नली में धातु की दो नलिकाएँ होती हैं, जिसमें से एक को दूसरे में घुसा दिया जाता है। जब यह छेदन किया जाता है तो रोगी कफोत्सरण करता है और फिर अभिश्वसन अच्छी तरह प्रारंभ हो जाता है। नलिका को गले में पट्टी से बाँध दिया जाता है और नलिका से ऊपर और नीचे के घाव को सिल दिया जाता है।

यह अस्त्र-कर्म स्थानिक संज्ञाहरण से किया जाता है। पहले तीन या चार दिन तक नलिका को नहीं हटाना चाहिए क्योंकि घाव (छेदन) के शोथीय सूजन और संकीर्णन के कारण नलिका के पुनः प्रवेशन में कठिनाई होगी। नलिका के पुनः प्रवेशन के प्रयास में यह श्वास नली और ग्रास नली के बीच घुस सकता है।

स्वरयंत्र संकीर्णता में प्राथमिक सहायता तथा श्वास-प्रणाल के बाद रोगी की देख-रेख

श्वास-प्रणाल छेदन के लिए उपकरणों के पूरे सेट को विसंक्रामित करके सही अपूतित अवस्था में ऐसे रखा जाता है कि ये प्रत्येक शस्त्रकर्म विभाग तथा संक्रामक रोग विभाग के लिए उपलब्ध हों, ताकि तीव्र श्वसन विकार के रोगी के लिए आवश्यकता पड़ने पर आवश्यक आपातकालीन उपाय किए जा सकें। इस सेट में भोथरे और तेज हुक, ई धमनी संदंश, दो अँगूठे वाले संदंश और दो भूषदंत संदंश, श्वास-प्रणाल छेदन के लिए विभिन्न व्यास वाली नलिकाएँ, आकुंचक, सुई और विसंक्रामित रेशम धागे वाला नीडल होल्डर, चूड़ीदार, प्रोब और कई स्कैल्पेल होते हैं (चित्र 114)।

ऐसा संग्रहीत सेट प्रत्येक शस्त्र कर्म कक्ष में उपलब्ध होना चाहिए, जिसके हर उपकरण पर लैबल लगा हो। इसके अतिरिक्त, 0.5 प्रतिशत प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड घोल और संक्रामित सीरिंजें और सुइयाँ संज्ञाहरण के लिए हर समय उपलब्ध होनी चाहिए। प्रयोग से पूर्व इस नलिका का भली-भाँति निरीक्षण किया जाता है और इस बारे आश्वस्त हुआ जाता है कि यह फ्लैंज से ठीक ढंग से बँधा हुआ है तथा अंदर वाली नलिका यथास्थान है और आसानी से निकाली जा सकती है।

विशेष रूप से छेदन के बाद कुछ दिनों तक रोगी को विशेष देखरेख की जरूरत होता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नलिका सूखे श्लेष्मल तथा डिप्थीरिया कलाओं के अवरुद्ध न हो जाए। इसलिए नलिका में प्रति दो-तीन घंटे बाद विसंक्रामित वनस्पति तेल की दो-तीन बूँदें डालते रहना चाहिए। बाह्य नलिका को केवल चिकित्सक को ही निकालना चाहिए। शस्त्र कर्मोपरांत कुछ दिनों तक आंतरिक नलिका को दिन में दो या तीन बार निकाला जाता है। चूड़ीदार नम्य प्रोब पर रुई लपेट कर नलिका को साफ करना चाहिए और उबालना चाहिए। सूख जाने पर नलिका में वैसलीन तेल लगाकर इसे बाह्य नलिका में घुसा दिया जाता है। यदि श्वास नली का स्राव श्यान हो तो पहले कुछ दिनों तक आंतरिक नलिका को कई बार साफ किया जाता है। कक्ष में गीली चादरें लटका कर हवा में नमी बनाए रखी जाती है या नलिका के ऐप्रन पर गीली गाज पट्टी रखी जाती है ताकि श्वास नली ज्यादा न सूखे।

इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि रोगी के कफोत्सरण से श्वासनली के अंदर की त्वचा में आक्लेदन या क्षोभ न हो। इसलिए त्वचा पर वैसलीन या लाजेर पेस्ट चुपड़ दिया जाता है। नलिका को निकाले बिना ही इसके नीचे से गाज पट्टी निकालकर तथा ऊपर रबर-क्लाथ का ऐप्रन रखकर गर्दन में पट्टी को बाँध देते हैं। सूख जाने पर पट्टी को बदल दिया जाता है।

यदि बेचैनी या तेज खाँसी हो तो रोगी में लगी ढीली नलिका श्वासनली से बाहर निकल सकती है। यदि ऐसा उच्छेदन के बाद के पहले दिनों में हो जबकि

1

3 4 5
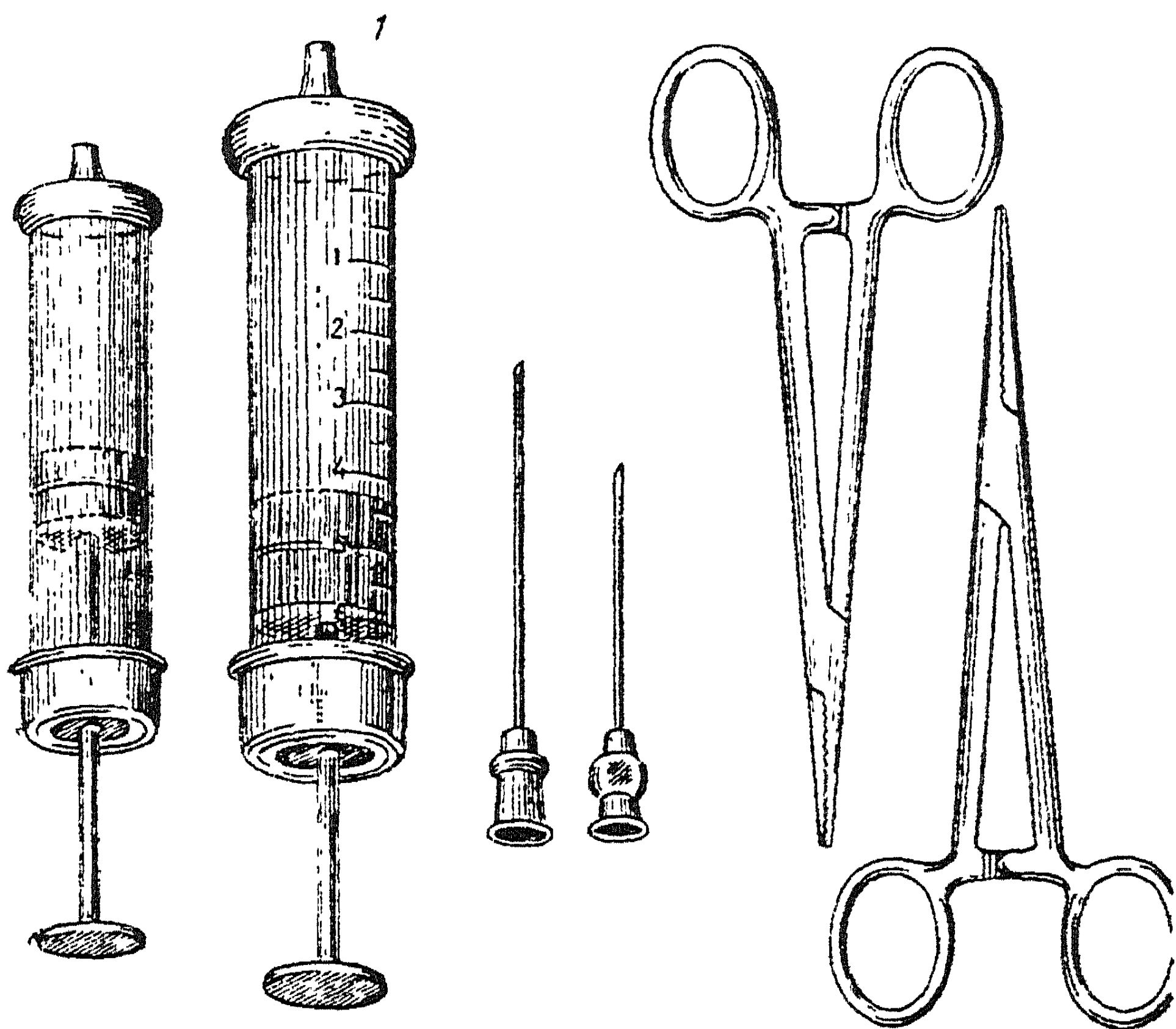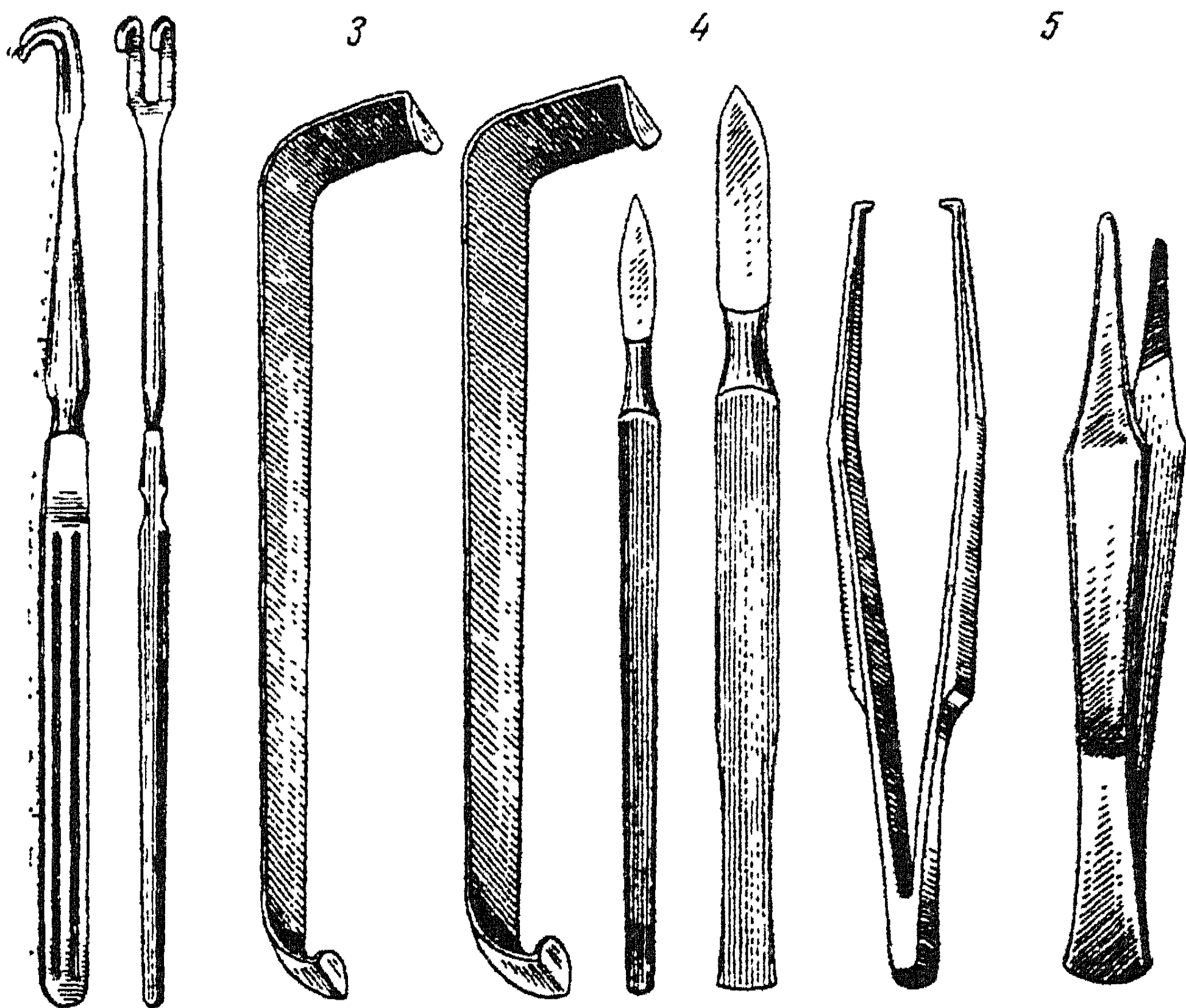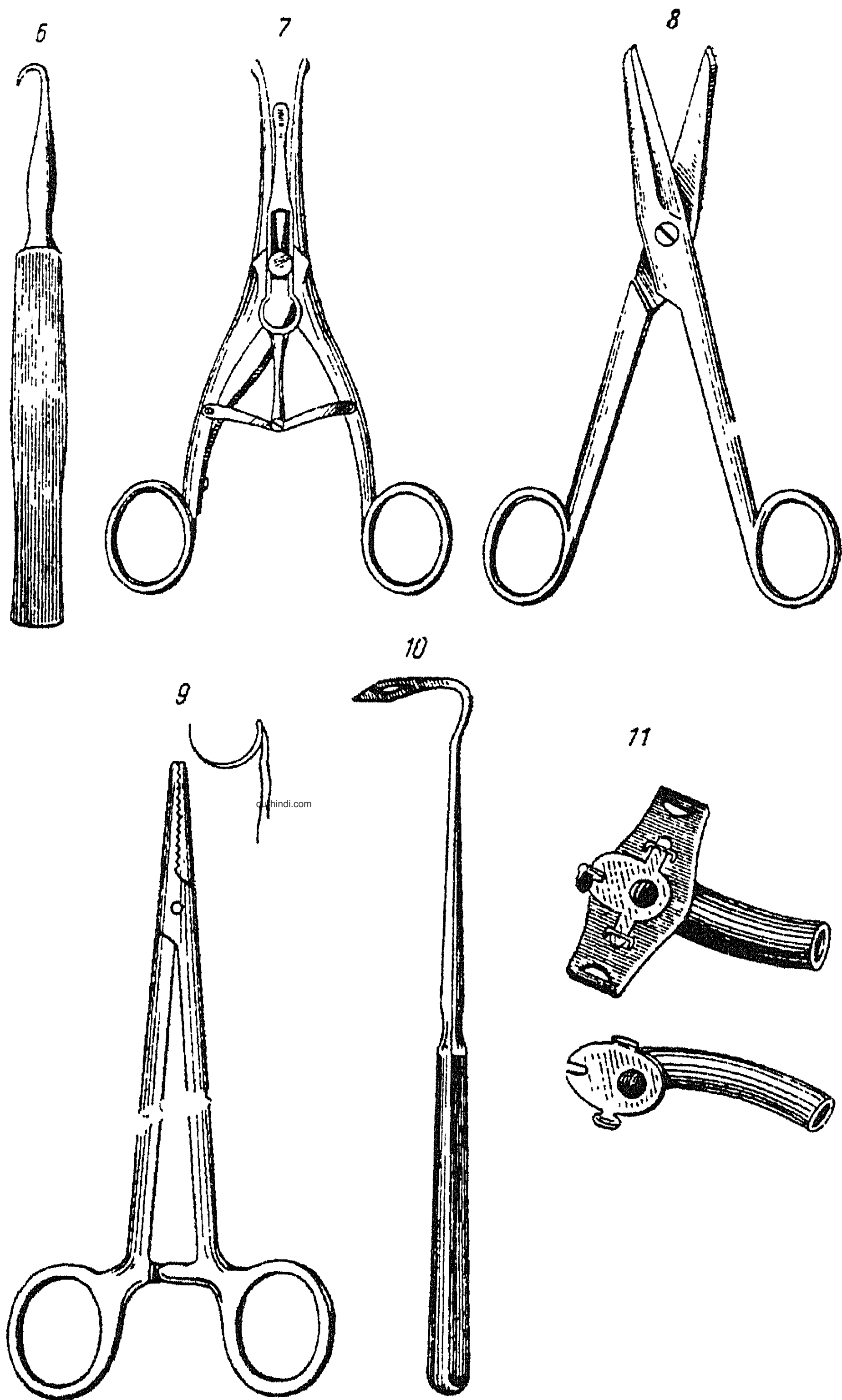
B: 6. श्वासप्रणाल को स्थिर करने के लिए हुक, 7. ट्रौसे घाव आकुंचक, 8. शल्य कैंची, 9. सूई और सूचीधर, 10. बन्धन सूचिका, 11. बाह्य (a) और आंतरिक श्वासप्रणालछेदन नलिकाएँ (b)।

घाव के पथ में मोटे कणांकुर न हों, तो नलिका का पुनः श्वास-प्रणाल छेदक के आकुंचक द्वारा किया जाता है, जहाँ सीवन ढीली हो तथा घाव को हुक से फैलाया जा सके।

श्वास प्रणाल छेदन नलिका को स्वरयंत्र अवकाशिकाओं के ठीक हो जाने पर ही निकाला जाता है, जिसका पता स्वरयंत्र दर्शन और क्रियात्मक जाँच द्वारा लगता है। यह जाँच श्वास-प्रणाल के छेदन को कार्क से बंद करके की जाती है। यदि रोगी अच्छी तरह से अभिश्वसन करता है तो चिकित्सक नलिका को हटा कर उसकी जगह पट्टी बाँध सकता है। विसंक्रमित श्वास प्रणाल छेदक नलिका और घाव आकुंचक रोगी के बिस्तर के पास सदैव ही उपलब्ध होने चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर नलिका का पुनः प्रवेशन किया जा सके।

IV कान के रोग

शरीर-रचना

श्रवणांग के परसरीय भाग में तीन हिस्से होते हैं : बाह्य, मध्य और आंतरिक कान (चित्र 115)। मध्य कान में ध्वनिकग्रहक और प्रघाण के विश्लेषक होते हैं।

बाह्य कान में बहिर्कर्ण और बाह्य कर्ण कुहर होते हैं।
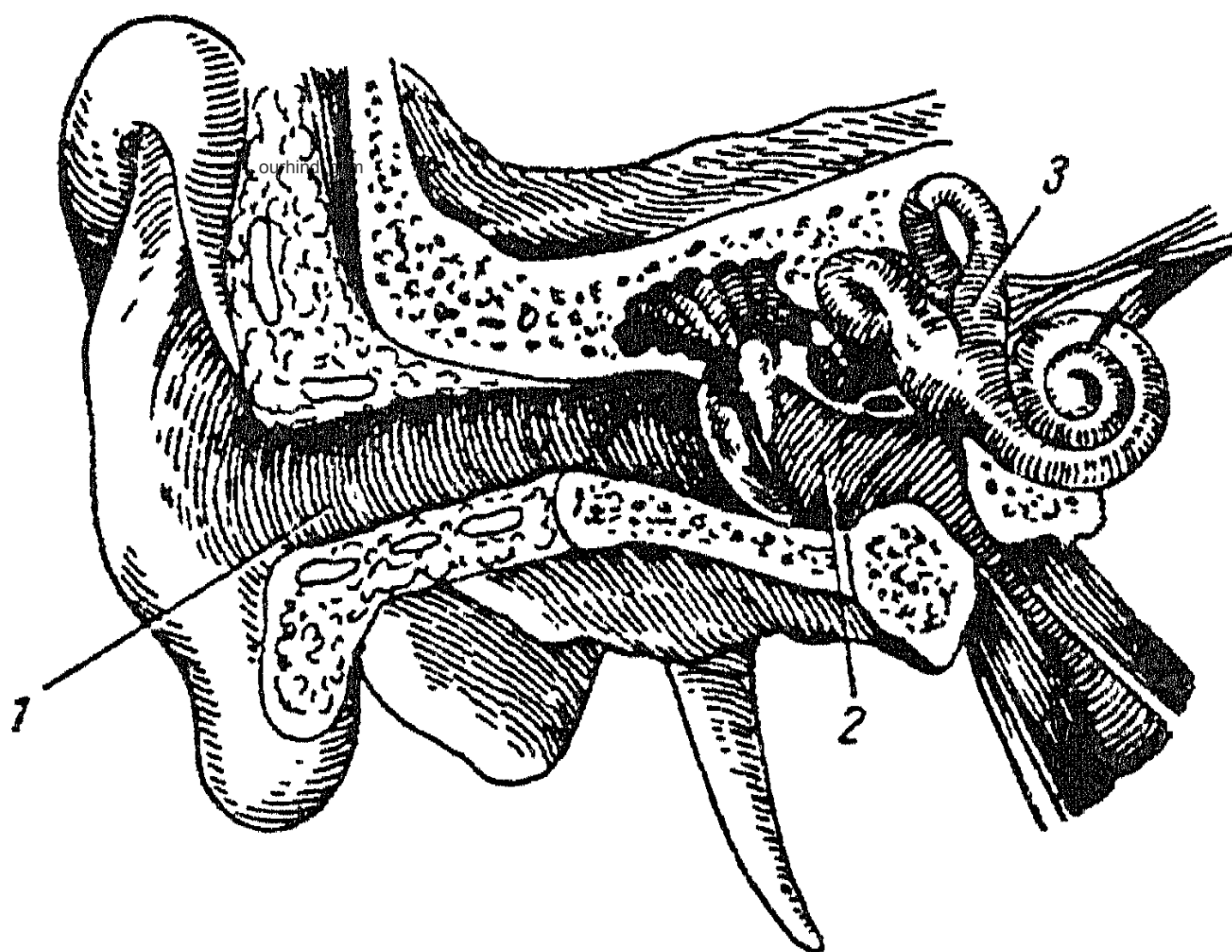
चित्र 115. बाह्य (1), मध्य (2), और आंतरिक कान का अंगरेखांकन (3)।

बहिर्कर्ण काचाभ का बना होता है, जिसके ऊपर त्वचा होती है।

बाह्य कर्ण कुहर कीप की तरह बहिर्कर्ण के तल पर दबा हुआ होता है और इसमें 3.5 सें. मी. लंबा क्षैतिज पथ होता है। इस पथ के अंत में मध्यकर्ण कला होती है। कर्ण कुहर का पश्च तीसरा भाग उपास्थियों और कला ऊतकों का बना होता है और बीच का दो-तिहाई भाग हड्डियों का। उपास्थि अंग की त्वचा में कर्ण गूथ ग्रंथियाँ होती हैं, जिससे कानों के मैल का स्राव होता है।

कुहर के उपास्थि और हड्डियों वाले भाग एक कोण पर मिलते हैं, जिससे

कर्णपटह (मध्यकर्ण कला) का निरीक्षण करने के लिए बहिर्कर्ण को ऊपर-नीचे खींच कर कर्ण कुहर की सीध में लाते हैं।

मध्यकर्ण कला (कर्ण पटह चित्र 116) 1 सं.मी. व्यास की पतली कला है जो बाह्य और मध्यकान के बीच की सीमा पर स्थित होती है। इसका बड़ा भाग अस्थिमुद्रिका में होता है जिसे कर्ण पटह का आतत भाग कहते हैं। इसके छोटे ऊर्ध्व-भाग में शिथिल भाग को कर्ण पटह कहते है। जो कि शिथिल होता है।
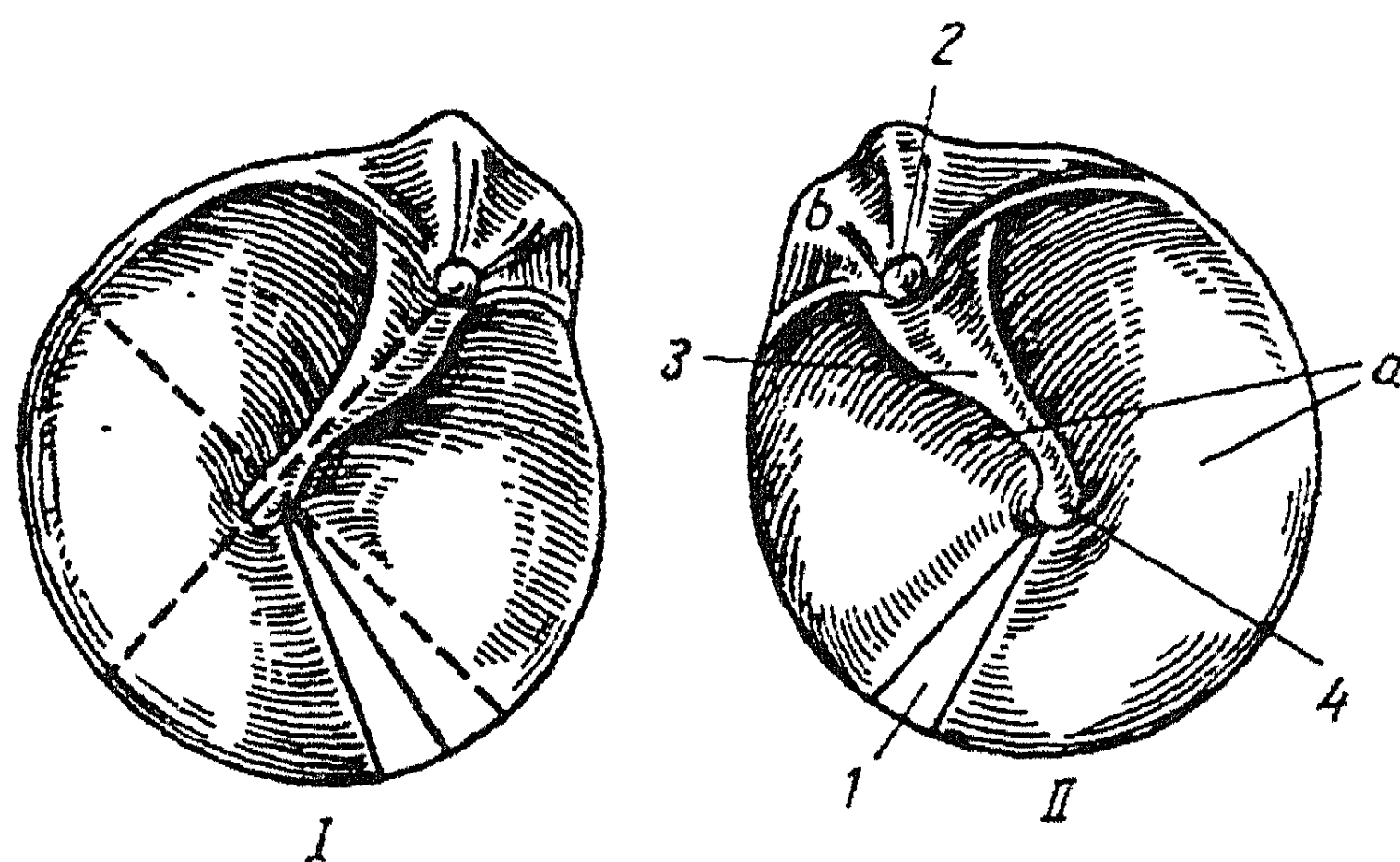
चित्र 116. स्वर यंत्रदर्शी चित्र।

1. दाई ओर, 2. बाई ओर, a (कर्णपटह) आततभाग, b (कर्णपटह) शिथिल-भगा, या सार्पनिल कला 1. प्रकाश का शंकु, 2. मैलियस की लघु क्रिया, 3. मैलियस का हत्था, 4. कध्य कर्ण कला का सबसे अधिक उत्तलता वाला बिंदु।

मध्यकर्ण गुहिका 1 से. मी.^{3} आकार का एक छोटा स्थान है, जो मध्यकर्ण और आंतरिक कान के बीच की शंख अस्थि की मोटाई में स्थित होता है। इसमें कर्णस्थिका (मैलियस, इंकम और स्टेपीज) की कड़ी होती है, जो कि मध्यकर्ण कला के साथ मिलकर ध्वनि संचरणतंत्र बनाती है। सामने से मध्यकर्ण गुहिका कर्णनली के द्वारा नासाग्रसनी से और पीछे की ओर कर्णमूल कोटर और कर्ण मूल कोशिकाओं से संसर्ग करती है। कर्णमूल कोशिकाओं की तरह इसकी गुहिका में हवा भरी होती है जिसका प्रवेश कर्णनलिका से होता है।

आंतरिक कान या गहन में हड्डियों और कला वाला गहन होता है। इसमें प्रघाण (मध्य भाग), तीन अर्धवृत्तीय पथ और कर्णावर्त होते हैं।

कर्णावर्त एक अस्थायी पथ है जिसके ढाई चक्कर अस्थीय स्तंभ पर होते हैं जो की देखने में एक घोंघे के खोल-सा लगता है। कर्णावर्त के कला वाले भाग में सर्पिल (प्रांतःस्था अंग) अंग होता है जिसकी जटिल ऊतक विज्ञानी संरचना होती है। सर्पिल भाग में संवेदी लोम कोशिकाएँ होती हैं जो श्रवणतंत्रिका के तंतुओं से जुड़ी होती हैं। यह ध्वनिक विश्लेषक की परसरीय भाग वनाती है।

प्रघाण उपकरण में कर्णबालुका प्रघाण होता है तथा इनमें एंपुलर उपकरण वाले अर्धवृत्तीय पथ होते हैं। इनमें प्रघाण विश्लेषक के सिरे की शाखाएँ होती हैं।

शरीरक्रिया विज्ञान

कान एक ज्ञानेंद्रिय है जिसके द्वारा मनुष्य का बाह्य संसार से संपर्क होता है। कान दो क्रियाएँ करता है : (1) सुनने की क्रिया (श्रवण), (2) अवकाश का अभिविन्यास और शरीर का संतुलन बनाए रखना।

सुनने की क्रिया में बाह्य और मध्यकान के द्वारा या कोमल ऊतकों और करोटि की अस्थियों के द्वारा ध्वनि का संचरण होता है और ध्वनिक विश्लेषक के ग्राहकों और आंतरिक कान में स्थित प्रांतस्था के अंगों द्वारा ध्वनि को पहचाना जाता है।

बाह्य और मध्यकान ध्वनि संचरण उपकरण से संबंधित होते हैं। जबकि आंतरिक कान, प्रांतस्था का अंग ध्वनिबोध उपकरण के लिए अधिक सुस्पष्ट होते हैं।

ध्वनि उद्दीपनों का सुनिश्चित विश्लेषण और संश्लेषण मस्तिष्क के शंख-खंड की प्रांतस्था में होता है जहाँ कि तंत्रिका उद्दीपन ध्वनि संवेद में बदल जाता है।

मनुष्य पर्यावरणीय ध्वनि को 16 से 20000 साइकिल प्रति हैंक की कंपन आवृतित में ग्रहण करता है।

प्रघाण क्रिया : बहुत से ग्राहकों की स्वर सामंजस्य क्रिया के फलस्वरूप शरीर या इसके अंगों की अवकाश में स्थिति का पता चलता है। दृष्टि के अतिरिक्त त्वचा, पेशियों, जोड़ों और कंडराओं में स्थिति ग्राहक प्रघाण क्रिया को पूरा करते हैं।

प्रघाण और अर्द्धवृत्तीय पथ में स्थिति प्रघाण उपकरण विश्राम और गति के समय शरीर का संतुलन और शरीर की स्थिति को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। प्रघाण उपकरण के रोग से ग्रस्त व्यक्ति न खड़ा हो सकता है और न ही चल-फिर या बैठ सकता है। ऐसे लोगों को घुमनी, मितली, और वमन हो सकता है।

परीक्षण विधियाँ

रोगी से साक्षात्कार परीक्षण का पहला चरण है। उससे पूछा जाता है कि उसे क्या तकलीफ है और उसने चिकित्सीय परामर्श की माँग क्यों की है और रोग किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ है। कान के रोगों में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए : (1) कान में दर्द और इसके लक्षण; (2) कान से पूय का आस्राव; (3) ऊँचा सुनाई देना (श्रवण की आंशिक हानि) और बधिरता; (4) कर्ण-क्ष्वेण (कान में शोर होना); (5) श्रवण भ्रमि (भ्रमि घुमनी)। रोगी की सार्वदेहिक हालत, सिर दर्द की शिकायत, शरीर के चढ़े हुए ताप इत्यादि पर भी गौर किया जाता है।

मध्यकान में तीव्र रोग का कारण बहुधा नाक और गले में शोथज प्रक्रिया

होता है। यह भी सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि कान के रोग से पूर्व इंफ्लूएंजा, ऊपरी श्वसन पथ का तीव्र अभिष्यंद, इत्यादि हुआ है या नहीं। कान के परीक्षण में बहिर्कर्ण की जाँच और परिस्पर्शन और कर्णमूल की क्रिया की जाँच, बाह्य कर्ण कुहर की तथा मध्यकर्ण की जाँच, प्रघाण क्रिया और श्रवण की जाँच की जाती है।

कान की जाँच (कर्ण दर्शन) कृत्रिम प्रदीपन करके अंध-कक्ष में किया जाता है, जिससे आस-पास की चीजों की अपेक्षा प्रदीप्त क्षेत्र अच्छा और साफ दिखाई दे। प्रकाश-प्रत्यावर्त, बेंड से मत्थे पर बाँधा हुआ गोल तथा थोड़ा अवतल दर्पण प्रयुक्त होता है (चित्र 117)। तुषारित काँच वाला 50-60 वाट का बिजली का बल्ब प्रकाश का सर्वोत्तम स्रोत है। यदि ऐसी सुविधा न हो तो मिट्टी के तेल का लैंप प्रयोग में लाया जाता है जिसकी बत्ती चपटी हो। कान की जाँच रोगी को बिठाकर की जाती है। प्रकाश के स्रोत को रोगी के सिर के स्तर पर रख कर दाएँ और थोड़ा सा सिर के पीछे रखते हैं। छोटे बच्चों को सहायक की गोद में बिठाया जाता है जो कि बच्चे के सिर को अपने सीने के साथ एक हाथ से चिपका लेता है तथा दूसरे हाथ से बच्चे की बाजू को पकड़ लेता है। सहायक बच्चे के पैरों को कस के अपने पैरों के बीच में ले लेता है। बाह्य कर्ण-कुहर की भित्तियों और मध्यकर्ण कला की जाँच कर्णवीक्षण यंत्र से की जाती है (चित्र 118)। बहिः कर्ण को ऊपर नीचे खींचकर तथा रोशनी को चारों ओर घुमाकर वीक्षण यंत्र को कुहर में 1.0 से
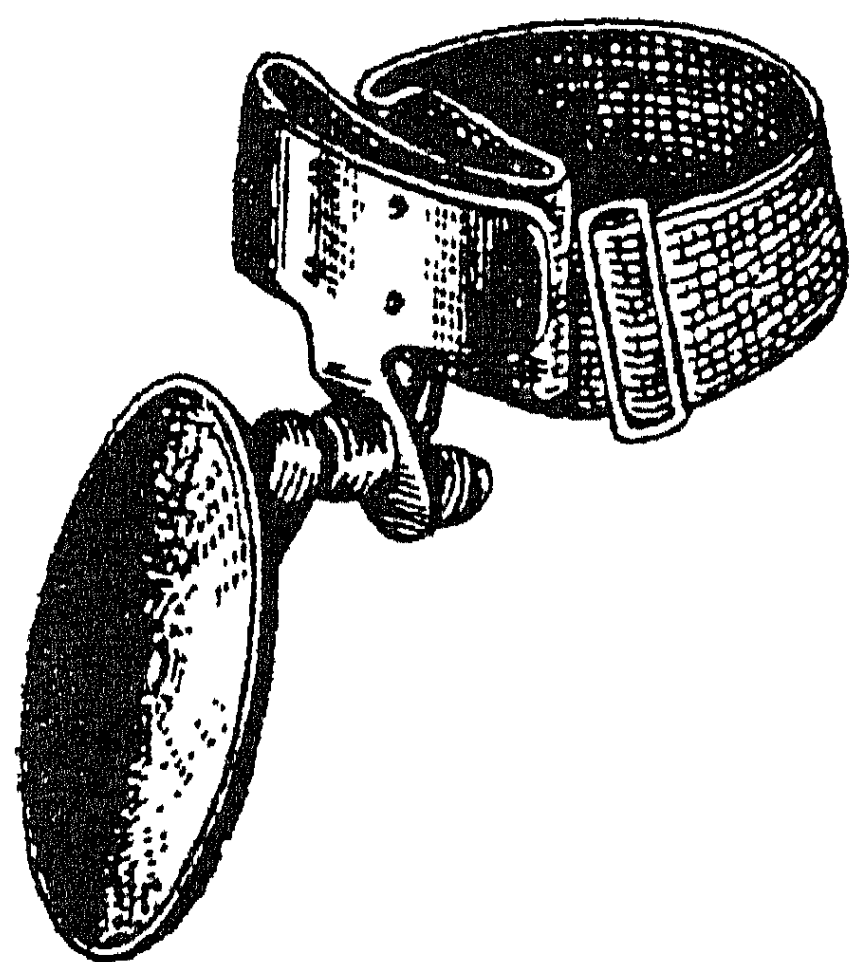
चित्र 117. सिर दर्पण
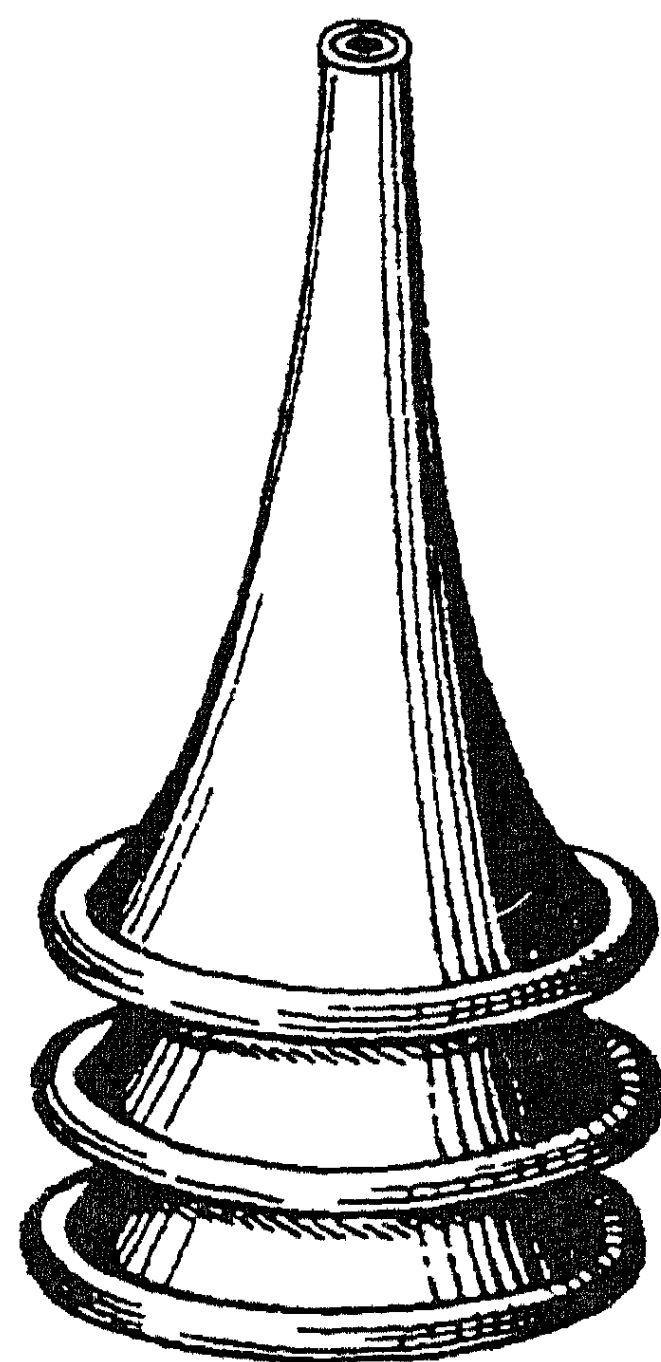
चित्र 118. कर्णदर्शी या कर्ण वीक्षण यंत्र।

1.5 सें.मी. अंदर हड्डी वाले भाग तक डालकर कर्ण कुहर को शीर्ष-दर्षण से प्रदीप्त किया जाता है (चित्र 119)।
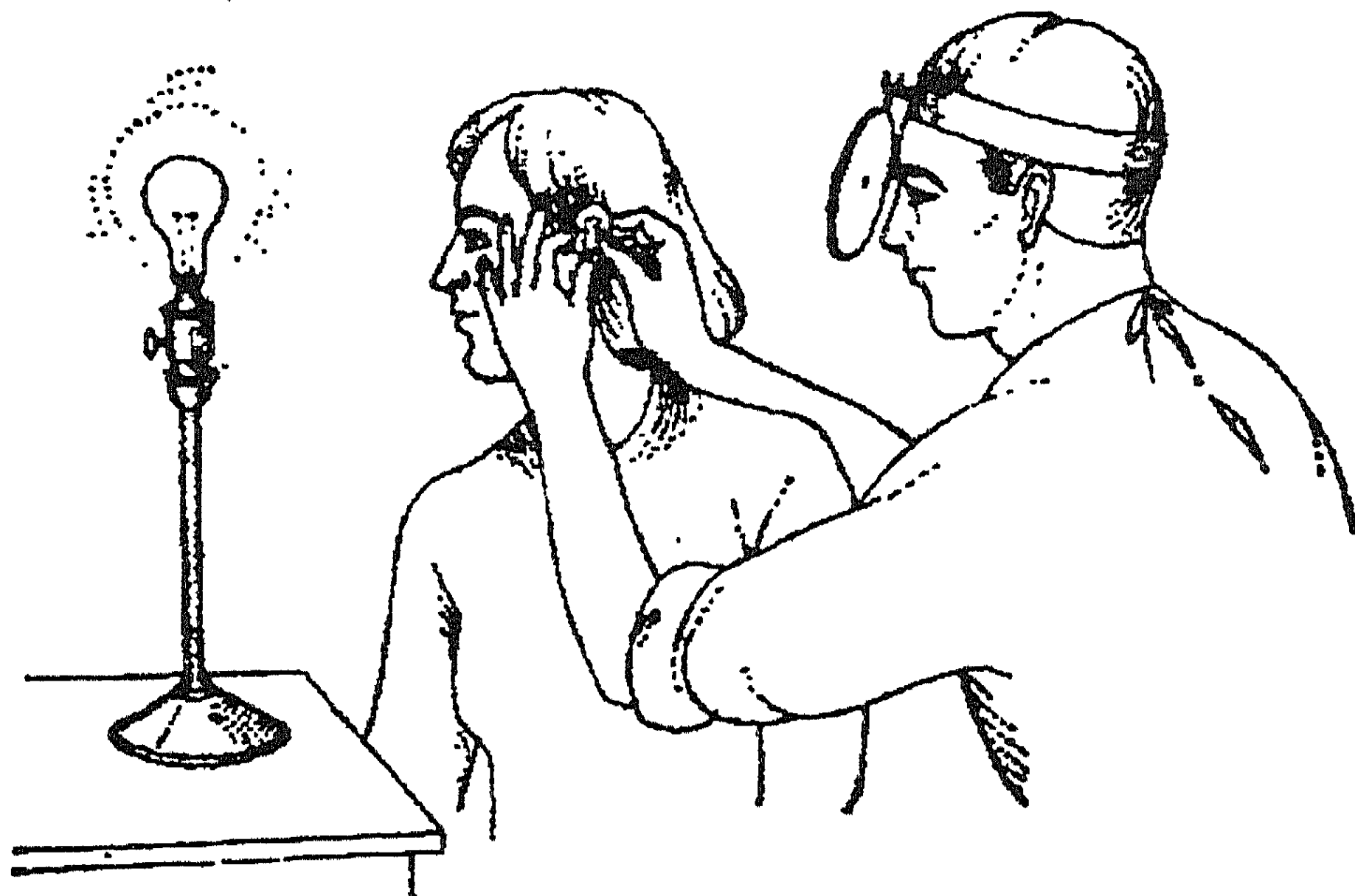
चित्र 119. कान की जाँच (कर्ण दर्शन)

सामान्य मध्यकर्ण कला मोती जैसी धूसर और अंडाकार होती है, जिस पर निशान होते हैं। कला की गतिशीलता की जाँच वायवी वीक्षण यंत्र से की जाती है।

प्रघाण क्रिया की जाँच गति के समन्वय का पता करके तथा नेत्र-प्रेरक पेशी की सक्रियता का अध्ययन करके (दृष्टि को जमाकर दोनों नेत्र गोलकों के अभिदोलन, उनकी तालबद्ध सममितीय गति का अध्ययन) तथा बरनी की टर्निंग चेयर टेस्ट या कैलोरी-जाँच करके किया जाता है। कैलोरी-जाँच में कान का धोवन शीतल-जल या निश्चित-तापमान तक उष्ण जल से किया जाता है।

उपचार और देखरेख की सामान्य विधियाँ

कर्ण रोगों से पीड़ित रोगियों के उपचार और देख-रेख के लिए साधारण हस्तोपचार हेतु बहुधा विशेष या जटिल उपकरणों की आवश्यकता होती है। यह उपचार और देख-रेख बहिरंग और अंतरंग चिकित्सालय तथा प्रतिष्ठानों और सामूहिक फार्मों के प्राथमिक चिकित्सा सहायता केंद्रों पर आसानी से की जा सकती है।

कर्ण रोग से पीड़ित रोगियों की देख-रेख में कान की सफाई तथा उनमें विभिन्न प्रकार की औषधियाँ डालना सम्मिलित है।

कर्ण पक्ष की सफाई की विधियाँ : मध्य कर्ण कला की जाँच करने से पूर्व बाह्य कर्ण कुहर से कर्ण गूथ, पूय और पपड़ी की सफाई की जाती है। यह सफाई धोवन या शुष्क विधि से की जाती है।

मध्यकर्ण के तीव्र और चिरकारी शोथ में यदि सपूय स्राव इतना अधिक हो कि इसे शुष्क विधि से साफ करने में अधिक समय लगे, तो चिकित्सक को धोवन क्रिया अपनानी चाहिए। कर्ण-पथ की भली-भाँति सफाई रोगी स्वयं हस्तोपचार से नहीं कर सकता।

धोवन की क्रिया कान की पिचकारी (100 सें.मी. 3 आयतन) या रबर के गुब्बारे से करते हैं। रबर के गुब्बारे दो तरह के होते है। : पूरी तरह रबर का गुब्बारा, जिसका सिरा मोटा होता है जिसे मुश्किल से कुहर के मुँह में घुसाया जाता है और दूसरे प्रकार का गुब्बारा जिसका सिरा हाथी दाँत का होता है और जो धोवन के लिए अधिक उपयुक्त होता है। कुहर की भित्तियों को चोट से बचाने के लिए हाथी दाँत के सिरे पर 3-4 सें मी. लंबी रबर की नली लगाई जाती है। कान की धोवन क्रिया उष्ण विसंक्रामित घोल (बहुधा 3 प्रतिशत बोरिक एसिड) से की जाती है। रोगी गुर्द के आकार वाली चिलमची स्वयं ही थामे रहता है तथा इसे गले के पास चिपकाए रखता है।

कर्ण कुहर को सीधा करने के लिए बहिःकर्ण को वाएँ हाथ से आगे-पीछे खींचते हैं और दाहिने हाथ से रबर का गुब्बारा कान में घुसाया जाता है, पर 1 सें मी. से अधिक नहीं। थोड़ा-थोड़ा करके कान में उष्ण जल की धार छोड़ते हैं और फिर कुहर की पश्च भित्ति के सहोर हल्के बल से धार छोड़ते हैं। गुब्बारे में घोल भरने के पहले दबा कर इस बारे में आश्वस्त हो लिया जाता है कि इसमें हवा बिल्कुल नहीं रह गई है। अन्यथा, यह हवा घोल में मिलकर धोवन करते समय कान में अप्रिय शोर पैदा करेगी। धोवन के अंत में रोगी के सिर को एक तरफ झुका देते है। जिससे कि सारा पानी कान से बाहर निकल जाय। कुहर के अंदर बचे पानी को प्रोब पर रुई लपेट कर कान से निकालते हैं।

चित्र 120. चूड़ीदार प्रोब पर रुई लपेटने की विधियाँ। चोट लगने से बचाने के लिए प्रोब के सिरे को कभी अनढका नहीं छोड़ना चाहिए।

कठोर कर्ण गूथ को धोवन द्वारा निकालने से पहले उष्ण सोडा घोल को पिपेट द्वारा दो-तीन दिन तक डाल कर मुलायम होने दिया जाता है।

धोवन क्रिया से कान की सफाई करने पर द्वितीयक संक्रमण हो सकता है इसलिए कान की सूखी

सफाई का तरीका अधिक उपयुक्त है। बाह्यकर्ण कुहर को सुखा कर स्त्रवित पूय को थोड़ा-थोड़ा करके रुई से पोंछते है या जब धोवनक्रिया प्रतिदिष्त हो (कान में त्वकशोथ, छाजन या फुंसियाँ होने पर धोवन क्रिया प्रतिदिष्ट है) पतली चूड़ीदार नोक वाली प्रोब प्रयोग में लाते हैं। चिकनी या केंद्रीय सिरे वाली प्रोब हस्तोपचार के लिए उपयुक्त नहीं है। रुई को कसकर प्रोब पर लपेटा जाता है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि प्रोब की तेज नोक भी रुई से अच्छी तरह ढक जाय अन्यथा कुहर की वित्तियों या मध्यकर्ण की कला को क्षति पहुँच सकती है (चित्र 120)

कान को साफ करने से पहले हाथों को अच्छी तरह से धो कर साफ कर लिया जाता है। विसंक्रामित आर्द्र रुई का इस्तेमाल किया जाता है। प्रोब पर लपेटी हुई रुई को विसंक्रामित करने के लिए उसे अल्कोहल लैंप की लौ पर दिखाते हैं।

कान की सफाई निम्न प्रकार से की जाती है। बाएँ हाथ में कर्णवीक्षण यंत्र पकड़ कर बहिःकर्ण को खींच कर आगे-पीछे करते हैं और दाएँ हाथ से रुई लपेटी हुई प्रोब को कान में घुसाते है और 2.5 सें.मी. अंदर तक अर्थात मध्यकर्ण कला तक बड़ी सावधानी से ले जाते है। रुई लिपटी हुई प्रोब को हल्क-हल्के कान में घुमाकर स्राव को सोख लेते है। फिर रुई बदल कर यह हस्तोपचार तब तक दोहराया जाता है जब तक कि कान से निकाली गई रुई बिल्कुल सूखी और साफ न हो। इसके बाद, यदि आवश्यक हो तो, औषधि की बूंदें कान में डाली जाती हैं।
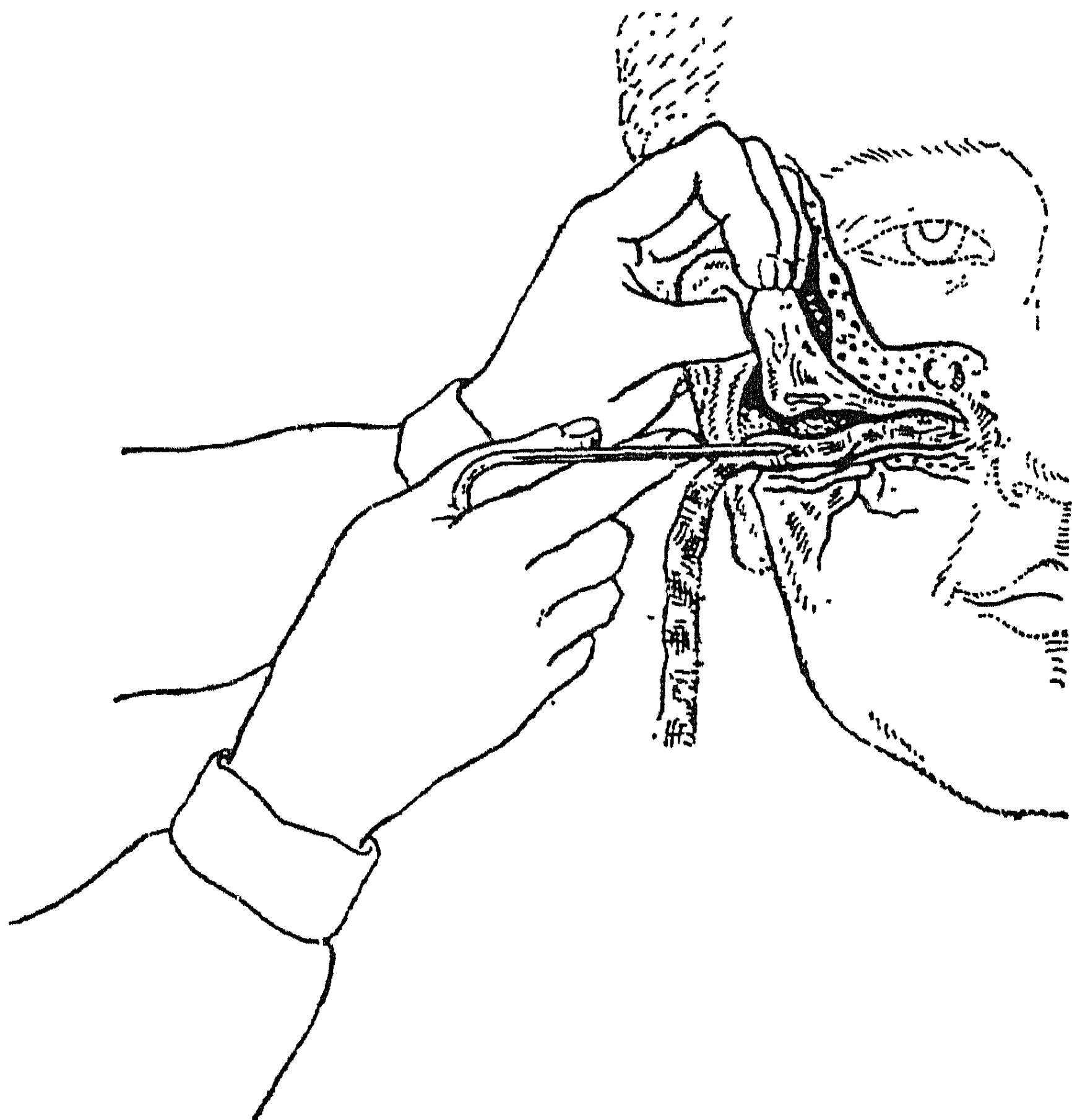
चित्र 121. बाह्यकर्ण कुहर मे गाज के प ाहे को डालना।

मध्य कर्ण के सपूय शोथ के उपचार की शुष्क विधि में कर्ण कुहर में गाज टैंपन का भरण किया जाता है। इससे मध्य कान का निकास होता हैं कुछ रोगों में यह सर्वोत्तम चिकित्सा उपाय है। कान में दवाई की बूँद डालने या धोवन के बाद भी गाज टैंपन का भरण किया जा सकता है पर भरण से पूर्व कुहर को सुखा दिया जाता है।

कर्ण टैंपन के सिरे में विशेष प्रकार की पर्त लगाकर पतली गाज 5 सें.मी. लंबी बनाई जाती है जिसे वक्र संदश से पकड़ कर सावधानीपूर्वक श्रवण कुहर में अधिक-से-अधिक 2.5 सें.मी. तक घुसाते हैं (चित्र 121)। संदंश को कान से बाहर निकाल लेते हैं और टैंपन को सिरे में 1.00 से 1.5 सें.मी. दूरी से पकड़ कर सावधानी से कान में फिर घुसाते हैं, जब तक कि यह मध्य कर्ण कला को स्पर्श न करने लगे। कुहर में भरण ढीला किया जाता है जिससे आंतरिक भाग में पूय न बना रहे। प्रचुर मात्रा में स्राव होने पर टैंपन को दिन में पॉच या छः बार बदला जाता है। यदि पूय कम स्रावित हो तो दिन में एक या दो बार बदला जाता है।

यहाँ वर्णित सभी हस्तोपचारों को बहुत ही कोमलता से किया जाता है और पूरी अपूति को बरता जाता है जिससे कि कोई चोट न लगे य अन्य कोई उपद्रव जैसे बहिर्कर्ण शोथ न हो जाय।

औषधियों का अवचारण

कर्ण रोग में प्रयुक्त औषधियाँ बिंदुक, मलहम, इमल्शन या पाउडर के रूप में होती हैं। सबसे अधिक प्रचलित हस्तोपचार बिंदुपात है।

औषधि का बिंदुपात करने से पहले कर्ण कुहर में से सपूय स्राव को साफ किया जाता है। प्रघाण उपकरण में उद्दीपक से बचाव के लिए बिंदुपात करने से पूर्व सभी बिंदु औषधियों को शरीर के तापमान तक गर्म किया जाता है। बिंदु औषधि को गर्म करने के लिए 37^0 से कुछ अधिक उष्ण जल में उसकी शीशी रखी जाती है। रोगी अपने कान को प्रतिपक्षी की ओर झुका देता है। बाएँ हाथ से बहिःकर्ण को आगे-पीछे खींचकर आँख वाले पिपेट या चाय के चम्मच से बूँदें कान में डाली जाती है (चित्र 122 और 123)। ये बूँदें पहले कर्ण कुहर की पश्च ऊर्ध्व भित्ति पर पड़ती हैं और फिर धीरे-धीरे मध्यकर्ण कला तक पहुँच जाती हैं। 10-15 मिनट
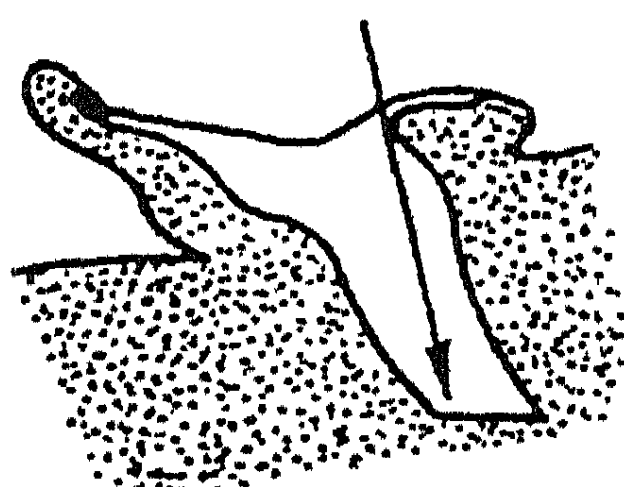
चित्र 123. कान में बिंदुपात करने का गलत ढंग
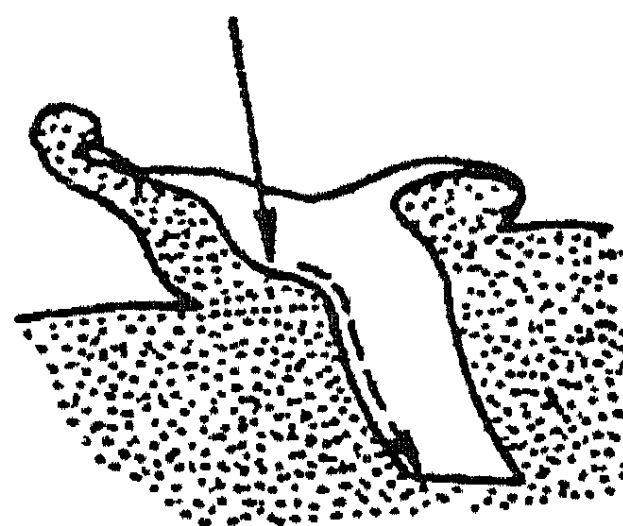
चित्र 122. कान में बिंदुपात करने का सही ढंग।

के बाद सिर से रोगी कान वाले भाग को नीचे कर देते हैं ताकि बूँदें बाहर निकल जाएँ। इसके बाद कुहर को ऊपर बताए गए ढंग से सुखाया जाता है और यदि चिकित्सक का निर्देश हो तो ढीली गाज टैंपन कान में भर दी जाती है। इन बिंदुओं को दिन में दो-तीन बार बिंदुवित करते हैं। गलत ढंग से बिंदुकन करने से बूँदें सीधे मध्यकर्ण कला पर गिरती हैं, जिससे अरुचिकर संवेदना होती है और कभी-कभी पीड़ा होकर चक्कर तक आने लगते हैं (चित्र 123)। बाह्य कर्ण कुहर और बहिःकर्ण के रोगों में मलहम लगाया जाता है। आमोनियायुक्त मरकरी, पीला मरक्यूरिक आक्साइड और जिंक मलहम या 1-5 प्रतिशत सल्फानिलामाइड या सिंथोमाइसीन इमल्शन अधिकतर प्रयोग किया जाता है। कुहर की भित्तियों का प्रोब या माचिस की तीली पर रुई लपेट कर आलेप करते हैं। कभी-कभी मलहम युक्त टैंपन को कुहर में 15 से 30 मिनट तक पड़ा रहने देते हैं।

औषधि-चूर्ण का प्रधमन उपचारिका या रोगी के संबंधी द्वारा चित्सिक के निर्देशानुसार किया जाता है। पहले कर्ण-कुहर में ये पूय को बड़ी सावधानी से धोवन या शुष्कविधि से साफ कर लिया जाता है और फिर चूर्ण बोरिक एसिड, सल्फाइडायजीन, सल्फाडिमाइजीन का प्रयोग शुद्ध रूप में अन्य औषधियों (पेंसिलीन या सिंथोमाइसिन) में मिलाकर किया जाता है। पाउडर को कान में प्रधमनित्र से फूँक द्वारा डाला जाता है (चित्र 124)। प्रधमनित्र उपलब्ध न होने पर कागज की कीप में या वीक्षण यंत्र
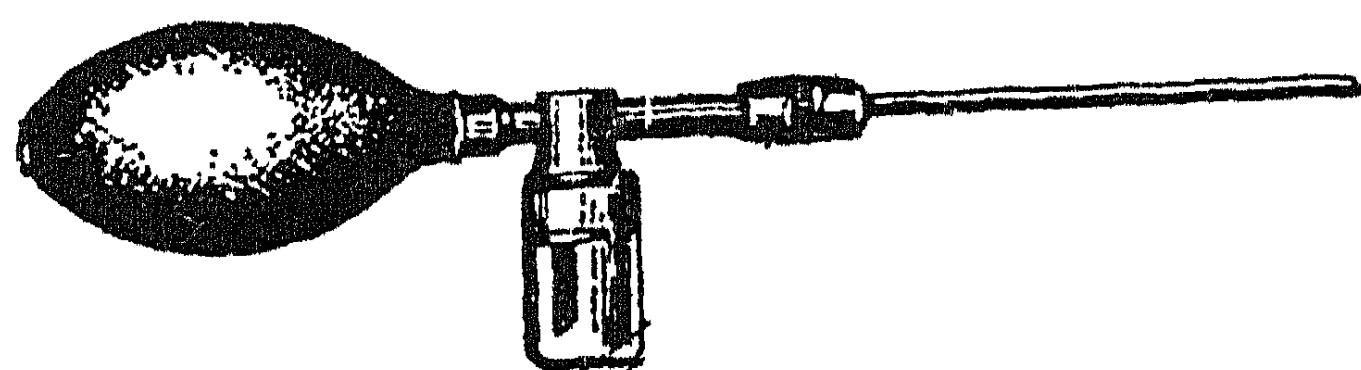
चित्र 124. पाउडर प्रधमनित्र।

चित्र 125. कर्णधोवन के लिए पिचकारी।
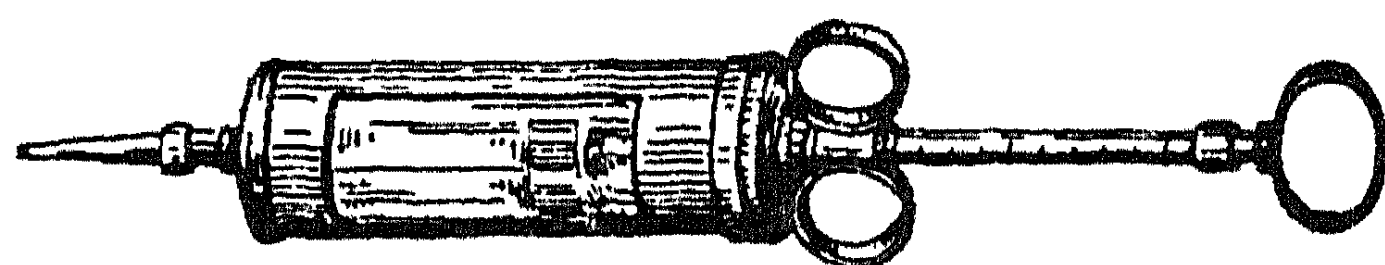
के सिरे पर थोड़ा सा चूर्ण लिया है। कीप या वीक्षण यंत्र के सिरे को कान में घुसाकर चूर्ण की रबर के गुब्बारे से फूँक मारकर कान में पहुँचाते हैं। प्रधमनित्र के सिरे को उबाल कर विसंक्रामित करते है। पर रबर के यंत्रों को 4 प्रतिशत कारबोलिक एसिड घोल में धो कर विसंक्रामित किया जाता है। प्रधमन के लिए कर्ण कुहर को सामान्य विधि से सीधा करके चूर्ण इस तरह सावधानी से डालते हैं कि मध्य कर्ण कला पर चूर्ण की एक महीन समतल तह जमे, न कि पाउडर के ढेले बन जाएँ जिनसे पूय का निकास अवरुद्ध हो जाय। कर्णमूल क्रिया पर बर्फ वाली रबर की थैली या उष्ण या संपीडन से सेंक किया जाता है और कान पर पट्टी रोगी की देखरेख के सामान्य नियमों के अनुसार बाँधी जाती है।

पनसिका कर्ण शोथ

त्वचा में खरोंच और दरारों के द्वारा स्टेफाइलोकोकस रोम-क्रूप और त्वक वसीय ग्रंथियों में प्रवेश कर पनसिका कर्णशोथ या बहिर्कर्ण शोथ पैदा करते हैं। फुंसियाँ केवल कर्ण कुहर के उपास्थिसम भाग से होती हैं।

लक्षण : रोगी को पीड़ा का अनुभव होता है जो कि दाँत और गले तक फैल जाती है। मुँह खोलने के प्रयास में, विशेषकर चर्वण से, पीड़ा बढ़ जाती है। कुहर का उपास्थिसम भाग अत्यधिक संकीर्ण हो जाता है। कुहर की तुगिका और उपास्थिसम भाग में सेंक विशेष रूप से पीड़ादायक है। उस भाग की लसीका पर्विका का आकार बड़ा हो जाती है और परिस्पर्शन में स्पर्शसह्य होती हैं। शरीर का ताप बढ़ जाता है। बहुधा श्रवण शक्ति का लोप नहीं होता है। यह रोग पाँच से सात दिन तक बना रहता है, पर फुंसियाँ बहुधा फिर निकल आती हैं और कई हफ्तों तक बनी रहती हैं। मधुमेही, गुर्दे के रोग से पीड़ित या अत्यधिक चयापचयी विकार वाले रोगियों में फुंसियों की पुनरावृत्ति बहुधा दीर्घकालिक होती है।

उपचार : सूखा सेंक देना, कर्णकुहर में 10 प्रतिशत अल्यूमीनियम एसीटेट घोल या 70 अंश अल्कोहल में सराबोर गाज टैंपन को संकरा करके प्रवेश करना और क्वार्टज लैंप या सौलक्स लैंप से विकीरण करने की सलाह दी जाती है। फुंसियाँ बनने पर उनका मुँह खोल दिया जाता है।

रोकथाम और देखरेख : कर्ण कुहर की भित्तियों पर 70 अंश बोरिक अल्कोहल या पीले मरक्यूरिक आक्साइड मलहम का आलेप करके (विशेष कर त्वचा के छाजन में) फुंसियों के पुनरावर्तन को रोका जा सकता है। कुहर में महलम लगाने के लिए रुई की छोटी बत्ती 1.5 से 2.0 सेमी लंबी बनाकर चिकनी प्रोब पर पेट प्रयोग में लोई जाती है। चिकित्सक द्वारा निर्देशित मलहम को रुई की बत्ती पर लगाकर बड़ी सावधानी से कुहर में घुसाया जाता है। प्रोब को निकाल लेते हैं पर बत्ती को कान में 15 से 20 मिनट तक पड़ा रहने देते है। सामान्य पनसिका दोग में सामान्य उपचार (लौह और आरसेनिक के योग, कोड सिल्वर लिवर तेल और विटामिन) लेने का निर्देश दिया जाता है। पेंसिलीन के अंतरपेशीय इंजेक्शन लगाए जाते हैं।

अंतर्घट्टित कर्ण गूथ

बाह्य कर्ण कुहर की त्वचा में स्थित कर्ण गूथ ग्रंथि का स्राव बढ़ जाने से ठेंठ (कर्णगूथ) इकट्ठा हो जाता है जो अंतर्घट्टित कर्ण गूथ का रूप ले लेता है।

लक्षण : अंतर्घट्टित यदि कर्ण गूथ कर्ण कुहर को पूरी तरह रोध लेती श्रवण शक्ति एकाएक कुंद हो जाती है। इस प्रकार की श्रवण शक्ति की आंशिक हानि स्नान या केश धोने के बाद बहुधा हो जाती है जब पानी कान में चला जाय और

कर्ण गूथ फूल पर गुहिका पथ को पूरी तरह अवरुद्ध कर ले।

उपचार : कर्ण गूथ को निकालने और श्रवण शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए 100 घन सें. मी. वाली पिचकारी (चित्र 125) से उष्ण जल (लगभग 37^0 सें) भर कर धोवन किया जाता है।

अंतर्घट्टित कर्ण गूथ को निकालने का काम उपचारिका को सौंपा जा सकता है। जल की धार पश्चऊर्ध्व कुहर भित्ति पर लगाई जाती है, जिससे कि मध्यकर्ण कला और कुहर भित्तियाँ धुल जाती हैं। यदि धोवन सही ढंग से न किया जाय और पानी की धार सीधी मध्य कर्णकला पर पड़े तो कान में पीड़ा शुरू हो जाती है और कला पर चोट भी लग सकती है (चित्र 128-129)।

कठोर अंतर्घट्टित कर्ण गूथ एक धोवन क्रिया में सदैव साफ नहीं होता है। ऐसी परिस्थितियों में धोवन से पूर्व कर्णगूथ को मुलायम करने के लिए दो या तीन दिन पहले से ही क्षारीय बिंदु कान में डाले जाते हैं। रोगी को पहले ही बता दिया जाता है कि कर्ण गूथ को फूलने से श्रवण क्रिया अस्थायी रूप से और अधिक खराब हों सकती है।

यदि पहले कभी कान से पूय का स्रावण हुआ हो तो धोवण नहीं करना चाहिए और रोगी को अंतर्घट्टित कर्ण गूथ को उपकरणों निकलवाने के लिए चिकित्सक के पास भेजना चाहिए।
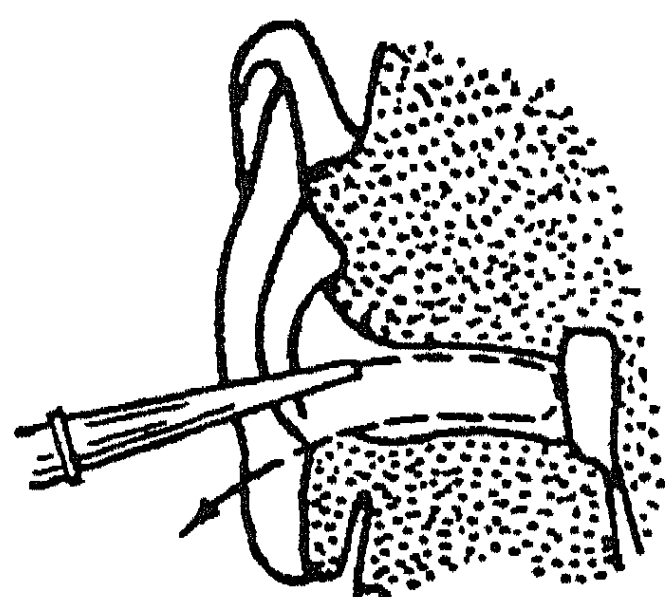
चित्र 126. कान का धोवन (पिचकारी के सिरे की सही स्थिति)।
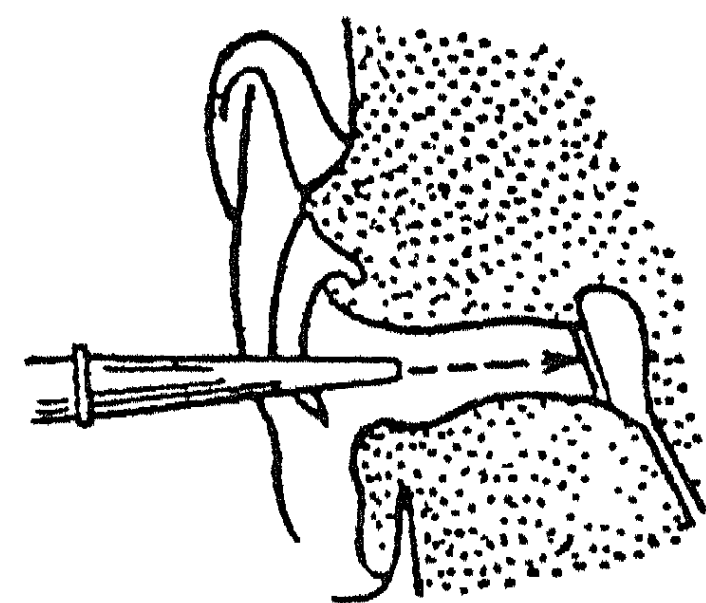
चित्र 127. पिचकारी के सिरे की गलत स्थिति।
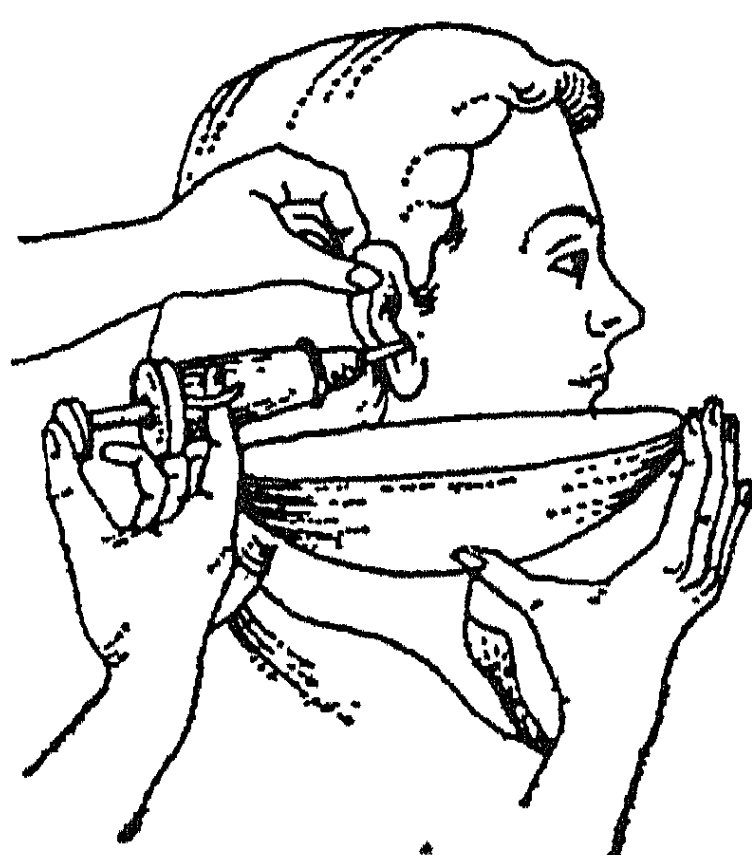
चित्र 128. कान का धोवन (सही स्थिति)
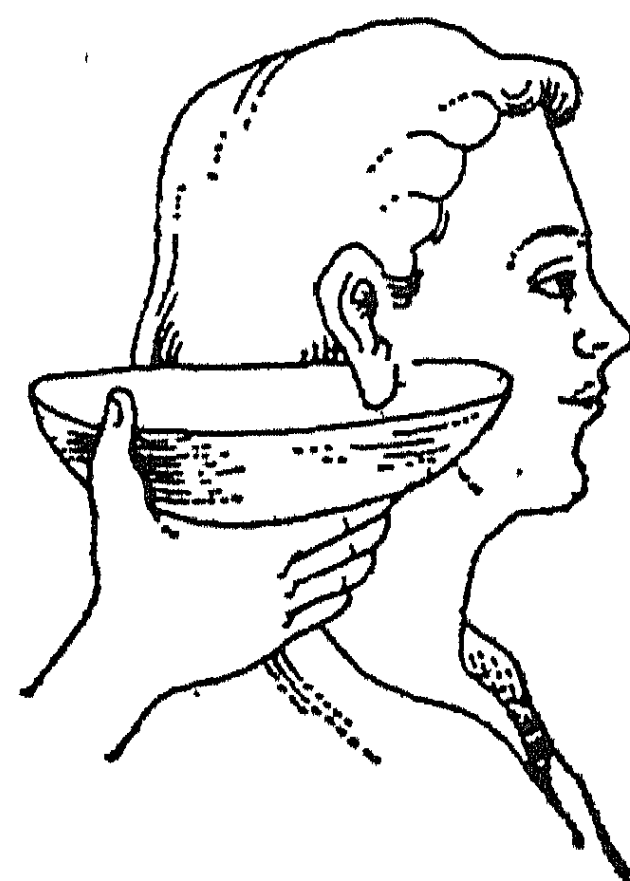
चित्र 129. कान का धोवन (गलत स्थिति)।

Rp. Natrii hydrocarbonatis 0.5
Glycerini
Aq. destill. aa 5.0
Sig. गर्म घोल की 10 बूँदें कान में दिन में तीन बार डाली जाती हैं।

कान में आगंतुक शल्य

कान में आगंतुक शल्य बहुधा दो से आठ वर्ष की आयु वाले बच्चों में होता है जो खेलते समय विभिन्न प्रकार की छोटी चीजों को अपने कान में डाल लेते हैं। ज्यादातर कान में आगुंतक शल्य से कोई परेशानी महसूस नहीं होती है। कभी-कभी कास प्रतिवर्त और कभी-कभार श्रवण शक्ति की आंशिक हानि होती है। कान से आगंतुक शल्य को निकालने के बेढंगे प्रयास से बाह्य कर्ण कुहर में शोथ और कभी-कभी मध्यकर्ण कला में विदार तथा मध्यकर्ण में तीव्र शोथ हो जाती है।

कान में घुस जाने पर कीड़ा कुहर भित्ति पर और मध्यकर्ण कला पर रेंगता है जिससे कान में पीड़ादायक खुजली शोर और टिक-टिक की आवाज होती है।

उपचार : कर्ण कुहर का उष्ण जल से धोवन करके आगंतुक शल्य को निकाला जाता है (जैसे कि अंतर्घट्टित कर्ण गूथ से निकालने में करते हैं)।

कान में घुसे हुए कीड़े को उष्ण ग्लीसीरीन, वैसलीन आयल, कैंफर तेल या अल्कोहल की कुछ बूँदें डालकर मार दिया जाता है और फिर कान का धोवन किया जाता है। यदि धोवन द्वारा आगंतुक शल्य कान से बाहर न निकले तो फिर चिकित्सक इसे देखकर कुंठित या पैने अंकुश से इसे निकालता है (चित्र 130) (कभी-कभी संज्ञाहरण भी करना पड़ता है)। गोल चीज को निकालने के लिए संदेश का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह संदेश से फिसल कर कुहर ओर गहरे जा सकती है। मटर जैसे आगंतुक शल्यों को, जिनमें फूलने की प्रवृत्ति होती है, निकालने से पहले 96 अंश अल्कोहल की कुछ बूँदें नलिका में डालकर पहले सुखा लिया जाता है (एक या दो दिन तक कान में 10 बूँद दिन में चार या पाँच बार)। (गुरियाँ, छोटी धातु की गोलियाँ, इत्यादि)। आगंतुक शल्य कान मे पड़े रह कर भी कोई नुकसान नहीं पहुँचाते हैं, इसलिए इन्हें निकालने का प्रयास तब तक नहीं करना चाहिए जब कि हस्तोपचार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ न हों। उपचारिका कान से आगंतुक शल्य निकालने के लिए आवश्यक उपकरण तैयार करती है : कान की पिचकारी, बोरिक एसिड का 3 प्रतिशत उष्ण

चित्र 130. अकर्तक हुक के द्वारा कान से आगंतुक शल्य को निकालना।

घोल, कुंठित और पैने अंकुशावक्र संदश और विसंक्रमित रुई।

उपचारिका को केवल धोवन विधि द्वारा कान से आगंतुक शल्य निकालने की अनुमति है। उपकरण द्वारा आगंतुक शल्य निकालने की क्रिया केवल चतुर विशेषज्ञों द्वारा ही होनी चाहिए।

मध्य कर्ण का तीव्र शोथ

मध्य कर्ण का तीव्र शोथ एक वहुत ही आम रोग है और विशेष रूप से बच्चों में कर्ण नलिका के द्वारा मध्य कर्ण कला के संदूष से (जैसे तीव्र नासाशोथ या वायु विवर शोथ, इत्यादि में) यह रोग होता है। यह संदूषण रक्त-जन्य पथ, अर्थात रक्त द्वारा लाए गए संक्रमण, से होता है। ऐसा प्रायः तीव्र संक्रामक रोगों में होता है। क्षतिग्रस्त मध्य कर्ण कला के द्वारा मध्य कान में संक्रामण बहुत ही कम पहुँचता है।

लक्षण : सार्वदैहिक अस्वस्थता, शरीर का बढ़ा हुआ ताप, श्रवण शक्ति की आंशिक हानि और पीड़ा न केवल कान में, बल्कि कर्णमूल क्षेत्र में भी होते हैं। ये ही इस रोग के लक्षण हैं। इसमें कभी-कभी पूरे सिर में पीड़ा होती है। कान में इतनी असह्य पीड़ा हो सकती है कि आपदकालीन स्थिति आ जाय और विशेषज्ञ को बुलाना पड़े। कारबोल-ग्लीसीरीन की बूँदें कान में डालने से पीड़ा में आराम आ जाता है और साथ में खाने वाली औषधियों में एसीटाइल सैलीसिलिक एसिड और कभी-कभी एमिडोपाइरीन और प्रतिजीवी औषधियाँ दी जाती हैं। कार्बोग्लीसीरीन की

Rp. Acıdi carbolıcı 0.3-0.5
Glycerini purı 10.0

Sig. दिन में तीन बार दस-दस मिनट के लिए कान में गरम घोल की 6-8 बूँद तक डालें।

बूँदें कान में केवल उसी हालत में डाली जाती हैं जब कान से किसी प्रकार आस्रावान न हो। यदि कान में आस्राव हो तो कारबोलिक एसिड का कान में डालना बिल्कुल बंद कर देना चाहिए, क्योंकि यह गीले पूय के माध्यम में मिलकर कर्ण त्वचा और मध्य कर्ण त्वचा और मध्य कर्ण कला में जलन पैदा करता है। जैसे ही कान से आस्राव का पता चले उसी समय उपचारिका को कार्बोल ग्लीसीरीन का प्रयोग बंद कर देना चाहिए। स्वापंक और निद्रापक औषधियाँ चिकित्सक के निर्देश पर दी जाती है। यदि दो-तीन दिन में आराम न आए और रोग के लक्षण बने रहें, जैसे शरीर ताप बढ़ा रहे तो पारवेधन (मध्य कर्ण कला का वेधन) किया जाता है, जिससे कि पूय का विसर्जन हो जाय और अन्य काई उपद्रव पैदा न हो सके। मध्यकर्ण के तीव्र शोथ के सभी रूपों में कर्ण वाहिका निकोचन बिंदु डालने का निर्देश दिया जाता है।

मध्यकर्ण के तीव्र शोथ वाले रोगियों की उपचर्या द्वारा देखभाल में सामान्य देखरेख (यह देखना कि रोगी का बिस्तर आरामदेह है, उसका शरीर-तापमान लेना, और ठीक समय पर उपयुक्त भोजन देना) तथा चिकित्सक द्वारा निर्देशित सभी हस्तोपचार शामिल हैं। कर्ण बिंदु के फ्लास्क को 37-38^{0} सें. उष्ण जल में रख कर शरीर के तापमान तक गर्म किया जाता है। कान से आस्राव होने पर कार्बोलग्लीसीरीन की बूँदें बंद कर दी जाती हैं और बिंदुपातन की जगह कान को साफ करने से शुष्क उपाय ले लेते हैं या पूय को पतली गाज पट्टी डालकर साफ करते है या 0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट या स्वच्छ कुहर में हाइड्रोजन परआक्साइड का उपयोग किया जाता है।

Rp. Sol. Zinci sulfatis 1% 10.0
Sig. गर्म घोल की 8 बूँदें कान में दिन में 2-3 बार डालते हैं।

मध्यकर्ण का चिरकारी सपूयशोथ

मध्य कान के तीव्र शोथ का अपर्याप्त और अनुपयुक्त उपचार होने से यह शोथ चिरकारी रूप ले लेता है (चिरकारी सपूय मध्यकर्णशोथ)। नासागुहिका में चिरकारी शोथ (चिरकारी नासा शोथ और वायु विवर शोथ में) और नासा ग्रासनी (चिरकारी कंठशालूक शोथ) से यह रोग होता है। रोग लक्षण के आधार पर चिरकारी सपूयशोथ के दो रूप हैं : मध्य कर्ण कला का केंद्रीय छिद्रणवाला कर्ण शोथ (मध्य-कर्ण शोथ) और अधिमध्य कर्ण शोथ। अधिमध्य कर्णशोथ में मध्यकान की अस्थिवाली भित्तियाँ प्रभावित होती हैं।

लक्षण : मध्य कर्ण कला में स्थायी छिद्रण होना चिरकारी सपूय शोथ का लक्षण है। इसमें कान से निरंतर या समय-समय पर आस्राव होता रहता है तथा श्रवण शक्ति बहुत घट जाती है। मध्य कर्ण की श्लेष्मल कला के अधिक आवेष्टन से आस्राव श्लेष्मासपूय और गंधहीन होता है। अस्थि ऊतकों के आवेष्टन से ये स्वयं नष्ट हो जाते हैं और कर्ण आस्राव बहुधा बहुत ही बदबूदार होता है। आनन तंत्रिका का आंशिक-घात, कर्णशोथ पूतिता, और मस्तिष्क-व्रण जैसे उपद्रव इस प्रकार के कर्ण शोथ में हो सकते हैं।

उपचार : चिरकारी सपूय कर्णशोथ के उपचार में प्रोब पर लिपटी हुई रुई से कान की सफाई, बोरिक या सैलीसाइलिक अल्कोहल या फ्यूरोसिलीन (नाइट्रोफ्यूरोजोन) घोल का बिंदुपात और कान में सल्फानिलामाइड पाउडर या बोरिक एसिड चूर्ण का फूँक मार कर डालना, आदि शामिल हैं। मध्यकर्ण कला के बड़े छिद्रण में उष्ण शारीरी लवण घोल से हफ्ते में एक या दो बार कान का धोवन करने से लाभ होता है।

Rp. Acidi borici 0.8
hydrogenii hyperoxydati

Spiritus aethylici aa 10.0

Sig. कान में 8 बूँदें दिन में तीन बार डालें।

Rp. Acidi borici 0.3

Spiritus aethyici 70% 10.0

Sig. कान में 8 बूँदें दिन में तीन बार डालें।

Rp. Furacilini in spiritus aethylici 1:1500 20.0

Sig. कान में 8 बूँदें दिन में तीन बार डालें।

Rp. Acidi salicylici 0 2

Spiritus aethylici 20.0

Sig. कान में 8 बूँदें 15-20 मिनट के लिए दिन में तीन बार डालें।

पापलिस और कर्णाकुरों को चिकित्सक 10-30 प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल से दहन कर्म द्वारा निकाल देता है। अधिमध्य कर्ण शोथ में अधिस्थ कर्ण हरी का धोवन 3 प्रतिशत बोरिक अल्कोहल से विशेष नली के द्वारा करते हैं। यदि इस उपचार का असर न पड़े और रोग बढ़ने लगे तो शस्त्र कर्म किया जाता है।

कान के शस्त्र कर्म के बाद रोगी का उपचार

शस्त्र कर्म के बाद से 24 घंटों में रोगी की उपचार व्यवस्था प्रयुक्त संज्ञाहरण की किस्म के अनुसार की जाती है। जिस रोगी का सार्वदैहिक संज्ञाहरण देकर शस्त्रकम्र किया गया हो उसके श्वसन, नाड़ी, धमनी चाप और मूत्रण-चाप व मूत्रण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो, जैसे उत्तान और शीघ्र श्वसन, कमजोर नाड़ी, धमनी चाप का एकाएक घट जाना, तो उपचारिका द्वारा तत्काल ही चिकित्सक को सूचित किया जाना चाहिए।

रोगी को शस्त्रकर्म कक्ष में से पहिए वाले स्ट्रेचर पर लाया जाता तथा गद्देदार बिस्तर पर पीठ के बल इस प्रकार लिटाया जाता है कि शस्त्र-कर्म किया हुआ कान ऊपर की तरफ रहे।

यदि मानोवियोजी औषधि वर्ग का इंजेक्शन देकर संज्ञाहरण किया गया हो तो, स्थानिक संज्ञाहरण देकर शस्त्रकर्म किए गए रोगी पर भी सावधानी-पूर्वक निगाह रखनी चाहिए। रोगी को बिस्तर पर बैठने नहीं दिया जाता, क्योंकि लंबस्थित में बैठने से रोगी अचेत हो जाता है, कारण कि मनोवियोजी और्षधि वर्ग का (पिपोल फेन और विशेषकर अमीनाजीन का) दीर्घकालिक वाहिका विसुर प्रभाव होता है। अति उष्मन और निर्जलीभवन से बचाने के लिए रोगी को गर्म कपड़े उढ़ाने चाहिए। कक्ष में ताजी हवा बहुत ही जरूरी है।

तत्पश्चात रोगी के आहार, और पेट तथा मूत्रण के खाली और साफ होने

पर ध्यान देना आवश्यक है—भले ही किसी प्रकार के संज्ञाहरण का उपयोग किया गया हो और किसी भी प्रकार का शस्त्रकर्म हुआ हो। अतः कपाल उपद्रव से बचने के लिए उपरोक्त वातों का ध्यान रखना आवश्यक हैं।

कालिक अस्थि के शस्त्रकर्म के बाद रोगी की देखरेख इस बात पर निर्भर करती है शस्त्रकर्म किस प्रकार का है। उपचारिका को रोगियों का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि उन्हें घुमनी, मतली, वमन न हो और उनकी तंत्रिका की क्रिया में उपद्रव न हो। उपरोक्त लक्षणों को देखते ही चिकित्सक को समय से सूचित करना चाहिए। यदि शस्त्रकर्म के बाद की गई पट्टी जल्दी ही रक्त से भीग जाय तो भी चिकित्सक को तत्काल सूचित करना चाहिए, क्योंकि यह शस्त्रकर्मोत्तर घाव से रक्तस्राव के कारण हो सकता है।

कान के उन्मूलक शस्त्रकर्म के बाद खून से तर पट्टी को बदलना जरूरी है, विशेषकर स्तंभिका प्ररूपी मध्यकर्ण संसाधन कर्म और लैबीरिंथ (गहन) के शस्त्र कर्म में। उपरोक्त शस्त्र कर्म साफ हाथों से और विसंक्रामित पदार्थों से ही करने चाहिए। घाव के ऊपर लगाए गए पदार्थ पर बाँधी गई पट्टी ही विसंक्रामितहीन हो सकती है। पुरानी पट्टियों को निकालने तथा नई पट्टियों को लगाने के लिए अलग-अलग संदंश का प्रयोग किया जाता है। पट्टी को चिकित्सक के सामने ही जाता है।

उन्मूलक शस्त्रकर्म और स्तंभि के प्ररूपी मध्यकर्ण संसाधन कर्म के वाद रोगी को सात से आठ दिन तक पूर्ण रूप से शय्या विश्राम करने की सलाह दी जाती है, तब तक, जब तक कि पहली पट्टी न बदल ली जाय। चिकित्सक द्वारा निर्देशित समय पर प्रतिजीवी इंजेक्शन लगाने चाहिए।

यूस्टेशियन नली और मध्यकान का तीव्र और चिरकारी अभिष्यंद

नाक और नासा ग्रसनी के विभिन्न रोगों (तीव्र और चिरकारी नासाशोथ, कंठशालूकशोथ, नासा पालिप् इत्यादि) से मध्यकाल का तीव्र और चिरकारी अभिष्यंद होता है। ऐसे रोगों में शोथ यूस्टेशियम नली (श्रवन नली) तक फैल कर उसमें संकीर्णता पैदा करता है। इस प्रकार से मध्यकान के संवातान में विघ्न पड़ता है, जिसके फलस्वरूप मध्यकर्ण कला आकुंचित होती है कर्णपट्ट और कर्णस्थिका भी अचल हो जाती है। इससे धीरे-धीरे श्रवण शक्ति घट जाती है और कर्ण श्वेण हो जाता है। इस अवस्था को मध्यकान का आसंजी अभिष्यंद कहते हैं।

मध्यकान की इस विकार स्थिति के उपचार में सबसे पहले नाक और नासाग्रसनी के मुख्य रोग का उपचार होना चाहिए।

कर्णपट्टह और कर्ण स्थिका श्रेणी की सामान्य गतिशीलता के प्रत्यावर्तन के लिए पोलीत्सर विधि से कानों का वात्प्रधमन करना अतिरिक्त चिकित्सा का एक हस्तोपचार है। 200-300 मी. ली. अंडाकार रबर के गुब्बारे में रबर की नली जोड़कर

कान में हवा भरी जाती है (चित्र 131)। एक नासाद्वार को बंद करके दूसरे में अंडाकार रबर के गुब्बारे को लगाते हैं। रोगी अपने मुँह में थोड़ा-सा पानी भर लेता है और एक, दो, तीन की गिनती करते ही पानी को निगल जाता है। उसी समय गुब्बारे को दबाया जाता है और हवा एक विशेष प्रकार की आवाज के साथ यूस्टेशियन नली में घुसती है।

वात्प्रधमन की यह विधि इस क्रिया पर आधारित है कि जब आदमी एक, दो, तीन बोलते हुए पानी को निगलता है तो काककल उठता है और नासाग्रसनी और मुखग्रसनी पूरी तरह से अलग हो जाती है। यदि इस क्षण पर गुब्बारे को दबाया जाता है तो नासा-गुहिका में जमा हवा का दोनों यूस्टेशियन नलियों में पलायन होता है।
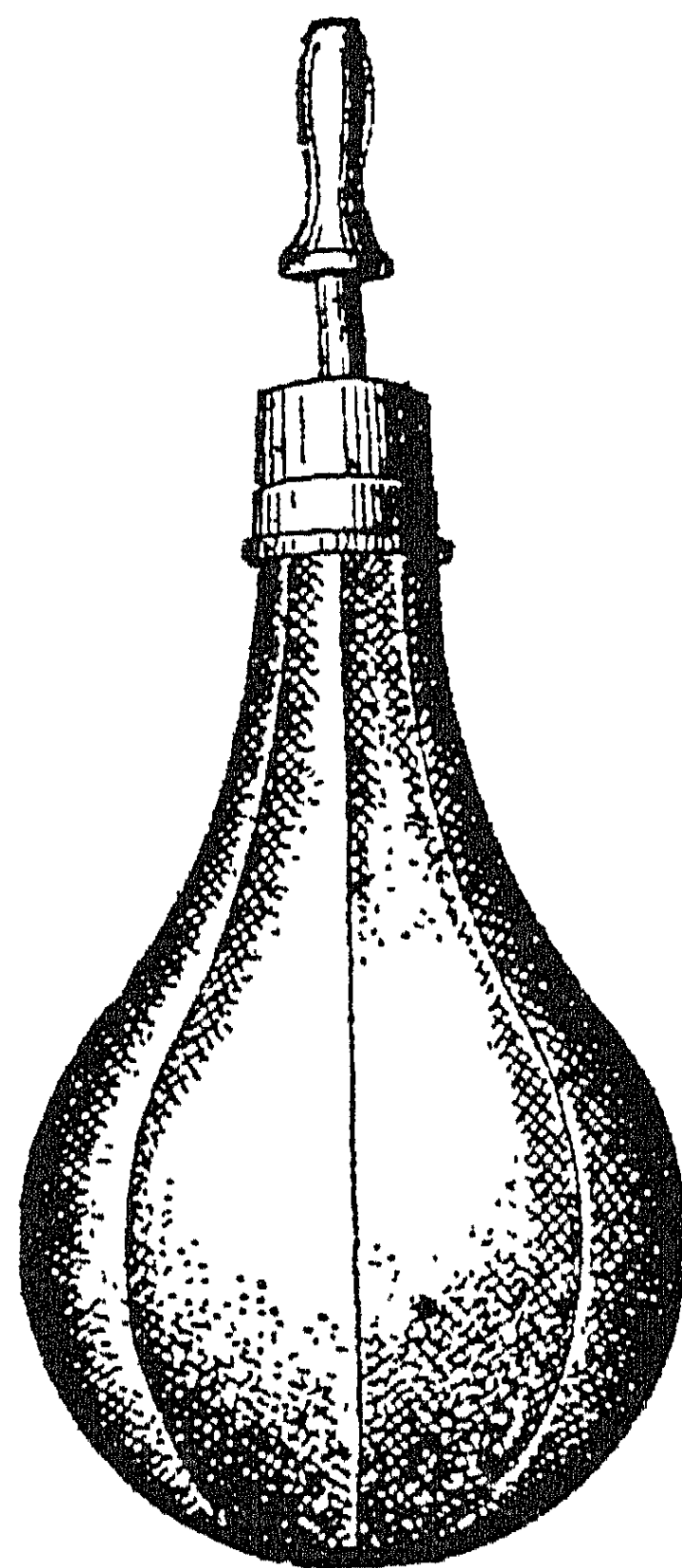
चित्र 131. कान से वात्प्रधमन के लिए पोलिटाइसा थैली

कान में अभिघात

कान को साफ करने के लिए प्रयुक्त माचिस की तीली या बालों की पिन से कर्णपटह में चोट लग सकती है। कान से आगंतुकशल्य को निकालने के अनाड़ीपन वाले प्रयास से, कान पर प्रहार करने से और वायुमंडली दाब में उतार-चढ़ाव से (बंब या गोले के विस्फोट से, बारूदी सुरंग के ज्वालन से, वायुयान के एकाएक पर उड़ने और गोता भरने से, पानी में कान करते समय विस्फोटकयान में वायु मंडलीय दाब के गिरने से) भी कर्णपटह में चोट लग सकती है। कपाल के आधार में अस्थिभंग होने से भी कर्ण पटह का विदार हो सकता है।

लवण और प्रक्रिया : कर्णपटह के विदार या परवेधन के साथ चोट लगने के समय से तीव्र पीड़ा होती है। कर्ण कुहर में से रक्तस्राव होता है, कर्ण-श्वेण होता है। श्रवण शक्ति का आंशिक लोप हो जाता है और कभी-कभी घुमनी, मतली और उल्टी होती है। निरीक्षण करने से पटह में विदार दिखाई देता है और रक्तस्रावी नेत्र में अतिरिक्त वाने किनारे होते हैं। विदार से मुख्य भय यह है कि कर्णपटह में संक्रमण न पहुँच जाय जिससे सपूय मध्यकर्ण शोथ होकर अंत-कपाल संक्रमण या पूतिता का उपद्रव न हो।

उपचार : कान का धोवन, बिंदु का डालना। चोट लगने के कुछ दिन बाद तक कर्ण कुहर का सफाई करना पूर्णतः निषिद्ध है। कान पर विसंक्रामित पट्टी बाँधना ही प्राथमिक उपचार है। रोगी को विशेषज्ञ की निगरानी में रखा जाता है।

गोली लगने से या गिरने से, सिर में नील पड़ने के मध्य और आंतरिक कान बहुधा क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। बहुत से रोगियों में कपाल-गुहिका, दीर्घवाहिकाओं और मस्तिष्क में संसर्गी क्षति हो जाती है। शस्त्रकर्म के सामान्य नियमों के अनुसार प्राथमिक चिकित्सा दी जाती है। कान पर अपूतिक पट्टी बाँधी जाती है और रक्तस्राव को रोका जाता है। विशेषज्ञ द्वारा उपचार किया जाता है।

4
नेत्र-रोग

प्रस्तावना

आँख के रोगों से संबंधित आयुर्विज्ञान की शाखा को नेत्रविज्ञान कहते हैं। इसके अंतर्गत दृष्टि के अंग की शरीर-रचना, शरीर क्रिया विज्ञान का अध्ययन, इसके गुणधर्म और सामान्य अवस्था में इसकी क्रिया और विकृतियों का अध्ययन किया जाता है।

दृष्टि के अंग या दृष्टि विश्लेषक का परिवेश के सामान्य बोध में बहुत महत्त्व है। मानव जीवन में दृष्टि के महत्त्व की आवश्यकता का ज्ञान दैनिक जीवन के काम करने, देखने, लिखने-पढ़ने और लोगों से संपर्क करने में होता है। इसलिए दृष्टि के अंगों को प्रभावित करने वाले रोगों से इनकी सक्रियता कम हो जाती है या अंधता से मनुष्य के काम करने की क्षमता सीमित हो जाती है और इसके फलस्वरूप मनुष्य आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से काम करने में अक्षम हो जाता है।

दृष्टि-अंग जीव का एक अवयव है इसलिए बहुत से दैहिक रोगों की रोगजनक प्रक्रिया में, विशेषकर तीव्र और चिरकारी संक्रामक रोगों (खसरा, डिफ्थीरिया, न्यूमोनिया, विषाणु संक्रमण, आमवात, यक्ष्मा, टाक्सोप्लाज्मता, सिफिलिस, मलेरिया, ब्रूसेलेसिस और अन्य) में इस पर प्रभाव पड़ता है। रक्त और गुर्द की बीमारी, अतिरक्तदावी रोग, मस्तिष्क के अर्बुद और शोथज रोगों, मधुमेह और गर्भकाल में विपालुता का भी आँखों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए नेत्र लक्षणों से मनुष्य के देहिक रोगों का शीघ्र निदान करने में सहायता मिलती है। रहन-सहन की परिस्थितियों, समाजिक और स्वच्छता, स्वास्थ्यकर कारणों से, आबादी के सामान्य और स्वच्छता के निम्न स्तर से, अकुशल चिकित्सा-सेवा से, विशिष्ट चिकित्सा सहायता के प्रभाव से, पोषण-रहित भोजन और हानिकारक व्यावसायिक कारणों से नेत्र रोग होते हैं और बढ़ते है। इन सभी कारणों से जार के समय में रूस में नेत्र रोगियों और अंधों की संख्या बहुत अधिक थी। महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद देश की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन हुए। सामान्य स्वास्थ्य और स्वच्छता के स्तर में उन्नति हुई। जन-समुदाय की चिकित्सा सेवा में सुधार हुआ। रोग-निरोध तथा रोगियों

का सक्रिय रूप से पता लगाने और उपचार करने की चिकित्सा-नीति से देश में से बहुत से संक्रामक रोगों का उन्मूलन हो गया। नेत्र की घटनाएँ और अंधता के रोग बहुत कम हो गए।

सोवियत जन स्वास्थ्य सेवा की सफलता का पता इस बात से लगता है कि चेचक, खसरा, डिफ्थीरिया, गोना-पूयश्लेष्मस्राव और रोहे में होने वाली अंधता का पूर्णतया उन्मूलन हो गया है। रोहों से होने वाली अंधता पहले दृष्टिहीनता का एक मुख्य कारण थी जब यह केवल अत्यंत वृद्ध लोगों को होती है, जिन्हें बाल्य काल में रोहे हुए हों और उनका उपचार समय से न किया गया हो। उत्पादन केंद्रों में भी आँखों में चोट लगने की घटनाएँ बहुत कम हो गई हैं। सबलवाय-रोगियों की रोग-निरोधी जाँच और रोग को आरंभ में पहचानने का काम भी सक्रियता से किया जाने लगा है। उपरोक्त सक्रिय उपाय अतिजटिल निकटदृष्टिता, मोतियाबिंद, यक्ष्मा, अपवर्तन दोष या तिर्यकदृष्टि और जन्मजात नेत्र रोगों के कारण बच्चों की नजर कमजोर होने वाले रोगों के कारण बच्चों की नजर कमजोर होने वाले रोगों से संघर्ष में भी किए जाते हैं।

यदि हम नेत्र रोगों की घटनाओं के पीछे शारीरिक रोगों और विशेषकर संक्रामक रोगों की भूमिका पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि चिकित्सा प्रतिष्ठानों के संपूर्ण तंत्र द्वारा चिकित्सा और रोग-निरोधी उपाय करने से नेत्र रोगों की रोकथाम होती है। इसलिए अंधता को रोकने और उपचार करने वाले चिकित्सक-सहायकों और उपचारिकाओं को नेत्र रोगों की, इनकी रोग-निरोधी विधियों और उपचार की स्पष्ट संकल्पना होनी चाहिए। नेत्र रोग का आरंभ में ही पहचानने का विशेष महत्त्व है। रोगी को प्राथमिक सहायता कुशलतापूर्वक देकर उसे समय रहते नेत्र विशेषज्ञ के पास भेजना चाहिए। तत्पश्चात, औषधालय में रोगी के पंजीकरण और अनुपरीक्षण संबंधी विशेष की सलाह का निष्ठापूर्वक पालन होना चाहिए।

वर्तमान काल में सबलवाय का आरंभ में ही पता लगाना तथा उनका उपचार करना सभी चिकित्सा कर्मियों के लिए एक बुनियादी काम है। आँख को चोट से बचाना उसका उपचार करना, अपवर्तन दोष से पीड़ित बच्चों का समय से पता लगाना और औषधालय में उनका उपचार करना, तिर्यकदृष्टि का समय से पता लगाना और उसका उपचार तथा रोहों के रोग का उन्मूलन और निरोध भी एक बुनियादी काम है।

दृष्टि के अंग की शरीर-रचना और शरीर क्रिया विज्ञान संबंधी संक्षिप्त तथ्य

दृष्टि-अंग की शरीर-रचना

दृष्टि अंग में तीन भाग होते हैं (चित्र 132) : (1) नेत्र-गोलक (2) आँख को मस्तिष्क, अवप्रांतस्था और प्रांतस्था के केंद्रों से जोड़ने वाले तंत्रिका-पथ, (3) अपर या रक्षात्मक
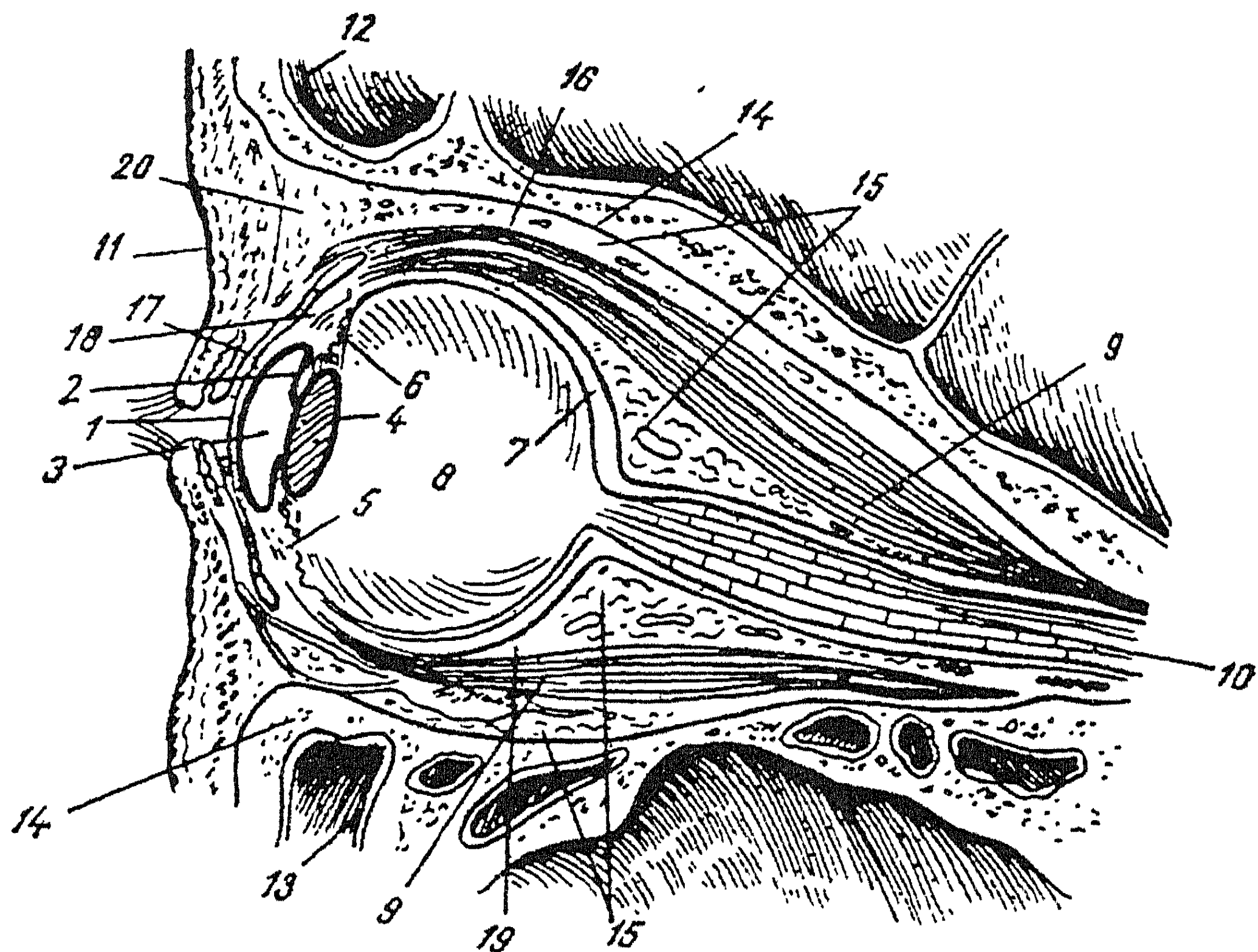
चित्र 132. नेत्र गुहा का लंब परिच्छेद और इसके द्रव्य

1. किरीट, 2. परितारिका, 3. अग्रकक्ष, 4. क्रिस्टलीय लेंस, 5. और 6. रोमकपिंड, 7. श्वेतपटल, 8. काचाभ पिंड, 9. पेशियाँ, 10. दृष्टि तंत्रिका, 11. पलकें, 12 और 13. परानासाविवर, 14. गुहिय स्थियाँ और प्रावर्णी, 15. वसीय कोशिकीय तंतु, 16. ऊर्ध्व पेशीय नेत्रच्छद उन्नायक, 17. पलकों की पेशी कला, 18. नेत्रगोलक की पेशी कला, 19. टेननप्रावर्णी, 20. वर्तम नेत्रगुहा प्रावर्णी।

उपकरण (नेत्रगुहा, पलकें, श्लेष्मल कला और अश्रुअंग)।

नेत्र-गोलक : आकार में लगभग गोल होता है पर सामने की ओर अधिक उत्तल होता है। इसमें तीन पर्तें और द्रव्य होता है (133) बाहरी पर्त में श्वेत पटल होता है जो कि सफेद और मोटा होता है या पारदर्शक नहीं। और किरीट सामने का पारदर्शक और अधिक उत्तल भाग होता है। किरीटपर्त पारदर्शक, दर्पण सदृश्य, चमकदार, वाहिका-रहित और अति संवेदनशील भाग है। इसके द्वारा प्रकाश की किरणें नेत्र गोलक में आती हैं; यह उनके एक भाग का अपवर्तन करता है तथा अन्य का परावर्तन। जिस स्थान पर श्वेत पटल किरीट से मिलता है उसे लिंबस (किनारी) कहते हैं। नेत्रगुहा में कोणीय कक्षा के अग्र भाग की बाह्य भित्ति लिंबस के अनुरूप होती है। इस कोण में शिरा-विवर होता है जिसे श्लेष्मपथ कहते हैं (चित्र 134)। यह नेत्र में अंतरक्षि तरल का मुख्य निकास मार्ग है। अग्र कक्ष कोण की आंतरिक भित्ति परितारिका के तल और रोमक पिंड की बनी होती है। आँख के पश्च छोर पर श्वेत पटल चालनीवत फलक की तरह पतला हो जाता है, जिसके छेदों से दृष्टि
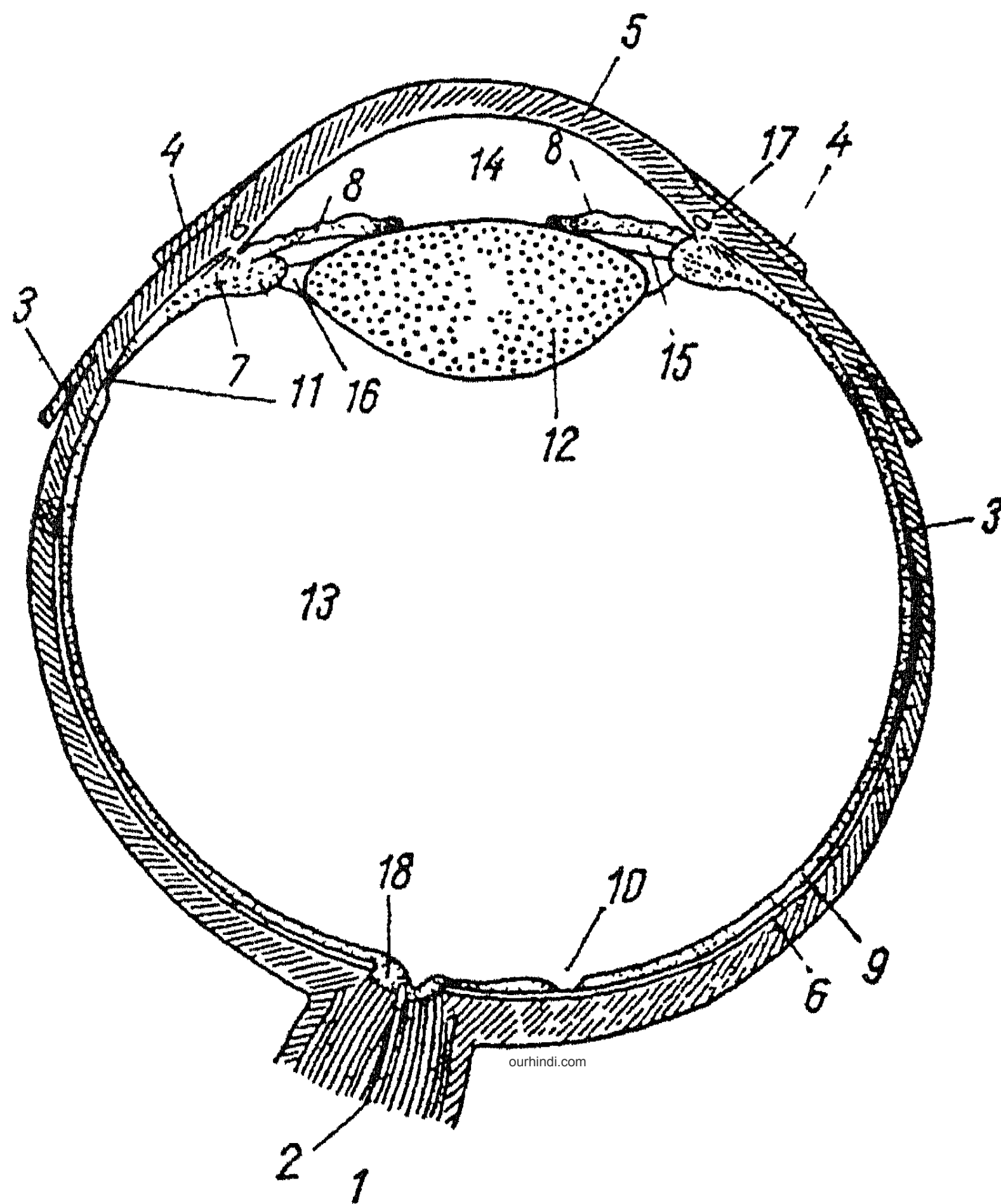
चित्र 133. नेत्रगोलक का क्षैतिज भाग।

1. दृष्टि तत्रिका, 2. दृष्टि तंत्रिका में रक्तवाहिकाएँ, 3. श्वेतपटल, 4. श्वेत पटलीय नेत्र श्लेष्मला, 5. किरीट, 6. कोरायड, 7. रोमकपिंड, 8. परितारिका, 9. दृष्टिपटल, 10. दृष्टिपटल की केंद्रीय गर्तिका, 11. रोमक प्रवर्द्ध, 12. लेंस, 13. काचाभ पिंड, 14. अग्र पक्ष, 15. पश्च कक्ष, 16. निलंबी स्नायु, 17. लिंबरा, 18. चालनीवत फलक।

स्नायु बनाने वाले तंतु गोलक में प्रविष्ट होते हैं। श्वेत पटल को बेध कर गोलक में स्थित वाहिका मय कला में धमनियों का प्रवेश और शिराओं का निकास होता है।

वाहिकामय कला : वाहिकाओं का संग्रह है, जो श्वेत पटल के अंदरस्थित है और तीन भागों में बँटा हुआ है : परितारिका, रोमक पिंड और वाहिकामय कला जिसे रंजित पटल (कोरायड) कहते हैं (देखिए चित्र 133 और 134)। परितारिका किरीट से होकर दिखाई पड़ती है। यह अग्र कक्ष (किरीट और परितारिका के बीच के स्थान) को पश्च कक्ष (परितारिका और ताल के बीच में गोल द्वार होता है जिसे तारा कहते हैं, जो कि वर्तुलपेशी तंतु से संकुचित होती है और अरीय पेशी तंतु से विस्फारित होती है। तारे के आकार में इन परिवर्तनों से प्रकाश का अंतरप्रवाह नियंत्रण होता है। नेत्रोद पश्चकक्ष से अग्र कक्ष में तारे के द्वारा प्रवाहि होता है। आँख के रंग का
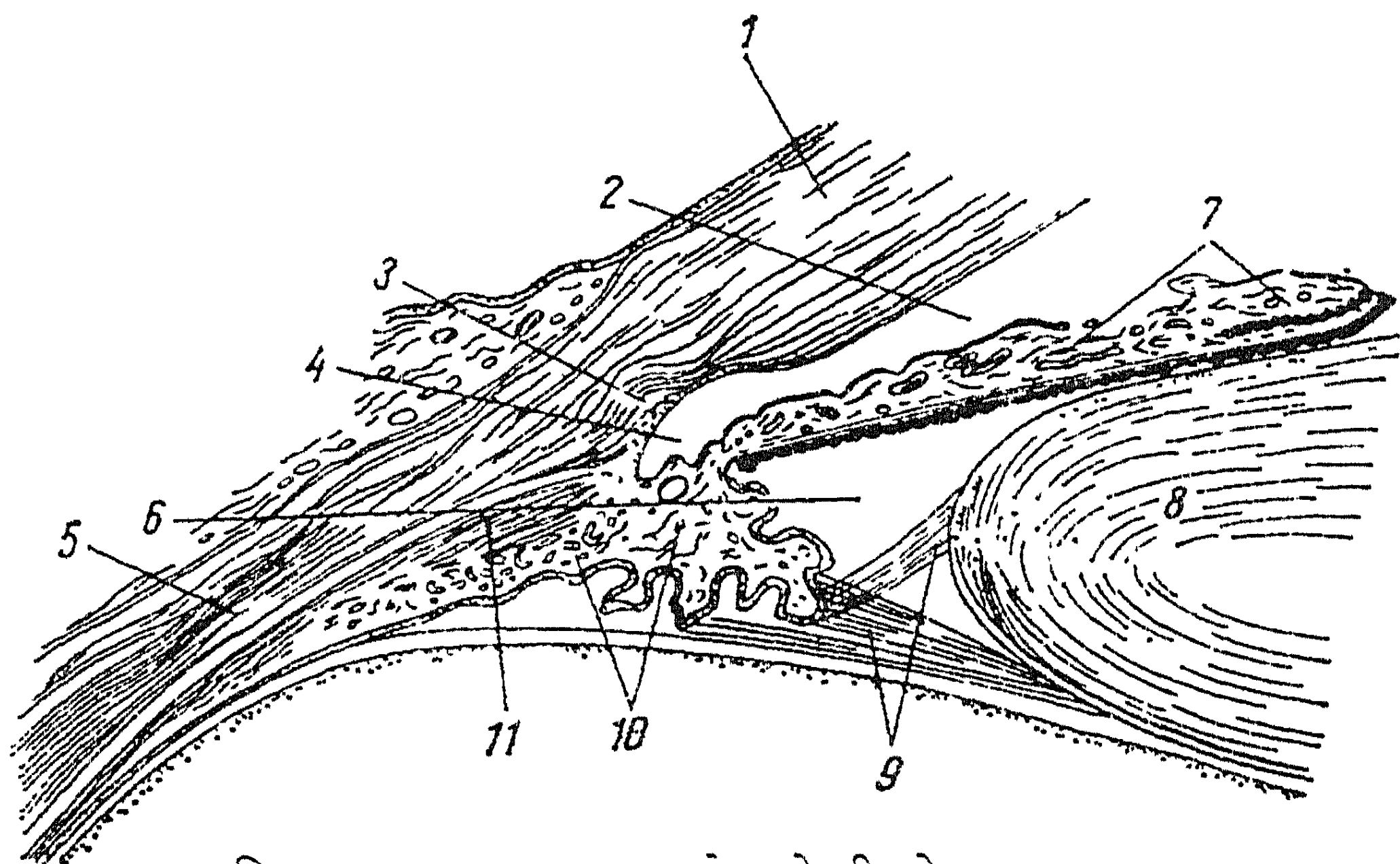
चित्र 134. अग्र कक्ष का कोण से दीखने वाला भाग।
1. करीकट, 2. अग्र कक्ष, 3. श्लेम पथ, 4. अग्र कक्ष का कोण, 5. श्वेत पटल, 6. पश्च कक्ष, 7. परितारिका, 8. लेस, 9. निलंबी स्नायु, 10. और 11. रोमक पिंड

पता परितारिका के रंग से चलता है। परितारिका का रंग इसमें वर्णक की मात्रा पर निर्भर करता है। परितारिका रोमक पिंड के उस भाग से जुड़ी होती है जो लिंबस के भाग के अनुरूप होती है। रोमक पिंड का आकार एक मुद्रिका के समान है। इसका अनुदैर्घ्य परिच्छेदन एक त्रिभुज के आकार में होता है तथा श्वेत पटल से लगा हुआ होता है। रोमक पिंड से अंतरिक्ष तरल निकलता रहता है। इस पिंड में रोमक पेशियाँ होती हैं जो तारे के कैप्सूल के झिन स्नायुओं के द्वारा जुड़ी होती हैं और ताल के साथ संमंजन की क्रिया करती हैं। कोरायाड दृष्टि पटल की बाहरी सतह पर रक्त की आपूर्ति करता है। इसमें वर्णक युक्त उपकला भी होती है जहाँ पर दृष्टि क्रिया के लिए आवश्यक सम्मिश्र प्रक्रिया निरंतर होती रहती है। वाहिका भित्ति में तंत्रिका संग्राहकों के मौजूद होने की वजह से अंतरिक्ष दाब को कोरायड संयमित करता रहता है (दे. पृ. 402)

दृष्टि पटल आँख का सबसे नीचे वाला कोट है जो कोरायड को रोमकपिंड की सीध में रखता है। इस महीन पारदर्शी कला में दस पर्तें होती हैं जो तीन तंत्रिका-कोशिकाओं और इनके पारस्परिक जोड़ों से बनी होती हैं (चित्र 135)। दृष्टि-पटल पर प्रकाश-सुग्राही दृष्टि-भाग वर्णकयुक्त उपकला और शंकु तथा शलाकाओं का बना होता है। यह दृष्टि कोशिकाओं का प्रवर्ध है, जहाँ से प्रकाश का बोध जटिल प्रकाश-रासायनिक क्रिया के द्वारा होता है। दूसरी तंत्रिका-कोशिका (द्विध्रुवी कोशिकाओं की पर्त) और तीसरी तंत्रिका-कोशिका (गंडिका कोशिकाओं की पर्त) प्रकाश क्षोभ को तंत्रिका उद्दीपक के रूप में दृष्टिस्नायु तक संचारित करती है। शंकुओं के द्वारा
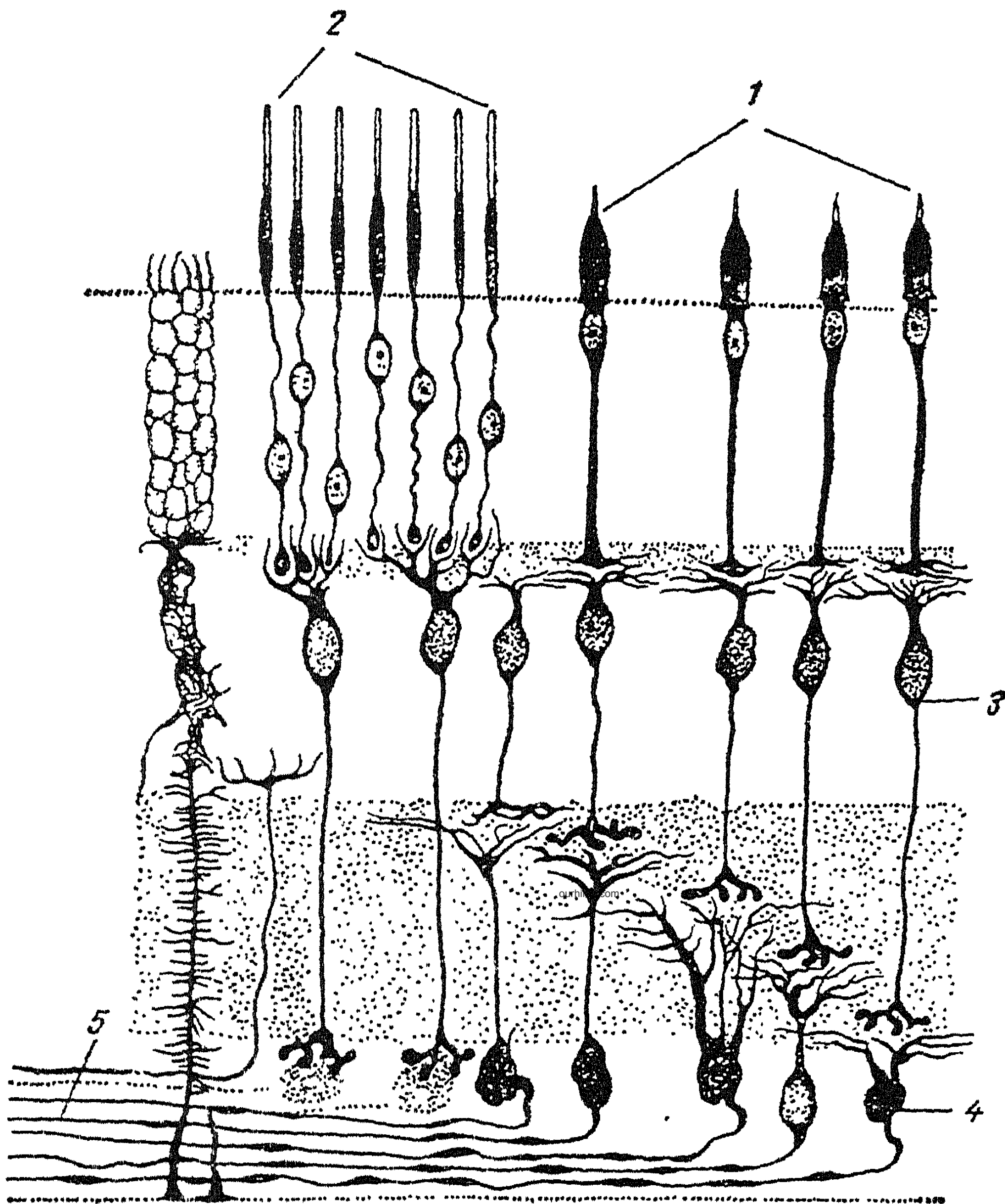
चित्र 135. दृष्टिपटल का कार्यप्रदर्शी चित्रण।

1. किरीट, 2. शलाकाएँ, 3. द्विध्रुवी कोशिकाओं की पर्त, 4. गंडिका कोशिकाओं का पर्त, 5. गंडिका कोशिकाओं के तंतु जो मिल कर दृष्टि तंत्रिका बनाते हैं।

चमकीले प्रकाश, वस्तु के आकार और रंग का बोध होता है और शलाकाओं के द्वारा वस्तुओं की गति और केवल हल्के प्रकाश का बोध होता है। दृष्टिपटल के पश्च स्तम्भ के केंद्र में एक पीला बिंदु होता है, जिसे पीत बिंदु (केंद्र गर्तिका) कहते हैं। इस बिंदु में केवल शंकु होते हैं। दृष्टि पटल की शेष लंबाई में आँख के अग्र ध्रुव की ओर शंकुओं की संख्या कम होती जाती है और शलाकाओं की संख्या बढ़ती जाती है। पीत-बिंदु सबसे अच्छी और साफ दृष्टि का स्थान है जिसे केंद्र कहते हैं और शेष दृष्टि-पटल द्वारा दिखाई देने को परिसरीय दृष्टि कहते हैं।

दृष्टि स्नायु दृष्टि-पटल की गंडिका कोशिकाओं के तंतुओं की वनी होती है। आँख के अंदर इसके भाग को अक्षिविंब कहते है। जो पीत-बिंदु के अभिमध्य में स्थित होता है और हल्का गुलावी अंडाकार होता है (प्लेट X)। अंकुरक (अक्षिबिंब) के बीच से केंद्रीय नेत्र पटल की शिराएँ और धमनियाँ निकलती हैं। अक्षिबिंब में प्रकाश सुग्राही कोशिकाएँ नहीं होती हैं। इसलिए जिस स्थान पर यह बिंदु इस तल पर दिखाई देता है उसे अंध बिंदु कहते हैं। दृष्टिस्नायु श्वेतपटल के चालनीवत फलक में से होती नेत्रगुहा में आती है और वहाँ से आस्थिक नलिका से शिखाग्र के रूप में गुजरती हुई कपाल गुहा में आती है। यहाँ से आगे दाई और बायीं दोनों तंत्रिकाएँ पर्याणिका की ओर बढ़ती है जहाँ कि इनके आंतरिक तंतु ही अक्षिव्यत्यासिका का रूप लेते हैं। इसके बाद की दृष्टि स्नायु प्रकाशिक पक्ष के रूप में चल कर पश्च जानुनत पिंड में स्थित अवप्रांतस्था केंद्रों तक पहुँचती है और पश्चकपाल खंड (प्रांतस्था केंद्र) में पहुँच कर समाप्त हो जाती है। यहाँ पहुँचकर तंत्रिका संवेदन दृष्टि बोध में बदल जाता है।

नेत्रोद आँख का परिदर्शी दृव्य है जो कि अग्र और पश्च कक्ष में तथा लेंस और काचाभ पिंड में भरा होता है। किरीट सहित इन्हें आँख का अपवर्तनी माध्यम कहते हैं क्योंकि प्रकाश की किरणें इनमें गुजरती हैं और उनका अपवर्तन होकर दृष्टिपटल पर फोकस होता है। किरीट एक अत्यंत शक्तिशाली दृष्टि माध्यम है। लेंस और अन्य माध्यमों की अपवर्तनक्षमता अपेक्षाकृत कम होती हैं। परंतु नजर अच्छी होने के लिए इनका पारदर्शी होना अनिवार्य है। नेत्रोद से नेत्र-ऊतकों को पोषण मिलता है।

लेंस परितारिका के पीछे की ओर काचाभ पिंड की धसकन में स्थित होता है। लेंस एक द्वि-उत्तल पिंड है जो एक-दूसरे पर स्तरित तंतुओं से बना होता है। इसकी वजह से आयु बढ़ने के साथ-साथ लेंस के केंद्र में एक मोटा केंद्रक बनता जाता है। लेंस एक कैप्सूल से ढक जाता है जिसमें झिन क्षेत्र या निलंवी स्नायु गुँथ जाती है। निलंबी स्नायु के द्वारा लेंस रोमक-पिंड से जुड़ा होता है तथा उसके साथ समेजन में भाग लेता है।

काचाभ पिंड नेत्र गोलक की मूल ऊतक है, जिसके द्वारा अंतरनेत्रीय दाब का स्तर स्थायी बना रहता है और नेत्रगोलक स्थिर रहता है।

आँख के संरक्षी और सहायक उपकरण

नेत्रगुहा (चित्र 136)। नेत्र गुहा का आकार एक पिरामिट के समान है। इसका शिखर करोटि गुहा के समाने है और इसका आधार सामने खुलता है। इसमें सात करोटि-अस्थियाँ होती हैं : सामने की, गंडक, उर्ध्वहनु, जतूक अस्थि के छोटे और बड़े विभाग, और तालु, नासा तथा झर्झरिका अस्थि के प्रवर्ध। इनसे चार भित्तियाँ बनती हैं : पार्श्व,
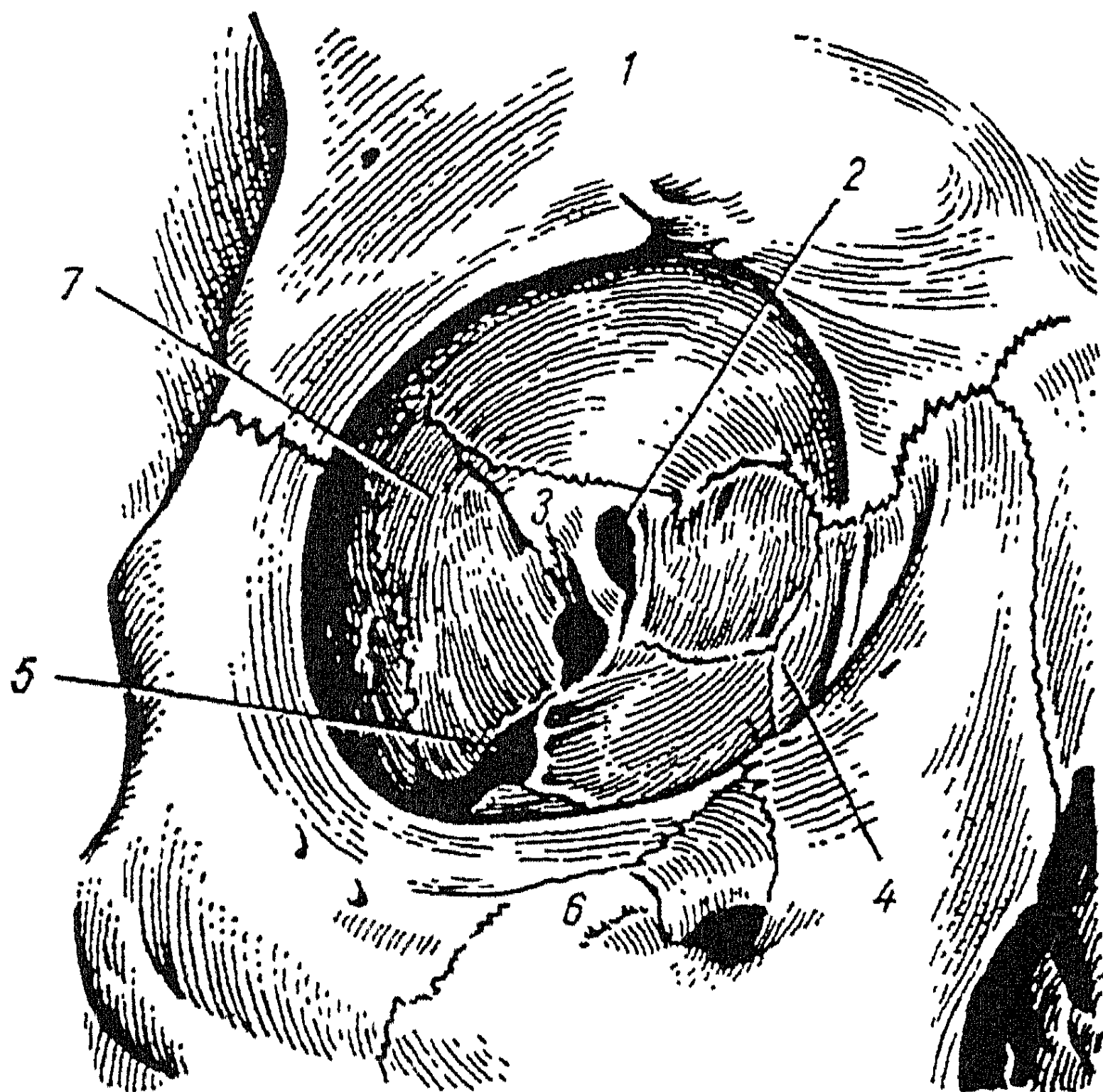
चित्र 136. नेत्रगोलक की अस्थिय भित्तियाँ
1. ललाटीय अस्थि, 2. दृष्टिपथ, 3. ऊर्ध्व नेत्रगोलक विदर, 4. अश्रुकोश खात, 5. हनुनेत्रगोलक विदर, 6. ऊर्ध्व हनु, 7. अश्रुग्रंथियों का अवसाद।

ऊर्ध्व, अधो, और मध्य। इनमें आखिरी तीन परनासा विवर के किनारे होती हैं : सामने की, उर्ध्वहनु और झर्झरिका विवर। नेत्रगुहा के शिखर पर एक नलिका होती है जिसके द्वारा दृष्टिस्नायु करोटि गुहा में से गुजरती है। नेत्रधमनी आंतरिक कैरोटिड धमनी की एक शाखा है जो नेत्र गुहा में से गुजरती है। नेत्र-परक, चक्रक और अपवर्तनी तंत्रिकाएँ प्रथम के निकट के दूसरे छिद्र (द्वार) के द्वारा नेत्र गुहा में प्रवेश करती है तथा आँख की बाह्य पेशियों में उर्ध्व नेत्रगुहा विदर के द्वारा प्रवेश करती है और तंत्रिका प्रेरित करती है। त्रिधारा तंत्रिका की दृष्टि शाखा उनके साथ आगे बढती है जबकि बाईं शिरा यहाँ से होती हुई करोटि गुहा में जाती है। ये शिराएँ नेत्र और इसकी अपर संरचनाओं को वाहिकाओं से रक्त ले जाती हैं। नेत्रगुहा के अधि पार्श्व भाग में अश्रु ग्रंथि की गर्तिका होती है। नेत्र गुहा की मध्यवर्ती भित्ति में अश्रुकोश के लिए आवास होता है जो कि नासात्रु नलिका से जुड़ी होती है। नेत्रगोलक नेत्रगुहा के अगले एक तिहाई भाग में स्थित होता है; बाकी दो तिहाई भाग में वसीय कोशिकीय ऊतक, वाहिकाएं तंत्रिकाएँ और पेशियाँ होती हैं।

पेशी तंत्र में आँख की बाह्य और आंतरिक पेशियाँ होती हैं। छह बाह्य पेशियाँ—चार सरल पेशियाँ (ऊर्ध्व, अधो, मध्यवर्ती और पार्श्व सम पेशियाँ) और दो तिर्यक पेशियाँ (ऊर्व और अध:) नेत्र गोलक को सचल बनाए रखती हैं। अधो तिर्यक

पेशी के अलावा सभी पेशियाॅं नेत्रगुहा के शिखर की कंडरा वलय से क्रियाशील होती हैं। ये (पेशियाॅं) इस वलय से फाटक कर एक पेशीय कीप बनाती हैं और लिंबस से अलग-अलग दूरी पर श्वेत पटल में निवेश करती हैं। निचली तिर्यक पेशी की शुरुआत अधोस्थिक नेत्र गुहा की निचली आंतरिक किनारी से होती है। (चित्र 137)। शरीर क्रिया के अनुसार इन पेशियों को निम्न में उपविभाजित किया जाता है : (1) पार्श्व-सम और दो तिर्यक पेशियाँ जो नेत्र गोलक को अपर्वतन करती हैं। (2) मध्यवर्ती, ऊर्ध्व और अधः समपेशी जो नेत्र गोलक का अपर्वत करती हैं। (3) ऊर्ध्व सम और अधः तिर्यक पेशी जो कि नेत्र गोलक को ऊपर की ओर घुमाती है। (4) अधः सम और ऊर्ध्व तिर्यक पेशी जो नेत्र गोलक को नीचे की ओर घुमाती है। नेत्र की प्रत्येक गति में पेशियों का एक समूह भाग लेता है। प्रत्येक आँख की प्रतिद्विनेत्री दृष्टि में दृष्टिपटल पर बनने वाले प्रतिबिंबों को मिलाने के लिए पेशियों की मिली-जुली क्रिया अपरिहार्य है।

चित्र 137. नेत्र की पेशियाँ।
1. समोदरिका पेशी, 2. पार्श्व सीधी पेशी, 3. हनु सीधी पेशी, 4. मध्य सीधी पेशी, 5. हनुवक्र पेशी, 6. ऊर्ध्व वक्र पेशी, 7. नेत्रगोलक की अस्थिय भित्तियाँ।

आँख की आंतरिक पेशियाँ , जिनमें पुतली के विस्फारण और संकोचन की पेशियाॅं भी शामिल हैं, परितारिका में स्थित होती हैं। रोमक पिंड में रोमक पेशी होती है जो कि समंजन में भाग लेती है।

पलकें नेत्र गुहा के पार्श्व और मध्यवर्ती सिरों को मिलाने वाली पेशी और त्वचा की दोहरी पर्तें हैं। सोते समय पलकें आँखों की रक्षा करती हैं। तेज प्रकाश के प्रभाव को कम करती हैं तथा आँखों को धूल पड़ने तक चोट लगने से बचाती हैं। पलक झपकने से छोटे आगंतुक कण आँख की सतह से निकल जाते हैं तथा नेत्र गोलक की सभी सतह पर समान आर्द्रता बनी रहती है। नेत्रच्छद विदरक के मध्यवर्ती कोण पर थोड़ा सा उभार होता है जिसे अश्रु मासान्कुल कहते हैं। यह नेत्र श्लेष्मा को अर्धिचंद्रीय पर्त तक सीमित होता है, जिसे अश्रुसर या अश्रुसरोवर कहते हैं। पलकों की त्वचा बहुत ही पतली और कोमल होती है जो वसीय कोशिका तंतुओं से रहित होती है। त्वचा के नीचे आँख की शर्करा पेशी का नेत्रच्छद भाग होता है, जिसे मस्कुलस आर्विकुलेरिस आकुलाई कहते हैं। यह नेत्रच्छद विदर के मध्यवर्ती कोण से उठकर एक वृत्त वनाता है और फिर नेत्रच्छद और संयोजिका के मध्यवर्ती

पार्श्व भाग को नेत्र की किनारियों से जोड़ता है। पेशियाँ पलक को बंद करती हैं। और यह आननतंत्रिका से प्रेरित होती है।

शर्करा पेशी का नेत्रच्छद भाग उपास्थि पर स्थित होता है। पलकों के किनारों से स्रावित होने वाला इनका वसीय स्राव नेत्रोगोलक और पलकों के किनारों को अच्छी तरह चिपकाता है और पलकों की किनारी से आँसू नहीं निकलने देता है। पलकों के रोमीय सिरों पर उपास्थि होती है। ऊपरी पलक को उठाने वाली पेशी उपास्थि, त्वचा और पलक की श्लेष्मल कला की ऊपरी किनारी पर निवेशित होती है, जो नेत्र प्रेरक तंत्रिका की एक छोटी शाखा से प्रेरित होती है। इस तंत्रिका के अंगघात से पलक में शिथिलता आ जाती है जिसे वर्त्मपात कहते हैं। पलक की अग्र किनारी के पास वसीय ग्रंथियाँ और पपनियों की दो-तीन कतारें होती हैं।

अंदर की ओर से पलकें श्लेष्मल कला (नेत्र श्लेष्मला) की सोध में होती हैं यह नेत्र गोलक से होते हुए नेत्रगोलक की श्लेष्मला तक बनी होती है। श्लेष्मल कला किरीट और लिंबस के किनारे तक फैली होती है। पलक से नेत्रगोलक तक परावर्तन की रेखा को नेत्रश्लेष्मला तोरणिका कहते हैं। जब पलक को बंद करते हैं, तो श्लेष्मला एक बंद गुहिका का रूप ले लेती है जिसे नेत्रश्लेष्मला कोश कहते हैं, जो पलक और नेत्रगोलक के बीच एक संकीर्ण विदर होता है।

नेत्रगोलक और इसके संरक्षी उपकरण के लिए रक्त की आपूर्ति नेत्र धमनी से होती है। नेत्र धमनी आंतरिक कैरोटिक धमनी की शाखा है। नेत्र धमनी से निकलने वाली अलग-अलग शाखाएँ पेशियों, पलकों और अश्रु के अंगों तक पहुँचती हैं। मध्य रेखा के पीछे वाली पश्च रोमक धमनियाँ और इसके सामने वाली अग्ररोमक धमनियाँ आँख में असितपटल तक पहुँचती हैं। केंद्रीय दृष्टिपटल धमनी नेत्र के दृष्टिचक्र के भाग में से गुजरती है और फिर छोटी-छोटी वाहिकाओं में बँट जाती है (देखिए प्लेट X)।

पर्याणिका के दोनों तरफ कोटरों में स्थित गह्वर शिरानाल में विभिन्न नेत्र शिराओं की रक्त नलिकाएँ खुलती हैं।

नेत्र और इसकी सहायक संरचनाओं का संवेदी तंत्रिका वितरण त्रिधारा तंत्रिका की पहली शाखा से होता है। नेत्र प्रेरक तंत्रिका से नेत्र प्रेरित होता है। चक्रक और अपवर्तनी कपाल तंत्रिकाओं के द्वारा नेत्र की बाह्य पेशियों में तंत्रिका वितरण होता है। पुतली को विस्तृत करने वाली पेशियों में स्फूर्तन अनुकंपी तंत्रिका तंतु करते हैं और उसे संकुचित करने वाली पेशियों में—परानुकंपी तंत्रिका तंतु।

दृष्टि अंग का शरीरक्रियाविज्ञान

नेत्र द्वारा निम्नलिखित मुख्य दृष्टि संबंधी क्रिया होती हैं : वस्तु के प्रकाश, रंग और आकार तथा उनकी स्थिति का बोध होता है; धुँधलके (हल्के प्रकाश) और रात्रि में, तथा विभिन्न दूरियों पर स्थित वस्तुओं को साफ देखा जाता है।

नेत्र की क्रियाएँ परस्पर संबंधित होती है और इनका नियंत्रण केंद्रीय तंत्रिका तंत्र से होता है। इसके फलस्वरूप हमें अपने चारों ओर के संचार का बोध होता है। यह दृष्टि की एक क्रिया है—देखने की क्रिया, जो निम्न ढंग से होती है। जो वस्तु देखी जाती है पहले उससे परावर्तित होने वाली प्रकाश की किरणों का नेत्र के पारदर्शी माध्यम द्वारा परावर्तन होता है और इसके बाद ये किरणें दृष्टिपटल पर पड़ती हैं वर्णक उपकला, शलाकाओं और शंकुओं की पर्तो में दृश्य पदार्थ का विघटन होता है, जिसके फलस्वरूप थोड़ा आयनिक क्षेत्र प्रेक्षित होता है। आयन की एक निश्चित सांद्रता पर इस क्षेत्र की शलाकाओं और शंकुओं को तंत्रिका से उद्दीपक प्राप्त होता है, जिसका संचरण जैव-धाराओं के रूप में दृष्टि पथ के सहारे प्रमस्तिष्क प्रांतस्था तक होता है और तभी दृष्टि बोध होता है।

क्रियात्मक दृष्टिकोण से प्रकाशग्राही या (बोधी) दृष्टि पटल को दो भागों में बाँटा जा सकता है : केंद्रीय (पीतबिंदु का क्षेत्र) और दूसरा परिसरीय भाग (दृष्टिपटल की शेष सतह)। इसके अनुसार केंद्रीय और **परिसरीय दृष्टि** में अंतर है।

केंद्रीय दृष्टि को दृष्टि तीक्ष्णता से नापा जाता है। **दृष्टि तीक्ष्णता** आँख की वह क्षमता है जिसके द्वारा दृष्टि के सूक्ष्मतम कोण पर अंतरित दो बिंदुओं को पहचाना जाता है। यदि 60 सेकेंड (कोण) पर अंतरित दोनों बिंदुओं को अलग-अलग पहचाना जा सके तो, दृष्टि तीक्ष्णता को सामान्य माना जाता है, अथवा इसे कहते हैं कि दृष्टि-तीक्ष्णता 1.0 के बराबर है।

शिशुओं के जीवन के पहले कुछ दिनों में दृष्टि-तीक्ष्णता बहुत ही कम होती है, जो उनके जीवन के हर हफ्ते और हर महीने बढ़ती जाती है। धीरे-धीरे बढ़कर दृष्टि-तीक्ष्णता औसतन 6 से 7 वर्ष की अवस्था तक उच्चतम सीमा तक पहुँच जाती है।

दृष्टि-तीक्ष्णता की जाँच के लिए चार्टो का प्रयोग किया जाता है। इन चार्टो में काले अक्षरों, चिह्नों या रेखाचित्रों की पंक्तियाँ होती हैं। इन चिह्नों, अक्षरों, इत्यादि का एक निश्चित आकार होता है जो इस बात पर निर्भर करता है कि इसे सामान्यतः कितनी दूरी से पढ़ते हैं। ये अक्षर, चिह्न और रेखा चित्र ऊपर की पंक्ति से नीचे की ओर क्रमशः आकार में छोटे होते जाते हैं। एक पंक्ति से उसकी दूसरी पंक्ति में 0.1 की दृष्टि-तीक्षता का अंतर होता है। इन चार्टों को एक विशेष प्रकार के बक्से में (रोथ उपकरण में) बंद किया जाता है और उसको 40 वाट के बल्ब से प्रकाशित करते हैं। व्यक्ति को मेज से 5 मीटर की दूरी पर बैठाकर दोनों आँखों की दृष्टि-तीक्ष्णता को अलग-अलग एक आँख बंद करके जाँचा जाता है। परीक्षण चार्ट के अक्षरों को ऊपर से नीचे के क्रम से निर्देश-दंड द्वारा इंगित करता (चित्र 138)। दृष्टि-तीक्ष्णता का पता इस बात से लगता है कि व्यक्ति अंतिम पंक्ति के सबसे छोटे शब्दों का सही ढंग से पहचान सके। यदि वह शब्दों की केवल पहली ही पंक्ति को देख सके तो उसकी दृष्टि-तीक्ष्णता 0.1 होगी। यदि वह पाँचवीं पंक्ति
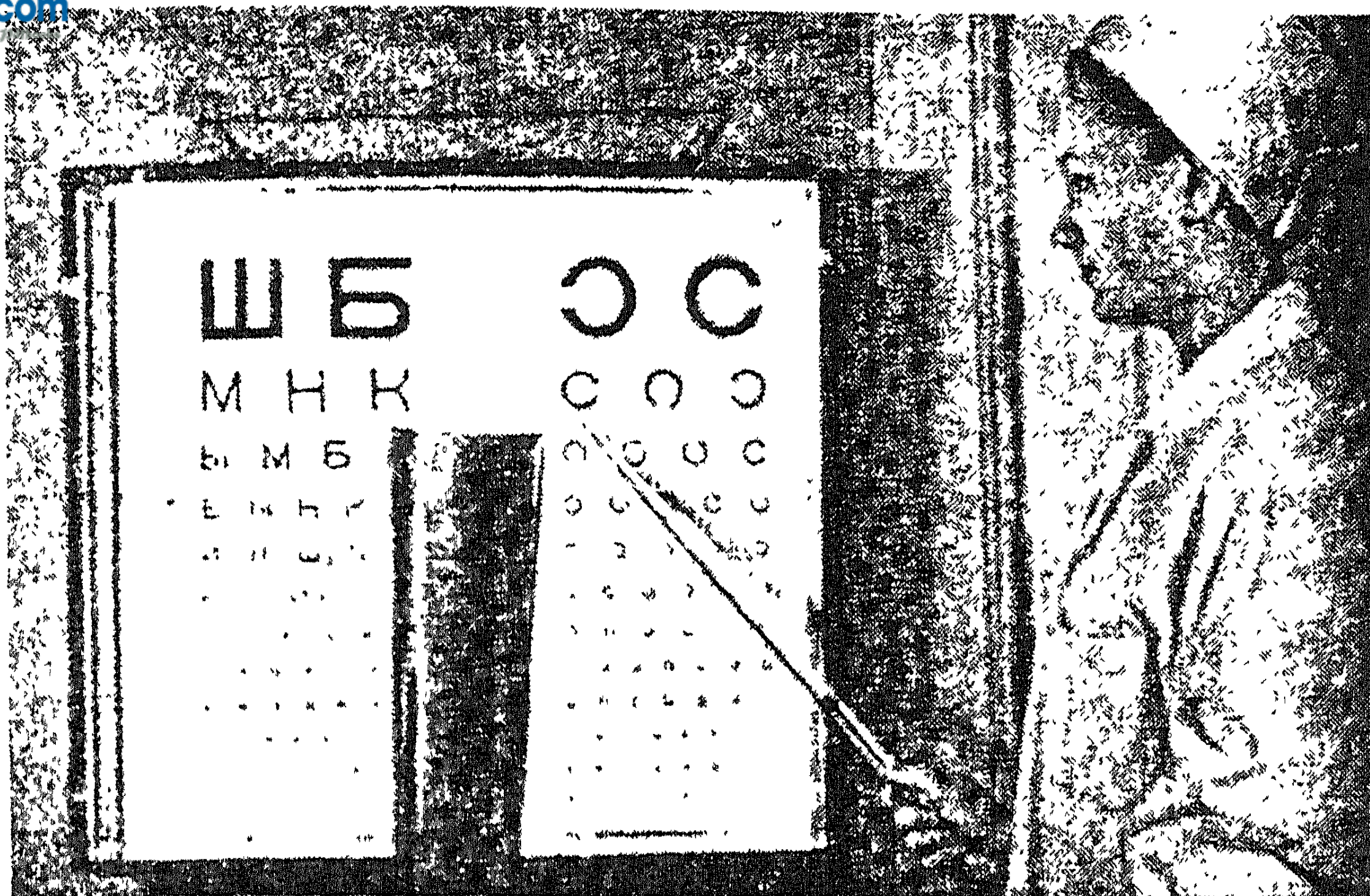
चित्र 138. नेत्र तीक्ष्णता को ज्ञात करना।

को पढ़ सके तो दृष्टि-तीक्ष्गता 0.5 होगी। यदि दसवीं पंक्ति को पढ़ सके तो दृष्टि तीक्ष्णता 1.0 होगी। इस चार्ट के द्वारा दृष्टि-तीक्ष्णता किसी भी दूरी से जॉची जा सकती है। किसी भी दूरी से दृष्टितीक्षणता को नापने के लिए उस व्यक्ति की मेज से दूरी को सामान्य दृष्टि-तीक्षणता वाले व्यक्ति की उस पंक्ति को देखने की दूरी से भाग दिया जाता है। इसे एक सूत्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है : $v = \frac{v}{D}$, जहाँ v दृष्टि-तीक्ष्णता है, d व्यक्ति की मेज से दूरी, और D वह दूरी है जिससे उसे इस पंक्ति को सामान्यतः पढ़ने में सक्षम होना चाहिए। यदि वह व्यक्ति पहली पंक्ति को 3 मीटर की दूरी से देख पाता है जो सामान्य व्यक्ति को 50 मीटर की दूरी से दिखनी चाहिए तो दृष्टि की तीक्ष्णता 3/50=0.06 है न कि 0.1, जो सामान्य तीक्ष्णता वाला व्यक्ति के मामले में होता जो 5 मीटर की दूरी से पहली पंक्ति को देख पाता है।

यदि दृष्टि तीक्ष्णता 0.1 से कम है तो व्यक्ति को चार्ट से इतनी दूरी पर लाया जाता है कि वह पहली पंक्ति को पढ़ सके और उपरोक्त सूत्र के अनुसार दृष्टितीक्ष्णता की गणना की जाती है। यदि व्यक्ति चार्ट की पहली पंक्ति को 1 मीटर की दूरी से देख पाता है तो उसकी दृष्टि तीक्ष्णता 1/50 अर्थात 0.02 है। परीक्षक अपनी अँगुलियों को गिनती के लिए दिखा सकता है। अँगुलियाँ काली पृष्ठभूमि में दिखाई जाती हैं। अँगुलियों की मोटाई चार्ट की प्रथम पंक्ति के चिह्नों की मोटाई के अनुरूप होती हैं। निम्न दृष्टि-तीक्ष्णता वाले व्यक्तियों के मुँह में बहुत पास तक अँगुली लाकर

दिखाते हैं या उनकी दृष्टि तीक्ष्णता की जाँच केवल हाथ को हिला कर की जाती है। यदि व्यक्ति हाथ के हिलने तक को न जान सके तो उसके प्रकाश बोध की जाँच अंध कक्ष में की जाती है। हल्के प्रकाश के स्रोत (मोमबत्ती, दृष्टि पटल दर्शी से परावर्तित प्रकाश (देखिए चित्र 146) की किरणें व्यक्ति की एक आँख को बंद करके दूसरी ऑख पर विभिन्न स्थलों से डाली जाती हैं और उसे व्यक्ति से वह दिशा बताने के लिए कहा जाता है जिस दिशा से प्रकाश आ रहा है। उत्तर सही होने से प्रकाश के सही प्रक्षेपन वाला प्रकाश बोध कहते हैं। यदि व्यक्ति को प्रकाश का तो पता लगता है पर वह नहीं बता सकता है कि प्रकाश किस दिशा से आ रहा है तो इसका अर्थ यह होता है कि उसमें प्रकाश का दोषपूर्ण प्रक्षेपण है। यदि उसे प्रकाश बिल्कुल ही नहीं दिखता है तो उसकी दृष्टि-तीक्ष्णता शून्य है, अर्थात यह पूर्ण अंधता है। यदि व्यक्ति को प्रकाश बोध होता है तो उसका उपचार सफल हो सकता है। सफल उपचार के लिए पूर्वानुमान लगाया जा सकता है कि अथवा शस्त्रकर्म सफल हो सकता है।

परिसरीय दृष्टि के द्वारा निम्न तीव्रता वाले प्रकाश का बोध होता है। इसे मंदद्युतिक दृष्टि कहते हैं। यह अवकाश में दिकविन्यास की क्षमता वाली केंद्रीय दृष्टिक्रिया का पूरक होती है। अवकाश का वह भाग जो अचल वस्तु पर दृष्टि स्थिर
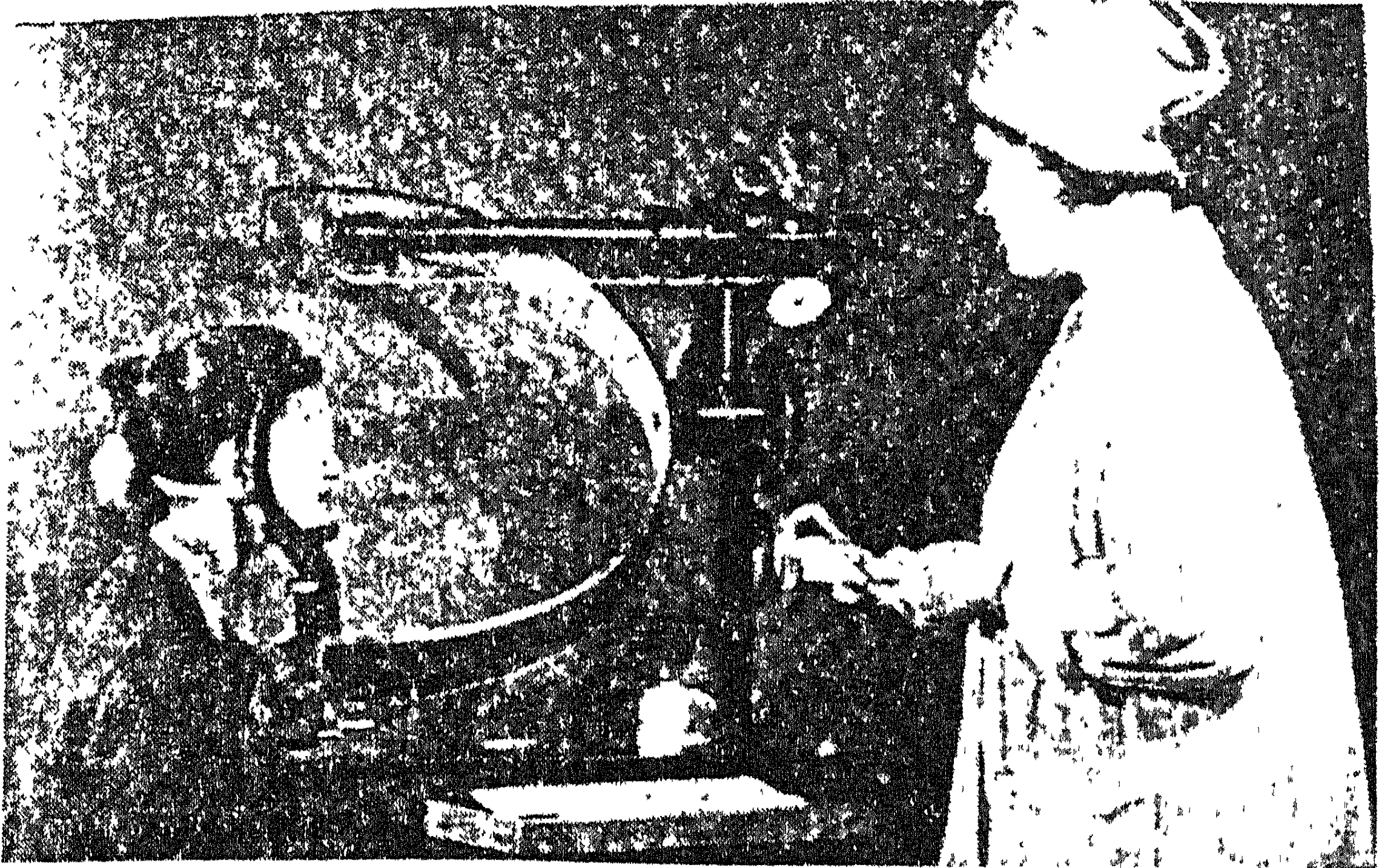
चित्र 139. पेरीमीटर पर दृष्टि क्षेत्र का ज्ञात करनो।

करके एक आँख से दिखाई देता है, उसे दृष्टि क्षेत्र कहते हैं।

परिसरीय दृष्टि के महत्त्व का अनुमान व्यक्ति को तब हो सकता है जब वह परिसरीय दृष्टि से मुक्त होने के लिए आँखों के सामने संकीर्ण नलिकाएँ या बाइनाकुलर

लगाकर चलने का प्रयास करे। केंद्रीय दृष्टि सर्वोत्तम होने के बावजूद भी आगे चलना कठिन होगा या प्रायः असंभव होगा।

दृष्टि क्षेत्र का परिक्षण एक विशेष उपकरण से किया जाता है जिसे परिमापी कहते हैं (चित्र 139) का एक समायोजित चाप होता है जिसके बीच में 0 और सिरों पर 90 डिग्री के निशान लगे होते हैं। व्यक्ति की एक आँख ढॉप कर ऐसे बिठाते हैं जैसे चित्र में दर्शाया गया है और उसे चाप के केंद्र पर दृष्टि को स्थिर करने को कहा जाता है। परीक्षक काले निर्देशक को परिसर से केंद्र की ओर ले जाता है। निर्देशक पर एक निशान होता है, जो अधिकतर 5 मीटर लंबा होता है तथा यह रंगीन (सफेद, लाल, हरा या नीला) होता है। जिस बिंदु पर व्यक्ति परिमापी के चाप के परिसर पर वस्तु को पहचानना शुरू करता है, उसकी स्थिति चापर, क्षौतिज, लंबीय या तिर्यक हो सकती है। इससे अभिदिष्ट यांबोत्तर की परिसीमा को ज्ञात किया जाता है। दृष्टि क्षेत्र की परिसीमा को पहले श्वेत रंग के लिए ज्ञात करते हैं और यदि आवश्यक हो तो लाल, हरे और नीले रंग के लिए ज्ञात करते हैं। दृष्टि क्षेत्र की परिसीमा को अंशों में अभिव्यक्त करते हैं तथा इसे विशेष आरेख पर अंकित करते हैं (चित्र 140)। दृष्टि क्षेत्र में परिवर्तन की अभिव्यक्ति परिसीमा को संकीण करके या कुछ क्षेत्रों में दृष्टि का लोप करके (अंध क्षेत्र) अथवा आधे क्षेत्र में दृष्टि लोप करके (अर्धदृष्टिता) द्वारा की जा सकती है।
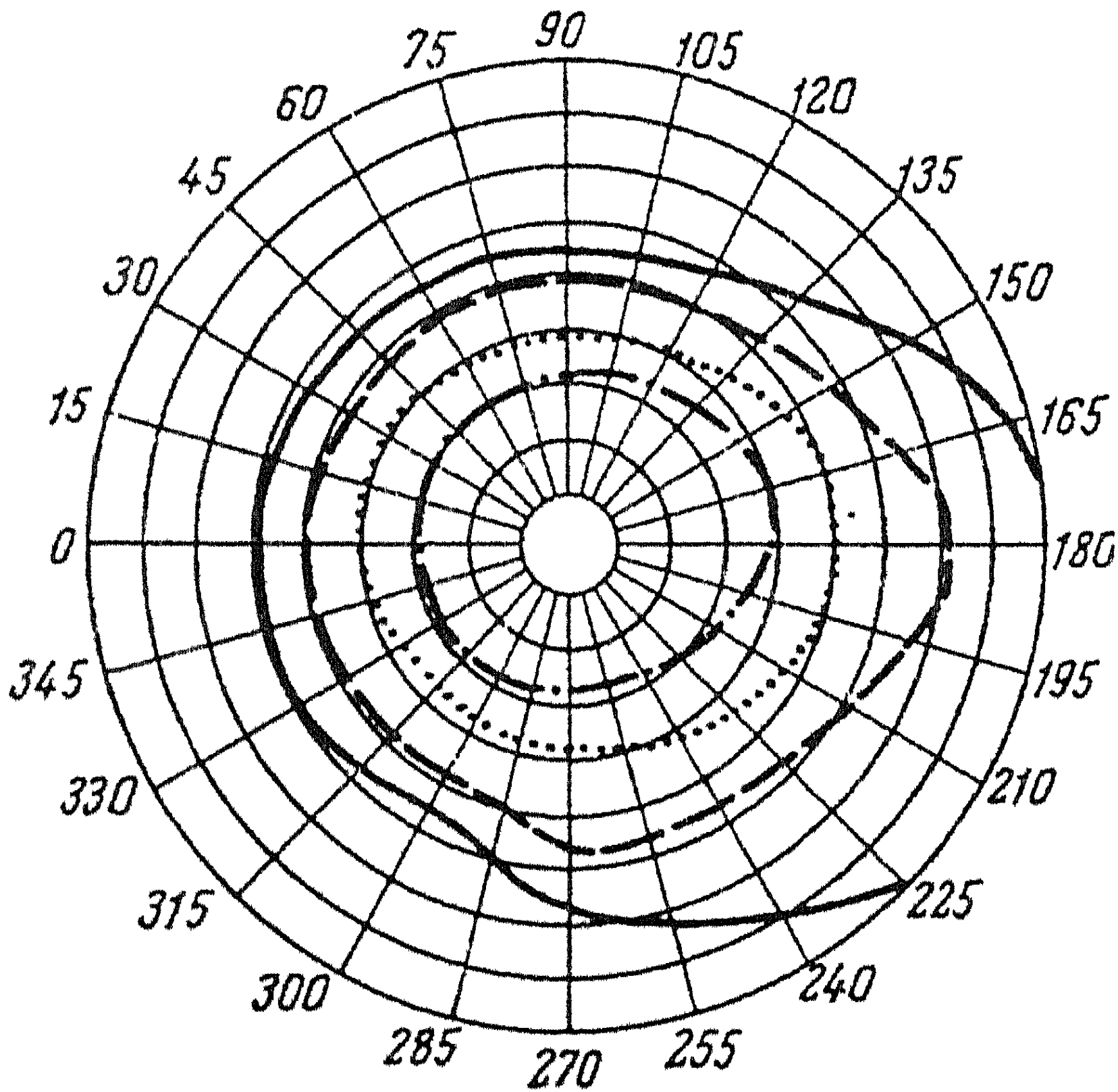
चित्र 140. सामान्य दृष्टि की परिसीमाएं जिनका पता सफेद रेखाओं—नीली (टूटी हुई रेखा), लाल बिंदुकित रेखाएं और हरी (डैस और डाटरेखाएं)—से चलता है।

नेत्र रोगों का निदान करने में और विशेश कर केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के रोगों का पता लगाने के लिए दृष्टि क्षेत्र के दोष का पता लगाना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यदि ऐसा कोई परिमापी उपलब्ध न हो तो दृष्टि क्षेत्र की हालत का पता नियंत्रण विधि द्वारा किया जाता है। चिकित्सक उस व्यक्ति को अपने सामने बिठाता जिसकी जाँच करनी है। व्यक्ति को ऐसे बिठाया जाता है कि उसकी आँखें और चिकित्सक की आँखें एक ही स्तर पर रहें। दोनों अपनी एक आँख को इस प्रकार बंद करते हैं कि उस व्यक्ति की बाईं ऑख चिकित्सक की दाई आँख में लगी रहे और व्यक्ति की दाई से चिकित्सक की बाई आँख में देखें। चिकित्सक अपनी अँगुलियों या किसी वस्तु को केंद्र से परिसर की ओर अपने और उस व्यक्ति के बराबर की दूरी पर चलाता है और उन क्षणों को नोट करता है जबकि ये दृष्टि के क्षेत्र में दिखाई दें। इस जाँच के लिए एक अपरिहार्य शर्त है कि परिक्षक की दृष्टि सामान्य हो।

दृष्टि क्षेत्र के केंद्रीय भाग और दृष्टि-लोपता के भागों की जाँच एक तल पर की जाती है। इस विधि को दृष्टि केंद्र क्षेत्रमापन कहते हैं।

रंग दृष्टि : रंग का बोध (विभिन्न तरंग-दैर्ध्य वाली किरणों का बोध) होना भी केंद्रीय दृष्टि का काम है। रंग दृष्टि का न होना या कमजोर होना एक जन्मजात दोष भी हो सकता है; नेत्र और उसकी क्रियाओं में परिवर्तन (विकार) होना कोई आवश्यक नहीं है। रंग दृष्टि का दोष दृष्टि पटल के मध्य भाग के रोगों या दृष्टि पथ और प्रमस्तिष्क प्रांतःस्था में रोग संचरण के फलस्वरूप भी हो सकता है।

दृष्टि विश्लेषण के द्वारा विभिन्न आभा, चमक और संतृप्ति वाले रंगों को पहचाना जा सकता है तथा तीन मूल रंगों को मिलकार उनमें होने वाली आभाओं को भी पहचाना जा सकता है। लाल, हरा और नीला—ये तीन मूल रंग हैं। इसलिए सामान्य रंग दृष्टि वाले व्यक्ति को **त्रिवर्ण दृष्टिक** कहते हैं। दृष्टिपटल शंकु के रंगबोध करने वाले तीन घटकों की एक साथ सामान्य क्रिया से रंगों का सही बोध होना संभव है। यदि इनमें से एक घटक भी कम है तो बाकी घटकों की बोध-क्षमता में विघ्न पड़ जाता है। ऐसे व्यक्ति को **द्विवर्ण दृष्टिक** कहते हैं। वर्णक क्रम के लाल भाग का बोध होने की असमर्थता को लाल **वर्णांधता** कहते हैं और हरे भाग के बोध होने की असमर्थता को हरित **वर्णाधता** तथा नीले भाग की असमर्थता को **नीलवर्ण-अंधता** कहते हैं। रंग बोध की कमजोरी होने को वर्ण असंगति कहते हैं। व्यक्ति को जिस रंग का पूर्णरूप से बोध नहीं होता है, उसी के अनुसार लाल वर्ण असंगति, हरावर्ण असंगति तथा नीला वर्ण असंगति होती है। वर्ण असंगति और वर्ण अंधता से पीड़ित व्यक्तियों को स्वयं यह नहीं पता होता है कि उनमें यह दोप है, क्योंकि रंग की चमक और संतृप्ति के अनुसार वे इनमें कुछ अंतर देख सकते हैं। वर्ण बोध के विकारों का पता विशेष चार्टों के प्रयोग से किया जाता हैं ये चार्ट ई.वी. राबकिन और ई-ती-हारा द्वारा संकलित किए गए हैं, जिसमें कि छोटे-छोटे वृत्त (प्लैट XI) बने हुए हैं, जिनकी

चमक और संतृप्ति बरकरार है तथा संख्याएँ और आरेख बनाई गई हैं। वर्ण अंधता या वर्ण असंगति से पीड़ित व्यक्ति इन चार्टों में छिपे हुए चिह्नों और आरेखों को पहचानने का प्रयत्न करता है। परंतु उन सब चिह्नों को नहीं देख पाता है जो कि एक दृष्टिक व्यक्ति पढ़ सकता है।

यह जांच दिन की रोशनी में की जाती है। ये चार्ट भली प्रकार प्रदीप्त होने चाहिए। जिस व्यक्ति की जॉच करनी है उसे इनमें से प्रत्येक चार्ट एक मीटर की दूरी से 10 से 20 सेकेंड के लिए दिखाया जाता है। इन चार्टों के साथ में दी गई व्याख्या से पता लगता है कि त्रिवर्ण दृष्टिक इस चार्ट को कैसे पढ़ेगा तथा वर्णबोध के विभिन्न विकारों से पीड़ित व्यक्ति इनमें से प्रत्येक चार्ट को किस तरह पढ़ेगा। इस प्रकार से यह सुनिश्चित हो जाता है कि विकार किस प्रकार का है। वर्णों को पहचानने की क्षमता की जाँच उन सभी व्यक्तियों के लिए की जाती है जो किसी भी प्रकार के परवहन के साधनों पर काम करते हैं या ऐसे उत्पादनों में काम करते है। जहां कि रंग का पहचानना आवश्यक है। सेना सेवा की विशिष्टि शाखाओं के लिए चुने गए लोगों की भी ऐसी जाँच की जाती है।

प्रकाश बोध : प्रकाश की चमक के विभिन्न अंशों का बोध है। यहाँ सर्वविदित है कि मनष्य दिन की रोशनी में, तथा रात में भी देख सकता है। दूसरे शब्दों में, यह प्रदीपन की विभिन्न तीव्रता वाली परिस्थितियों में भी देख सकता है। प्रकाश के अंधेरे या अंधेरे से प्रकाश में जाने पर आस-पास की चीजों को पहचानने में थोड़े समय की आवश्यकता होती है। प्रदीपन की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार आँख की (अपना समंजन करने की) क्षमता का, प्रकाश या अंधकार के प्रति अनुकूलन का, मूल रूप से व्यावहारिक महत्त्व है। समकूलन का अध्ययन एक विशेष उपकरण से किया जाता है, जिसे अनुकूलनमापी कहते हैं। इसके द्वारा न्यूनतम प्रकाश बोध की वापसी गति को ज्ञात किया जाता है (इसे चमकीले प्रकाश स्रोत की आँख के सामने लाने के बाद किया जाता है)। अनुकूलनमापी से समय की भी गणना की जाती है, जिसमें प्रकाश सुग्राहिता अपने सामान्य स्तर पर वापस आती है।

अंधकार अनुकूलन के निर्बल होने को रतौंधी कहते हैं। अंधकार या कम प्रकाश में अभिविन्यास के असंभव होने या कठिनाई होने से रतौंधी की अभिव्यक्ति होती है। स्थिर या प्रगामी रतौंधी कुछ ऐसे रोगियों में होती है, जो दृष्टि पटल, दृष्टि स्नायु, केंद्रीय तंत्रिका तंत्र और जिगर के रोग से पीड़ित हों। अनुकूलन में स्थायी उपद्रव अल्प या अविटामिनता से होते हैं। इसका निवारण कोड लीवर आयल, विटामिन ए कोई इ या इन विटामिनों से प्रचुर भोजन (मक्खन, गाजर, लीवर) देकर किया जाता है। विभिन्न रोगों के निदान के लिए तथा कम रोशनी वाली परिस्थितियों में काम करने वाले व्यक्तियों के व्यावसायिक चयन के लिए उनके प्रकाश बोध का अध्ययन करना आवश्यक है।

द्विनेत्री दृष्टि : दोनों नेत्रों से अलग-अलग प्राप्त दृष्टि-बोध को एक में मिलाने की दृष्टि विश्लेपक की क्षमता ही द्विनेत्री दृष्टि की सहज प्रवृत्ति है। द्विनेत्री दृष्टि वस्तु का आकार उनकी गहराई, उन पर उभार और गड्ढे, व्योम में विभिन्न वस्तुओं की सापेक्षिक स्थितियाँ आदि दिखाने में समर्थ है। द्विनेत्री दृष्टि से ही वस्तु और देखने वाले की स्थिति और दूरी को बिल्कुल नहीं ज्ञात किया जा सकता है। ऐसे व्यवसायों (जैसे—पायलट, प्रेसीशन मेकेनिक, रेंज फाइनर, इत्यादि) में द्विनेत्री दृष्टि का विशेष महत्त्व है।

द्विनेत्री दृष्टि का निर्धारण त्रिविमदर्शी तथा अन्य विभिन्न उपकरणों द्वारा किया जाता है। यदि दृष्टि सामान्य है तो त्रिविमदर्शी चित्र द्वारा चित्रित वस्तु की स्पष्ट गहराई और आकार दिखाई देता है। द्विनेत्री दृष्टि का पता लगाने का सबसे आसान तरीका निम्नलिखित है। उस व्यक्ति को दो सलाइयाँ (पेंसिल या कलम) दी जाती हैं; अब उससे कहा जाता है कि वह अपने सामने इनहें क्षैतिज अवस्था में पकड़े रहे और फिर एक सलाई के सिरे को दूसरे सिरे से मिलाए। यदि द्विवेत्री दृष्टि अच्छी हो तो यह क्रिया बहुत आसानी से की जा सकती है। यदि द्विवेत्री दृष्टि कमजोर है या है ही नहीं तो दोनों सलाइयों के सिरे को मिलाना कठिन होगा।

अपवर्तन और समंजन

अपवर्तन और समंजन की संकल्पना

अच्छी सामान्य दृष्टि तभी सम्भव है जबकि अपवर्तन माध्यम पादर्शक हो तथा सभी दृष्टि तंत्रिका-उपकरण में (प्रमस्तिष्क प्रांतस्था के पश्च कपाल खंड में स्थित दृष्टि पटल से लेकर दृष्टि केंद्रों तक में) सामान्य क्रिया होनी हो, तथा दृष्टि-पटल के केंद्र—पीतविंदु—में एकदम साफ बिंब बनता हो। बिंब का बनना आँख की अपवर्तन क्षमता पर निर्भर करता है।

उपवर्तन : यदि हम यह कल्पना करें कि नेत्र का दृष्टि तंत्र (किरीट और लेंस) एक उभयोत्तल आवर्धन लेंस है तो हम देखेंगे की इस पर पड़ने वाली प्रकाशकी समानांतर किरणें अपवर्तित होंगी और इससे गुजरते हुए आवर्धनी लेंस के ऐसे फोकस पर मिलेंगी, जबकि इनकी दूरी लेंस की क्षमता के अनुकूल हो। लेंस की दृष्टि-क्षमता एक डाइओप्टर (डी.) के बराबर होगी। यदि फोकस दूरी एक मीटर हो, तो इसका मतलब यह है कि ऐसे लेंस द्वारा अपवर्तित प्रकाश की समानांतर किरणें ऐसे फोकस पर मिलेंगी, जिसकी लेंस से दूरी 1 मीटर हो। लेंस की क्षमता जितनी ही अधिक होगी फोकस दूरी उतनी ही कम होगी। 5.0 डी. वाले लेंस की फोकस दूरी 20 सें. मी. (100 : 5=20) होगी। यदि आँख की सामान्य अपवर्तनीय क्षमता (66.6) हो तो इसका मतलब है कि अपवर्तनीय क्षमता संपूर्ण है या नेत्र का **शारीरिक अपवर्तन**

संपूर्ण है। ऐसी आँख का दृष्टि पटल, जिसके फोकस पर प्रकाश की किरणें मिलती हों दृष्टि तंत्र के केंद्र से 1.5 सें. मी. या 15 मि. मी. की दूरी पर होना चाहिए। दृष्टि पटल के तल पर नेत्र अक्ष की लंबाई और अपवर्तन तंत्र की क्षमता का परस्पर संबंध सही होने पर वस्तु के केंद्र पर स्पष्ट बिंब बनता है, यदि वस्तु ऐसी दूरी पर स्थित है जहाँ से प्रकाश की समानांतर किरणें आँख तक पहुँचती हैं। दृष्टि तंत्र के फोकस तथा नेत्र अक्ष की लंबाई के अनुपात को **रोग-लक्षण अपवर्तन** कहते हैं। जिस प्रकार के रोग-लक्षण अपवर्तन का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, उसका नेत्र के अपवर्तनी तंत्र और नेत्र गोलक की अक्षीय लंबाई के सही परस्पर संबंध को सामान्य दृष्टिता कहते हैं (चित्र 141)। यदि इस परस्पर संबंध में गड़बड़ हो, अर्थात् जबकि आंख की अपवर्तनी क्षमता अधिक हो या अपवर्तन बहुधा होता हो और साथ ही नेत्र गोलक अक्ष अधिक लंबा हो तो फोकस दूरी पहले से कम होगी और प्रकाश की किरणें दृष्टि पटल के आगे मिलेंगी। ऐसा नेत्र समानांतर किरणों के बोध के लिए अनुकूल नहीं होता है तथा आँख बहुत दूर की चीज को नहीं देख सकती है। निकट-स्थित वस्तु से आने वाली अपसृत किरणें दृष्टि पटल के फोकस बिंदु पर मिलती हैं जिनके अपवर्तन के लिए अधिक अपवर्तनीय क्षमता आवश्यक है। ऐसी आँख को तब दिखाई देता है जबकि वस्तु उसके निकट हो। ऐसे अपवर्तन को **निकट दृष्टिता** कहते हैं।
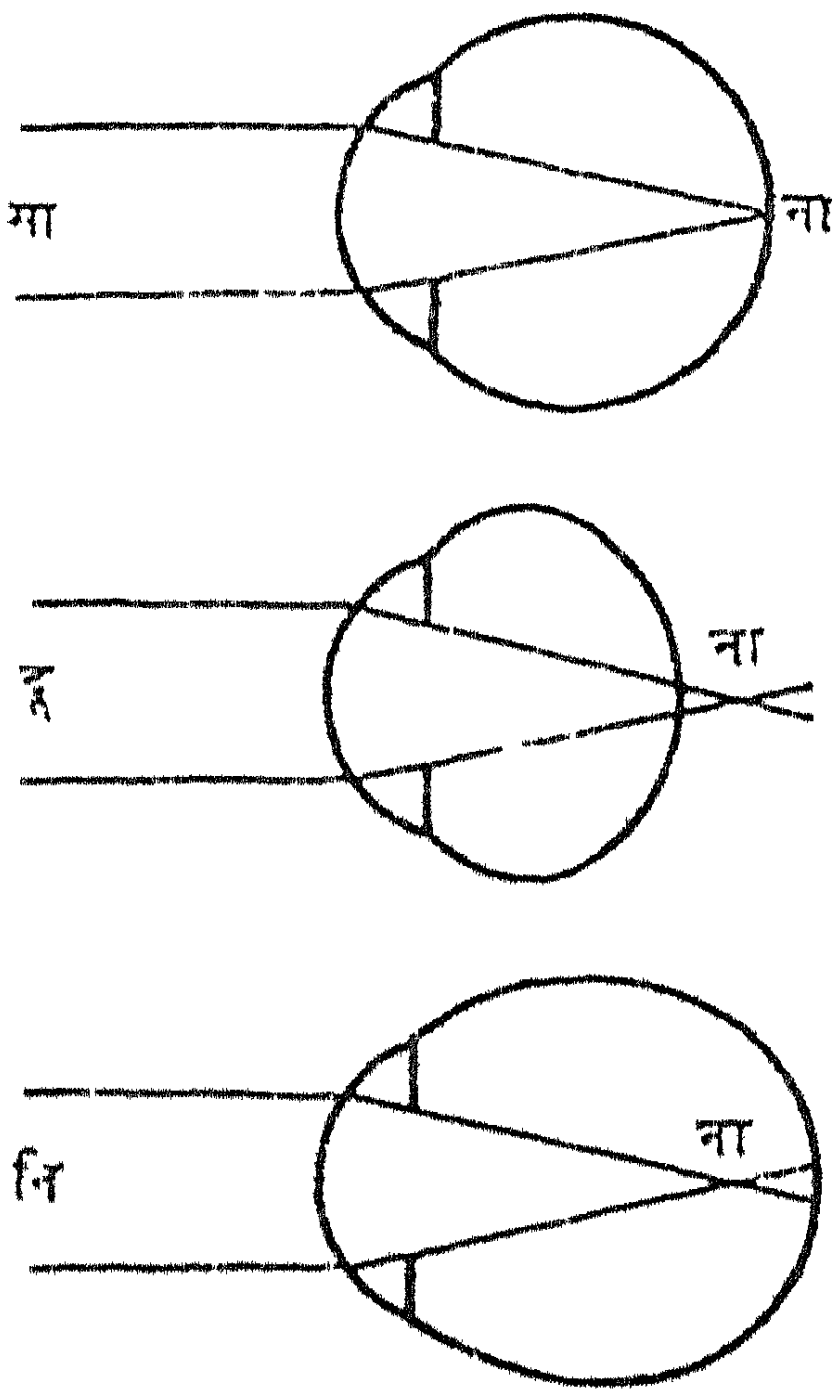
चित्र 142. नेत्र में विभिन्न प्रकार के अपवर्तन में समानांतर किरणों के केंद्र की स्थिति। सा. सामान्य दृष्टिता, दू. दूरदृष्टिता, नि. निकट दृष्टिता, ना. प्रकाश किरणों का केंद्र

यदि समानांतर किरणों का नेत्र के दृष्टि तंतु से अपवर्तन हल्का होता है, या नेत्र गोलक की अक्षीय लंबाई विषम रूप से छोटी होती है, तो समानांतर और नियोजित किरणें ऐसे फोकस पर पड़ती हैं जो कि दृष्टि पटल के पिछले भाग में स्थित होता है। ऐसे अपवर्तन को **दूरदृष्टिता** या **दीर्घदृष्टि** कहते हैं। ऐसे अपवर्तन वाले व्यक्ति बहुधा किसी चीज को बहुत नजदीक से अच्छी तरह देख सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अच्छी तरह देखने के लिए अपनी आँखों की अपवर्तन शक्ति तीव्र करनी होती है (समंजन या दृष्टि-लेंस के अनुकूल शीशे वाला चश्मा लगाया जाता है)।

एक ही आँख में समान अपवर्तन का मिश्रण हो सकता है भले ही उनकी क्षमता भिन्न हो, या अपवर्तन भी भिन्न हो। इसे **दृष्टि वैषम्य** कहते हैं। किरीट या लेंस की परस्पर लंबीय याम्योत्तर की अपवर्तनीय क्षमता भिन्न होने के कारण ऐसा होता है। इसके फलस्वरूप

प्रकाश की किरणें नेत्र से अपवर्तन के बाद दृष्टि पटल के फोकस पर मिलती हैं और एकरूप नहीं होती हैं, बल्कि प्रकाश की एक रेखा या अंडे का रूप ले लेती हैं। इसलिए चश्मे के बिना अच्छी दृष्टि का होना और वस्तु का स्पष्ट बोध होना संभव नहीं होता है।

समंजन : यदि अपवर्तन स्थिर हो तो नेत्र या तो केवल काफी दूरी से देख सकते हैं (सामान्य दृष्टिता) या फिर बहुत नजदीक से (निकट दृष्टिता) अथवा निकट और दूर दोनों से ही अस्पष्ट दिखाई देगा (दीर्घ दृष्टिता)। वास्तव में, व्यक्ति अपनी आँख से विभिन्न दूरियों पर स्थित वस्तुओं को देख सकता है, क्योंकि आँख में अपवर्तन को घटाने और बढ़ाने की क्षमता होती है। इस क्षमता को **समंजन** कहते हैं। देखने वाली वस्तु से आँख की दूरी के अनुसार समंजन की क्रिया इस प्रकार से होती हैं। देखने वाली वस्तु से आँख की दूरी के अनुसार समंजन की क्रिया इस प्रकार से होती है कि तंत्रिका आवेग रोमक पेशी को संकुचित करती है। इससे लेंस के कैप्सूल और झिन स्नायु शिथिल हो जाते हैं। चूँकि लेंस संपीडित नहीं रहता है और लचीला होता है, इसलिए यह अधिक उत्तल हो जाता है, जिससे कि नेत्रगोलक की अपवर्तनी क्षमता तीव हो जाती है।

दृष्ट वस्तु आँख के जितनी ही ज्यादा निकट होगी, रोमक पेशी उतनी ही अधिक संकुचित होगी और लेंस अधिक हो जायगा, जिससे समंजन की क्षमता बढ़ेगी। इससे पता लगेगा कि नेत्र को अपवर्तन में कितने डाइओप्टर की तीव्रता हुई है। नेत्र की दृष्टि तीक्ष्णता के अनुसार विशेष छोटी छपाई को कम-से-कम कितनी दूरी से पढ़ना संभव है, इसका पता चार्टों को नजदीक से पढ़ने पर लग जाता है। इससे स्पष्ट दृष्टि के निकटतम बिंदु का पता लगता है, जिस पर समंजन का अत्यधिक तनाव होता है।

दृष्ट वस्तु नेत्र से जितनी ही दूर होगी, समंजन की आवश्यकता उतनी ही घटती जाएगी और एक ऐसी निश्चित दूरी, जिसे अपवर्तन के रूप और अंश से ज्ञात किया जाता है, समंजन विश्रांति अवस्था में होगा। नेत्र अपने ही अपवर्तन से समंजन के बिना ही जिस अधिकतम दूरस्थ बिंदु को देख सकता है, उसे स्पष्ट दृष्टि का दूरतम बिंदु कहते हैं। फलतः नेत्र अपने समंजन की क्षमता के द्वारा स्पष्ट दृष्टि से दूरस्थ बिंदु और निकटतम बिंदु के बीच की पूरी दूरी को देखने में सक्षम होता है। इस दूरी को समंजन की लंबाई कहते हैं।

समंजन की लंबाई व क्षमता अपवर्तन के रूप पर निर्भर होती है। दीर्घ दृष्टि में समंजन उच्चतम होता है और सामान्य दृष्टि में कम तथा निकट दृष्टि में इससे भी कम समंजन होता है।

समंजन व्यक्ति की आयु पर भी निर्भर करता है, क्योंकि आयु के साथ-साथ लेंस के (केंद्रीय भाग) में काठिन्य होता जाता है जिससे कि इसका लचीलापन

(प्रत्यास्थता) घटता जाता है और अपवर्तन क्षमता को बढ़ाने की संभाव्यता भी घट जाती है। इसके कारण स्पष्ट दृष्टि का निकटम बिंदु धीरे-धीरे घटता जाता है और समंजन निर्बल होता जाता है। समंजन के घटने की व्यवहारिक अभिव्यक्ति इस तथ्य से होती है कि दीर्घ दृष्टिक और सामान्य दृष्टिक व्यक्तियों को 40 वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते पढ़ने के लिए चश्मे की जरूरत पड़ती है जिससे कि वे अपनी कमजोर हुई समंजन क्षमता को पूरा कर सकें, जबकि निकट दृष्टि चश्मे के बिना पढ़ सकते हैं या बहुत ही हल्के लेंस का प्रयोग करते हैं वृद्धावस्था के कारण दृष्टि के कमजोर होने को जरा **दूर-दृष्टि** कहते हैं।

अपवर्तन की असंगति का नैदानिक चित्र और चश्मे के शीशों का चुनाव

अपवर्तन की असंगति से पीड़ित व्यक्तियों में एक सी लाक्षणिक शिकायतें होती है। समंजन में सिर तनाव होने के कारण दूरदृष्टिक व्यक्तियों में थकान के चिह्नों की अभिव्यक्ति होती है : आँखों और सिर में तेज पीड़ा का होना तथा अक्षरों का धुँधला दिखाई देना। ये समंजनी नेत्रावसाद के लक्षण हैं। इसकी अभिव्यक्ति बहुधा अधिक दूर दृष्टिक व्यक्तियों में होती हैं, परंतु यह तनावपूर्ण कार्य और प्रतिकूल परिस्थितियों में अध्ययन करने के कारण, दीर्घ दृष्टि के निम्न स्तर पर भी होता है। साथ ही, यह अवसाद तब भी होता है, जब दीर्घ दृष्टिता के लक्षण, जो शारीरिक रूप से पहले स्पष्ट नहीं होते हैं, आयु बढ़ने के साथ-साथ दिखाई देते हैं। अभिसरण और समंजन में स्थिर तनाव होने के कारण शिशुओं में अभिसारी तिर्यक दृष्टि हो जाती है। निकट दृष्टिक को यह शिकायत होती है कि उसे दूर की चीजें साफ नहीं दिखाई देतीं और उनमें से कुछ को, जिनमें निकट दृष्टिता अधिक है या अपने जटिल रूप में है, दृष्टिक कार्य करने में कठिनाई की शिकायत होती है।

अपवर्तन में दीर्घ दृष्टिता अधिकतर होती है : लगभग सभी बच्चे जन्म से दूरदृष्टिक होते हैं, कुछ बच्चों में जन्मजात निकटदृष्टिक होती है। शरीर अपने नेत्र के बढ़ने के साथ-साथ अधिकतर व्यक्ति सामान्य दृष्टिवान हो जाते हैं, जबकि कुछ को निकट दृष्टिता हो जाती है और शेष दूरदृष्टिक होते हैं।

निकट दृष्टिता और विशेषकर इसका उत्तरोत्तर विकास नेत्र अश्रु के अपसामान्य दीर्घीकरण से संबंधित है। यह अधिकतर स्कूली बच्चों में कुछ प्रतिकूल परिस्थितियों में होता है : काम करने और अध्ययन के दौरान अपर्याप्त प्रकाश का होना तथा किसी वस्तु को एकटक देखते रहना, डेस्कों की असंगत व्यवस्था, अधिक और अयुक्ति दैनिक कार्य, आमवात और कृमि रुग्णता से निर्बल हुए शिशु के शरीर में, अल्प-या अविटामिनता, यक्ष्मज विशालता। चिरकारी गलतुंडिका शोथ सहित सभी संक्रामक रोगों के फौरन बाद भी निकट दृष्टिता हो जाती है। इसीलिए विद्यालय के खुलने पर सभी बच्चों की दृष्टि-तीक्ष्णता की जाँच करानी चाहिए। जिन बच्चों की दृष्टि

कमजोर पाई जाय उन्हें उपचार अथवा चश्मा लगाने की सलाह के लिए नेत्र विशेषज्ञ के पास भेजना चाहिए। चिकित्सा कर्मियों, अध्यापकों और अभिभवकों को इस ओर ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे अपने चश्मे पहने रहें, तथा अन्य स्वास्थ्यवर्धक उपाय करने चाहिए जैसे विद्यालयों में स्वच्छता और स्वास्थ्य की स्थिति बनाई रखी जाय। निकट दृष्टिता को वढ़ने से रोकने और इसके दूर्दम रूप से बचने के लिए उपरोक्त वातों का बहुत महत्त्व है। निकट दृष्टिना के इस रूप की विलक्षणता यह है कि दृष्टि तीक्ष्णता धीरे-धीरे कम होती जाती है, चश्मे का पावर वढ़ता जाता है और जव-जब अधिक पावर वाले लेंस बदलने पड़ते हैं। ऐसे स्थिति श्वेत पटल कीरीट और दृष्टि पटल में अध्यमान के कारण नेत्र के नेत्रबुह्न में परिवर्तन के फलस्वरूप होती है। इससे दृष्टि पटल की वाहिकाओं, काचाभपिंड की अपारदर्शता तथा कोरायड और दृष्टिपटल में शोथीय परविर्तन से और कभी-कभी दृष्टिपटल के वियोजन और विदार से रक्त स्राव हो सकता है।

निकट दृष्टिक को दूर से कम दिखाई देता है और वह किसी भी पुस्तक को अपनी आँख के पास लगाकर पढ़ता है। इसके बाद बच्चों को कभी-कभी पेशीय अवसाद महसूस होता है और अपसारी तिर्यक दृष्टि हो जाती है। नेत्र विज्ञानी की सलाह के अनुसार निकट दृष्टिता को ठीक करने के लिए चश्मा पहनाया जाता है जिससे तिर्यक दृष्टि ठीक हो जाती है। चश्मे का पहनना तिर्यक दृष्टि के प्रगामी विकास को रोकने के लए बहुत महत्त्वपूर्ण है। नेत्र विज्ञानी की देखरेख में सर्वदैहिक शक्तिदायक उपचार करना आवश्यक है, जैसे विटामिन, कैल्शियम क्लोराइड, ऊतक योग, प्रति कृमिरुग्णता चिकित्सा, यक्ष्मजता का उपचार, इत्यादि। बच्चों को अच्छी नींद देना, नियमित रूप से बाहर ले जाना, शारीरिक व्यायाम देना और समय-समय पर उनके मनोरंजन के लिए अध्ययन की सामग्री जुटाना अत्यंत आवश्यक है। जिन बच्चों को संक्रामक रोग हो चुके हों उनके निकट दृष्टिक होने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। स्वस्थ होने पर वे अन्य बच्चों का साथ पकड़ने के लिए अपनी पिछड़ी हुई पढ़ाई पर अधिक जोर देने लगते हैं। परंतु उन्हें निकट दृष्टिता के बढ़ने से रोकने के लिए हल्का काम देना चाहिए। कायिक रोगों और प्रतिकूल काम करने की स्थितियों के प्रभाव से किसी भी आयु के व्यक्ति में निकट दृष्टिता बढ़ सकती है तथा इसके अन्य उपद्रव हो सकते हैं।

अपवर्तन की कोटि और किस्म जानने के लिए दृष्टि लेंसों के सेट का होना आवश्यक है (चित्र 142)। सेट में उत्तल और अवतल तथा बेलनाकार लेंस होने चाहिए। उत्तल लेंस प्रकाश की किरणों को एकत्रित करता है और इस पर '—' का निशान लगाया जाता है। अवतल लेंस किरणों को प्रकीर्ण करता है और इन पर '—' का चिह्न लगा होता है।

रोगी को यथासंभव सर्वोत्तम दृष्टि देने के लिए चश्मे के शीशों का चुनाव करते
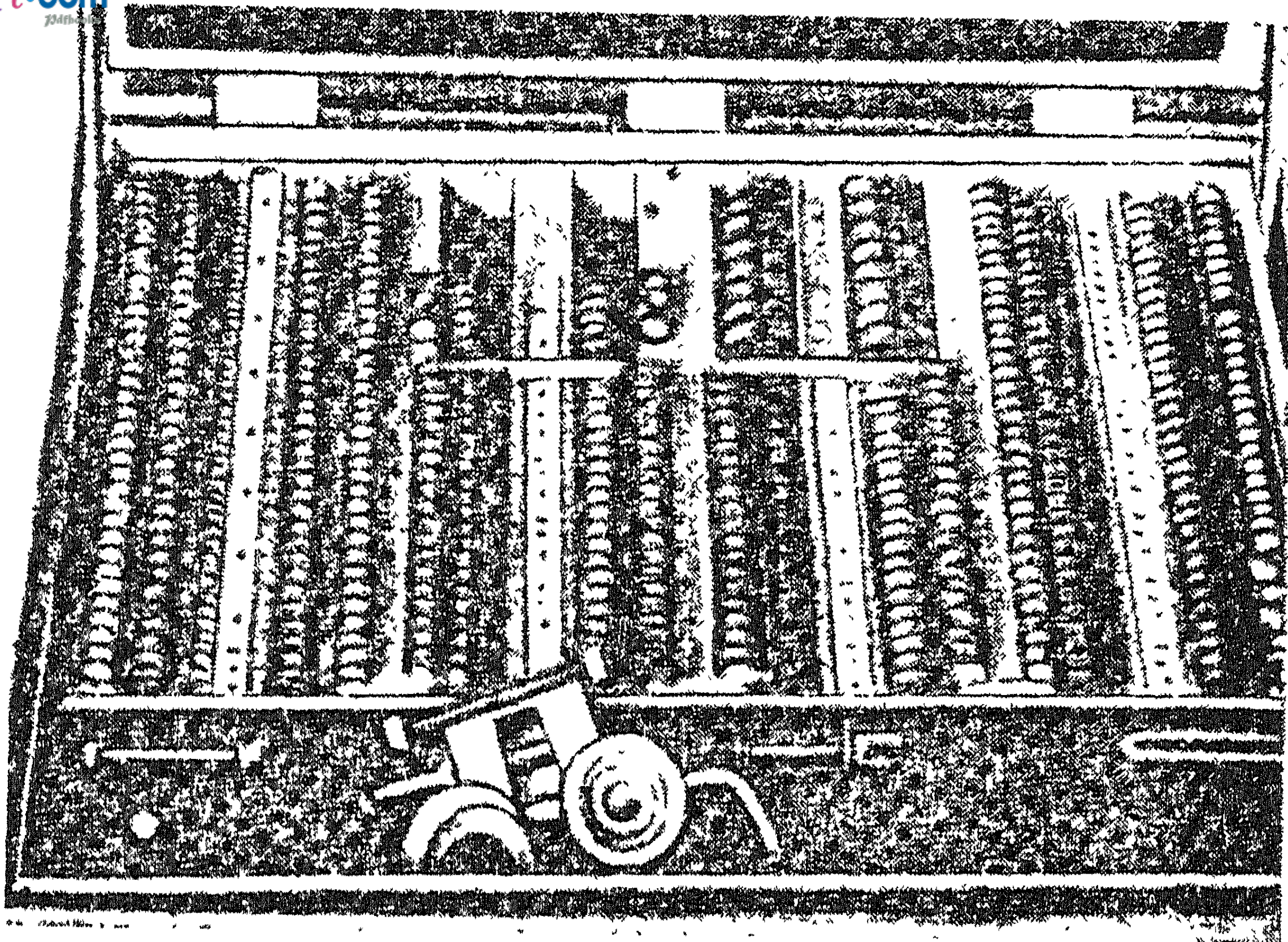
चित्र 142. दृष्टि की जाँच के लिए दृष्टि लेंसों का सेट केश में।

समय यह आवश्यक है कि आवर्तन के लक्षण को निश्चित कर लिया जाए, क्योंकि दीर्घ दृष्टि को सही करने के लिए उत्तल और निकट दृष्टि के लिए अवतल, तथा दृष्टि वैषम्य को दूर करने के लिए वेलनाकार लेंस लगता है।

दोनों आँखों की दृष्टि तीक्ष्णता को अलग-अलग पता लगा कर चश्मे के शीशों का चयन प्रारंभ करते हैं। फिर एक आँख को अपने हाथ की हथेली या गत्ते के टुकड़े से ढक लिया जाता है, जबकि दूसरी आँख पर 0.5 डी उत्तल लेंस लगाया जाता है। फिर उत्तल लेंस की जगह पर उसी पावर का अवतल लेंस लगाकर यह ज्ञात किया जाता है कि किस लेंस से दृष्टि अच्छी होती है। इसके बाद दृष्टि को बढ़ाने के लिए एक के बाद एक अधिक पावर वाले लेंस लगाए जाते हैं, जब तक कि दृष्टि-तीक्ष्णता बढ़कर सर्वोत्तम न हो जाय। दूर दृष्टिक को सबसे अधिक पावर के लेंस और निकट दृष्टिक को सबसे कम पावर के लेंस लगाए जाते हैं, जिससे कि दृष्टि तीक्ष्णता बढ़कर उच्चतम हो जाती है। इस प्रकार बहुत से लोगों में दृष्टि तीक्ष्णता सामान्य अर्थात 1.0 तक पहुँचायी जा सकती है। बेलनाकार लेंस का चयन करना सबसे जटिल काम है। दृष्टि वैषम्य को ज्ञात करने के लिए जाँच की विशिष्ट अभिदृष्यक विधियों का प्रयोग किया जाता है।

बच्चों में अपवर्तन को स्कियेस्कोपी (छायादर्शन) द्वारा ज्ञात किया जाता है (छायादर्शन एक विधि है, जिसमें आफ्तलमोस्कोप को घुमा-घुमा कर आँख की पुतली

से गुजरने वाली छाया के प्रेक्षण से आँख का अपवर्तन ज्ञात किया जाता है) परंतु इससे पहले आँख में एक प्रतिशत एट्रोपीन घोल या 1% होमाट्रोपीन घोल डालकर समंजन का अपवर्जन कर दिया जाता है। इस क्रिया के पूरा होने के बाद ही दृष्टि को चश्मे के शीशे के द्वारा ठीक किया जाता है।

प्रौढ़ लोगों की आँखों के लिए शीशे का चयन उनको पास से पढ़वाकर किया जाता है जिससे कि जरावस्था की दूर-दृष्टि का प्रभाव न हो। इससे पहले दृष्टि तीक्ष्णता की जॉच की जाती है, फिर संशोधक लेंस अपवर्तन ज्ञात किया जाता है और इस प्रकार आँख के लिए सही चश्मे का चयन किया जाता है। बहुधा 40 वर्ष +1.0 डी के उत्तल लेंस, 45 वर्ष की आयु वाले के लिए +1.5 डी, 50 वर्ष की आयु वाले के लिए +2.0 डी, 55 वर्ष की आयु वाले के लिए +2.5 डी, 60 वर्ष की आयु वाले के लिए +3.0 डी, 65 वर्ष और अधिक वालों के लिए +3.5 डी उत्तल लेंस की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, दीर्घ दृष्टिक व्यक्तियों को दिए जाने वाले लेंसों में अपवर्तन असंगति के अनुसार अधिक पावर भी दी जाती है। 50 वर्ष की आयु वाले व्यक्ति के लिए यदि दीर्घदृष्टि 1.0 डी हो तो उसे पढ़ने के लिए 2. 0 डी के लेंस की अपेक्षा 3.0 डी लगाया जाता है। निकट दृष्टिक व्यक्तियों के लिए अपवर्तन की क्षमता की अधिकता को ध्यान में रखते हुए लेंस का पावर हटा दिया जाता है। 50 वर्ष की आयु पर -5.0 डी अवत्तल लेंस को स्थायी रूप से प्रयोग करने वाला रोगी -3.0 डी लेंस से भली-भाँति पढ़ सकता है। संशोधन लेंसों का कहीं चयन करने के लिए दृष्टि तीक्ष्णता के अनुसार थोड़ी दूर से आँखों के शीशे लगाकर अक्षरों को पढ़ाकर किया जाता है।

डाक्टरी जाँच और कुछ व्यवसायों के लिए आँखों के शीशों का चयन करने हेतु अपवर्तन को ज्ञात करना आवश्यक होता है।

रोगी के परीक्षण की विधियाँ

रोगी का परीक्षण शुरू करते समय सबसे पहले उससे पूछा जाता है कि उसे क्या तकलीफ है, जो किसी रोग का विशेष लक्षण हो सकती है। उदाहरण के लिए आँखों में पीड़ा, अश्रु स्राव, प्रकाश-असह्यता अधिकतर नेत्र के अग्रभाग (किरीट, परितारिका और रोमक पिंड) के रोगों में होती है और कभी-कभी श्लेष्मल कला और पलकों के रोगों में भी। दृष्टि की प्रगामी हानि होना लेंस के अपारदर्शी (मोतियाबिंदु) होने का, दृष्टिपटल और कोरायड, दृष्टि स्नायु, प्रगामी निकट दृष्टिता और सबलवाय होने का लक्षण है।

दृष्टि पटल के तीव्र अवरोध (वाहिका रोध, धनास्मता, आकर्ष), पीतबिंदु में कुछ परिवर्तन (तीव्र शोथीय प्रक्रम में रक्त स्राव), दृष्टि स्नायु विकार (परिसंचरण विकार, शोथ) इत्यादि के एकाएक पीड़ा रहित दृष्टि का लोप हो सकता है।

उपरोक्त शिकायतों सबलवाय के तीव्र दौरे के विशेष लक्षण हैं, जबकि तीव्र पीड़ा के साथ-साथ उसी तरह सिर में पीड़ा मतली और उल्टी होती है।

वह निश्चित करना आवश्यक है कि रोगी कितने समय से पीड़ित है और यह रोग किस रूप (तीव्र या चिरकारी) में प्रारंभ हुआ है तथा इसका संभावित कारण क्या है; क्या उपचार किया गया है और उसका क्या प्रभाव हुआ है। यह जानना भी आवश्यक है कि कहीं ऑख में चोट तो नहीं लगी है। क्या उस व्यक्ति का संपर्क संक्रामक रोग (रोहे, नेत्र श्लेष्मला शोथ) से पीड़ित रोगियों से रहा है ? रोगी के शरीर की सामान्य अवस्था के बारे में भी जानना चाहिए और यह भी पता करना चाहिए कि उसे पहले कौन-कौन से रोग हुए हैं और इस समय उसे कोई रोग है या नहीं। यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि विभिन्न प्रकार के शारीरिक रोगों से नेत्र रोग हो सकते हैं।

रोगी से प्रश्न करते समय यह पूछना आवश्यक है कि वह किन अवस्थाओं में रहता है और काम करता है जो कि उसके रोग का कारण हो सकती हैं या जिनसे रोग और भी बढ़ सकता है। उदाहरण के लिए, चिरकारी नेत्रश्लेष्मा शोथ बहुधा ऐसी जगह पर काम करने से संबंधित है, जहॉ धूल ज्यादा होती है (जैसे आटा पीसने और तंबाकू के उद्योग में), या जहाँ पर नेत्रों के लिए प्रकाश की चमक (बिजली वाली वेल्डिंग, इस्पात द्रवण, धातु लुंठन, इत्यादि) से पर्याप्त बचाव नहीं होता है। शारीरिक थकान, वातावरण के तापमान में एकाएक परिवर्तन, तंत्रिका प्रतिबल और पहले के रोगों से अंतराक्षि-दाब बढ़ सकता है जो कि सबलवाय के दौरे का कारण हो सकता है।

रोगियों का परीक्षण करते समय कभी-कभी विभिन्न प्रकार के रोग लक्षण और प्रयोगशाला जॉच करना आवश्यक होता है। चिकित्सा के दूसरे क्षेत्रों में विशेषज्ञता प्राप्त काय चिकित्सकों को परामर्श के लिए बहुधा आमंत्रित किया जाता है।

रोगी की आँखों की जाँच करने से पहले दृष्टि तीक्ष्णता और अपवर्तन को आत्मगत रूप से निर्धारित किया जाता है। यदि आवश्यक ही हो रोगी के दृष्टि क्षेत्र, वर्णबोध और अन्य क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

नेत्र और उसके उपकरणों की जाँच शरीरी क्रम में योजनाबद्ध रूप से की जानी चाहिए, जिससे कि रोग का निदान करने के लिए कोई भी आवश्यक रोग लक्षण छूट न जाय। दोनों आँखों का परीक्षण करना चाहिए, पहले स्वस्थ नेत्र का परीक्षण किया जाता है।

पहले यह देखा जाता है कि नेत्र गोलक अपनी सही जगह पर हैं : अपसामान्य उभार (वहिर्गताक्षि) या नेत्रगुहा में स्थिति नेत्र गोलक में अपसामान्य प्रतिसार (अंतर्गताक्षि) या इसका किसी एक ओर विस्थापन। नेत्र की गतिशीलता की जाँच की जाती है। नेत्रगुहा क्षेत्र की त्वचा का (लाली, शोफ के लिए) निरीक्षण किया जाता है।
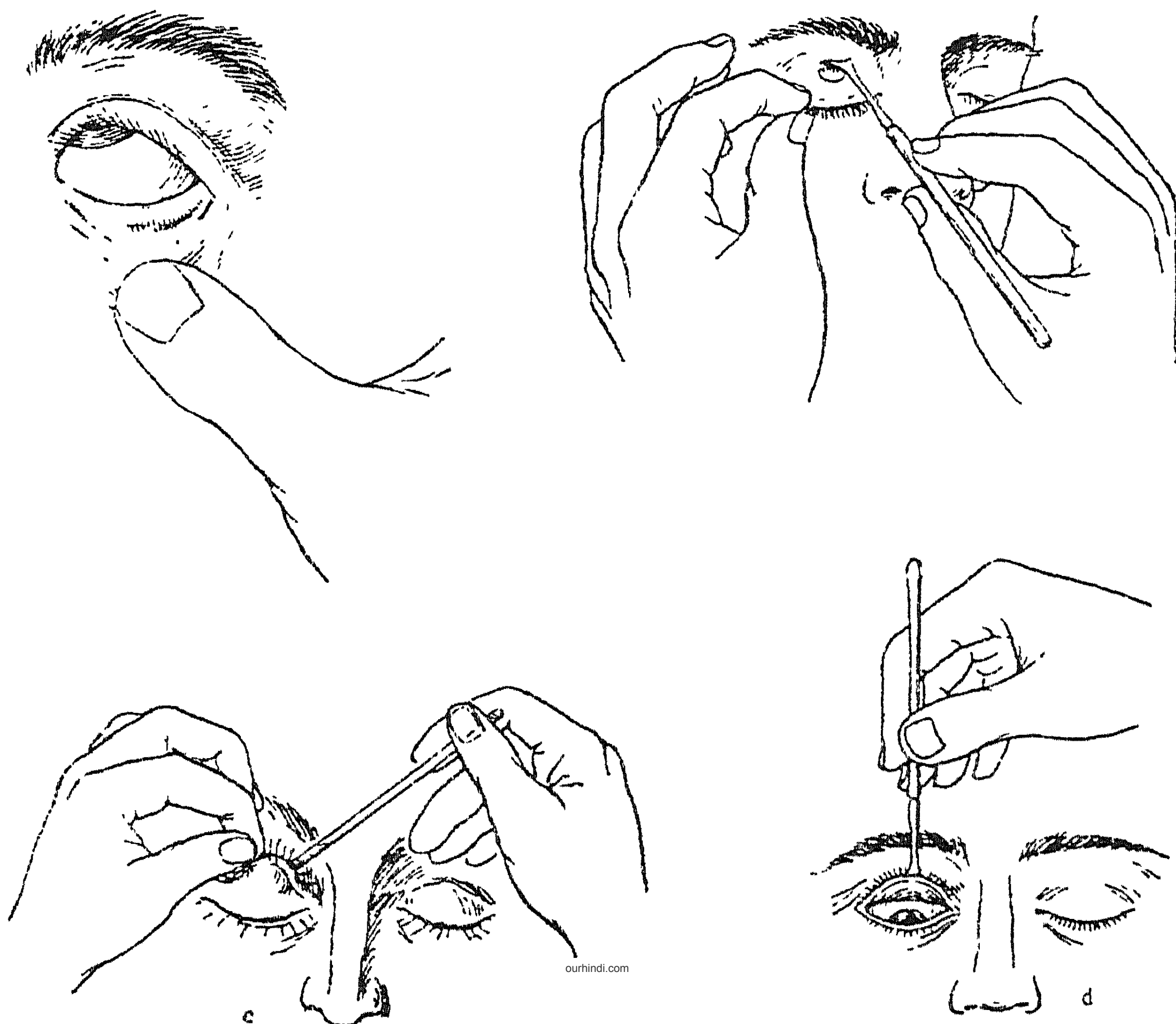
चित्र 143. कचुकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ का परीक्षण।
a निचली पलक का अहिर्वर्तन, b ऊपरी पलक का अहिर्वर्तन, c और d प्रतिवर्तन रेखाओं की जॉच करने के लिए पलक लिफटर के द्वारा ऊपरी पलक का अहिर्वर्तन।

पलकों की जाँच में परीक्षक त्वचा की हालत, पलकों की परिसीमा, पक्ष्म की वृद्धि, पलकों की स्थिति अंतर्वर्त्यता, बहिर्वर्त्यता, वर्त्म विदर, प्रकाश असह्यता, पलकों में आकर्ष, अश्रुस्राव आदि पर ध्यान दिया जाता है।

नेत्र श्लेष्मला आवरण का परीक्षण : नेत्र श्लेष्मला की जाँच करने के लिए पलकों को ऊपर की ओर पलटना आवश्यक है। नेत्रगुहा और अस्थि परिसीमा को थोड़ा-सा दबाकर निचली पलक को नीचे की ओर खींचा जाता है और साथ ही रोगी को ऊपर की ओर देखने के लिए कहा जाता (चित्र a)। ऊपरी पलक को पलटने के लिए रोगी को नीचे को नीचे की ओर देखना चाहिए, जबकि परीक्षक अपने दाहिनी हाथ के अंगुठे और तर्जनी से पलक की परिसीमा को पकड़कर नीचे की ओर खींचता है। इसके परिणामस्वरूप त्वचा के नीचे उपस्थि बहिरेखा बन जाती है। परीक्षक अपने बाएँ अँगूठे से या शीशे की छड़ से पलक की परिसीमा से 8-10 मिली मीटर की दूरी पर से उपस्थि को दबाता है (चित्र 143b)। तब पलक पलट जाती है और नेत्र

गुहा कि परिसीमा दब जाती है। तत्पश्चात, ऊर्ध्व नेत्र श्लेष्मला तोरणिका की जाँच करने के लिए दाहिने हाथ की अँगुलियों को निचली पलक पर रखकर नेत्र गोलक को दबाना चाहिए और इसे ऊपर की ओर ऊपरी पलक तक चलाना चाहिए। नेत्र गुहा की परिसीमा को दबाकर ऊपरी पलक को बाएँ हाथ से ऊपर की ओर उठाना चाहिए। पलक को पलटने के लिए पलक उठाने वाले उपकरण का प्रयोग किया जाता जैसा कि चित्र 143 (c और d) में दिखाया गया है। पलकों को बहुत हलके से और सावधानी से पलटना चाहिए ताकि नेत्र गोलक पर अनावश्यक दबाव न पड़े। उपरोक्त सावधानी का उस हालत में विशेष महत्त्व होता है जब कि किरीट में दोष (व्रण, घाव) हो, या छिद्र हो। यदि नेत्र श्लेष्मला स्राव प्रचुर मात्रा में हो तो पलकों की परिसीमा को पहले आर्द रुई के फाहे से पोंछना चाहिए, फिर पलकों को सावधानी से अलग करके नेत्र श्लेष्मला कोश को किसी विसंक्रामित घोल से धोया जाता है और उसके बाद ही पलकों को पलटा जाता है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है कि जाँच किया जाने वाले व्यक्ति की आँखों में पूय (पस) न पहुँच सके। ऐसे रोगियों का परीक्षण करते समय परीक्षक को सुरक्षात्मक धूप का चश्मा लगाना चाहिए। श्लेष्मलकता का परीक्षण करते समय इसके रंग वाहिकामय विन्यास, स्राव, क्षतचिह्न और पुटिकाओं के मौजूद होने पर विशेष ध्यान दिया जाता हैं अश्रु कोश में शोथ या किरीट में व्रण होने पर अथवा नेत्र श्लेष्मला स्राव होने पर जीवाणुदर्शी या जीवाणुविज्ञानी जाँच की जाती है। नेत्र श्लेष्मलीय रोग जनक फ्लोरा का पता करने के लिए उपरोक्त जाँच की जाती है, भले ही नेत्र देखने में स्वस्थ लगता हो। यह जाँच शस्त्रकर्म की तैयारी में भी की जाती है। प्लैटिनम पाश को अल्कोहल लैंप की लौ पर थोड़ी देर रखकर विसंक्रामित किया जाता है और फिर इसे हल्के से नेत्र श्लेष्मला, किरीट पर लगाया जाता है और इससे अश्रु कोश को दबाकर स्राव को बाहर निकाल देते हैं। इसके बाद विसंक्रामित किया जाता है और फिर इसे हल्के से नेत्र श्लेष्मला, किरीट पर लगाया जाता है और इससे अश्रु कोश को दबाकर स्राव को बाहर निकाल देते हैं। इसके बाद विसंक्रामित काँच पट्टिका का आस्राव का पतला लेप किया जाता है, फिर लेप स्थिरीकरण हेतु स्लाइड को बर्नर की लौ पर नीचे की तरफ से रखा जाता है और इसके बाद इसे प्रयोगशाला में जाँच के लिए भेजा जाता है।

तीव्र वर्त्माकर्ष से पीड़ित शिशुओं के नेत्र गोलक के अग्रभाग की जाँव के लिए पलक लिफ्टर का प्रयोग करना चाहिए। बच्चे की माँ या परिचारिका को चाहिए कि वह बच्चे को धड़ से पकड़कर अपने घुटनों पर बैठाए और बाँह से उसके हाथों को पकड़े तथा दूसरे से उसके सिर को। बच्चे के पैरों को माँ या परिचारिका अपने घुटनों के बीच दबाकर रखे। फिर चिकित्सक को बड़ी सावधानी से ऊपरी पलक के नीचे पलक लिफ्टर बढ़ाना चाहिए। यदि बच्चा बहुत ही बेचैन हो तो उसे पीठ के बल लिटाते हैं। चिकित्सक उसके सिर को अपने घुटनों के बीच में मजबूती से

पकड़ ले, जबकि माँ उसके हाथ और पैरों को पकड़े रखे (चित्र 144)।

अश्रु मार्गो का परीक्षण : पलकों की त्वचा की हालत, पुंक्टालेक्रिमालिया की स्थिति, जो कि सामान्यतः नेत्र की ओर होती है, आदि बातों का ध्यान देना चाहिए। परीक्षक अश्रु अवरोधक, अश्रुस्राव या अश्रुद्वारों में से पूय या श्लेष्मा के आस्राव के चिन्हों की खोज करता है, जबकि अश्रुकोश के क्षेत्र संपीडित हों। अश्रु आस्राव मार्ग का मार्ग का एकस्वतव तथा सूक्ष्म नलिकाओं की चूषण क्षमता के परीक्षण के लिए नेत्र
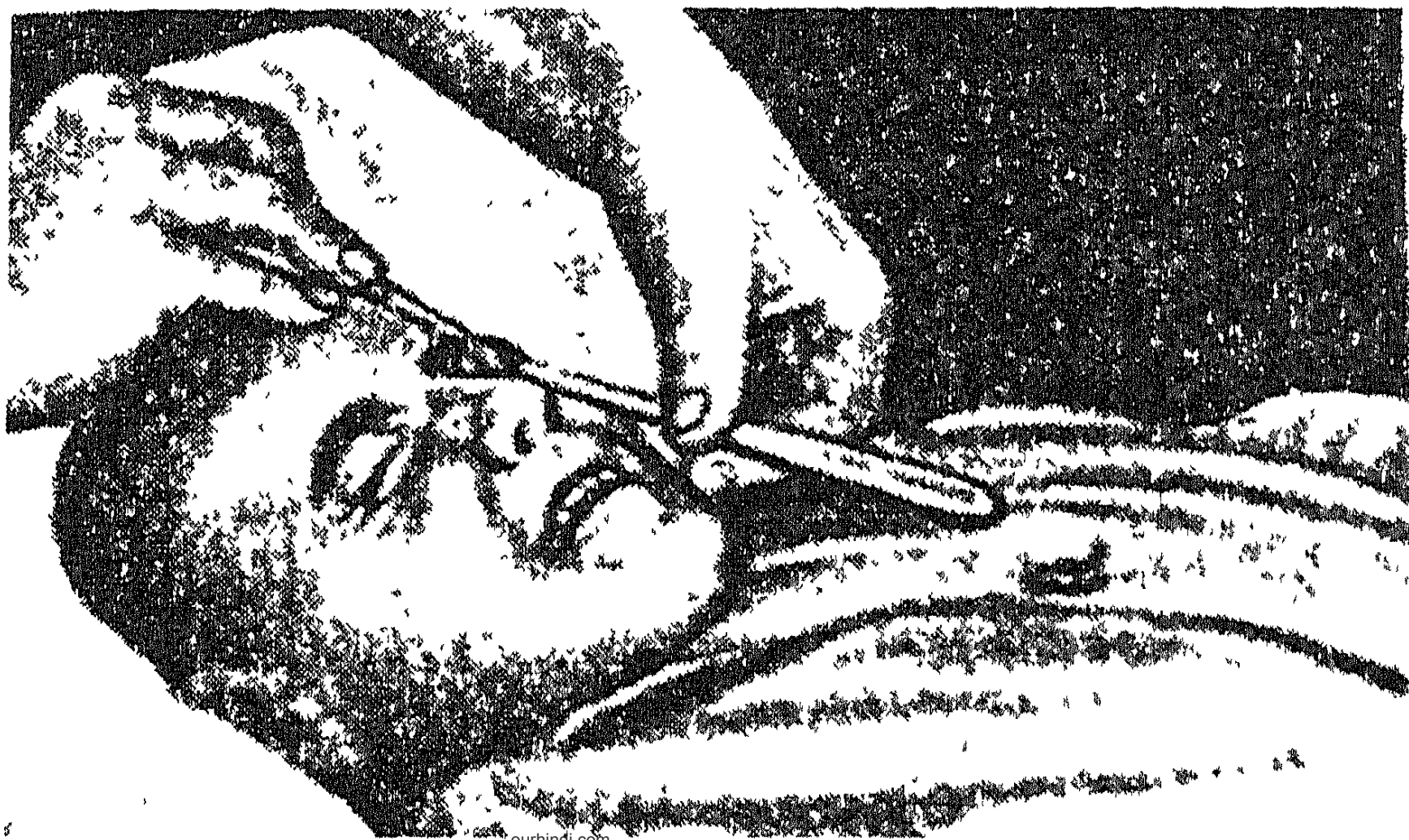
चित्र 144. पलक लिफ्टर से खोल कर आँख और नेत्रच्छद विदर की जाँच।

श्लेष्मला कोश में 2 प्रतिशत कोलायड सिल्वर घोल की एक या दो बूँदें डाली जाती हैं। 5 मिनट में ही अश्रु सूख्म नलिकाएँ इन बूँदों को सोख लेती हैं सामानयतः अश्रुस्राव कोश के क्षेत्र को थोड़ा दबाने से पुंक्टा लेक्रिमालिया से कोलायड सिल्वर की भूरे रंग की बूँद निकलती है (यह स्वीकारात्मक सूक्ष्म नलिका जाँच कहलाती है)। 10 मिनट के बाद नाक साफ करने से होने वाले आस्राव में कोलायड सिलवर का मिश्रण निकलता है (यह स्वीकारात्मक नासा जाँच कहलाती है)। जिस आँख की जाँच की जाती है उसी ओर के अधः नासा कुहर में अंदर तक रुई का टेंपन (फाहा) डाला जाता है। इस टेंपन पर भी कोलायड सिल्वर के धब्बे आ जाते हैं। यदि इन परीक्षणों में देर लगती है या इनके नकारात्मक परिणाम निकलते हैं, तो चिकित्सक अध्ययन के लिए निम्नलिखित विशेष विधियों का प्रयोग करता है : धोवन, अश्रुस्राव वाहिनियों का एक्सरे परीक्षण और प्रोविंग की जाती है। श्लेष्मला कोश में 25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का तीन बार बिंदुपात करने के बाद धोवन किया जाता है। शंकु आकार वाले प्रोब के द्वारा अधः पुंक्टम लेक्रिमल को चौड़ा किया जाता है और फिर इसमें विशेष अर्क तक प्रवेशनी या पिचकारी की सुई समाविष्ट की जाती है और अश्रु वाहिनियों में शरीरी लवण घोल या प्रतिजीवी-घोल का आधान किया जाता है। यदि अश्रु वाहिनियों का एकस्त्व सामान्य है तो यह द्रव नाक के द्वारा निकलता है। यदि वाहिनियां संकीर्ण

हैं तो यह द्रव बूँद-बूँद करके निकलता है और जब वाहिनियाँ पूर्ण रूप से अवरुद्ध हों तो, यह द्रव ऊर्ध्व पुंक्टम लेक्रिमल के द्वारा निकलता हैं

नेत्र के अग्रभाग का परीक्षण : नेत्र के अग्रभाग का परीक्षण अंधकक्ष में पार्श्व या फोकसी प्रदीपन करके किया जाता है। जिस व्यक्ति की आँखों का परीक्षण किया जाता है, उसी के नेत्रों के स्तर पर बाईं ओर और थोड़ा सा सामने की ओर प्रकाश का स्रोत रखा जाता है तथा द्विउत्तल आवर्धक लेंस को आँख की दिशा में फोकसी दूरी पर इस प्रकार रखा है कि किरीट पर प्रकाश पुंज एकत्रित हो। रोगी के नेत्र का परीक्षण चित्र 145 में दर्शाया गया है। साथ-ही-साथ, नेत्र का परीक्षण दूसरे आवर्धक लेंस या द्विनेत्री लेंस के द्वारा (मिश्रित तकनीक द्वारा) किया जाता है। कक्ष की अंधता
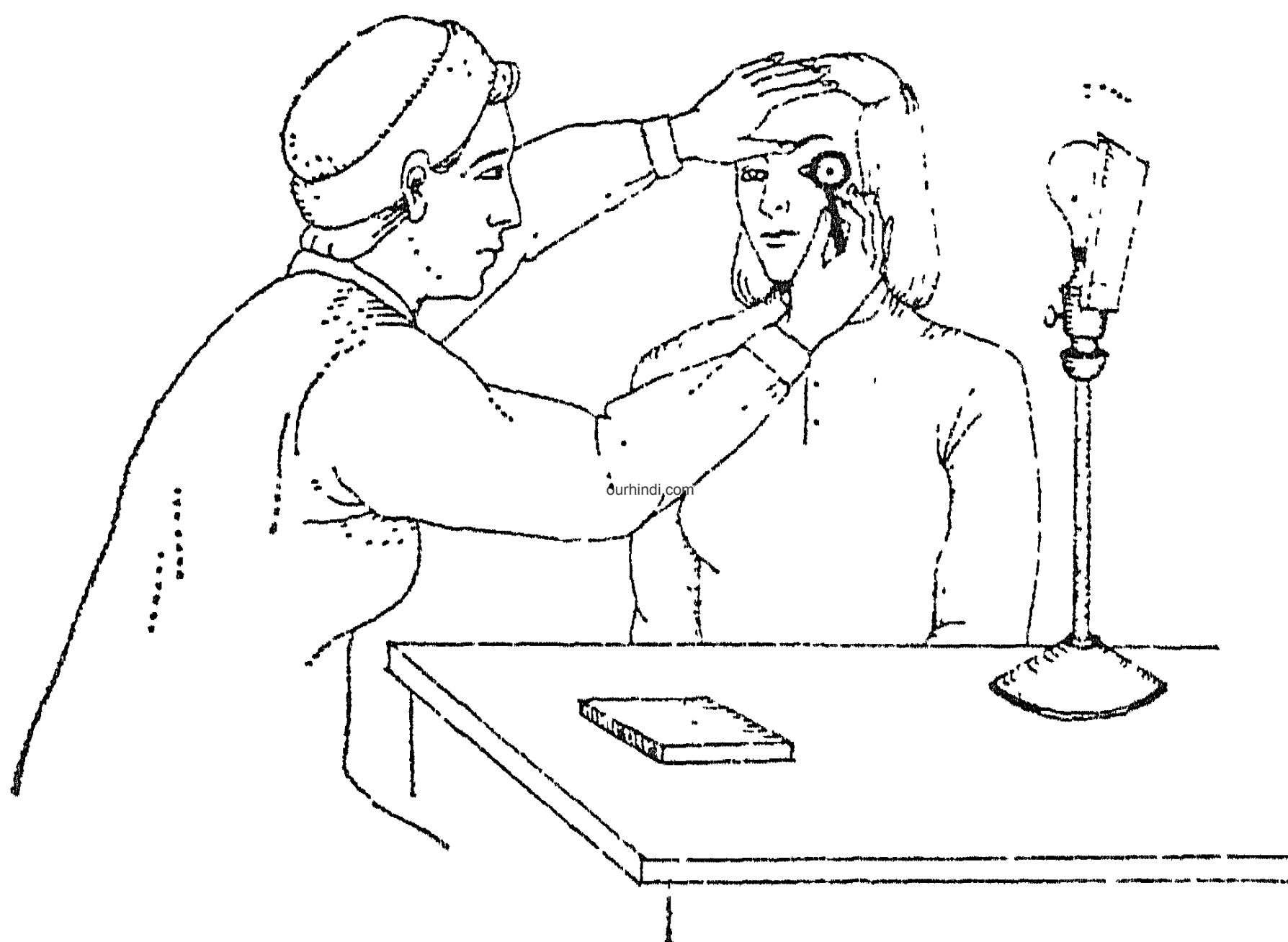
चित्र 145. पार्श्व या फोकसी प्रदीप्ति में जांच।

के मुकाबले में आँख के चमकीले प्रदीपन से किरीट (छोटे आगंतुक शल्य सहित), परितारिका और लेंस में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को पहचानना संभव होता है। परीक्षण करते समय किरीट की पारदर्शिता, सतह और आकार पर विशेष ध्यान दिया जाना है। इसकी संवेदनशीलता को पहले स्वस्थ आँख में और उसके बाद रोगी आँख में रुई के पतले रेशों से छूकर और तुलना करके ज्ञात करते हैं।

सामान्य किरीट संवेदनशीलता में प्रतिवर्त की अभिव्यक्ति पलक के बाद। होने से होती है। नेत्र में 2 प्रतिशत सोडियम फ्लोरीमोन घोल की एक बूँद डालने से किरीट के रोगी भाग में उत्पन्न हरा रंग किरीट के दोष (अपर्दन व्रण या दग्ध) को दर्शाता है।

अग्रकक्ष की गहराई और इसके फर्श पर जमे हुए निःस्राव, रक्त और पूय को फोकस प्रदीपन से पहचानने में सहायता मिलती है। परितारिका का रंग और विन्यास,

तारों का विस्तार और इसका रूप तथा प्रकाश के प्रति इसकी अभिक्रिया आसानी से देखी जा सकती है। सामान्यतः तारा काला होता है, परंतु इसके काँचाभ पिंड में पूय या रक्त के जम जाने से इसका रंग हरा हो जाता है। तारे का रंग भूरा होने से यह पता लगता है कि लेंस अपारदर्शी हो गया है (अर्थात् मोतियाबिंद हो गया है)। आँख के अग्रभाग की जाँच करने के लिए यदि रेखा छिद्र वाली लैंप का प्रयोग किया जाय तो अच्छा होगा, क्योंकि यह उपकरण विशेष रूप से इस उद्देश्य से बनाया गया है।

पारदर्शक माध्यम का अध्ययन : लेंसन और काचाभ पिंड की जाँच दृष्टिपटलदर्शी (आफ्तालमोस्कोप) द्वारा की जाती है, जिसके बीच में छिद्र होता है (चित्र 146)। रोगी को अंध कक्ष में बैठाया जाता है और प्रकाश से स्रोत को उसकी आँखों के स्तर पर उसके बाई ओर और पीछे रखा जाता है। नेत्र विज्ञानी दृष्टि पटल को अपनी
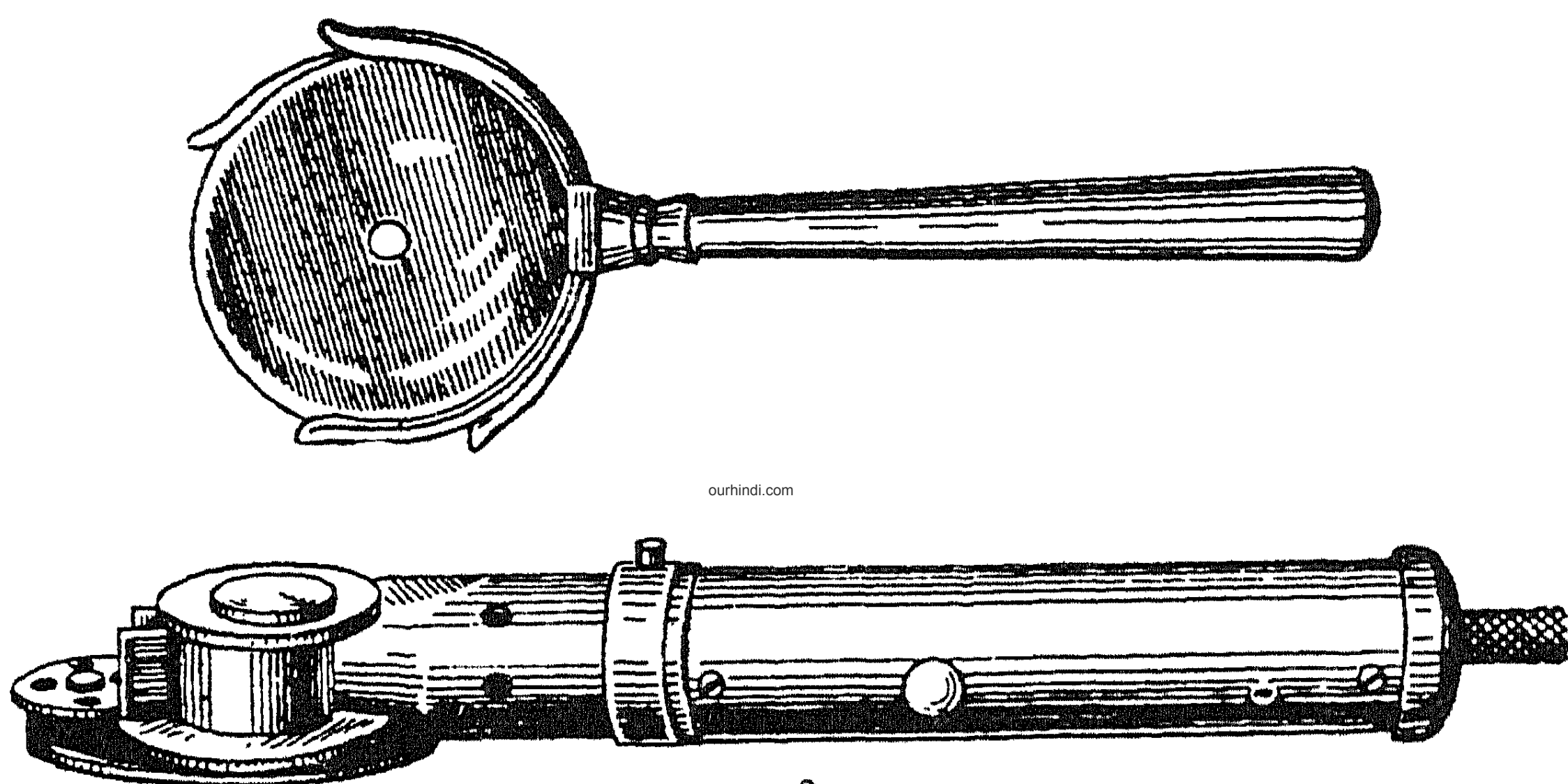
चित्र 146. दृष्टिपटलदर्शी
1. साधारण, 2. विद्युतीय।

आँख के पास पकड़े रहता है और प्रकाश को रोगी की आँख में डालता है। नेत्रबुघ्न से प्रकाश की किरणों का प्रतिवर्तन होने के कारण नेत्र विज्ञानी को तारे में लाल संदीप्ति दिखाई देती है, जिसे नेत्रबुघ्न प्रतिवर्त कहते हैं। किरीट, लेंस या काचाभ पिंड की अपारदर्शिता लाल पुतली की पृष्ठ छाया में काले धब्बों या धारी के रूप में दिखाई देती है।

दृष्टि-पटल दर्शन : दृष्टि-पटल दर्श, बुघ्न की परीक्षा (चित्र 147) रोगी के नेत्र के सामने (7.7 सेंटी मीटर) कसी दूरी पर 13.0 डी के आवर्धक लेंस द्वारा की जाती है। दृष्टि पटल दर्शक की प्रकाश किरणें आँख में से गुजरती हुई बुघ्न पर प्रतिवर्त होती हैं और आवर्धक लेंस से उलटी दिशा में होकर सामने के फोकस पर जमा होती हैं। इस प्रकार बुघ्न (कोरायड दृष्टि पटल, और नेत्र अक्षि बिंब) का उल्टा और

आवर्धित बिंब दिखाई देता है। प्रत्यक्ष दृष्टि पटल दर्शन भी संभव है, यदि परीक्षक रोगी की आँखें को बहुत नजदीकी से साधारण या बिजली वाले दृष्टि पटल दर्शी से तारे के द्वारा बुघ्न को प्रत्यक्ष रूप से देखे।

दृष्टिपटल दर्शन नेत्र रोगों और साथ ही केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के बहुत से रोगों (अर्बुद, शोथीय, प्रवर्ध इत्यादि), आंतरिक अंग के रोग (अतिरक्त दोषी रोग, रक्त व गुर्दे के विकार, मधुमेह, इत्यादि) का निदान करने की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विधि है।

चित्र 147. दृष्टिपटल दर्शन।

अंतरक्षि दाब को मापना : नेत्र गोलक का तान कोशिकाओं के रक्त दाब और इसकी भित्तियों पर अंतरक्षि तरल के दाब पर निर्भर है। दाब के उतार या चढ़ाव का नेत्र की क्रिया पर कुप्रभाव पड़ता है और इससे अंधता तक हो सकती है। उपकरण के लिए अंतरक्षि दाब का बढ़ना सबलवाय का मूल लक्षण है, जबकि सबलवाय नेत्रों का एक अत्यंत गंभीर रोग है। रोगियों का उपचार करते समय यह आवश्यक है कि इसके अंतरिक्ष दाब पर निरंतर ध्यान रखा जाय।
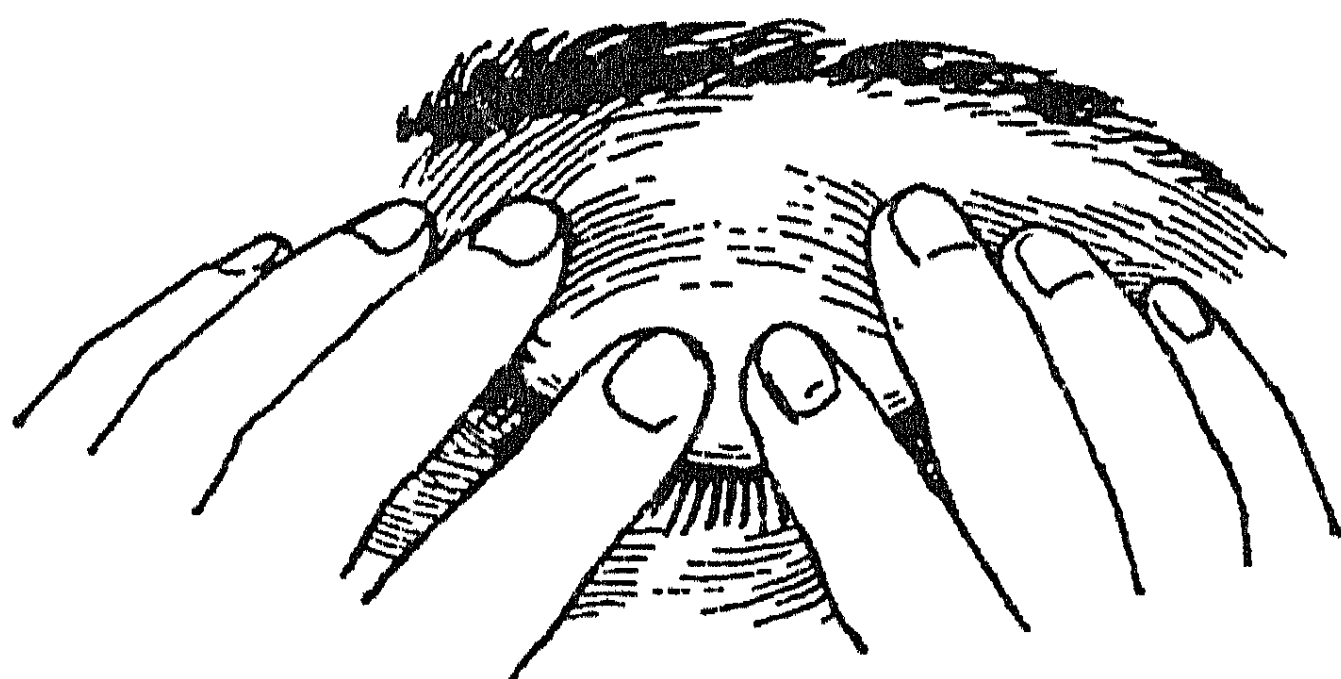
चित्र 148. पिरस्पर्शन द्वारा अंतरक्षि-दाव को ज्ञात करना

परिस्पर्शन विधि स्वस्थ और रोगी की कठोरता की तुलना पर आधारित है। इस विधि से अंतरक्षि
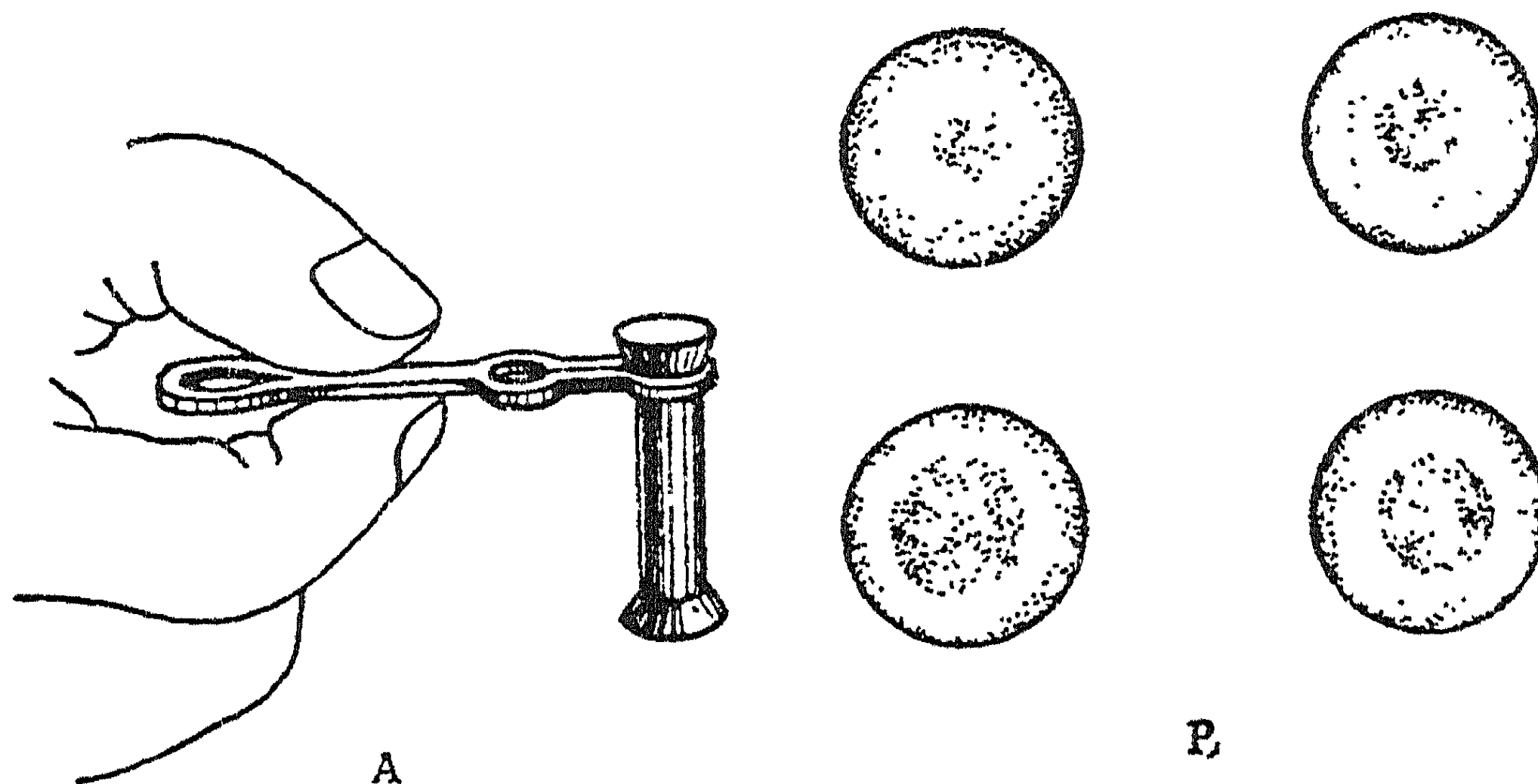
चित्र 149. मक्लाकोव का तान मापी (A) और तानमापी द्वारा प्राप्त हुए चिह्न (B)।

दाब का पता सन्निकटकर लगता है। रोगी अपनी आँख को बंद करके नीचे की ओर देखता है, जबकि नेत्र विज्ञानी उपस्थि से ऊपर की पलक को दोनों हाथों को तर्जनी से दबा कर एक के बाद दूसरी अँगुली से थोड़ा दबाव डालता है (चित्र 148)। इसके लिए प्रयुक्त विशेष उपकरण को तनाव-मापी कहते हैं। इसका प्रयोग जनसाधारण की रोग-निरोगी जाँच करते समय सबलवाय को जानने के लिए, एकदम सही अंतरक्षि दाब नापने के लिए प्रयोग में लाते हैं। माक्लाकोव तनावमापी धातु का एक बेलन-सा है, जिसके सिरों पर चीनी मिट्टी के आच्छेद होते हैं (चित्र 149)। इन पर रंजक (दो ग्राम कोलायड सिल्वर, आसुत जल और ग्लीसरीन, बीस-बीस बूंद) का आलेप किया जाता है, जिससे अंकन (ठप्पा) के लिए विशेष उपाधान (गद्दा) आर्द्र हो जाता है, रोगी को परीक्षा हेतु बिस्तर पर लिटा दिया जाता है। नेत्र श्लेष्मा कोश में 0. 25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल को तीन बार डालकर तनावमापी को किरीट पर एक विशेष होल्डर के द्वारा रखा जाता है। किरीट के संपर्क में आने से मापी के ध्मव में स्थित रंजक धुल जाता है और तनावमापी के ऊपरी सिरे पर फलतः वृत्त दिखाई देता है। इसकी छाप अल्कोहल में भिगोए हुए कागज पर ले ली जाती है। सफेद वृत्त का व्यास नापा जाता है, जिसकी गणना तनावमापी पर लगे हुए विशेष स्केल पर की जाती है। वृत्त का व्यास स्केल पर मिली मीटर मरकरी में व्यक्त दाब के अनुरूप होता है। सामान्य अंतरक्षि दाब 18 से 25 मिली मीटर मरकरी के बीच होता है, या कभी-कभी 28 मिली मीटर मरकरी तक पहुँच जता है। तनावमापी के आछद (ऊपरी सिरे) को अलकोहल से विसंक्रामित करते हैं।

नेत्र विज्ञानी के कार्यालय और चिकित्सालय के नेत्र विभाग में उपस्करण और उपस्कर

नेत्र विज्ञानी का कार्यालय एक अच्छी रोशनी वाला कक्ष होना चाहिए, जिसकी

लंबाई कम-से-कम 5.5 मीटर हो, क्योंकि दृष्टि तीक्ष्णता ज्ञात करने के लिए और चश्मे के शीशें का चुनाव चार्ट से 5 मीटर की दूरी पर किया जाता है। चार्ट को शो केश में लगाकर खिड़की के सामने दीवार पर लटकाया जाता है रोगी को कुर्सी एक छोटी मेज के पास कमरे के दूसरी तरफ लगाई जाती है। इस मेज पर चश्मे के शीशों को सेट और पास के पढ़ने के लिए अक्षर रखे जाते हैं। इसके साथ ही चिकित्सक की डेस्क और औषधियों की मेज होना वांछनीय है। वेहतर हो कि यह शल्य चिकित्सक वाली मेज को जिस पर शीशा लगा हुआ हो। इस मेज पर बिंदु शीशियों के लिए ट्रे, मलहम वाला ज्वार आकप व्यवास्थित रूप से रखे होने चाहिए। विंदुओं को ऐसी शीशीओं में रखना अच्छा होगा जिनमें पिपेट लगा हुआ हो (चित्र 150)।
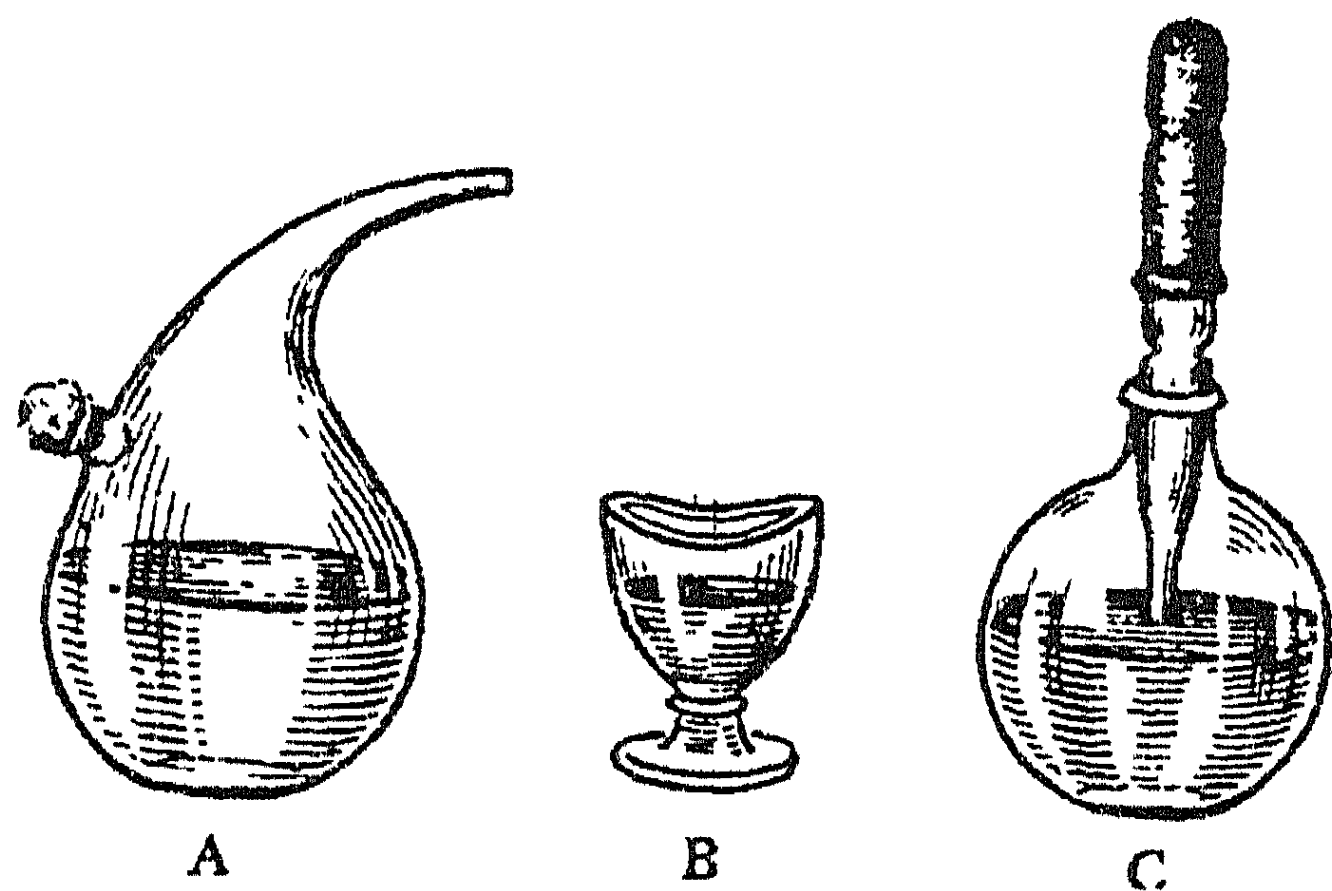
चित्र 150. नेत्रविज्ञानी चिकित्सा में प्रयुक्त बर्तन A. अक्षिसेचिनी, B. नेत्रप्याला, C पीपेट लगा हुआ बिंदुपातकचीय।

दैनिक प्रयोग के लिए मेज पर निम्नलिखित औषधियाँ उपलब्ध होनी चाहिए।

नेत्र तारे के विस्फारण के लिए बिंदु : 1-0.5 और 1 प्रतिशत वाले एट्रोपील घोल, 0.25 प्रतिशत का स्कोपोलामीन घोल, 1 प्रतिशत क्रोमेट्रोपीन, 1 प्रतिशत प्लेटीफाइलीन घोल, 1 प्रतिशत वेनास्टीरीन, 0.1 प्रतिशत एड्रनलीन घोल; नेत्र तारे को संकुचित करने वाले पदार्थ : 1 प्रतिशत किलाकर्पिन घोल, 0.02 प्रतिशत फास्फेकोल घोल, 0.25 प्रतिशत फाइलो इस्टोग्माइन घोल; संवेदनाहरक पदार्थ : 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल; कषायवर्ग और विसंक्रामक पदार्थ : 0.25-1 प्रतिशत जिंक घोल, 0. 25 प्रतिशत क्लोरोफिन्काल घोल, 0.02 प्रतिशत नाइट्रोफ्यूराजीन घोल, 2 प्रतिश कोलायड सिल्वर घोल। इन पदार्थो के अतिरिक्त 1 प्रतिशत हाइड्रोकर्टिजोन निलंवन, 1 प्रतिशत मोनोमाइसीन घोल, 2 प्रतिशत सोडियम फ्लोरोसीन घोल, शरीर लवण घोल (फ्लोरोसीन डालने के बाद आँख को धोने के लिए) उपलब्ध होने चाहिए।

मलहम : 5 प्रतिशत सिंथोमाइसीन या लेवोमाइसीटीन (क्लोरोंफिनीकाल) मलहम, 1 प्रतिशत पीला मरक्यूरीक आक्साइड मलहम (रंगीन बर्तन में)। 1 प्रतिशत कार्टिजोन यो हाइड्रोकार्टिजोन मलहम तथा चित्सिक द्वारा निर्दशित अन्य विशिष्ट औषधियाँ उपलब्ध होने चाहिए। सभी शीशियों पर स्पष्ट लिखे हुए लेबल लगे होने चाहिए।

औषधियों के अतिरिक्त मेज पर एक गिलास भी होना चाहिए जिसमें मलहम

लगाने के लिए विसंक्रामित स्पेचुला, आर्द्र विसंक्रामित रुई की गोलियों वाली ट्रे, पट्टियों का बाक्स तथा विसंक्रामित उपकरणों वाली ट्रे उपलब्ध होनी चाहिए। इन उपकरणों में संदंश, पलक आकुंचक, किरीट के आगंतुक शल्य निकालने के लिए सुइयाँ विसंक्रामित पदार्थ के लिए ड्रेसिंग संदंश इत्यादि; चमकीले हरे (Viride nitetens) का 1 प्रतिशत अल्कोहल घोल, आँख को धोने वाले घोलों के लिए अभिसेचनी या रबर के गुब्बारे होने चाहिए।

कार्यालय में एक परिमापी छोटी मेज होनी चाहिए तथा एक शय्या भी; जिस पर तनाव मापन और अन्य हस्तोपचार के लिए रोगी को लिटाया जा सके। साथ ही एक कुर्सी को जिस पर रोगी को विभिन्न प्रकार के हस्तोपचार के लिए बिठाया जा सके। एक अलमारी भी होनी चाहिए जिसमें विषाक्त पदार्थो (ए), अत्यंत प्रभावशाली औषधियों (ब) और उपकरणों के लिए अलग-अलग खाने होने चाहिए।

परीक्षण करने के लिए एक विशेष अंध कक्ष की आवश्यकता होती है या साधारण कमरे में प्लाइबुड के एक विशेष केबिन बना दिया जाता है जिसकी दीवारों पर काले रंग का लेप होता है। कमरे में भारी पर्दे लगा कर अँधेरा किया जा सकता है। अंध कक्ष में एक छोटी मेज पर एक मैट बल्ब वाला टेबुल लैंप, दो आवर्धक लेंस वाला दृष्टि पटल दर्शी और द्विनेत्री लेंस रखे होते हैं। अंध कक्ष में आवश्यकता पढ़ने वाले यंत्र और उपकरण (स्लिट लैंप, अपवर्तन मापी, प्रक्षेप परिमापी और अन्य वस्तुएँ) हाथ की पहुँच में छोटी मेज पर रखे जाते हैं।

रोगियों को अंदर बुलाने से पहले परिचारिका को यह देख लेना चाहिए कि सभी लेंस निश्चित क्रम से लगे हुए हैं। विभिन्न घोलों वाले फ्लास्कों की हालत पर विशेष ध्यान देनी चाहिए। यदि घोल को हिलाने पर आविलता तैर कर ऊपर आ जाय तो घोल को फेंक कर उन फ्लास्कों, शीशियों और पीपंट को सोडा के घोल से साफ करके फिर नल के पानी में धोकर आसुत जल से भर कर उबालना चाहिए। इसके बाद ही इन पात्रों में ताजा बनाया हुआ घोल भरा जाता है।

निर्जीवाणुता का अनुपालन करने हेतु नेत्र बिंदुओं को (प्रतिजीवी और एड्रेनेलीन घोल को छोड़ कर) कुछ मिनट तक रोज उबाला जाता है। यह जाँच करना अनिवार्य है कि पीपेट और विशेष कर उनके सिरे चटके या टूटे हुए तो नहीं है। शीशी और फ्लास्कों को भरने के वाद उन पर औषधियों के नाम लिखे हुए लेवल चिपकाए जाते हैं, जिस पर कि उनके बनाने की तिथि भी अंकित होती है। अलग-अलग समय पर बनाई हुई औषधियों के नाम लिखे हुए लेबल चिपकाए जाते हैं, जिस पर कि उनके बनाने की तिथि भी अंकित होती है। अलग-अलग समय पर बनाई हुई औपधियों को एक में मिलाना नहीं चाहिए।

हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि एक दवा में प्रयुक्त पिपेट का प्रयोग दूसरी दवा के लिए न हो जाए। ऐसी गलतियों के बहुत ही गंभीर परिणाम हो सकते हैं,

विशेष कर नेत्र तारे के विस्फारण और संकुचन करने वाले औषधियों को रखने में। उदाहरण के लिए, यदि सबलवाय रोगी की आँख में उस पिपेट से बिंदुपात किया गया हो जिसका प्रयोग एट्रोपीन के पात्र में हुआ हो तो नेत्र तारे के संकुचन के बजाय विस्फारण हो जाएगा, जिससे कि सबलवाय का आक्रमण हो सकता है और यहाँ तक कि अंधता का भय हो जाता है। सबलवाय रोगी के नेत्र श्लेष्मल कोष में एट्रोपीन की एक बूँद पड़ने के अत्यंत भयंकर परिणाम हो सकते हैं।

इसी प्रकार परितारिका के शोथ में रोगी के नेत्र में एट्रोपीन के बजाय नेत्र तारे को संकुचित करने वाली औषधि का बिंदुपात बहुत ही हानिकारक है। यही कारण है कि उपरोक्त औषधियाँ सदैव ही अपने निश्चित आबंटित स्थान पर रखी जाएँ। अच्छा हो कि विस्फारण और संकुचन की औषधियाँ ट्रे के आमने-सामने के सिरों पर अलग-अलग रखी जाएँ। काँच की शलाकाएँ और यंत्र उपकरण उबलते पानी में रखे जाते हैं। नेत्रों का परीक्षण करने तथा नेत्र में बिंदुपात करने के बाद पलकों के सिरों को विसंक्रामित रुई की गोलियों से पोंछना चाहिए। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुई रुई को उबलते हुए मर्करी आक्सीसाइनाइड के 1:6000 घोल में 30 मिनट तक रखा जाता है या विसंक्रामित रुई को 2 प्रतिशत बोरिक ऐसिड के घोल में डुबोया जाता है। परिचारिका रुई के छोटे-छोटे टुकड़े करने के लिए अपने हाथों को उसी प्रकार सावधानी से धोती है, जैसे कि शस्त्र कर्म से पूर्व किया जाता है और उसके बाद रुई के टुकड़े-टुकड़े करने के लिए अपने हाथों को उसी प्रकार सावधानी से धोती है, जैसे कि शस्त्र कर्म से पूर्व किया जाता है और उसके बाद रुई के इन टुकड़ों को ऐसी बंद ट्रे में रखा जाता है जिसे कि अच्छी तरह उबाल लिया गया हो। अच्छा हो कि रुई को लकड़ी की शलाकाओं पर लपेटकर तैयार किया जाय और उन्हें ड्रम में रखकर विसंक्रामित किया जाय। पलकों पर ऐसी दो शलाकाओं के सिरों से पलटते हैं, जिन पर विसंक्रामित घोल में डुबोई हुई रुई लिपटी हुई हो। रोगी के नेत्रों का हस्तोपचार करने के बाद पलकों की त्वचा को टेंपन रुई के फाहे से साफ किया जाता है। पट्टी बाँधने के लिए एक मीटर लंबाई वाली पट्टियाँ पहले से ही तैयार कर ली जाती हैं। आँख के ऊपर रखी गई रुई को यथास्थान बनाए रखने के लिए आसंजी टेप की 12 सेंटीमीटर लंबी पट्टी का प्रयोग करना सुविधाजनक है।

नुस्खे के लिए कोरे फार्म, मुद्रित फार्म, उन पर लगाए जाने के के लिए सील मोहर, रोगी के पंजीकरण वाले रिकॉर्ड, हिसाब-किताब के रजिस्टर, तनाव मापन, और दृष्टि क्षेत्र के डाइग्राम वाले विशेष फार्म चिकित्सक के डेस्क पर उपलब्ध होने चाहिए।

नेत्र विज्ञानी के चिकित्सालय में काम करने वाली परिचारिका की यह ड्यूटी है कि वह रोगियों को बुलाए और उनका पंजीकरण करे, चिकित्सक द्वारा निर्देशित विभिन्न जाँच (दृष्टि तीक्ष्णता को ज्ञात करना, अंतरक्षि दाब को मापना, वर्णबोध

और दृष्टि क्षेत्र की जाँच) करना है तथा चश्मे के शीशों के चयन में सहायता करना है। हस्तोपचार (नेत्र श्लेष्मा कोण का धोवन, नेत्र बिंदु का बिंदुपात करना, मल्हम लगाना, रोहेयुक्त कणिकाओं को दबाकर साफ करना, इत्यादि) और चिकित्सालय के काम (यह देखना कि रोगी चिकित्सक के पास अपने निश्चित समय पर आए, और यह निश्चित करना कि रोगी चिकित्सक की सलाह और निर्देश का पालन करे) आदि काम उपारिका करती है।

चिकित्सालय का नेत्र विज्ञान विभाग : नेत्र विज्ञान विभाग में वार्ड, ड्रेसिंग कक्ष, एक शस्त्रकर्म कक्ष के साथ में उप कक्ष, अंधकक्ष और अतिरिक्त कक्ष होने चाहिए।

बड़े चिकित्सालयों में शस्त्रकर्म किए हुए रोगियों के लिए एक विशेष कक्ष होता है। ऐसा प्रबंध चिकित्सा कर्मियों को रोगियों की देख-रेख करने में सुविधाजनक होता है। इन कक्षों में शय्या इस प्रकार लगाई जाती है कि रोगी अर्धशायी अवस्था में रहे।

ड्रेसिंग कक्ष में वही सब सामान और औषधियाँ होती हैं, जैसी कि नेत्र विज्ञानी कार्य कक्ष में। यदि हस्तोपचार के लिए कोई विशेष कक्ष उपलब्ध न हो तो ड्रेसिंग कक्ष में एक मेज लगानी चाहिए, जहाँ पर अंतःशिरा आधान किया जा सके।

औषधियों की अलमारी में अलग-अलग ताले वाले खाने होने चाहिए। विष (ए) और अत्यंत प्रभावशाली पदार्थ (बी) खानों में बंद रखे रहने चाहिए। पहले खानों में एट्रोपीन, स्कोपोलामीन, वीलोकार्पिन, स्टिग्माइन, मार्फीन, आम्नोपान, आक्सीसाइनेट तथा अन्य घोल रखे जाते हैं। अन्य औषधियाँ अलमारी के सामूहिक खाने में रखी जाती हैं। ड्रेसिंग कक्ष में सुबाह्य बिजली का लैंप होना चाहिए, जिसमें लंबा तार लगा हुआ हो। इस लैंप का प्रयोग घाव की ड्रेसिंग करने तथा शस्त्रकर्म किए गए रोगियों की जाँच के लिए किया जाता है। यदि चिकित्सालय में भौतिक चिकित्सा कक्ष न हो तो ड्रेसिंग कक्ष में प्रयोग के लिए सोलम्स लैंप परावर्तक वाला नीला लैंप और वैद्युत कण संचलन के लिए उपकरण रखे जाते हैं।

ऊपर बताई गई रोगियों को दी जाने वाली औषधियों को परिचारिका रोगी को ड्रेसिंग कक्ष में लगाती है। बहुधा औषधियों के दो सेट होते हैं (एक सेट शस्त्रकर्मोत्तर रोगियों के लिए); औषधियों के ये सेट औषधि वाली अलमारी में रखे जो हैं।

परिचारिका और चिकित्सक के द्वारा रोगी की पट्टियाँ सवेरे बदली जाती हैं। शय्या विश्राम वाले रोगियों की पट्टी पहले की जाती है। विसंक्रामित औषधियों वाली ट्रे, ड्रेसिंग पदार्थों वाला बक्सा, पट्टियों और बिजली वाला लैंप वार्डो में ले जाए जाते हैं। परिचारिका पुरानी पट्टी को हटाती है और चिकित्सक रोगी की आँख पर लगे हुए गाज और रुई के पैड को हटाता है और फिर पलकों के सिरों को विसंक्रामक में भिगोई हुई रुई से साफ करता है और नेत्रच्छद विदर को खोलता है तथा परिचारिका नेत्रश्लेष्मा कोष में बिंदुपात करती है। इसके बाद चिकित्सक रोगी की बंद आँख

पर विसंक्रामित गाज रुई का पैड रखता है और परिचारिका रोगी को बैठाकर या एक तरफ घुमाकर चिकित्सक के आदेशानुसार पट्टी बाँधती है। अन्य रोगियों की पट्टी चिकित्सक और परिचारिका द्वारा सवेरे के दौरे में बाँधी जाती है। इसके बाद दिन में परिचारिका अकेले ही चिकित्सक के लिखित आदेशों के अनुसार पट्टी बदलती है।

परिचारिका अंतर्शिरा और अंतर्पेशीय इंजेक्शन लगाती है, और पट्टी करने के बाद अन्य उपचार करती है तथा भौतिक चिकित्सा कराती है। खाने के लिए औषधियाँ बहुधा भोजन से पहले दी जाती हैं।

वार्डों में काम करने वाली नर्स को यह देखना चाहिए कि वार्ड साफ-सुथरे हैं। स्वच्छता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन हो रहा है, जाँच के लिए पदार्थ समय से प्रयोगशाला में भेजे जाते हैं, तथा रोगी एक्स-रे चित्रण और अन्य चिकित्सकों से सलाह के लिए जाते हैं। रोगवृत्त के साथ विश्लेषण के परिणाम नत्थी किए जाते हैं। उसी वृत्त में रोगी के शरीर का तापमान (वक्ररेखा के रूप में) रिकार्ड किया जाता है।

परिचारिका अपनी ड्यूटी पर रोगियों की देख-रेख और चिकित्सक के निर्देशों का पालन करने वाले रोजमर्रा के काम के साथ-साथ स्वास्थ्य शिक्षा का भी काम करती है, रोगियों को समाचार पत्र पढ़कर सुनाती है और यह देखती है कि चिकित्सालय के नियमों का पालन हो। परिचारिका रोगी के संबंधियों से खाद्य पदार्थों के पार्सल ग्रहण करती है तथा सेनेटरी परिचारिकों और जमादारिनों का निरीक्षण करती है। प्रातःकाल ये चिकित्सक को रोगी की रात्रि के समय की दशा की रिर्पोट करती हैं।

शस्त्रकर्म कक्ष के साथ लगे हुए उपकक्ष में अलमारियाँ होती हैं, जिनमें यंत्र, उपकरण, औषधियाँ और ड्रेसिंग का सामान रखा जाता है। इस उपकक्ष में ड्रेसिंग के लिए मेज होती है और एक आराम कुर्सी भी, जिस पर रोगी को शस्त्रकर्मकक्ष में ले जाने से पहले बिठाया जाता है। विसंक्रमण के लिए तैयार किए जाने वाले शस्त्रकर्म कक्ष के सामान, कर्मचारियों के मास्क (रोगी के सिर और धड़ से लेकर पेट तक ढकने वाले लीनेन के टुकड़े) कुछ ड्रमों में रखे जाते हैं, जबकि पट्टियाँ, रुई के पेड वाली गाज जिससे कि शस्त्रकर्म के बाद ड्रेसिंग के समय आँख को ढकते हैं, गाज नेप्किन, कसी बनी हुई रुई की वत्तियाँ, लकड़ी की शलाकाएँ, जिनके सिरे पर रुई लिपटी हो, और लंबी पतली गाज के टैंपन दूसरे ड्रमों में रखे जाते हैं।

नेत्रीय उपकरण (चित्र 151) उत्तम और नाज़ुक होते हैं, इसलिए उन्हें विशेष स्टैंडों पर रखना चाहिए। बड़ी सावधानी और कुशलता से उन पर धार लगाई जाती है। यंत्रों पर धार रखने के लिए बिजली का विशेष उपकरण अधिक सुविधाजनक होता है। शस्त्रकर्म कक्ष में शस्त्र कर्म के लिए एक विशेष मेज होती है। इसमें ऊपर एक लैंप लटका होता है (एक लैंप यदि ऐसा हो जिसकी छाया न बने तो अच्छा है)। एक लैंप से शस्त्रकर्म क्षेत्र यंत्रों की मेज, ड्रम स्टैंड, यंत्रों वाली अलमारी, चुंबक डायाथर्मी के लिए उपकरण इत्यादि प्रदीप्त रहते हैं।

सामान्य शस्त्रकर्मी नियमों के अनुसार अपूतिक उपचारिका बीनेन, ड्रेसिंग पदार्थ, रेशम, कैटगट को पहले से ही विसंक्रामित करके तैयार रखती है। शस्त्रकर्म से 1 घंटा पहले वह कर्तन यंत्रों को अल्कोहल में डालकर रखती है तथा अन्य उपकरणों को उबालकर विसंक्रामित करती है। बिंदुपात के लिए सभी घोलों को (एट्रोपीन, पोलीकार्पिन, टेट्राकेन, इत्यादि) ठीक उसी तरह ताजा तैयार करते हैं, जैसे कि प्रतिजीवी घोल तैयार किए जाते हैं। शस्त्रकर्म के बाद बची हुई औषधियों को परिचारिका ड्रेसिंग कक्ष में ले जाती है और अगले शस्त्रकर्म दिवस के लिए नई (ताजी) दवाइयों का आर्डर देती है। आपूतिक परिचारिका शस्त्रकर्म से पहले अपने यहाँ सामान्य शस्त्रकर्म नियमों के अनुसार उन्हें धोती, है, विसंक्रामित ढीला कुर्ता, दस्ताने पहनती है और यंत्र रखने वाली मेज पर विसंकामित चादर बिछाती है। फिर इस चादर पर वह यंत्र, पिपेट, पिचकारियाँ गाज, रुई की पट्टियाँ, नोबाकेन, ट्रेटोकेन, एड्रेनेलिन, ब्रिलिएंट ग्रीन के घोल, शारीरी लवण घोल रखती है और इन सबको एक विसंक्रामित चादर से ढक देती है।

शस्त्रकर्म मेज के साथ एक छोटी ऊँची मेज होती है, जिसका ऊपरी बोर्ड शस्त्र चिकित्सक के हाथों के स्तर पर होना चाहिए। इस मेज पर शस्त्रकर्म के लिए आवश्यक सभी उपकरण रखे जाते हैं।

शस्त्र कर्म के दौरान उपचारिका शल्यचिकित्सक को आवश्यक घोल वाली पिचकारियाँ और यंत्र पकड़ाती रहती है। एक बार भी प्रयोग में लाए गए यंत्र को विसंक्रामक (स्टेरेलाइजर) में उबलते हुए पानी में डाल दिया जाता है, शस्त्रकर्म के बाद उपचारिका सभी उपकरणों को इकट्ठा करती है और उन्हें सहायक को देती है जो उन्हें फौरन धोकर विसंक्रामक में उबालता है।

रोगी को चिकित्सालय में भर्ती करके नेत्र विज्ञानी द्वारा और यदि आवश्यक हो तो अन्य विशेषज्ञों द्वारा, उसका ध्यानपूर्वक परीक्षण किया जाता है और इसके फौरन बाद ही शस्त्र कर्म की तैयारी प्रारंभ की जाती है। सभी रोगियों के रक्त की सामान्य जॉच, मूत्र-विश्लेषण, धमनी-दाब की माप की जाती है। यदि आदेश हो तो सीने का एक्स-रे चित्रण भी किया जाता है, श्लेष्मल कला का जीवाणुदर्शी अध्ययन अध्ययन अपरिहार्य है, यदि जाँच में रोगजनक सूक्ष्म जीवियों का पता लगे तो शस्त्र कर्म को तब तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए जब तक कि रोगी के उपचार के बाद दुबारा किए गए परीक्षण में रोगजनक जीवाणु न हों। शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी के नेत्र में विसंक्रामित बिंदुओं का बिंदुपात प्रति दिन किया जाता है।

शस्त्र कर्म की पूर्व संध्या में रोगी को एनीमा दिया जाता है तथा स्नान कराया जाता है। शस्त्रकर्म से पूर्व की विशेष औषधियाँ दी जाती हैं। शस्त्रकर्म वाले दिन की सुबह को रोगी को खाने व पीने के लिए कुछ भी नहीं दिया जाता है। शस्त्रकर्म कक्ष के साथ वाले उपकक्ष में रोगी अपना ढीला कुर्ता और जूते उतार कर विशेष

लीनेन के मोजे पहनता है। जिस नेत्र का शस्त्रकर्म करना है रोगी के उस ओर से कान में वार्ड उपचारिका रुई लगा देती है जिससे कि रक्त कान में न जा सके और शस्त्रकर्म से पूर्व नेत्र में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का 3 बार बिंदुपात किया जाता है। इसके बाद उपचारिका रोगी को शस्त्रकर्म कक्ष में ले जाती है, उसे मेज पर लिटाती है तथा चादर ओढ़ा देती है। शस्त्रकर्म मेज पर रोगी के चेहरे को (कान से लेकर नाक के बीच तक) और पलकों को 1 प्रतिशत ब्रिलिएंट ग्रीन के अल्कोहल घोल में 2 बार धोया जाता है। फिर नेत्र गोलक के पीछे 1 प्रतिशत कोकेन घोल का इंजेक्शन लगा कर संज्ञाहरण किया जाता है। यह इंजेक्शन नेत्र गोलक में नेत्र श्लेष्मला के नीचे और अगर आवश्यक हो तो, पलकों के मोटे भाग में लगाया जाता है। वार्ड उपचारिका को पूरे समय शस्त्र कर्म कक्ष में मौजूद रहना चाहिए। शस्त्रकर्म के बाद वह रोगी के नेत्र पर पट्टी बाँधती है और उसे सहायता से या आवश्यकता होने पर पहिए वाले स्ट्रेचर पर लिटाकर, वार्ड में ले जाती है। रोगी को शस्त्रकर्म वाले दिन तरल भोजन शस्त्र कर्म के कई घंटों बाद देना चाहिए।

शस्त्र कर्म के लिए निश्चित किए गए रोगियों को ठीक समय पर शस्त्रकर्म कक्ष में भेजना ड्यूटी पर तैनात वार्ड-उपचारिका की जिम्मेदारी होती है।

शस्त्र कर्म के उपरांत के प्रथम कुछ दिनों तक रोगी की हालत, उसकी खुराक पर उपचारिका को अधिक ध्यान देना चाहिए। वह इन्हें भोजन कराती है और इस बात का ध्यान रखती है कि उन्होंने मल मूत्र का विसर्जन किया है। वह चिकित्सक द्वारा किए गए सभी निर्देशों का पालन करती है। इस बात पर जोर देना चाहिए कि शस्त्र कर्म की सफलता के लिए आपरेशन के बाद की सही देख-रेख बहुत महत्त्वपूर्ण है।

नेत्र रोगों से पीड़ित लोगों की देख-रेख और उनके उपचार की विधियाँ

नेत्र रोग बहुधा दैहिक रोगों के फलस्वरूप होते हैं। जैसे आमवात, यक्ष्मा, रुग्णता, आविधद्रव्यता, सिफिलिस, विषाणु और अन्य बहुत से संक्रामक रोग, अंतःस्रावी विकार, हृदवाहिका विच्छतियाँ, तंत्रिका तंत्र और रक्त के रोग इत्यादि। इसलिए रोग का कारण और निदान करने के बाद यह आवश्यक है कि मुख्य रोग का उपचार किया जाय। व्यापक प्रभाव के लिए अधिकतर प्रयोग में आने वाली औषधियाँ सल्फानीलामाइड प्रतिजीवी, विटामिन, सार्वदैहिक शक्तिदायक औषधियाँ, विशिष्ट चिकित्सा (यक्ष्मा, सिफिलिस, आमवात, आविधद्रव्यता, विधाणुज) ऊतक योग तथा अन्य औषधियाँ हैं। ये औषधियाँ सामान्य चिकित्सा नियमों के अनुसार प्रयुक्त खुराकों में दी जाती है। नेत्र की रोग जनक अवस्था में रोगी को भौतिक चिकित्सा और खनिज जलीय चिकित्सा बताई जाती है। कुछ रोगियों में नियमित आहार दैनिक जीवन और काम तथा अध्ययन करने का विधान बताया जाता है और कभी-कभी हानिकारक व्यावसायिक

कारणों को दूर करना भी आवश्यक होता है। दशा के अनुसार विभिन्न प्रकार के स्थानिक उपचार का भी बहुत महत्त्व होता है, जैसे नेत्रों का धोवन, नेत्र में बिंदुपात और मलहम लगाना, उप नेत्र श्लेष्मला और पश्च नेत्र गोलक में दवाइयों के इंजेक्शन तथा वैद्युत कण द्वारा औषधियाँ देना।

धोवन : नेत्र श्लेष्मला कोष को विसंक्रामित करने के लिए तथा सतह से आगंतुक शल्य को निकालने के लिए तथा दग्ध होने के बाद रासायनिक पदार्थो को निकालने के लिए, तनावमिति के बाद अभिरंजक को हटाने के लिए धोवन क्रिया की जाती है। धोवन क्रिया के लिए शरीर लवण घोल या मरकरी सायनाइड अथवा आक्सीसाइनाइड (0.01%), बोरिक एसिड (2%), पोटैशियम परमैंगनेट (0.02%) आदि घोलों का प्रयोग किया जाता है। इन घोलों को काँच की सेंचनी में ढालते हैं रबर के गुब्बारे में चोषण द्वारा भर लेते हैं, या उनमें रुई के बड़े से फाहे को अच्छी तरह भिगा लेते हैं। पलकों को अलग-अलग करके या बहिर्वलित करके नेत्र श्लेष्मला का धोवन किया जाता है। आँख से बहे हुए द्रव को रोगी की चिबुक से सटी हुई गुर्दे के आकार वाली ट्रे में इकट्ठा होने देते हैं।

नेत्र-वैज्ञानिक इलाज मे बहुधा **बिंदुओं** का प्रयोग किया जाता है। विंदुपात के लिए रोगी को ऊपर की ओर देखने के लिए कहा जाता है (चित्र 152) और नीचे की पलक की बाएँ हाथ में भिगी हुई रुई से या रुई के टेंपन वाली लकड़ी की शलाका से नीचे खींचा जाता है। फिर दाएँ हाथ की मध्य और तर्जनी अँगुली से
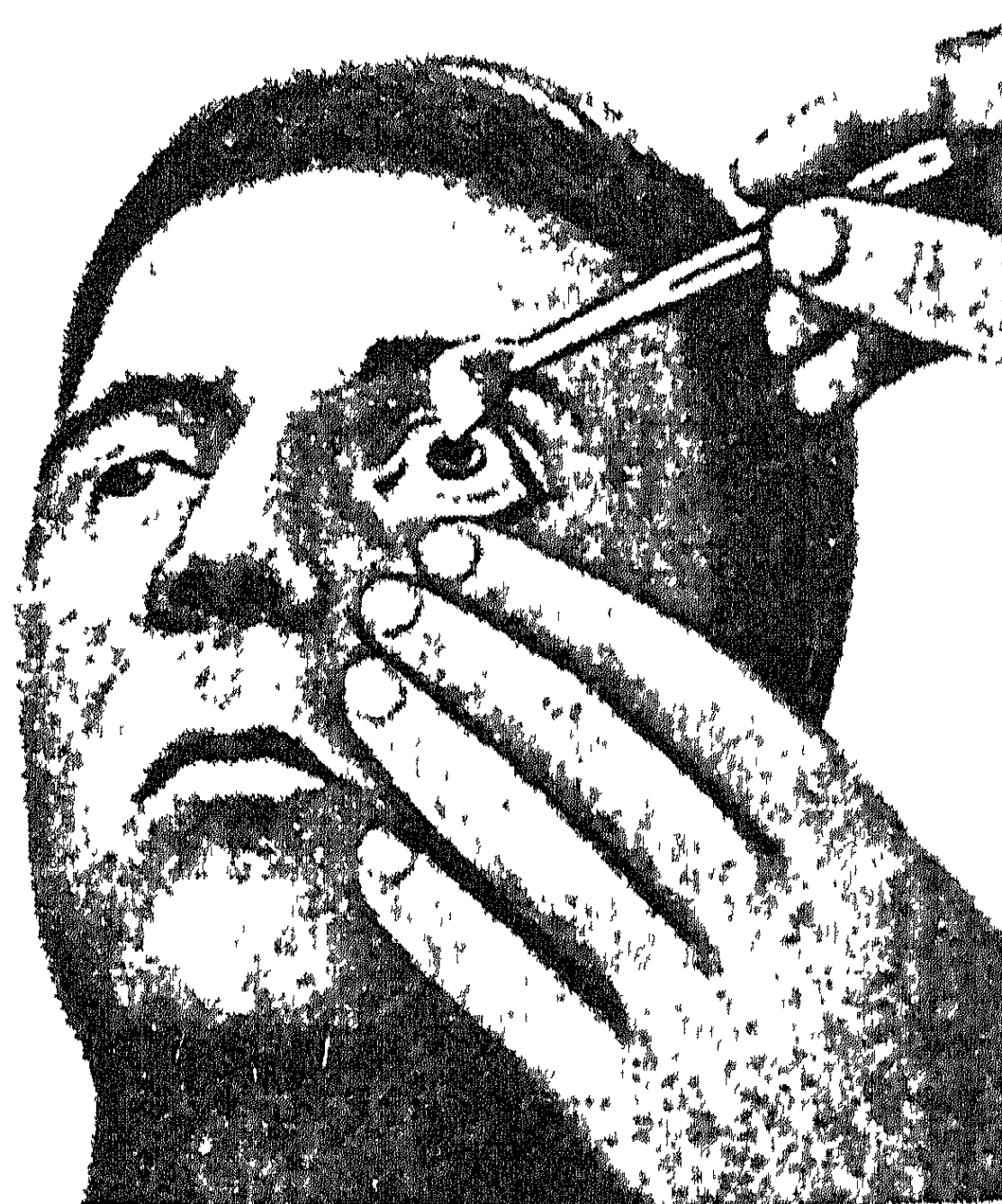
चित्र 152. औषधि बिंदुओं का बिंदुपात।

चित्र 153. नेत्र श्लेष्मला में औपधीय पाउडर डालना

पिपेट को पकड़ते हैं और पिपेट के रबर की टोपी को अँगूठे से दबाकर नेत्र श्लेष्मा

की निचली तोरणिका में औषधि की एक या दो बूँद का बिंदुपात किया जाता है। इसके बाद पर्तो के किनारों को गीली रुई के साफ कर दिया जाता है। बोतल के विंदुओं को संक्रामकण से बचाने के लिए पिपेट को रोगी के यक्ष्म से स्पर्श नहीं होने देना चाहिए। यदि ऐसा हो जाय तो पिपेट को धोने और उबालने के बाद ही बोतल पर लगाना चाहिए।

मलहम : महलम के रूप में प्रयोग की हुई औषधि का प्रभाव दीर्घकालिक होता है। अघुलनशील या कम घुलने वाली औषधियाँ मलहम के रूप में बनाई जाती है। किरीट के दोषों (अपरदन, व्रण इत्यादि) में तथा नेत्र दग्ध होने पर पलकों के श्लेष्मा आवरण को आँख में चिपकने से बचाने के लिए अधिकतर मलहम का प्रयोग किया जाता है। मलहम नरम एवं मुलायम होना चाहिए। इसके लिए लेनोलिन और वैस्लीन बराबर मात्रा में मिला कर आधार बनाते हैं, जिसमें औषधियों को अच्छी तरह से घोंटते हैं। मलहम को नीचे की पलक के पिछले भाग में काँच शलाक से लगाते हैं, जबकि रोगी ऊपर की ओर देखता है (चित्र 158)। फिर रोगी अपनी आँख बंद करता है और शलाका को वर्त्मविदर में से कनपटी की ओर खींचकर निकाल लेते हैं और इस प्रकार मलहम दोनों पलकों के बीच रह जाता है। फिर महलम को आँख में बराबर से फैलाने के लिए बंद पलकों के ऊपर ॲगुली से मल देते हैं।
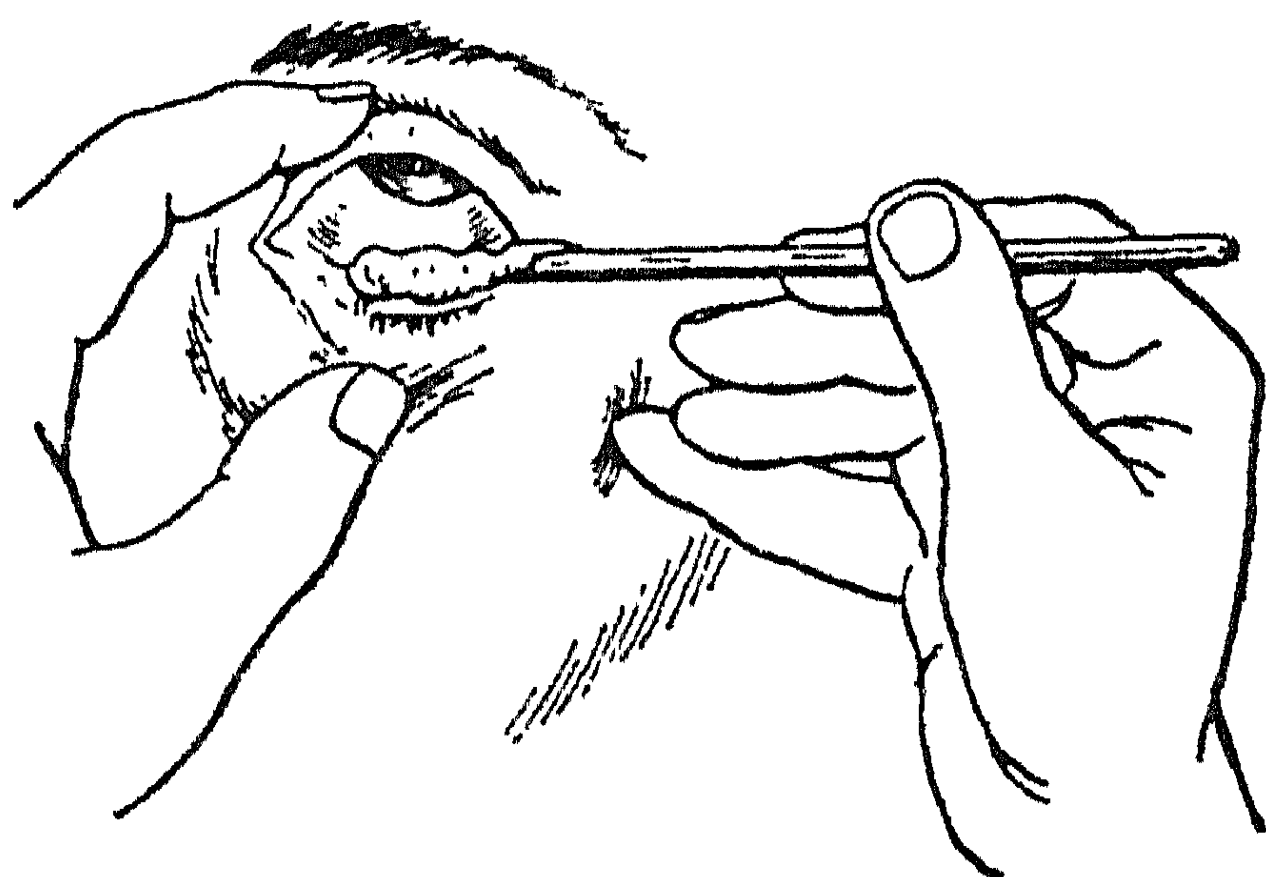
चित्र 154. मलहम का लगाना।

पाउडर लगाना : औषधि का बहुत महीन पीसा हुआ पाउडर नेत्र श्लेष्मा में छिड़का जाता है। यह क्रिया काँच की शलाका से की जाती है, जबकि इस शलाका पर औषधि को लेकर अधःतोरणिका की नेत्र श्लेष्मा में छिड़का जाता है (चित्र 153), या ऊपरी पलक को पलट कर दोनों ही पलकों की नेत्र श्लेष्मा में इसे लगाते हैं।

अवनेत्र श्लेष्मला इंजेक्शन : नेत्र में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का बिंदुपात तीन बार करके संवेदनाहरण होने के बाद औषधि के घोल का नेत्र श्लेष्मा के नीचे पिचकारी से इंजेक्शन दिया जाता है।

पलकों की मालिश काँच की कड़छी से करते हैं। कड़छी को नेत्र श्लेष्मल तोरणिका में प्रवेश कराते हैं, और पलक की किनारी को उँगली से कड़छी पर दबाते हुए उसे पलक के भीतरी कोने से बाहरी कोने की ओर खिसकाते हैं। इस प्रकार से उपास्थि की मेबोमी ग्रंथ का स्राव निकल जाता है।

भौतिक चिकित्सा तथा एक्स-रे चिकित्सा

किरण-चिकित्सा चिकित्सा की सलाह पर गंडमाला व यक्ष्मा के रोगियों का इलाज क्वार्ट्ज लैंप की पराबैंगनी किरणों से किया जाता है। आंतरिक अंगों और पर्विकाओं की सक्रिय यक्ष्मा रुग्णता में तथा लसिका रक्ताल्पता में विकिरण-चिकित्सा प्रतिदिष्ट है।

परावृतिक तरंगों द्वारा चिकित्सा : परावृतिक (अति उच्च आवृति वाली) तरंगों द्वारा चिकित्सा नेत्र-श्लेष्मा, अश्रु वाहक अंगों, किरीट और परितारिका के तीव्र शोथीय प्रक्रम में दी जाती है। ज्वर नए अंतरक्षि स्राव, दुर्दम अर्बुद और अतिरिक्त दाब में यह चिकित्सा प्रतिदिष्ट है। इस उपचार की 5-10 मिनट की बैठकें प्रति दिन या एक दिन छोड़कर और कुल 5 या 10 बार दी जाती हैं।

ताप चिकित्सा : नेत्र और उसके अपर उपरकरणों के शोथीय विकार का स्थान का शमन करने के लिए तथा पीड़ाहरण के लिए गर्म पानी की थैली, हीटर, उष्ण संपीड, सोलंस लैंप से आँख की सेंकाई की जाती है। प्लास्टिक शस्त्रकर्म या अभिघात के बाद त्वचा के क्षति-चिह्न को ठीक करने के लिए पैराफिन अनुप्रयोग का भी प्रयोग किया जाता है।

एक्सरे चिकित्सा : दृष्टि-अंगों में नवीन दुर्दम वृद्धि को दूर करने के लिए एक्सरे चिकित्सा की सलाह दी जाती है। नेत्र के अग्रभाग, परितारिका और रोमक पिंड के शोथीय रोगों का उपचार एक्स-रे की थोड़ी-थोड़ी मात्रा से, विशेष कर अभिघात के बाद, किया जाता है।

एलेक्ट्रोफोरेसिस (विद्युत्वहन, विद्युत द्वारा वहन) औषधि के कोलायडी कणों को विद्युत-क्षेत्र के प्रभाव द्वारा रोगी अंग में पहुँचाने की विधि है। इसके दिए हवा को विशेष कटोरी में रखा जाता है या रुई में सोख कर रखा जाता है।

परास्वनि का प्रयोग शस्त्र कर्म या चोट के बाद लेंस के अवशेषों का उपशमन करने के लिए, विभिन्न प्रकार के रोगों में दृष्टि स्नायु, दृष्टि पटल की वाहिकाओं का निस्फारण करने के लिए किया जाता है।

पट्टी का प्रयोग नेत्र के शस्त्रकर्म के वाद, घाव होने पर और

चित्र 155. एकनेत्रीय मलहम पट्टी।

ऐसे रोगों में जबकि नेत्र को गरम और शांत रखना हो, किया जाता है। नेत्र श्लेष्मला शोथ, अश्रुकोण शोथ, और किरीट मे सपूय व्रण होने पर आँख पर पट्टी नहीं बाँधते।

पट्टी बाँधने से पहले आँख को गाज के गोल पैड और रुई की कुछ पर्तो से ढका जाता है। रोगग्रस्त आँख पर सिर की ओर से तिर्यक रूप से हलकी पट्टी बाँधी जाती है या पट्टी को एक बार कंधे की ओर से घुमाकर बाँधा जाता है। नेत्र की सर्वोत्तम सुरक्षा **एकाक्षिक पट्टी** को कई बार घुमाकर बाँधने से होती है, जोकि रोगग्रस्त आँख से सिर के दूसरी ओर तिर्यक रूप से बाँधकर होती है (चित्र 155)। इसके बाद सिर के पीछे की ओर कान के खंडक और भौंह से होते हुए फिर आँख की ओर लाकर सिर के पीछे पट्टी बाँधते हैं। सिर के चारों ओर पट्टी के दो फेरे देकर ड्रेसिंग पूरी होती है। पट्टी की गाँठ मत्थे पर या रोगी आँख की तरफ वाली कनपटी पर बाँधी जाती है।

चित्र 156. द्विनेत्रीय मलहम पट्टी।

चित्र 157 नेत्रीय जालिका।

द्विनेत्रीय पट्टी (चित्र 156) प्रत्येक आँख पर एक-एक तिर्यक फेरा देकर बाँधते हैं। रुई वाले गाज के पैड को आँख पर चिपकने वाले टेप से चिपकाया जाता है या गाज के बड़े टुकड़े को त्वचा से चिपका देते हैं। यदि नेत्र श्लेष्मला कोश से सपूय स्राव होता है, और आँख पर पट्टी बाँधना आवश्यक हो जैसे कि शस्त्र कर्म के बाद, तो पहले आँख की गर्त के ऊपर धातु की जाली लगाते हैं (चित्र 157) फिर पट्टी बाँधी जाती है।

अश्रु अंगों और पलकों के रोग

पलकें त्वचा और पेशी की पुटक हैं जो कि नेत्र के कोनों से वाह्य और आंतरिक नेत्रच्छद संयोजिका से जुड़े होती हैं। पतली त्वचा के नीचे वृत्तीय पेशी और इसके पीछे दोनों पलकों के रोमक सिरे पर उपास्थि होती है। उपास्थि के सामने वाले किनारे नेत्र-गर्त के सिरों के गुल्फ नेत्र गुहा प्रावर्णी के द्वारा जुड़े होते हैं। पलक ऊपर उठाने वाली पेशी ऊपरवाली पलक की उपस्थि, श्लेष्मल कला से जुड़ी होती है। पलकों के सिरों पर बरौनी होती है और पलकों की ग्रंथियों की उत्सर्गी मार्ग (वाहिकाएँ) बरौनी की रोम-पुटिकाओं में खुलते हैं। उपस्थि ग्रंथियों की मेबोमी उत्सर्गी वाहिकाएँ बरोनी के पीछे वाली पलकों के सिरों में खुलती हैं। पलकों में धमनी और शिराओं का विशाल तंत्र और संवेदी तंत्रिका वितरण होती है।

पलके नेत्रों की तेज प्रकाश, धूल, चोट और सोते समय रक्षा करती है। पलकों की ग्रंथियों का आस्राव आश्रुओं के साथ मिलकर किरीट को सूखने से बचाता है।

पलकों की त्वचा के रोग : पलकों की फुंसी, विसर्प, छाजन तथा अन्य रोग त्वचा के अन्य भागों के होने वाले रोगों के समान हाते हैं। इनके लक्षणों और उपचार की अलग से कोई चारित्रिक विशिष्टिता नहीं होती।

पलकों के सिरों पर शोथ (वर्त्म शोथ) के कई कारण हो सकते हैं : रक्ताल्पता के कारण होने वाले सामान्य विकार, शोषण की कमी,अल्प-या अविटामिनता, यक्ष्मा, मधुमेह, और कृमिरुग्णता, दंतरोग, परानासा विवर के रोग, और गलतुंडिका शोथ। जीवाणुज संक्रामण (स्टेफाइलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस इत्यादि) वर्त्मशोथ का आम कारण होता है। घर पर और काम करने की जगह पर स्वास्थकर परिस्थिति के प्रभाव, अपवर्तन की असंगतियों, विशेष कर दूरदृष्टिता और दृष्टि वैषम्य के कारण, यह रोग बढ़ता है। वर्त्मशोथ बहुधा चिरकारी और पुनरावर्ती होता है।

वर्त्मशोथ के साधारण और व्रणीय रूप में भेद किया जाता है, जो कि एक ही प्रक्रम के बहुधा भिन्न चरण होते हैं।

साधारण वर्त्मशोथ में पलकों के सिरों पर खुजली, लाली होती है तथा ये मोटे होते हैं। बरौनी की जड़ में पपड़ी और भूरे रंग का शल्क हो जाता है तथा बरौनियाँ आंशिक रूप से लुप्त हो जाती हैं, प्रकाश, धूल और धुएँ, इत्यादि के प्रभाव के लिए पलकें बहुत ही सूक्ष्मग्राही होती हैं। ये जल्दी ही लाल हो जाती हैं और सूज आती हैं।

व्रणीय वर्त्मशोथ (चित्र 158) में पलकों के सिरों पर सूजन आ जाती है। नेत्र में बरौनियों के नीचे व्रण होते हैं, और इनकी जड़ में सपूय पपड़ी बन जाती है। नेत्र बरौनियाँ आपस में जुड़कर गुच्छा सा बना लेती हैं और आसानी

चित्र 158. सव्रण वर्त्म शोथ।

से गिर जाती हैं। कुछ बरोनियाँ विरूपित हो जाती हैं और नेत्र गोलक में रगड़ खाती रहती हैं। इस प्रक्रम के कारण क्षतांकित होकर पलके मोटी हो जाती हैं। वरौनियाँ और पलकें कभी-कभी वहिर्वलित हो जाती हैं। वर्त्मशोथ के साथ-साथ सदैव नेत्र श्लेष्मा शोथ होता है।

इस रोग का **उपचार** रोग के मुख्य कारण का उपचार करके तथा चश्मा लगाकर किया जाता है (रोगी को खाने के लिए पोली विटामिन दिए जाते हैं, नेत्र श्लेष्मला कोप में विसंक्रामक घोल का विंदुपात किया जाता है [10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन, 30% सोडियम सल्फासेटामीड, 0.25% क्लोरनाइट्रोमीसीन (अंतर्राष्ट्रीय नाम : क्लोरांफेनीकोलुन), 0.5% मोनोमीसीन]। पलकों के सिरों पर सिंथोमाइसीन (1%), क्लोरमूफेनीकाल (2%), पीले मरक्यूरिक आक्साइड या अन्य किसी मलहम के स्नेहन किया जाता है। सिरों पर अल्कोहल घोल (1%) का लेप किया जाता है। व्रणीय वर्त्मशोथ में पपड़ी को मलहम से मुलायम करने के बाद उसे हटा कर 1% ब्रिलिएंट ग्रीन घोल, या (1% ट्रेटासिक्लीन) का प्रयोग किया जाता है।

अंजनामिका (पलक पर फुड़िया, बिलनी, चित्र 159) बरोनी की जड़ पर पुटिकाओं या त्वग्वसीय ग्रंथियों या बरौनी की पुटिकाओं का संपूय शोथ है। इसका क्षेत्र स्पर्शसित्थ हो जाता है और इसके चारों ओर लाली हो जाती है तथा पलकों के
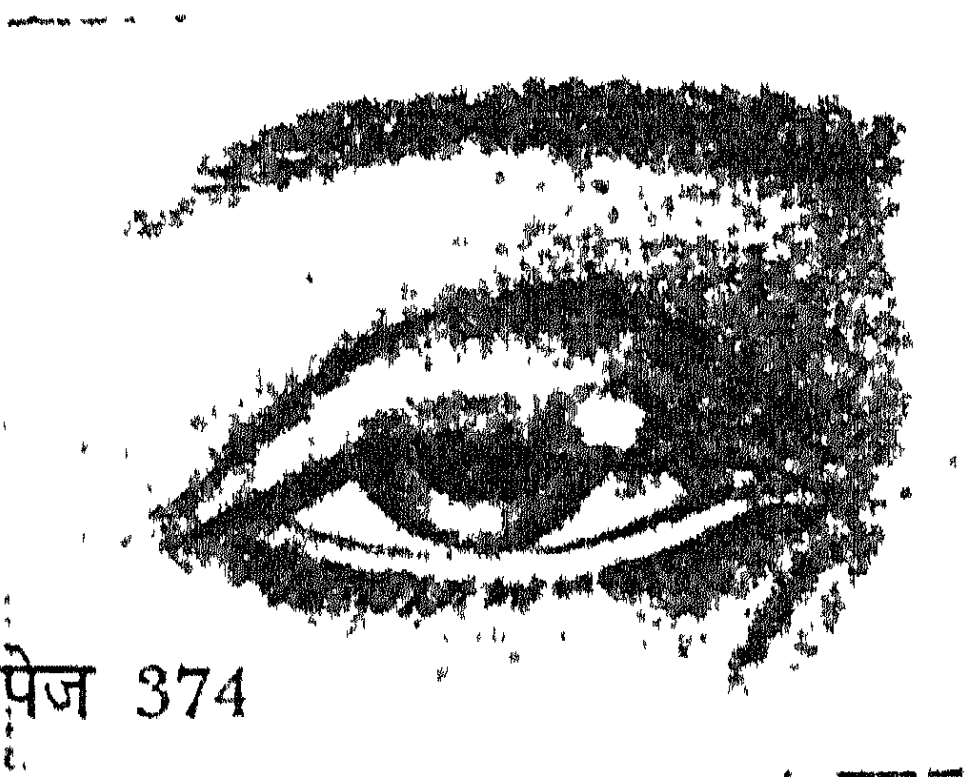
चित्र 159. अंजनी (अंजनामिका)।
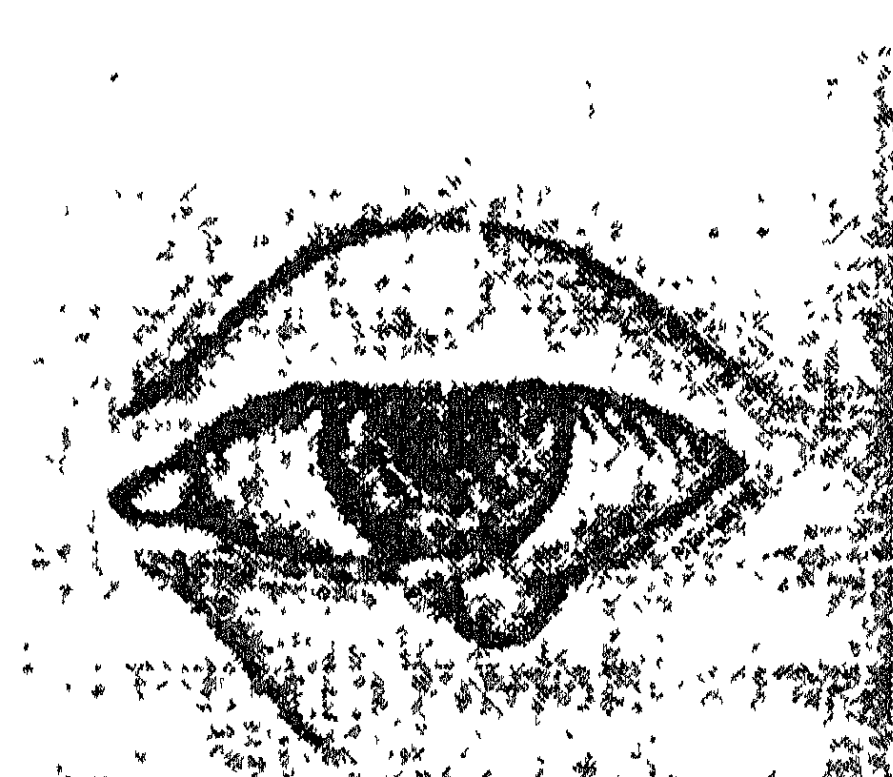
चित्र 160. लगण (चैलेजियान)।

सिरों की त्वचा सूख जाती है और उसके फटने पर पूय का विसर्जन होता है। अंजनी का बहुधा पुनरावर्तन होता है उसके साथ ही वर्त्मशोथ हो जाता है, क्योंकि इन दोनों रोगों के कारण समान हैं।

चिकित्सा : बूँदें 20-30% सोडियम सल्फासेटामीड या 10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन (दिन में 4-5 बार); मलहम : 1% टेट्रासीक्लीन या एरीथ्रेमीसीन।

सूख सेंक या परावृतिक तरंग चिकित्सा, स्वरक्त चिकित्सा और खाने के लिए सल्फानीलामाइड, बीयर (पेय) वाला यीस्ट और पोली विटामिन से इसकी चिकित्सा हो जाती है। अंजनामिका के दवाने नहीं दिया जाता है (शल्य चिकित्सा संभव है); क्योंकि इससे प्रक्रम का प्रसार शिरातंत्र से होकर नेत्र गुहिका और मस्तिष्क तक

पहुँच जाता है। इसका विसर्ग होने पर विसंक्रामक मलहम लगाते हैं और वर्त्मशोथ में दी जाने वाली सामान्य चिकित्सा की जाती है।

लक्षण : यह पलकों की उपास्थि की मेबोमी ग्रंथि का चिरकारी शोथ है। इसमें नेत्र श्लेष्मा की सामान्य त्वचा पर मटर के आकार की विक्षति होती है (160)।

उपचार : यदि संक, अति तरंग चिकित्सा और विसंक्रामक मलहमों, बिंदुपात आदि से लगण का शमन न हो सके तो इसे निकाल देना चाहिए।

बिंदुगत के लिए प्रसाधन : 1% हाइड्रोकोर्टीजोन इमल्शन, 0.3% प्रेदनीजोलोन घोल, 0.1% डेक्सामेटाजोन घोल, 3% सोडियम आयोडाइड (दिन में 3-4 वार) मलहम : 0.4% हाइड्रोकोर्टीजोन—पलकी त्वचा पर।

अंतर्वत्मता और बहिर्वत्मता : नेत्र श्लेष्मला के क्षतांकन होने पर अंतर्वत्मता और त्वचा पर क्षतांकन होने पर बहिर्वत्मता होती हैं अंतर्वत्मता में आँख की बरौनियाँ अंदर की ओर मुड़ जाती हैं और किरीट से रगड़ खाती रहती हैं, जिससे किरीट पर व्रण हो जाते हैं तथा श्वेत फुल्ली बन जाती है। बहिर्वत्मता में नेत्र श्लेष्मला से अश्रु स्राव होता है और फिर सूखापन आ जाता है, जिसके फलस्वरूप किरीट व्रण हो जाता है।

इसका **उपचार** शस्त्रकर्म है। नेत्र विज्ञानी के पास रोगी को भेजने से पहले किरीट से रगड़ खाने वाली बरौनियों को बाहर की ओर नहीं खींचना चाहिए, क्योंकि इस दशा में विक्षति के स्थान का पता नहीं लगेगा और तत्काल ही शस्त्रकर्म नहीं हो सकेगा।

अल्प नेमेषी वह दशा है जिसमें नेत्र पूरी तरह बंद न किया जा सके। यह दशा तंत्रिका संक्रामण, नेत्र मंडलिका के नेत्रच्छदीय भाग का तंत्रिका-वितरण करने वाली आनन-तंत्रिका के अंगघात और मुखापट्ट की ऐसी चोट, जिनका क्षत चिह्न गालों और पलकों की त्वचा पर पड़ जाता है, आदि के फलस्वरूप होती है। निचली पलक को बहिर्वलित करने पर लगातार अनुस्राव होता है और वर्त्मविदर खुल जाता है। क्योंकि नेत्र हर समय खुला रहता है इसलिए किरीट और श्लेष्मल कला सूख जाती है।

मुख्य रोग से मुक्ति और नेत्र श्लेष्मला कोश में विसंक्रामक घोल का बिदुंपात करना ही इसका उपचार है। किरीट के सूख जाने पर और दीर्घस्थायी प्रवर्ध होने पर शस्त्रकर्म किया जा सकता है।

ऊपरी पलक का लटकना (वर्त्मपात) जन्मजात भी हो सकता है और ऊपरी पलक के चोट के कारण या केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के रोगों में नेत्र प्रेरक तंत्रिका का अंगघात होने के फलस्वरूप भी।

उपचार : जन्मजात वर्त्मपात का शस्त्रकर्म किया जा सकता है। यदि वर्त्मपात जन्मजात नहीं है तो इसके मुख्य कारण का उपचार पहले करना चाहिए। यदि शस्त्रकर्म-रहित उपचार से ठीक न हो तो शस्त्र कर्म करना चाहिए।

पलकों पर दुर्दम नवीन वृद्धि आमतौर पर होने वाला अर्बुद कार्सिनोमा है जो कि निचले पलक के मध्यवर्ती कोण और कभी-कभी ऊपरी पलक में भी हो जाता

है। इसमें त्वचा मोटी हो जाती है या दीर्घ अस्थायी पीड़ा-रहित ऐसा व्रण बनता है जिसके किनारे कड़े होते हैं, सतह की फर्श खुरदरी होती है और इसमें से रक्तस्राव होता है। वह अर्बुद धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और पलकों को लगातार नष्ट करता रहता है। इसका प्रभाव नेत्र गोलक और नेत्र गुहा पर भी हो सकता है।

उपचार : विकिरण चिकित्सा, शस्त्रकर्म या दोनों को मिश्रित करके उपचार किया जाता है।

अश्रु अंगों के रोग

अश्रु तंत्र (चित्र 161) में अश्रु ग्रंथि और अश्रुवाही मार्ग भी सम्मिलित हैं। अश्रु गंथि नेत्र गुहा की पार्श्व ऊर्ध्व भित्ति (अश्रुग्रंथि की खात) के अस्थायीय गर्त में स्थित होती है। इसकी वाहिनी ऊर्ध्व नेत्र श्लेष्मल तोरणिका में खुलती है, जिसमें से अश्रु पलकों के झपकने और चलाने से नेत्र के मध्यवर्ती कोण की ओर प्रवाहित होते हैं। गुरुत्व के अश्रु आंतरिक नेत्र श्लेष्मला तोरणिका से नीचे की ओर बहते हैं। अश्रु नेत्र-गोलक की सतह को आर्द्र करते हैं, आगंतुक शल्य और धूल को धो देते हैं तथा सूक्ष्मजीवियों को नष्ट करते हैं। दोनों पलकों की धारा में स्थित अश्रु रंध्रकों से अश्रु निकासी पथ आरंभ होता है। अश्रु सूक्ष्म नलिकाओं से बहते हुए अश्रु कोश में पहुँचते हैं। यह कोश नाक की मध्यवर्ती भित्ति के अस्थीय खात में स्थित होता है। अश्रु कोश में से नासा अश्रु वाहिनी से वहुत से अधः नासा सुक्तिका के नीचे से निकलते हैं।
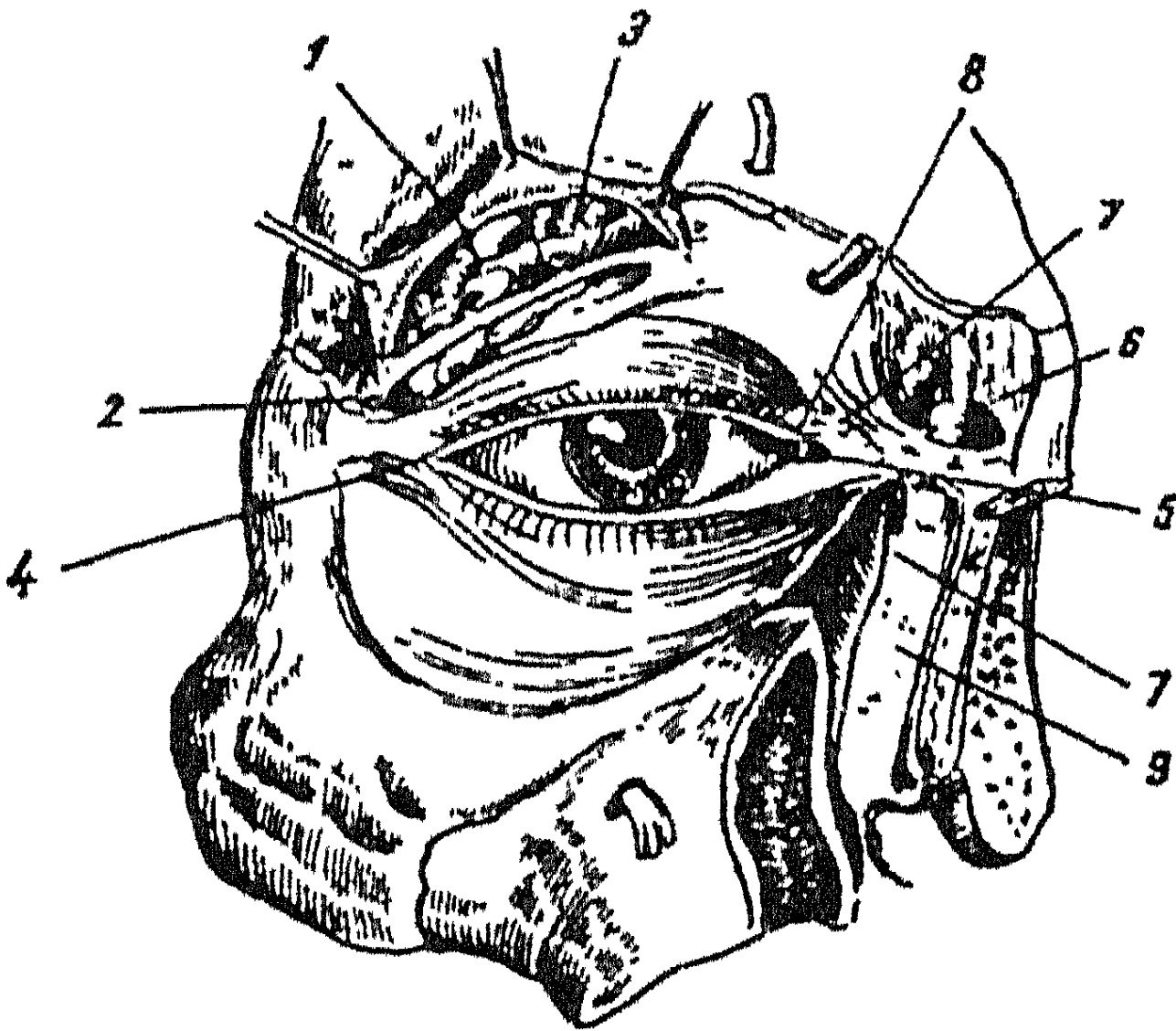
चित्र 161. अश्रु उपकरण।

1. अश्रु ग्रंथि, 2. अश्रु गंथि का नेत्रच्छंद भाग, 3. अश्रुवाहिनी का नेत्रागोलीय भगा, 4. पार्श्व नेत्रच्छेद संयोजिका, 5. मध्यवर्ती नेत्रच्छेद संयोजका, 6. अश्रुकोष, 7. अश्रुसूक्ष्म नलिका, 8. अश्रुरंध्रक, 9. नासाअश्रुवाहिनी।

अश्रु अंग के रोगों में अश्रु स्राव की मुख्य शिकायत होती है। अश्रु स्राव निरंतर भी हो सकता है या केवल ठंड होने पर भी अश्रु स्राव के विभिन्न कारण होते हैं : अश्रु रंध्रक में मध्यवर्ती कोण के बहिर्वलित होने के साथ-साथ हल्की वहिर्वत्मता हो जाती है। अश्रु स्राव अश्रु निकासी पथ या अश्रु सूक्ष्म नलिकाओं के संकुचित हो जाने से, दाँतों, नाक और परानासा बिवर के रोगों से भी होता है।

अश्रु निकासी पथ के संकोचन या पूर्ण रूप से अवरुद्ध

होने का निदान कोलायड सिल्वर टेस्ट, अश्रु निकासी पथ के धोवन, एक्सरे चित्रण या प्रोब से जाँच करके किया जाता है। इस विकार वाले रोगियों को नेत्र विज्ञानी के पास भेजना अनिवार्य होता है, क्योंकि अश्रु निकासी पथ के पूर्ण रूप या आंशिकतः अवरुद्ध होने पर अश्रु कोश में स्थैतिकता हो जती है, जिससे अश्रु कोश में संदूषण और चिरकारी शोथ हो जाता है जिसे अश्रु कोश शोथ कहते हैं।

अश्रुकोश शोथ : अश्रु रंध्रकों से अश्रुओं के अलावा पूय का भी विसर्जन होता है, विशेषकर तब, जब अश्रु कोश का क्षेत्र दबाया जाता है। पूय के निरंतर विसर्जन के साथ-साथ चिरकालीन नेत्र श्लेष्मा शोथ भी हो जाता है, जबकि किरीट में तनिक सी भी चोट लगने से सपूय व्रण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप दृष्टि लुप्त हो सकती है या श्वेत फुल्ली बन जाती है।

इसका **उपचार** शस्त्रकर्म है : अश्रु कोश और नासा गुहा के बीच संयोजन किया जाता है। वृद्धावस्था में अश्रुकोश का निकाल देना ही इसका उपचार होता है।

अश्रुकोश का **फ्लेग्मोन** चिरकारी अश्रुकोश शोथ का जटिल रूप होता है, जबकि सपूय प्रक्रम कोश से लेकर कोशकीय ऊतकों तक फैल जाता है। शरीर का तापमान बढ़ जाता है और अश्रुकोश वाले क्षेत्र में त्वचा फूल जाती है, यह कठोर लाल और पीड़ादायक हो जाती है। फ्लेगमोन के फूलने पर लाल व्रण बन जाता है जिसमें से सपूय विसर्जन होता है।

उपचार : सेंकना, क्वार्ट्ज मरकरी लैंप के किरणन या अति उच्च तरंग चिकित्सा, खाने के लिए सल्फानीलामाइड या प्रतिजीवी औषधियाँ दी जाती हैं, तीव्र शोथ के घट जाने पर अश्रुकोश का शस्त्रकर्म किया जाता है, पेशी में प्रतिजीवी सूई दी जाती है।

नवजात शिशुओं में अश्रुकोश शोथ नासाश्रु वाहिकाओं के अधः सिरों के अविकसित होने या अन्य दोषों के फलस्वरूप होता है। इसकी अभिव्यक्ति अश्रु रंध्रकों से पूय के विसर्जन से और विशेषकर अश्रु कोश के क्षेत्र दबाने पर पूय के विसर्जन से होती है। इस बात की सलाह दी जाती है कि बच्चे के मुख पट्ट के अश्रुकोश क्षेत्र की मालिश नाक की दिशा में दो हफ्ते करें तथा नेत्र श्लेष्मा कोश से पूय को निकालने के लिए विसंक्रामक घोलों का प्रयोग करें। यदि मालिश करने से कोई फर्क न पड़े तब बच्चे को नेत्र विज्ञानी के पास अश्रु निकासी पथ की जाँच करने के लिए ले जाना चाहिए।

नेत्र श्लेष्मला के रोग

पलकों की निचली सतह में श्लेष्मल कला और नेत्र श्लेष्मला की रेखाएँ होती हैं, जिनका परावर्तन श्वेत पटल पर होता है। परावर्तन की रेखा नेत्र श्लेष्मा की तोरणिका संघटित करती है। पलक की श्लेष्मल कला में कोशिकाओं वाली स्तंभाकार उपकला होती है, जिसके स्राव से श्लेष्मला, अन्य वाहिकाएँ और संवेदीक तंत्रिकाएँ आर्द्र होती हैं।

नेत्र रोगों की चिकित्सा में श्लेष्मल कला, शोथ तथा नेत्र श्लेष्मा शोथ बहुधा देखने में आते हैं।

तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ : संक्रामक नेत्र श्लेष्मला शोथ विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म जीवाणुओं (स्टाफिलोकोकस, स्ट्रेप्टोकोकस, न्यूमोकोकस, इत्यादि) और विषाणुओं से बहुधा होता है। यह रोग अधिकतर एकाएक एक आँख में और फिर दूसरी में होता है, परंतु दोनों आँखें भी एक साथ रोगी हो सकती हैं। इसमें रोगी को नेत्र की तीव्रपीड़ा, अश्रुस्राव, प्रकाश असह्यता और सपूय स्राव की शिकायत होती है। पलकों की श्लेष्मा सूज जाती है और लाल हो जाती है और कभी-कभी उपास्थि की नेत्रश्लेष्मला में झिल्ली बन जाती है। नेत्र गोलक की श्लेष्मला के नीचे के रक्तस्राव भी हो सकता है। किरीट पर असर होने से रोग में उपद्रव हो सकता है। एक ही तौलिए, रूमाल या तकिए को रोगी और स्वस्थ व्यक्तियों द्वारा प्रयोग करने से यह रोग स्वस्थ नेत्रों को भी लग जाता है। इस रोग के कारकों (कोचविक्स जीवाणु) को नेत्र श्लेष्मा शोथ से पीड़ित व्यक्तियों से स्वस्थ व्यक्तियों में मक्खियों के द्वारा भी लाया जा सकता है। शिशुओं में, विशेष कर छोटे शिशुओं में, नेत्र श्लेष्मा शोथ के साथ-साथ नासा शोथ व अनिद्रा भी हो जाती है तथा शरीर का तापमान बढ़ जाता है।

उपचार : विसंक्रामक घोलों (6.25% सिंथैमाइसीन, 0.02% नाइट्रोफ्यूराजोन, 20-30 सोडियम सल्फासेटामीड, 10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन, 1% एरीथ्रोमीसीन, 10% सल्फाथायाजोल) का बिंदुपात दिन में 4 से 6 वार किया जाता है। यदि 0. 5 प्रतिशत सिंथोमाइसीन, 1% क्लोराफेनिकोल या 0.25 प्रतिशत आक्सोलीन मलहम को पलकों के पीछे की ओर दिन में तीन बार लगाया जाय तो बेहतर होगा। रोग की तीव्रता में खाने के लिए सल्फानीलामाइड भी दी जाती है। यदि स्राव प्रचुर मात्रा में हो तो आँखों को पोटेशियम परमैगनेट के ताजे बनाए हुए 0.02% घोल में धोया जाता है। जिस रोगी की किरीट पर भी असर हुआ हो उसे नेत्र विज्ञानी के पास भेजा जाता है।

गोनोपूय श्लेष्मा स्राव बहुधा नवजात शिशुओं में नाइसेरिया गोनोरी से होता है। बच्चों में इस रोग का संक्रमण ऐसी रोगी माता या बच्चे की देख-रेख करने वाले व्यक्ति में होता है जो गोनोरिया वाले मूत्र मार्ग शोथ से पीड़ित हो या जिनके नेत्र श्लेष्मला कोश का संदूषण किसी अन्य रोगी से पूय से हुआ हो। वयस्कों में यह रोग बहुधा एकाक्षिक होता है। तुरंत उपचार से रोग जल्दी ठीक हो जाता है और दूसरी आँख पर असर नहीं होने से बच जाता है।

लक्षण : जन्म के एक या दो दिन बाद (शिशु वयस्क के संक्रमण के बाद पलकें अत्यधिक सूज जाती हैं और लाल हो जाती हैं तथा उनमें से) थोड़ा-थोड़ा सीरम-रक्तक स्राव होने लगता है (चित्र 162। दो या तीन दिन में पलकें मुलायम हो

जाती है, नेत्र श्लेष्मल कोश से पूय का प्रचुर मात्रा में विसर्जन होता है तथा श्लेष्मल कला अत्यधिक लाल हो जाती है। फूल जाती है और ढीली पड़ जाती है। किरीट व्रण का होना एक अत्यंत भयानक उपद्रव है जिससे जल्दी ही किरीट का नाश शीघ्रता

चित्र 162. गोनोरिया वाला नेत्र श्लेष्मला शोथ

से हो सकता है या गहरी फुल्ली बन सकती है। इस निदान की पुष्टि पूय आलेप की ग्राम-विधि के परीक्षण द्वारा हो जाती है। ग्राम निगेटिव डिप्लोकोकस वाली बहुत सी श्वेत कोशिकाएँ दिखाई देती हैं, जिनमें गोनोकोकी होते हैं।

उपचार : पैनिसिलीन या स्ट्रेप्टोमाइसीन के अंतर्पेशीय इंजेक्शन (एक कोर्स कुल 3 मिलियन इकाई) देते हैं। मुँह से प्रतिजीवी औषधियाँ निर्दिष्ट की जाती हैं—ऐंपीसीलीन, एरीथ्रोमीसीन, क्लोराफेनीकोलुम, टेट्रासीक्लीन—, या सल्फामीडग्रुप की दवाएँ : सल्फापीरीडाजीन, सल्फासील। ये दवाएँ दिन में 4-6 बार दी जाती हैं।

स्थानिक रूप से : आँख का धोवन 0.02% पोटैशियम परमैंग्नेट घोल या 0. 02% पारद आक्सीसायानाइड घोल सें

विंदुपात (प्रत्येक 1-2 घंटे पर) : 30% सोडियम सल्फासेटामीड, 20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन, पेनीसीलीन (सोडियम क्लोराइड के 10 मि.ली. आइसोटोनिक घोल में 200000 इकाई), 1% एरीथ्रोमीसीन, 2.25% क्लोराफेनीकोलुम, 1% ट्रेट्राक्लीन। बिंदुपात तब तक करते हैं, जब तक कि आँख से पूय का विसर्जन समाप्त न हो जाय और गोनोकोकस भी समाप्त न हो जाय। इनमें दृष्टि लोप का भय होता है, इसलिए रोगी को तत्काल ही नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए। आँखों पर पट्टी नहीं बाँधते। इलाज रतिज रोग विज्ञानी के साथ मिलकर होता है।

नवजात शिशुओं में गोनोपूय श्लेष्मा स्राव को निम्नलिखित मातवी-क्रेडी विधि से रोका जाता है। जन्म के बाद फौरन ही बच्चे की पलकों को 2% बोरिक एसिड घोल में भिगाई हुई रुई से साफ करके दो प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेट घोल की एक

या दो बूँदें नेत्र श्लेष्मा कोश में डाली जाती हैं। सिलवर घोल रंगीन बर्तन में होना चाहिए और 10 दिन से ज्यादा पुराना न हो। सिलवर नाइट्रेट से श्लेष्मल कला में क्षोभ होता है, जिससे तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ हो जाता है, जो गोनापूय श्लेष्मा स्राव के समान होता है। अच्छे असर के लिए (जिससे नेत्र में क्षोभ भी न हो) ताजा बनाया हुआ पेनीसीलीन का घोल (25000 इकाई प्रति 1.0 मि.ली.) या 1 प्रतिशत सिंथोमाइसीन इमल्शन नेत्र श्लेष्मला कोण में दो बार प्रयुक्त किया जाता है—पहले जन्म के तत्काल बाद और फिर उसके दो घंटे बाद। एक और विधि : प्रत्येक 2-3 मिनट पर 3 बार दो-दो बूँदें प्रत्येक आँख में—सोडियम सल्फासेटामीड की।

नेत्र श्लेष्मा की डिफ्थीरिया : क्लेब्स-लोफलेर बैसिलस या कोराइने बैक्टीरियम डिपथीरिये इस रोग का कारण होता है। यह रोग अधिकतर स्कूल जाने वाले बच्चे या पूर्व विद्यालय अवस्था में शिशुओं को बसंत न जाड़े की ऋतु में होता है। यह एक स्वतंत्र रोग के रूप में बहुत कम होता है और बहुधा नाक और गलतोरिण का की डिप्थीरिया के साथ होता है। रोग के प्रारंभ में पलकें सख्त हो जाती हैं और उनसे थोड़ा श्लेष्मा सपूय विसर्जित होता है। दो या तीन बार में पलकें मुलायम हो जाती हैं और सपूय आस्राव बढ़ जाता है। उपास्थि श्लेष्मा में कूट कलाएँ पाई जाती हैं, जिनको निकाला नहीं जा सकता (चित्र 163)। एक सप्ताह के बाद ये कूट कलाएँ बाहर निकल जाती हैं। नेत्र श्लेष्मला डिफ्थीरिया बहुत ही भयानक रोग है, क्योंकि इससे किरीट पर व्रण बन जाता है तथा ठीक होने पर यह क्षति चिह्न या खुजली का रूप ले लेता है। रोग के तीव्र होने पर नेत्र की ज्योति भी चली जाती है। इस रोग का एक हल्का रूप भी है, जिसमें पलकों पर और श्लेष्मल कला में मामूली-सी सूजन आ जाती है और श्लेष्मा कला पर कूट कलाएँ बन जाती हैं, जिनको आसानी से अलग किया जा सकता है परंतु तब सतह से रक्तस्राव होने लगता है।

डिप्थीरिया के निदान की पुष्टि जीवाणु विज्ञान से करनी चाहिए, क्योंकि इसमें अन्य हेतुकियों (न्यूयोकोकस, कोच-वीक्स बैसिलम, स्ट्रोप्टोकोकस, विषाणुओं) के नेत्र श्लेष्मला शोथ के कला रूप होते हैं। यह प्रक्रम कितना ही तीव्र क्यों न हो, नेत्रों

चित्र 163. डिफ्थीरिया वाला नेत्र श्लेष्मला शोथ।

में डिफ्थीरिया का उपचार संक्रमक रोग विभाग में होता है, जहाँ रोगी को डिफ्थीरिया का प्रतिजीवविष (6000-10000 इकाई) और प्रतिजीवी औषधि अंतर्पेशीय इंजेक्शन द्वारा दिए जाते हैं। नेत्र श्लेष्मला कोश में 5 प्रतिशत सिंथोमाइसीन या क्लोरोफिनकाल मलहम दिन में चार से छह बार लगाया जाता है।

बिंदुपात : 20-30% सोडियम सल्फासेटामीड, 1% एरीथ्रोमीसीन, 1% कनामीसीन, 10-20% सोडियम सल्फापीरीडाजीन।

अन्य मलहम (पलकों के नीचे) : 20% सोडियम सल्फासेटामीड, 1% ओलेटेट्रीन, 1% टेट्रासीक्लीन, 1% एरीथ्रोमीसीन, 0.5% कानामीसीन।

नेत्र श्लेष्मा कोश का चिरकारी शोथ : इस रोग में रोगी की पलकों में भारीपन होता है, आँखों में जलन होती है और ऐसा लगता है कि आँख में कुछ पड़ गया है। अश्रुस्राव होता है और प्रकाश असह्य हो जाता है तथा काम करने से नेत्र जल्दी थक जाते हैं। परीक्षण से पता लगता है कि अतिरक्तता हो गई है; श्लेष्मलकला ढीली हो जाती है तथा थोड़ा आस्राव होता है। वर्त्मशोथ अपवर्तन की असंगति, अश्रुकोश शोथ परानासा विवर के रोग, चयापचारी विकार, अल्प या अविटामिनता, कृमिरुग्णता, हानिकारक व्यवसायी कारणों से होने वाला नेत्र क्षोभ और संक्रमण चिरकारी श्लेष्मला शोथ को विकसित करते हैं।

उपचार : रोग उपचार के उपाय रोग के कारण पर निर्भर करते हैं। नजर सही करने के लिए चश्मा लगाया जाता है। 0.25-0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल या 0.02 प्रतिशत नाइट्रोक्यूराजोन घोल, 0.25 प्रतिशत सिंथोमाइसीन या क्लोरमुफेनीकाल घोल या बिंदुपात नेत्र श्लेष्मा कोश में किया जाता है। विंदुपात के लिए अन्य दवाएं : 20% सोडियम सल्फासेटामीड, 10-20% सल्फापीरीडाजीन (सोडियम), 0.5% हाइड्रोकोर्टीजोन सस्पेंसन (घोल सभी हैं)। आँख के लिए सोडियम सल्फापीरीजन की विशेष झिल्ली का भी प्रयोग होता है। काम पर और घर में स्वच्छता और दैनिक चर्या में स्वास्थ्यपरक सुधार का खयाल करना चाहिए।

नेत्र श्लेष्मला के पुटकीय रोग

वासंती अभिष्यंद : जब शीत के बाद गर्म मौसम आने लगता है, तो इस चिरकारी रोग का पुनरावर्तन वार्षिक रूप से होता है। यह रोग अधिकतर लड़कों को होता है। इस रोग का आरंभ स्कूल की अवस्था से होता है और अंत यौवन आरंभ होने पर। रोगियों को नेत्रों में खुजली, अश्रुस्राव और प्रकाश असह्यता की शिकायत होती है। ऊपरी पलक की सामान्य श्लेष्मल कला में उभार (अंकुरक) हो जाता है जोकि बटिया पत्थर की तरह होता है (164)। इस रोग के साथ-साथ अल्प विटामिनता, अंतःस्राव की कमी, पराबैंगनी किरणों और अन्य एलर्जन (पौधे के परागकण, औषधियाँ) के प्रति अतिसंवेदनशीलता हो जाती है।

चित्र 164. वसंत ऋतु अभिश्यंद।
A नेत्रश्लेष्मल रूप, B लिंबल रूप।

उपचार : कोडलीवर आयल, राइबोफ्लेविन, कैल्सियम क्लोराइड और प्रेडनीसोलोन, मुंह से खाने को दी जाती है, ऐलोय के घोल का पेशी में इंजेक्शन लगाया जाता है; 0.25-0.5 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल में 0.1 प्रतिशत एड्रोनेलीन मिलकार बिंदुपात किया जाता है। बिंदुपात के लिए नय दवाएं : 1% हाइड्रोकोर्टीजोन, 0.3% प्रेदनीजोलोन, 0.1% डेक्सामेटाजोन, 2% एमीडीपीरीन। जिंक सल्फेट या एमीडोपीरीन के घोल में एड्रेनेलीन हाइड्रोक्लोराइड (10 से.मी. 3 में 10 बूँद) डालते हैं। गहरे रंग का चश्मा लगाने की सलाह भी दी जाती है।

पुटकीय अभिष्यंद या नेत्र श्लेष्मा शोथ : इस रोग में श्लेष्मला कला अतिरिक्त होती है और पुटिकाएं सीधी पंक्ति में व्यवस्थित होती है तथा कभी-कभी पूरी नेत्र श्लेष्मला पर फैली होती है, और उसमें किंचित अंतर्निहित होती है। इनमें से आस्राव होता रहता है।

ये दोनों रोग बहुधा ऐसे बच्चों को ऐसे हैं, जो नासाग्रसनी रोग, श्वसनी ग्रंथि शोथ, कृमिरुग्णता से पीड़ित हों। यह रोग अपवर्तन की असंगति से होने वाले आंशिक दृष्टि लोप, घर व स्कूल में स्वच्छता और स्वास्थ्यप्रद दशा के अभाव के कारण तथा जीवाणु या विषाणु संक्रामण के प्रभाव से होते हैं।

उपचार : नेत्र श्लेष्मला शोथ का इलाज किया जाता है। प्रति कृमिरुग्णता की चिकित्सा की जाती है। कैल्सियम क्लोराइड और पोली विटामिन खिलाए जाते हैं। नजर ठीक करने के लिए चश्मा लगाया जाता है। स्वच्छता और स्वास्थ्यकर दशाओं में सुधार किया जाता है। रोगी का परीक्षण यक्ष्मा चिकित्सालय में करना चाहिए। परीक्षण स्वरयंत्र विज्ञानी द्वारा भी होना चाहिए। चूँकि पुटिकाएँ रोहों के रोग की मुख्य अभिव्यक्ति है, इसलिए कभी-कभी रोहें और पुटकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ में भेद करना कठिन होता है। इस दशा वाले सभी रोगियों को नेत्र विज्ञानी के पास परामर्श के लिए निश्चित रूप से भेजना चाहिए।

रोहे

रोहे नेत्र श्लेष्मा और किरीट का चिरकारी संक्रामक शोथ है, जो विषाणु व रिकेट्स

के बीच की अवस्था वाले एक जीवाणु से होता है। इस रोग में अवश्लेष्मिक कला के ऊतकों का विसरित अतः संचरण होता है। पुटिकाएँ बन जाती हैं और अंततः क्षतिह्न बन जाते हैं। रोहे का रोग संभवतः प्रकोपन और पुनरावर्तन के कारण दीर्घ स्थायी होता है, जिसका पता काफी हद तक रोगी की सार्वदेहिक दशा से लगता है। यक्ष्मा, गंडमाला, मलेरिया, कृमिरुग्णता, चयापचयी विकारों, अल्प विटामिनता और संसर्गीय नेत्र श्लेष्मा शोथ के रोगों से पीड़ित रोगियों में रोहे का रोग विशेप रूप से तीव्र होता है। रोहे के हलके रूप से यह लघुकालिक होता है और उपचार से तत्काल ही रोग ठीक हो जाता है।

रोहे के चार रोग लक्षण चरणों में भेद किया जाता है (प्लेट XII)। चरण-I (रोहे-I) अनजाने ही और विशेषकर बच्चों में होता है और इसका पता बहुधा आबादी के आम रोग-निरोधी परीक्षण के समय लगता है। कभी-कभी रोगी आँखों से आस्राव और पीड़ा की शिकायत करता है तथा ऊपरी पलक लटक जाती है। इस रोग का पहला वस्तुपरक चिह्न है, नेत्र श्लेष्मा की तोरणिका का लाल और मोटा हो जाना और विशेषकर ऊर्ध्वभाग और पुटिकाओं में साबूदाने के बराबर भूरे रंग का उभार हो जाता है। ये दाने तोरणिका और उपास्थि की नेत्र श्लेष्मा में जहाँ-तहाँ फैले होते हैं, और वर्त्म की उन्नमनिका पेशी के अंतः संचरण के कारण ऊपरी पलक लटक जाती है। रोहे का रोग एकाएक और तीव्र श्लेष्मा शोथ वाला हो सकता है। चरण-II (रोहे-II) का लक्षण यह है कि इसमें नई पुटिकाएँ बन जाती हैं और पुरानी पुटिकाओं का अंतः संचरण और विघटन शुरू हो जाता है, जिससे पुटिकाओं की जगह सफेद दाँत चिह्न दिखने लगते हैं। तीसरे चरण (रोहे-III) में पुटिकाएँ और कम हो जाती हैं। अंतः संचरण भी कम होता है तथा क्षत चिह्न बड़े होते हैं। चरण-IV (रोहे-IV) में रोहे से रोग मुक्ति हो जाती है, पूरे नेत्र श्लेष्मला में क्षत चिह्न हो जाते हैं। ये क्षत चिह्न चिकने भी हो सकते हैं और खुरदरे भी।

रोहे का प्रक्रम ऊपर से लेकर किरीट तक फैल जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति किरीट के उपरिस्थ अपारदर्शक और वाहिकाओं द्वारा इसके प्रसार की होती है (चित्र 165)। प्रक्रम की तीव्रता के आधार पर पैनस टिनियस, पैनस वास्कूलोसिस और पैनस कार्नोसिस को अलग-अलग पहचाना जाता है। पैनस के फलस्वरूप किरीट अपारदर्शक हो सकती है या फुल्ली हो सकती है जिससे दृष्टि कम या ज्यादा अंशों तक लुप्त हो सकती है।
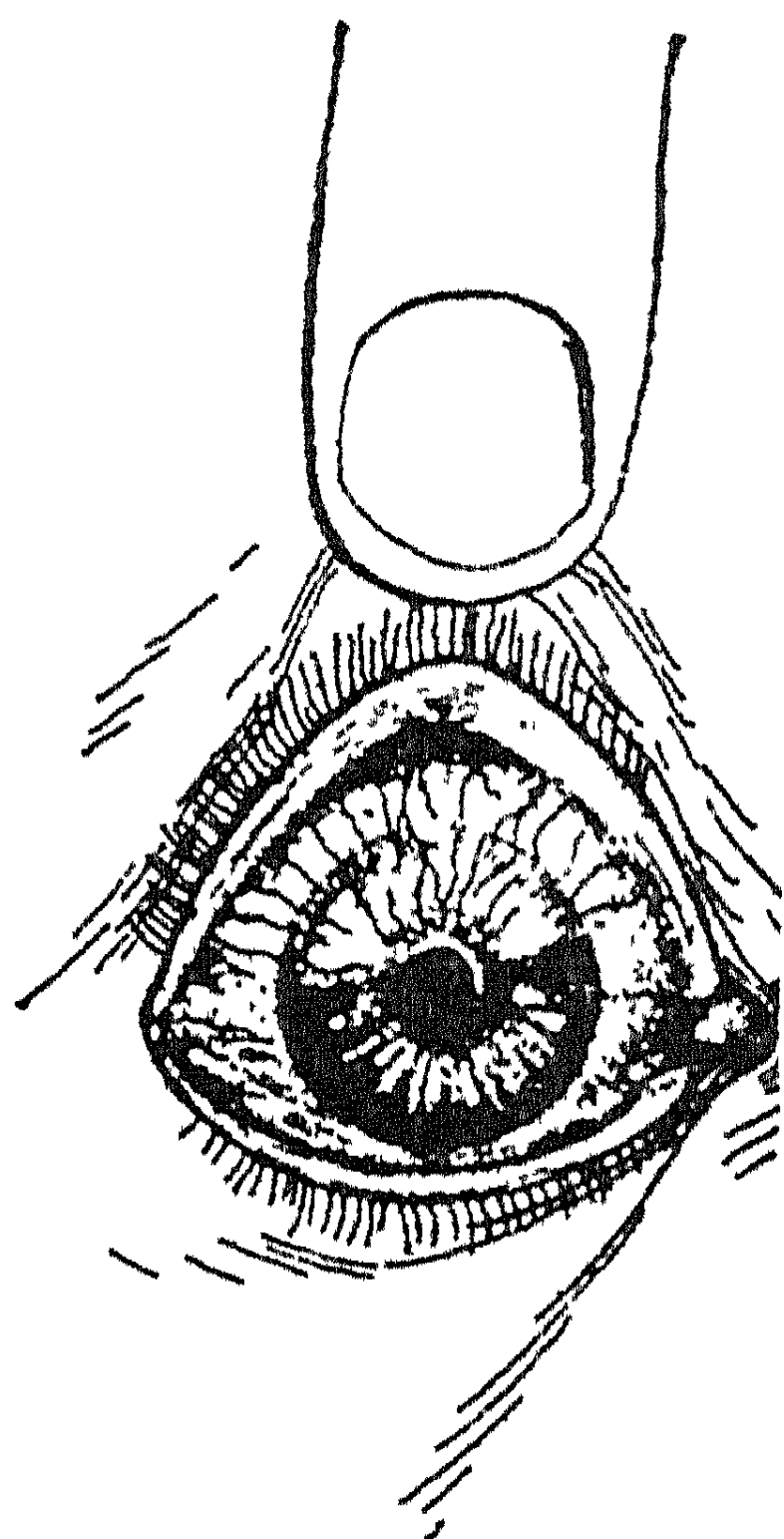
चित्र 165. रोहे युक्त पैनस।

अनुगम : खुरदरे क्षत चिह्न से नेत्र श्लेष्मला छोटी हो जाती है और कभी-कभी पलकों और नेत्र गोलक की श्लेष्मला के बीच आसंजन भी हो जाता है। उपास्थि में क्षत चिह्न हो जाने से, जो उत्तल और द्रोणि के आकार का हो जाता है, पलक का सिरा उलट जाता है (अतर्वत्मता हो जाती है)। इस प्रक्रम में आँख की बरौनियाँ भी बहुधा प्रभावित होती हैं, जिसके फलस्वरूप पलकों के सिरे विरूपित हो जाते हैं और बरौनियां अपसामान्य हो जाती हैं (यक्ष्मा वर्तम हो जाता है) (चित्र 166)। बरौनियाँ किरीट से रगड़ खाती रहती हैं जिसके फलस्वरूप व्रण हो जाते हैं। नेत्र श्लेष्मला और किरीट की शुष्कता श्लेष्मला कला और अश्रु ग्रंथि की निकासी की वाहिकाओं और श्लेष्मल कला के व्रण चिह्नों का अति तीव्र अनुगम है। ऐसी दशाओं में किरीट पर खुरदरी फुल्ली हो जाती है, जिसकी सतह सूखी होती है। इससे ऐसी दृष्टिहीनता हो सकती है, जिसे ठीक न किया जा सके। रोहे के अनुगम का इलाज केवल शस्त्र कर्म ही है।
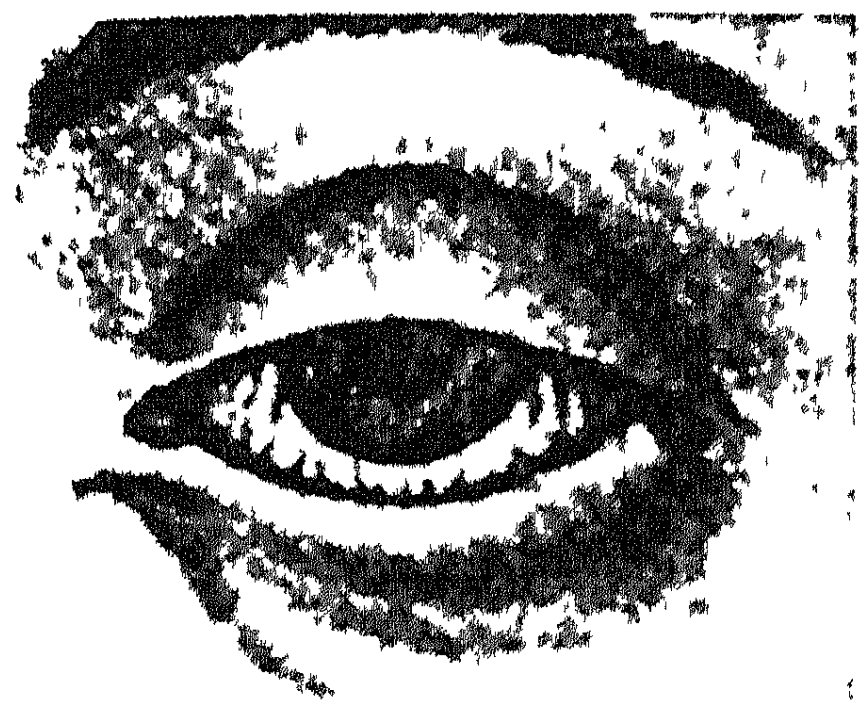
चित्र 166. अंतर्वर्त्मता और यक्ष्मावर्त्म।

कोच-वीक्स दंडाणु, विषाणुओं, स्टेफिलोकोकस, मोरेक्स एक्सेनफेल्ड, डाइप्लोकोकस और अन्य कारकों से होने वाले अध्यारोपित संक्रामण, नेत्र श्लेष्मा शोथ आदि से रोहे युक्त प्रक्रम बहुधा जटिल हो जाता है। नेत्र श्लेष्मला शोथ रोहे के विषाणुओं के फैलने, रोहे के दुर्दम प्रक्रम के गंभीरतम और पुनरावर्तन के लिए अनुकूल स्थितियां बनाते हैं और रोग रोगी व्यक्ति के संपर्क में आने वाले लोगों में भी फैल जाता है।

उपद्रव : अश्रु निकासी पथ के रोगों (सूक्ष्म नलिका शोथ, अश्रुकोश शोथ) से अश्रु अंगों के रोगग्रस्त होने पर पता चलता है। अश्रु स्रवण क्षीण हो जाने से और नेत्र श्लेष्मल। कोश में पूय के निरंतर स्राव से चिरकारी नेत्र श्लेष्मला शोथ हो जाता है, जो रोहे के रोग को गंभीर बना देता है तथा रोहों से रोग-मुक्त होना कठिन होता है।

किरीट के व्रण से नेत्र श्लेष्मा शोथ और अश्रु स्रवण मार्ग के रोग गंभीर हो सकते हैं जिसके फलस्वरूप फुल्ली बन जाती है। रोग के अति गंभीर होने से किरीट में छिद्रण हो सकता है और दृष्टि लोप भी हो सकता है।

निदान : नेत्र श्लेष्मला किरीट के परीक्षण में (तोरणिकाओं का निरीक्षण विशेष ध्यान से किया जाता है) रोहे के निदान की पुष्टि हो जाती है। क्षत चिह्न होने से भी निदान करने में कोई कठिनाई नहीं होती। रोग के प्रथम चरण में, विशेषकर जबकि रोग लक्षण बहुत हल्के हों, निदान में कठिनाई हो सकती है और तब भी इस रोग और पुटकिय नेत्र श्लेष्मला शोथ में भेद करना पड़ता है। इन रोगों को पहचानने

वाले लक्षण निम्न लिखित तालिका में दर्शाए गए हैं (इस तालिका का संकलन वी. वी. चिर्कोव्स्की ने किया है) :

पुटकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ और रोहे के प्रभेदक लक्षण

पुटकीय नेत्र श्लेष्मा शोथ	रोहे
1. अधः नेत्र श्लेष्मा तोरणिका का अधिक रोगी होना, ऊर्ध्व तोरणिका पर कम प्रभाव होना	1. ऊर्ध्व नेत्र श्लेष्मा तोरणिका और उपास्थि की श्लेष्मल कला व ऊर्ध्व पल का अधिक रोगी होना।
2. हल्का अंतः संचरण; और नेत्र श्लेष्मल कला का मोटा होना।	2. श्लेष्मल कला का विसरित रूप से मोटा होना; इसका चुनटदार रूप और बहुसंख्यी पुटिकाएँ।
3. पुटिकाओं में श्लेष्मल कला तोरणिकाओं की सीधी पंक्तियों में होने की प्रवृत्ति। पुटिकाएँ बड़ी, गुदेदार, गुलाबी और उभरी हुई होती हैं।	3. पुटिकाएँ ऊतकों की गहराई में होती हैं। ये अव्यवस्थित क्रम में होती हैं, इनका रंग बादलों जैसा भूरा होता है।
4. प्रक्रिया में किरीट अप्रभावित रहता है।	4. अधिकतर किरीट प्रभावित होता है; पैनस या अवाहिकामय पटल-शोथ होता है।
5. नेत्र श्लेष्मल कला पर क्षत चिह्न नहीं पड़ता।	5. पड़ता है।

इसके अतिरिक्त, जानपदिक रोग के निम्न ऑकड़ों को भी ध्यान में रखना चाहिए : मुहल्लों, परिवारों, शिशु प्रतिष्ठानों, छात्रावासों में रोहे के मामलों तथा रोहे के रोगियों के संपर्क में आने के संभावित रूपों को।

संदेहास्पद रोगियों में, विशेषकर छोटे बच्चों और स्कूल जाने वाले बच्चों में, नेत्र श्लेष्मला शोथ का उपचार करने की सलाह दी जाती है। कुछ दिनों में नेत्र श्लेष्मा शोथ से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाने पर रोग का अधिक स्पष्ट चित्र उभरता है।

हेतुकी और जानपदिक-विज्ञान : रोहे का कारण एक असामान्य विषाणु—लिंफोग्रेनुलम ट्राखोमा—है, जिसकी जीवाणु-विज्ञान में विषाणु (वाइरस) और रिकेट्सिया के बीच है।

रोहे सांसर्गिक रोग होता है, जिनका संक्रामण रोहे से पीड़ित रोगी के स्वस्थ व्यक्ति को सामूहिक वस्तुओं (तौलिया, रूमाल, तकिया, वाश बेसिन) के प्रयोग करने से होता है। ये वस्तुएँ संक्रामक विसर्जन से संदूषित होती हैं। रोग का संक्रामण हाथों से संपर्क करने से भी हो सकता है। रोहे का रोग मक्खियों के द्वारा भी फैल सकता है, क्योंकि मक्खियाँ अपने पैरों में रोगी की आँखों से निकले हुए पृय को स्वस्थ

व्यक्ति के हाथों और आँखों तक पहुँचाती हैं।

यदि दैनिक जीवन की परिस्थितियाँ अनुकूल न हों, स्वच्छता और स्वास्थ्यकर बातों का अभाव हो, भीड़-भाड़ हो, रहन-सहन का स्तर निम्न हो और चिकित्सा सेवा अपर्याप्त हो तो बिल्कुल ही न हो, तो इस प्रकार से रोहे से पीड़ित व्यक्ति संक्रामण का केंद्र बिंदु होता है। इन परिस्थितियों से संदूषण बढ़ता है; इनके ठीक होने पर ही रोहे का प्रभावी उपचार व रोकथाम संभव है।

अब सोवियत संघ में रोहे के संक्रामक रूपों का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया गया है। सिर्फ कुछ क्षेत्रों में रोहे-IV के रोगी बचे हैं। संसार में रोहे से पीड़ित रोगियों की संख्या 50 करोड़ के लगभग है (विशेपकर दक्षिण-पूर्व एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिकी के देशों में)।

चिकित्सा कर्मियों की यह जिम्मेदारी है कि यह देखें कि रोहे से पीड़ित सभी रोगी और उनके परिवार के सभी सदस्य व्यक्तिगत जीवन में स्वास्थ्यकर व स्वच्छता के नियमों का पालन करें। मक्खियों को नष्ट कर देना एक महत्त्वपूर्ण उपाय है।

यदि रोगी के रोहे से पीड़ित होने का संदेह हो तो उसे जनपद चिकित्सक को दिखाना चाहिए। जनपद चिकित्सक नेत्र विज्ञानी से परामर्श करता है और यदि रोग के निदान की पुष्टि होती है तब एक विशेष अभिसूचना कार्ड भरकर जनपद के स्वास्थ्य विभाग को भेजा जाता है। उसी समय उस चिकित्सालय के बहिरंग विभाग में रोगी का चिकित्सा वृत बनाया जाता है, जहां से रोगी उपचार लेना। चिकित्साकेंद्र नियमित रूप से आबादी, विशेषकर स्कूल जाने वाले बच्चों, युवकों और उन परिवारों के सदस्यों, जहां कि रोहों का रोगी हो, रोग निरोधी जाँच नियमित रूप से (कम-से-कम साल में दो बार) करते हैं।

सारे संगठित उपायों का उसूल है : प्रारंभ में ही रोगियों को पहचानना, प्रारंभ में ही उनका उपचार और इसके फलस्वरूप परिवार तथा समुदाय में संक्रमण के केंद्र का उन्मूलन। ठीक हो जाने के बाद, व्यक्ति को एक साल तक निगरानी में रखा जाता है, और उसे यह रोग दुबारा न हो, इसके लिए उपचार दिया जाता है। अगर इस अवधि में उसे स्वस्थ पाया गया तो उसका नाम रोगी व्यक्तियों के रिकार्ड से हटा दिया जाता है। किंतु इसके बावजूद भी, उस व्यक्ति तथा उसके परिवार के तमाम सदस्यों का नियमित रूप से परीक्षण किया जाता है।

बहिरंग विभाग में आबादी की रोग निरोधी जाँच करते समय तथा रोगियों को उनके घर पर देखते समय स्वास्थ्य शिक्षा का प्रचार किया जाता है। इस प्रचार के लिए प्रेस और रेडियो का भी प्रयोग किया जाता है। जन समुदाय को रोहे के संक्रमण पथ और इसके निरोध के उपाय से अवगत कराना चाहिए।

उपचारिका के कर्त्तव्यों में जिला चिकित्सक और नेत्र चिकित्सक के निर्देशों और नियंत्रण के तहत रोहे के रोगी का उपचार करना भी शामिल है।

उपचार : लंबे समय तक स्थानिक रूप से प्रतिजीवी प्रसाधन (टेट्रासीक्लीन, डोक्सीसीक्लीन, एरीथ्रोमीसीन) और रसायनिक प्रसाधन (सुल्फानीलामीद ग्रुप के : सुल्फाडीमीडीन, सुल्फामेथोक्सीपीरीडाजीन) दिए जाते हैं, जो रोहे के कारक और उनके अन्य सहजीवी जीवाणुओं पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं।

चिकित्सा के कई क्रमारेख विकसित किए गए हैं। बहिरंग और अंतरंग दोनों ही परिस्थितियों में ज्यादातर सतत स्थानिक इलाज किया जाता है : दिन में 4-5 बार मलहम का इमल्शन के रूप में प्रतिजीवी प्रसाधन का अंजन लगाते हैं। लंबे समय तक प्रभावकारी प्रसाधनों का अंजन दिन में एक बार ही किया जाता है। रोहे के प्रथम, द्वितीय, तृतीय चरणों पर स्थित सक्रिय रूपों के लिए उपरोक्त प्रतिजीवी प्रसाधनों में से किसी का 1% वाला महलम 1 से 3 महीनों तक दिन में 4-5 बार प्रयोग अधिक कारगर होता है।

जानपदिक अवस्था में पूरे जनसमुदाय-विशेष का उपचार करना पड़ता है। यह उपचार लगातार नहीं, बल्कि किश्तों में चलता है : साल में छह महीने तक प्रति माह दस दिन एक बार रोज (या पाँच दिन दो बार रोज) टेट्रासीक्लीन का 1% महलम लगाया जाता है। आवश्कयता पड़ने पर फिर अगले वर्ष दुहराते हैं।

यदि पुटिका बहुत बड़ी हो, तो उसे दबा कर निकाला जाता है। इस हस्तोपचार के पहले चिकित्साकर्मी को नेत्र-रक्षी चश्मा पहन लेना चाहिए। रोगी को पीठ के बल लिटा कर उसकी पलकों की त्वचा को अल्कोहल से धोते हैं या उस पर ब्रिलिएंट ग्रीन अल्कोहल घोल का आलेप किया जाता है। नेत्र श्लेष्मला कोश में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का बिंदुपात 3 बार किया जाता है या 1 प्रतिशत प्रोकेन को 1.0 मिली ग्राम का इंजेक्शन प्रत्येक नेत्र श्लेष्मा तोरणिका में लगाया जाता है। फिर पलक को पलट कर नेत्र श्लेष्माकला को संदंश के फलकों के बीच संपीड़ित किया जाता है (चित्र 167)। यह संदंश नेत्र श्लेष्मल कला की पूरी सतह पर धीरे-धीरे घूम जाता है। इसके बाद आँखों को 0.25 प्रतिशत क्लोरोफिनीकाल घोल से धो कर ठंडा लोशन लगाया जाता है। किरीट व्रण, पैनस प्रकोपन और सपूय आस्राव होने की दशा में निपीड़न प्रतिदिष्ट होता है। इस हस्तोपचार के बाद रोगी
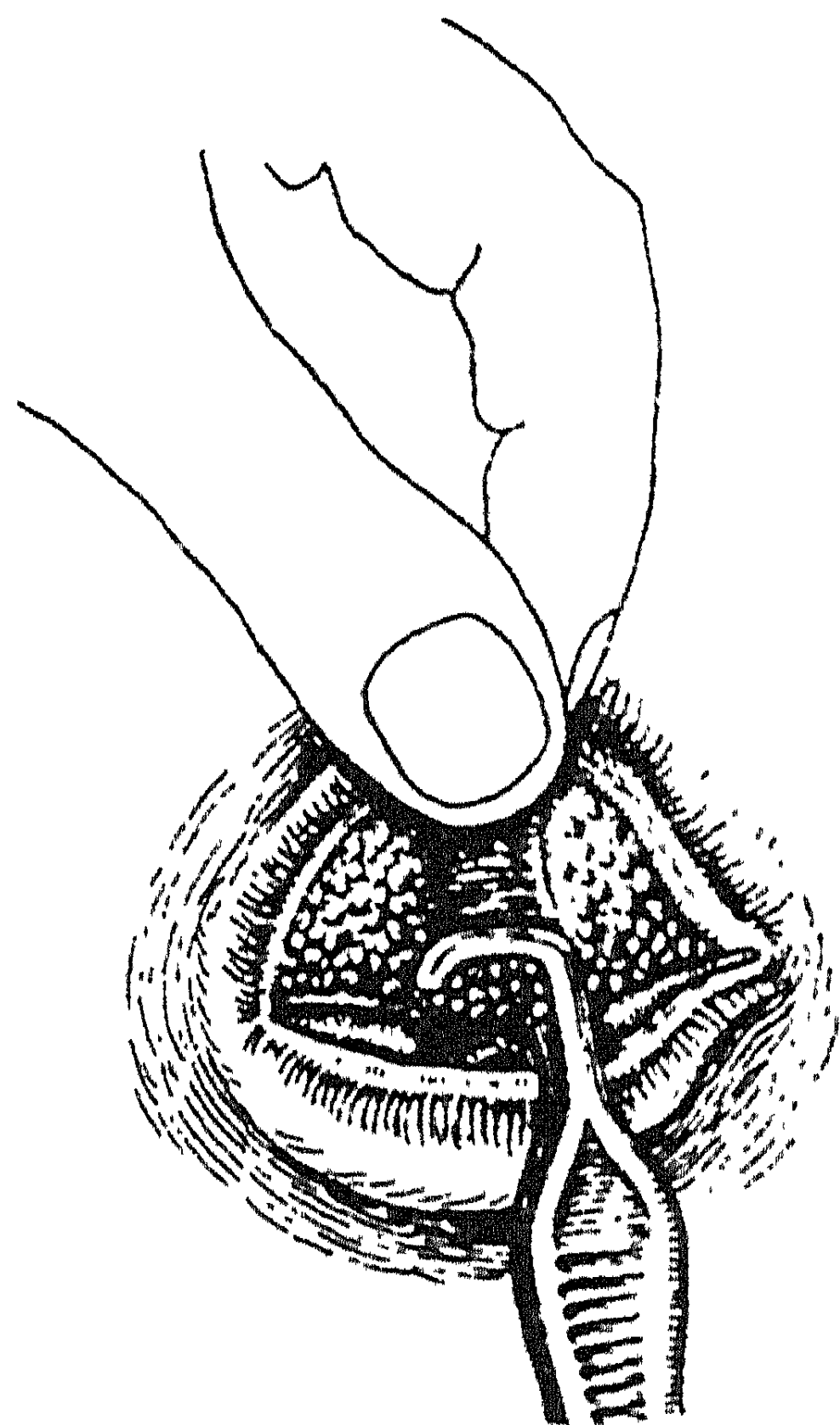
चित्र 167. रोहे युक्त दानों का प्रकट होना।

विशेष रूप से सांसर्गिक (छूतहे) हो जाते हैं, इसलिए उन्हें कुछ समय के लिए पृथक कर देना चाहिए। शिशुओं को स्कूल नहीं जाने दिया जाता है।

इलाज के बाद रोग दुहरा न जाए, इसके लिए चिरप्रभावीकृत प्रतिजीवी (डिटेट्रासीक्लीन, डिटेट्रामीसीन) का प्रयोग मलहम के रूप में व्यापक तौर पर होता है (दिन में एक बार अंजन)।

यदि रोग गंभीर हो और आसानी से दूर न हो, तो स्थानिक उपचार के साथ-साथ सार्वदैहिक उपचार संदिष्ट होता है, जिसमें प्रतिजीवी और सल्फानीलामीड देते हैं। वयस्क को टेट्रासीक्लीन ग्रुप का प्रतिजीवी (टेट्रासीक्लीन) 4 बार रोज 0.25-0.5 ग्राम प्रति खुराक देते हैं : कुल कोर्स—5-10 दिन। तीन हफ्ते बाद कोर्स दुहराते हैं।

सोडियम सल्फापीरीडाजीन प्रथम दिन 2 बार (प्रति खुराक 1 ग्राम) देते हैं; बाद के 9 दिनों तक 0.5 ग्राम प्रति खुराक एक बार रोज देते हैं। फिर दस दिन बाद कोर्स दुहराते हैं।

रोहे की सामूहिक रोकथाम के लिए (और नेत्र श्लेष्मल कला शोथ के लिए भी निम्न दवाएं : मलहम—1% टेट्रासीक्लीन, 1% एरीथ्रोमीसीन, 1% जिटेट्रासीक्लीन, 1% कानामीसीन; पोलीविनोल में सोडियम सल्फापीरीडाजीन का 10% घोल; आँख के लिए सोडियम सल्फापीरीडाजीन और कानामीसीन का फिल्म।

उपचार के समय सामान्य स्वास्थ्यवर्धक उपाय किए जाते हैं। पोलीविटामिन और कैल्सियम क्लोराइड अत्यंत लाभदायक होते हैं।

किरीट और श्वेत पटल के रोग

स्वच्छ पटल शोथ किरीट का शोथ है। तीव्र नेत्र श्लेष्मा शोथ अश्रु कोश शोथ, उपरिस्थ चोट और दैहिक रोगों (यक्ष्मा, सिफिलिस, ब्रूसेला रुग्णता, मलेरिया, विषाणु संक्रामण में केंद्रीय तंत्रिका तंत्र के कुछ रोग, इत्यादि) के उपद्रव के रूप में विकसित होता है। आंख में पीड़ा होना, अश्रु स्राव होना, प्रकाश असह्यता, पलकों का आकर्ष, पलकों और नेत्र गोलक की श्लेष्मल कला की अतिरिक्तता, सभी प्रकार के स्वच्छ पटल शोथ के आम लक्षण हैं। इसमें कभी-कभी दृष्टि तीखता भी घट जाती है। किरीट का विसरित अपारदर्शक होना और अंतः संचरण होना स्वच्छ पटल शोथ का लक्षण है। इस रोग में किरीट की दर्पण जैसी चमक खत्म हो जाती है। किरीट दोष (अपर्दन, व्रण) बहुधा उपरिस्थ विकृत अवस्था में होता है। इसका पता आसानी से आँख में फ्लोरासीन (1%) का बिंदुपात करने के बाद हरा रंग हो जाने से लगता है। उपरिस्थ स्वच्छ पटल शोथ में नेत्र श्लेष्मला वाहिकाएं किरीट और गहरे प्रक्रम पर आक्रमण करती हैं। रोमी उपांग के आकार वाली वाहिकाएं लिंबस से इसमें उग आती हैं (चित्र 168)। स्वच्छ पटल शोथ के साथ बहुधा परितारिका का शोथ भी हो जाता है, जिसकी अभिव्यक्ति परितारिका के रंग परिवर्तन, उन्मूलित प्रतिरूप, संकुचित तारा, अग्रकक्ष

चित्र 168. किरीट के लिए वाहिकाएँ।
A. उपरिस्थ नेत्रश्लेष्मल, B गहन, चंवर जैसी।

में रक्त, सपूय या निःस्राव के एकत्र होने से होती है। स्वच्छ पटल शोथ आगे चलकर तीव्र, चिरकारी, पुनरावृत्ति का रूप ले लेता है।

उपरिस्थ परिसरीय स्वच्छ पटल शोथ में लिंबस की परिसीमा पर अंतः संचरण और उपरिस्थ पूरे रंग वाली उठान हो जाती है। इनका संश्लेष होकर व्रण बन सकता है (चित्र 169)। ये विक्षतियाँ नेत्र श्लेष्मा शोथ और अश्रु कोश शोथ के उपद्रव के रूप में होती हैं।

इसका **उपचार** नेत्र श्लेष्मा शोथ के उपचार की तरह किया जाता है। तारे के विस्फारण के लिए और परितारिका के शोथ में आराम के लिए 1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिंदुपात दिन में एक या दो बार किया जाता है। आगंतुक शल्य द्वारा हुई उपरिस्थ चोट के कारण होने वाले स्वच्छ पटल शोथ के उपचार में आगंतुक शल्य को निकाल दिया जाता है।

चित्र 169. उपरिस्थ परिसरीय स्वच्छपटल शोथ।

गंडमाला संबंधी यक्ष्मज स्वच्छ-पटल श्लेष्मा शोथ बहुधा श्वसनी ग्रंथि शोथ या फुफ्फसीय या फुफ्फसेतर यक्ष्मा से पीड़ित बच्चों और युवकों में यक्ष्मज एलर्जी की अभिव्यक्ति के रूप में होता है। खसरा, काली खाँसी, इन्फ्लूएंजा और छोटी माता से यह रोग बढ़ता है, जबकि अलविटामिनता, स्वास्थ्य और स्वच्छता की कमी प्रचुर कार्बोहाइड्रेट

(बिस्कुट, मिठाइयों) वाले भोजन इत्यादि के रोग गंभीर रूप से लेता है। गंडमाला संबंधी स्वच्छ पटल श्लेष्मला शोथ के मुख्य लक्षण हैं : तीव्र प्रकाश असह्यता, पलकों में आकर्ष, अश्रुस्राव। आनन त्वचा पर, विशेषकर नथनों के ऊपर, कानों के पीछे और शिरोवल्क में रिसने वाले छाजन के दाने हो जाते हैं। चेहरा, विशेषकर नाक और होंठ सूज जाते हैं। उप ऊर्ध्वहनु तथा अन्य लसीका पर्विकाएँ बढ़ जाती हैं।
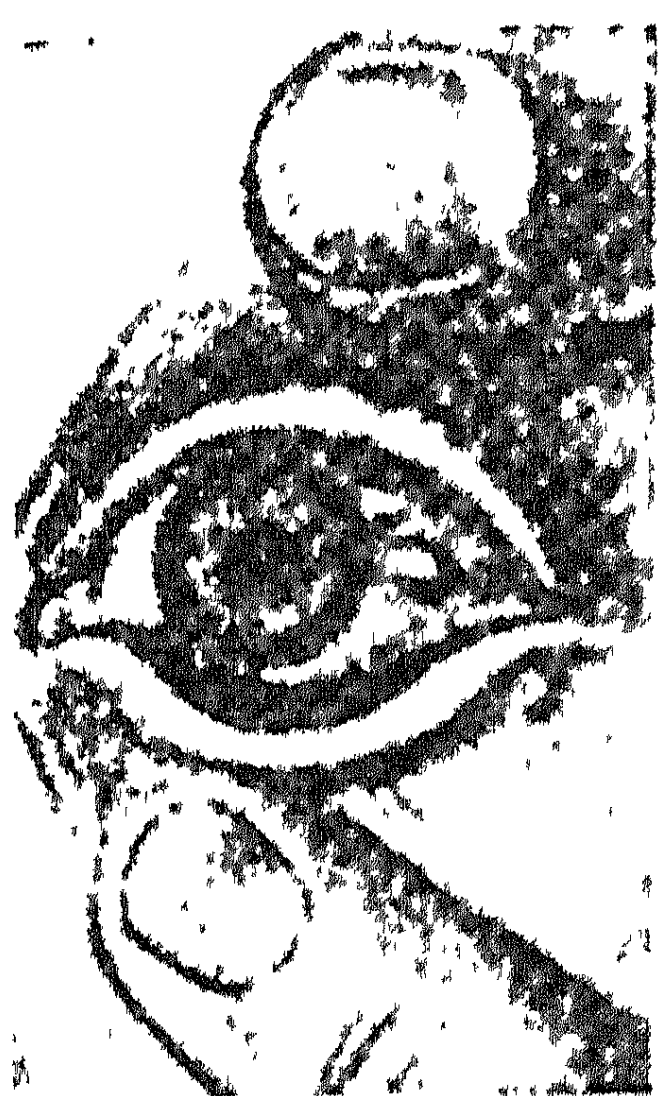
चित्र 170. नेत्रश्लेष्मा की अलर्जी

बच्चे की आंख का परीक्षण पलकों को केवल लिफ्टर में खोलकर ही किया जा सकता है। छोटे या बड़े आाकर वाली अर्धपारदर्शक पीली, गुलाबी पुटिकाएँ (अलर्जी) नेत्र श्लेष्मला में लिंबस पर या किरीट पर हो जाती हैं (चित्र 170), जिसके साथ ही नेत्र श्लेष्मल वाहिकाओं का गुच्छा हो जाता है। ये अलर्जियां बिना किसी निशान के अवशोषित हो जाती हैं परंतु अधिकतर से हल्की अ.पारदर्शकता कर देती हैं। कभी-कभी इनसे व्रणोत्पत्ति होती है और किरीट व्रण बन जाता है, जिसका असर गहरी पर्तों पर होता है और किरीट का छिद्रण हो जाता है तथा परितारिका भ्रंश होकर घाव बन जाता है जिसके फलस्वरूप भ्रंश होकर घाव श्वेत फुल्ली परितारिका से मिली हुई बन जाती है। रोग के अधिक गंभीर होने पर नेत्र की आंतरिक पर्ते संक्रामित हो जाती हैं, और नेत्र नष्ट हो जाता है। रोग के बारंबार पुनरावर्तन से किरीट की अपारदर्शकता बढ़ती है, जिससे नजर कम हो जाती है।

उपचार : बाल रोग विज्ञानी और क्षय रोग विज्ञानी से परामर्श के बाद सामान्य उपचार तय किया जाता है। इस उपचार में बहुधा खाने वाली ओषधियाँ, जिनमें कैल्शियम क्लोराइड, कॉड लीवर आयल, ट्यूबाजिड (आइसो निआजिड) PASA (पासा) प्रयोग में लाई जाती है या रोगी की दशा के अनुसार स्ट्रेप्टोमाइसीन के अंतर्पेशीय इंजेक्शन लगाए जाते हैं। भोजन ऐसा दिया जाता है, जिसमें कार्बोहाइड्रेटस सीमित मात्रा में हों तथा पॉलीविटामीन अधिक हों। आंखों में स्ट्रेप्टोमाइसीन (25000 इकाई वाला 1.0 मि.ली.) कार्टिजोन और विटामीन के घोल का आँख में बिंदपात किया जाता है। तीव्र शोथ के शांत हो जाने के बाद भी काफी समय तक 0.25 प्रतिशत जिंक सल्फेट घोल में 0.1 प्रतिशत एड्रिनेलीन मिलाकर बिंदुपात किया जाता है। परितारिका के संकुचित हो जाने और परितारिका शोथ की अभिव्यक्ति होने पर दिन में दो या तीन बार नेत्र में 0.5-1.0 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिंदुपात किया जाता है। यदि लिम्बस में गहरा व्रण हो या किरीट में छिद्र हो तो एट्रोपीन नहीं डालनी चाहिए। ऐसी दशाओं में 0.25 प्रतिशत फिजोस्टिग्माइन घोल या 1 प्रतिशत पीलोकर्पिन घोल प्रयोग में लाया जाता है। पलकों में दीर्घस्थायी आकर्ष के कारण नेत्रच्छद के

विवरों पर होने वाले विदर तथा त्वचा के अश्रुओं से आक्लेदन होने पर कशाय वर्ग, 10 प्रतिशत सिलवर नाइट्रेट घोल को लगाकर उपचार किया जाता ह। यह उपचार चिकित्सक को ही करना चाहिए। शोथ शांत प्रक्रम के होने के वाद काफी समय तक पलकों के पीछे 1 प्रतिशत पीले मरक्यूरिक आक्साइड मल्हम को दिन में दो बार लगाया जाता है, जिससे अपारदर्शता का पुनः शोषण हो जाय। ऐसे रोगियों को नेत्र विज्ञानी की देख-रेख में रखा जाता है।

स्वच्छ पटल शोथ विपाणु संक्रमण का अनुगम है, शीत अभिवात, या कुछ रोगों (इन्फ्लूएंजा) के प्रभाव से गुप्त संक्रमण सक्रिय हो जाता है और यह स्वच्छ पटल शोथ के रूप में लेता है।

विभिन्न प्रकार के उपरस्थि और आसित पटल के अग्र भागों के रोगी होने के स्वच्छ पटल शोथ का रोग हो सकता है।

किरीट पर परिसर्पीय पुटिकाओं का होना, अश्रु स्रवण होना तथा प्रकाश ह्यता होना रोग के प्रारंभ होने के लक्षण हैं। फिर पुटिकाओं में विकार होने से उनकी जगह उपकला के दोष हो जाते हैं, जो संश्लेषित होकर पार्श्व तंतुओं का रूप ले लेते हैं (चित्र 171)। इस विक्षति की जाँच क्लोरीसील बंदुओं का विदुंपात करके की जाती है। इसमें किरीट संवेदन या तो बहुत जाता है या लुप्त हो जाता है। वहुधा परितारिका शोथ के चिह्न मिलते हैं और तारा संकुचति होता है। अनुषंगीय जीवाणु संक्रमण से किरीट व्रण हो सकता है, जो सर्पीय व्रण के समान होता है। इसमें किरीट की आंतरिक परतों पर भी असर हो सकता है।
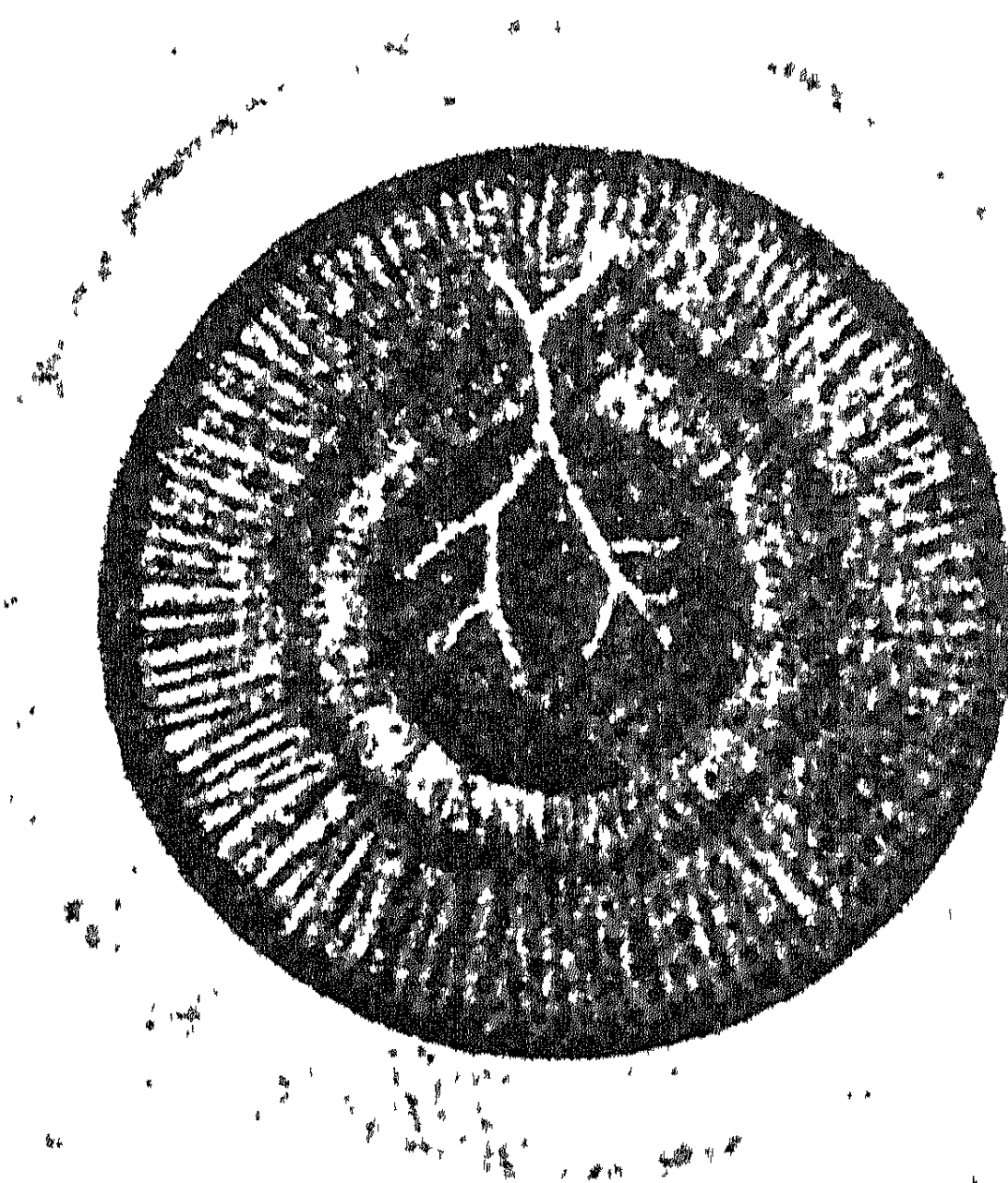
चित्र 171 साखी स्वच्छ पटल शोथ

उपचार : उपचार के प्रति विपाणुज संयोग (0.1 प्रतिशत), केरेसिड घोल, संलक्षण आयोडाइड, आक्सीयूरिसाइड संरक्षण, 0.25 प्रतिशत आमुप्सीलीन घोल का बिंदुपात किया जाता है या उसी सांद्रता का मलहम लगाया जाता है और 0.2 प्रतिशत डेलाक्सी राइबोंयूक्लीज से 0.2 प्रतिशत घोल का बिंदुपात किया जाता है। इसके अतिरिक्त शोथ में सुधार (ऊतकीय चिकित्सा, इत्यादि) करने के लिए मेड्रियाटिक्स, विटामिन ड्राप तथा सामान्य उपाय किए जाते हैं।

सर्पीय किरीट व्रण में इसके फर्श पर सपूय अंतः संचरण का किरीट दोष होता है जिसकी प्रवृत्ति किरीट के फर्श या उसके अंदर तक फैलने को होती है। इसके किनारों पर अर्धचंद्राकार रेखाएं बन जाती हैं (चित्र 172)। व्रण के चारों ओर वाला किरीट का भाग धुंधला और सूजा होता है। अग्रकक्ष के फर्श पर पूय एकत्र हो जाता है। परितारिका का रंग एकदम बदल जाता है और तारे तथा लेंस के अग्र संपुट में आसंजन होने से तारा का आधार विषम हो जाता है इन सब बातों के फलस्वरूप नेत्र गोलक में तरल का प्रवाह गड़बड़ हो जाता है और नेत्र से इनके आस्राव में विकार आ जाता है तथा अंतर्नेत्रीय दाब बढ़ जाता है, अर्थात् अनुशंगीय सबलवाय का रोग हो जाता है। अधिकतर रोगियों की पलकें सूज जाती हैं, अश्रु-स्राव होता है, प्रकाश असह्यता हो जाती है तथा दृष्टि तीक्ष्णता काफी घट जाती है। पूर्वावस्था में और सही उपचार से किरीट दोष ठीक हो जाता है तथा व्रण की जगह पर विभिन्न तीव्रता वाली पारदर्शता तो जाती है। व्रण के सतह पर फैल जाने से या गहराई तक पहुंचने से श्वेत फुल्ली हो सकती है या इस प्रक्रम के आंतरिक पर्तों तक फैल जाने से नेत्र नष्ट हो जाता है।
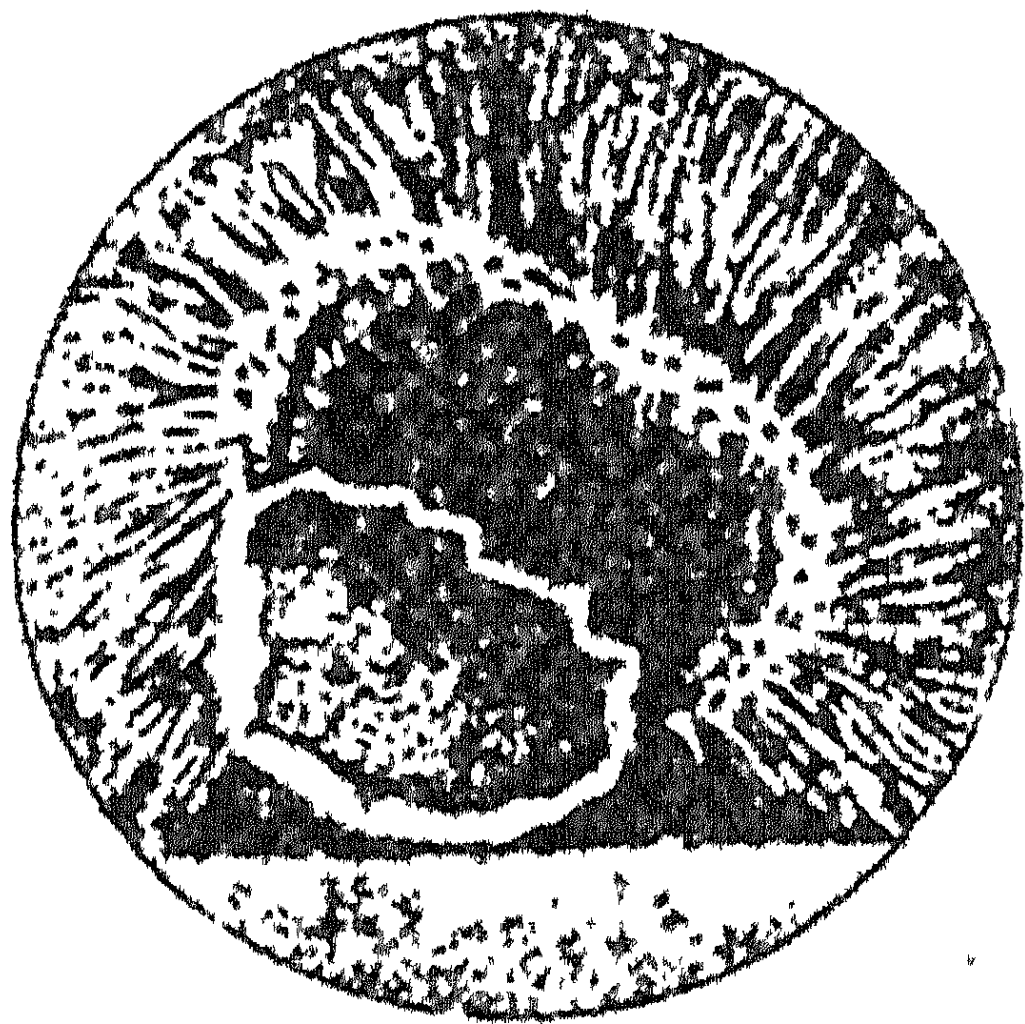
चित्र 172. सर्पीव्रण

बड़ी उम्र वाले लोगों में अनाज के दानों, घास-फूस, पेड़ों की टहनियाँ, धातु, या अन्य आगंतुक शल्यों से किरीट में होने वाली उपास्थि में चोट लगने के बाद सर्पीय व्रण हो जाता है। नेत्र श्लेष्मा शोथ और सपूय अश्रुकोप शोथ से यह दोष संदूषित हो जाता है जिससे कि किरीट पर व्रण हो सकता है। इसमें अन्य सूक्ष्म जीवियों की अपेक्षा अधिकतर न्यूमोकोकस और स्टाफिरोकोकस होते हैं। घटी हुई किरीट संवेदनशीलता और रोगी की सार्वदैहिक अवस्था के कमजोर होने से व्रण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सर्पीय व्रण के विकास को रोकने के लिए सभी छोटे आगंतुक शल्यों को जल्दी-से-जल्दी सावधानीपूर्वक किरीट और नेत्र श्लेष्मा पर से हटा देना चाहिए और फिर उपचार करना चाहिए। चिकित्सा परामर्श के लिए आने वाले सभी रोगियों के अश्रुपथ और नेत्र श्लेष्मा की दशा पर ध्यान देना चाहिए और नीचे उनका परीक्षण उनकी व्यावसायिक उपयुक्तता (मेकैनिक, खराब मशीन चालक, मिलींग मशीन चालक, कंबाइन चालक और अन्य) के अनुसार होना चाहिए।

उपचार : सर्पीय व्रण होने का लेश मात्र संदेह होने पर रोगी को तत्काल नेत्र विज्ञानी के पास (आँख पर पट्टी बांधे बिना) तत्काल ले जाना चाहिए। इस रोग

का उपचार करने के लिए प्रतिजीवी घोल का बिंदुपात किया जाता है या पलकों के पीछे प्रतिजीवी मलहम (5 प्रतिशत क्लोरोफिन्काल, सिंथोमाइसीन, 1 प्रतिशत टेरामाइसीन, 1 प्रतिशत मोनोमाइसीन) दिन में चार या पाँच बार लगाया जाता है। यदि अंतर्नेत्रीय दाब न बढ़ा हो तो 1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिंदुपात किया जाता है। व्रण के तीव्र रूप में सल्फानिलामाइड और मुँह से या अंतर्पेशीय रूप से प्रतिजीवी औषधियाँ तथा पोलीविटामिन दिया जाता है। संसर्गीय रोगों के आधार पर सामान्य चिकित्सा की जाती है। यदि औषधि-चिकित्सा से व्रण ठीक न हो और अंतर्नेत्रीय दाब बढ़ जाय तो शस्त्र कर्म करना चाहिए।

गंभीर स्वच्छ पटल शोथ में व्रण स्राव-रहित किरीट की गहरी पर्तों में स्थानिक या विसरित अंतः संचरण होता है। इसलिए जल्दी ही उपचार करके किरीट की पूर्ण पारदर्शता की रक्षा की जा सकती है, अन्यथा खुरदरी फुल्ली बन जाएगी। जन्मजात, सिफिलिस, यक्ष्मा, ब्रूसेला रुग्णता, विषाणुज और अन्य स्रोत से संक्रामण, आदि से गंभीर स्वच्छ पटल शोथ होता है। नेत्र में उपरस्थि या कुंद अभिघात से इन्फ्लूएंज़ा, अल्प या अविटामिनता, स्त्रियों के गर्भवती होने पर तथा दूध आने पर, इत्यादि से गंभीर स्वच्छ पटल शोथ हो सकता है।

जन्मजात सिफिलिस होने पर स्वच्छ पटल शोथ अधिकतर बच्चों के स्कूल जाने की अवस्था में होता है। स्वच्छ पटल शोथ पहले एक आँख में होता है कि समय बीतने के साथ-साथ दूसरी आँख में भी हो जाता है। स्वच्छ पटल शोथ किरीट और लिंबस की परिसीमा की गहरी पर्तों से शुरू होता है। वसरित संचरण होने के बाद यह धीरे-धीरे केंद्र तकफैल जाता है। किरीट एक धुँधले शीशे के समान हो जाता है तथा नेत्र श्लेष्मा में अतिरिक्तता हो जाती है और तारा संकुचित हो जाता है। रोमश्रु के रूप में पुटिकाएँ किरीट पर आक्रमण करती हैं। इस प्रक्रण का धीरे-धीरे अपकर्ष होता है और किरीट पुनः पारभासी होने लगता है। यह प्रक्रम उस क्षेत्र से प्रारम्भ होता है जहाँ की पहले अपारदर्शिता प्रारंभ हुई हो। स्वच्छ पटल शोथ एक दीर्घस्थायी रोग है जो महीनों तक रहता है। जन्मजात सिफिलिस के अन्य चिह्नों से निदान की पुष्टि होती है : कम सुनाई देना, सैबरसीन होना, नासा परिमाण होना, दाँतों के बीच में जगह होना तथा बासरमान अभिक्रिया का स्वीकारात्मक होना इस निदान की पुष्टि करता है।

उपचार नेत्र विज्ञानी द्वारा किया जाता है, पर रतिज रोग विज्ञानी से परामर्श करना अनिवार्य है। वह रोगी को निरगानी में रखता है तथा सार्वदैहिक विशिष्ट चिकित्सा का निर्देश देता है। स्थानिक उपचार में सेंकाई करना तथा 1 प्रतिशत एट्रोपीन घोल का बिंदुपात करना, कार्टिजोन इमल्सन (जिसका नेत्र श्लेष्मा कला के नीचे इंजेक्शन लगाया जाता है) और रोग के घटने के समय एथाइलो मार्फिन हाइड्रोक्लोराइड घोल को बढ़ी हुई सांद्रता में दिया जाता है। ऊतक योग वाले अंतर्पेशीय इंजेक्शन के रोग

की प्रारंभिक अवस्था में लाभकारी प्रभाव होता है। नेत्र विज्ञानी और रतिज रोग-विज्ञानी द्वारा रोगी के परिवार के सभी सदस्यों का परीक्षण किया जाता है।

यक्ष्मज स्वच्छ पटल शोथ अधिकतर युवकों में होता है तथा यह एकाक्षिक होता है। यह प्रक्रिया बहुधा प्रकोपित होती है और दैहिक रोगों में विशेष कर इन्फ्लुएंजा में बार-बार होती है। यह रोग अधिकतर चोट लगने के बाद और महिलाओं के गर्भवती होने तथा स्तन पान कराते समय ठंड लगने तथा कुपोषण से होता है। इस रोग के शुरू होने का लक्षण है आंख में तेज विक्षोभ होना, पलकों में आकर्ष होना, अश्रु होना, स्पर्श असह्यता होना और किरीट में स्थानिक अपारदर्शिता होना, अंतःसंचरण होना और संश्लेषण होना। उपरिस्थ और गहन वाहिकाएँ किरीट पर आक्रमण करती है। इसमें तीव्र परितारिका रोमक पिंड शोथ हो जाता है (नीचे देखिए)। यक्ष्मज प्रक्रम के लक्षण हैं—उपज्वर होना, विशेष कर दिन के समय तथा मंटोक्स और पिटकेट जाँच का स्वीकारात्मक होना तथा एक्स-रे चित्रण में रोग के दोष (श्वसनी शोथ) का होना।

उपचार : क्षय रोग विज्ञानी और नेत्र विज्ञानी द्वारा किया जाता है। गंडमाला रोग जैसा सामान्य उपचार किया जाता है। ट्यूबरकुलीन चिकित्सा की जाती है और रोग के तीव्र होने की दशा में अंतरंग चिकित्सा की जाती है। सामान्य शक्तिवर्धक उपाय, अल्प सूर्यातपसेवन चिकित्सा और खनिज जलीय झरने वाले स्थान पर जलवायु चिकित्सा की जाती है। स्थानिक उपचार गंडमाला रोग के उपचार के समान है, परंतु कार्टिजोन सदैव ही नहीं दिए जाते हैं।

सभी प्रकार के **स्वच्छ पटल शोथ का परिणाम** अंत में विभिन्न तीव्रता वाले किरीट की स्थायी अपारदर्शिता है। किरीट धुंधला, धब्बेवाला या फुल्लीयुक्त हो सकता है। फुल्ली संपूर्ण या आंशिक (केंद्रीय या परिसरीय) हो सकती है। किरीट में व्रण होने या परितारिका अंग भ्रंश होने से फुल्ली और परितारिका के बीच आकर्ष हो सकता है। ऐसी फुल्ली में आंख में तरल के सामान्य आस्राव में विघ्न पड़ता है, जिसके फलस्वरूप द्वितीयक सबलवाय हो जाती है। फुल्ली का अध्ययन (अजका) या पूरे नेत्र गोलक का अध्यमान (नृपभक्षि) हो सकती है। यदि फुल्ली के साथ-साथ अंतरक्षि दाब भी बढ़ जाए तो दृष्टि आंशिक या पूर्ण रूप से लुप्त हो सकती है।

उपचार : किरीट की ताजी अपारदर्शिता का उपचार शामक, क्रायोथिरेपी या पराश्रव्य, पीले मरक्यूरिक आक्साइड मलहम, एलोय (घेंकुआर) के अर्क या 5 प्रतिशत पोटैशियम आयोडाइड घोल के साथ एलेक्ट्रो-फोनो-फोरेसिस किया जाता है। स्थायी अपारदर्शिता का उपचार शस्त्रकर्म है : दृष्टि परितारिका उच्छेदन (परितारिका के क्षेत्र का उच्छेदन) या किरीट के प्रतिरोपण से, जिसमें बी.पी. फिलातोव और उसके शिष्यों ने भारी योगदान किया।

शस्त्र-कर्म का सार-तत्त्व निम्नलिखित है : किरीट व्रण चिह्न से अपारदर्शक

डिसक का उच्छदेदन एक विशेष कोर्नियल ट्रेफाइन से किया जाता है और इसके स्थान पर शव-नेत्र के किरीट का प्रत्यारोपण किया जाता है। अधिकतर यह निरोप सफल होता है और किरीट पारदर्शक बना रहता है। बी.पी. फिलातोव ने ऊतक चिकित्सा-विधि से उपचार का सुझाव दिया है। एलोय और अपरा इत्यादि के सत्व के इंजेक्शन लगाए जाते हैं। इनका प्रभाव उद्दीपक और शामक होता है। यह उपचार बहुत से शारीरिक रोगों और नेत्र के रोगों में किया जाता है।

श्वेत पटल के रोग : श्वेत पटल की उपरिस्थ पर्तो का शोथ (अति श्वेत पटल शोथ) या इसकी गहरी पर्तो के शोथ (श्वेत पटल शोथ) की अभिव्यक्ति इसके प्रारंभ में नेत्र में पीड़ा, अश्रु स्राव, प्रकाश असह्यता, अतिरिक्तता और श्वेत पटल के स्थानिक क्षेत्र में सूजन से होती है। वहुधा पहले किरीट और फिर परितारिका पर इसका प्रभाव होता है अथवा इनका रोग प्राथमिक होता है और श्वेत पटल का—द्वितीयक। स्वच्छ पटल शोथ का कारण विपाणु संक्रमण, ब्रुसेल रुग्णता और सिफिलिस भी हो सकती है। यह रोग दीर्घ स्थायी होता है और इसका पुनरावर्तन बारंबार होता रहता है। इसके फलस्वरूप श्वेत पटल पतला हो जाता है और खिंच जाता है, तथा इसमें कोरायड के गहरे रंग के भाग दिखाई देते हैं।

असित-पटल, लेंस, दृष्टि-पटल और दृष्टि-तंत्रिका के रोग

असित-पटल के रोग

असित-पटल का शोथ बहुधा निम्नलिखत सामान्य संक्रामक रोगों की पृष्ठभूमि में होता है : विषाणुज संक्रमण, आमवात और रूमेट्वायड संधि-शोथ, यक्ष्मा, ब्रुसेल रुग्णता, सिफिलिस, आविश दृप्यता, गलतुंडिका शोथ, मधुमेह, रक्त के रोग तथा अन्य रोग। इसके अतिरिक्त यह रोग किरीट और श्वेत पटल के रोगों, नेत्र अभिघात और अंतरक्षि शस्त्र कर्म, जटिल बना देते हैं।

असित पटल के अग्रभाग, परितारिका और रोमक पिंडों (परितारिका शोथ और परितारिका रोमक पिंड शोथ), पश्च भाग के शोथ, कोरायड और पूर्ण असित पटल के शोथ को अलग-अलग पहचाना जाता है।

परितारिका शोथ की शुरुआत आँख में तेज पीड़ा, अश्रु स्राव, प्रकाश असह्यता, पलकों के आकर्प और दृष्टि तीक्ष्णता की कमी से होती है। लिंबस के चारों ओर नेत्र गोलाक की नेत्र श्लेष्मल कला संतुलित हो जाती है और इसका स्वाय वर्ण हो जाता है, परितारिका का रंग बदल जाता है और तारा संकुचित हो जाता है। लेंस के अग्र कैप्सूल सहित परितारिका में आसंजन होने के कारण इसका आकार बिगड़ जाता है। इन परिवर्तनों का पता विशेष रूप से तब चलता है जब रोगी आंख की तुलना स्वस्थ आँख से की जाती है। बहुधा निःस्राव अग्रभाग की फर्श पर जमा हो

जाता है जो कि कभी-कभी सपूय होता है या रक्त से मिश्रित होता है। पार्श्व प्रदीपन द्वारा रोगी की जांच करने के किरीट की पश्च सतह पर निःस्राव के पिंडक दिखाई देते हैं (चित्र 173)। काचाभ पिंड में अपारदर्शिता प्रतीत होती है, आँख को छूने पर रोमक पिंड के क्षेत्र में पलकों पर तेज पीड़ा होती है, अंतरक्षि दाब बन जाता है तथा दृष्टि-तीक्ष्णता की घटना इसका विशेष लक्षण है। रोग के तीव्र होने पर तारिका के ऊपर विस्रावी कला बन जाती है जो नेत्र से तरल के विसर्जन में विघ्न पैदा करती है। द्वितीय सबवलाय का रोग हो जाता है। परितारिका शोथ से लेंस अपारदर्शक (जटिल) हो सकता है, काचाभ पिंड में वलयन हो सकता है तथा दृष्टि पटल का वियोजन भी हो सकता है। नेत्र गोलक का शोथ और अंधता भी हो सकती है। यदि समय से सही
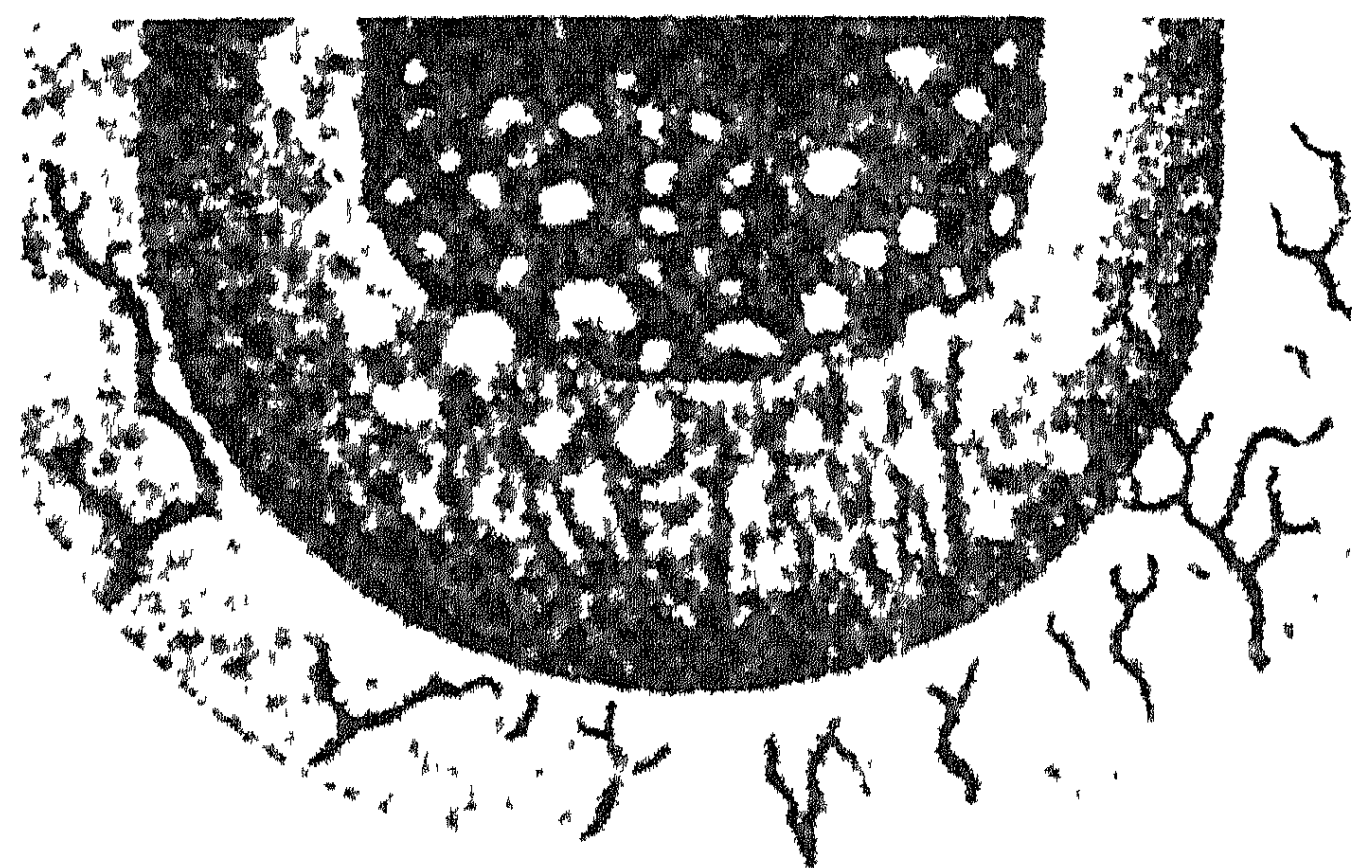
चित्र 173 किरीट की पश्च भित्ति पर अवक्षेप।

उपचार किया जाए तो प्रदाह शांत हो सकता है और यह क्रिया पूर्ण रूप से या आंशिक रूप में हो सकती है। शीतता और उष्णन, तीव्र संक्रामक रोगों और अधिभार इत्यादि के साथ या बाद में मुख्य रोग की गंभीर स्थिति के साथ परितारिका शोथ का पुनरावर्तन होता है।

परितारिका शोथ और नेत्र श्लेष्मला शोथ के अंतर को पहचानना आवश्यक है। यदि परितारिका के प्रतिरूप और रंग तथा तारे के आकार और रूप में होने वाले परिवर्तनों की ओर ध्यान दिया जाय तो विभेदीय निदान में कोई कठिनाई नहीं होती। ये परिवर्तन नेत्र श्लेष्मला शोथ में नहीं होते; नेत्र श्लेष्मला शोथ में आस्राव होता है, पलकों और नेत्र श्लेष्मल तोरणिका में अतिरिक्तता होती है तथा नेत्र श्लेष्मा में शोफ होता है जबकि ये लक्षण परितारिका तोरणिका शोथ के नहीं होते।

परितारिका शोथ का उपचार : सामान्य उपचार रोग के कारण पर निर्भर करता है। इसके स्पष्ट होने से पूर्व अल्प सुग्राहीकरण चिकित्सा (कैल्सियम क्लोराइड के इंजेक्शन, विटामिनों के मिश्रण को खिलाया) और स्थानिक उपचार करना बेहतर है। यह उपचार ऐसे अंतरंग चिकित्सालय में किया जाना चाहिए जहाँ पुतली के विस्फारक और कार्टिजोन लिंबन के उपश्लेष्मा इंजेक्शन, अति उच्च तरंग चिकित्सा या एक्स-रे किरण चिकित्सा की सुविधाएं उपलब्ध हों। नेत्र की पीड़ा को कम करने के लिए कनपटी पर जोंक लगाने तथा पाद स्नान कारगर उपाय हैं। रोगी के अंतरक्षि दाब की ध्यान-पूर्वक निगरानी रखनी आवश्यक है, क्योंकि इसका बढ़ना द्वितीयक सबलवाय

का लक्षण होता है, जिसमें शस्त्र कर्म की आवश्यकता पड़ सकती है। रोगी को नेत्र विज्ञानी के पास भेजने से पहले आँख पर पट्टी बाँध देनी चाहिए।

रंजित पटल शोथ इसमें रोगी की दृष्टि-तीक्ष्णता घट जाती है और कभी-कभी आँख के सामने छोटी सी चीज भी बहुत धुँधली तरह से दिखाई देती है। नेत्र बुध्न पर वर्णक विकार-स्थान अथवा भूरा या पीलापन दिखने पर, तथा अन्य लक्षणों से रजित पटल शोथ का निदान हो जाता है उपरोक्त नेत्रबुध्न के ऊपर से दृष्टिपटल वाहिकाएँ गुजरती हैं।

अंतर्नेत्र शोथ नेत्र की आंतरिक पर्तों का सपूय शोथ है जो सामान्य पति रोगों के उपद्रव के रूप में होता है। यह सपूय किरीट व्रणों, संक्रमित घावों और शस्त्रकर्म के उपद्रव के रूप में होता है। रोगी सिर-दर्द और नेत्र में तेज पीड़ा तथा दृष्टि लाप की शिकायत करता है। पलकों का सूजा होना, नेत्र श्लेष्मल कला का शोफ (श्लेष्मला शोफ) होना इसके विपिष्ट लक्षण हैं। किरीट फीका हो जाता है, पुतली के क्षेत्र में और अग्र कक्ष में पूय या निःस्राव दिखाई देता है। जब यह सपूय प्रक्रम नेत्र की सभी पर्तो तथा नेत्र तक फैल जाता है तो इसे **सर्वनेत्र शोथ** कहते हैं। सर्वनेत्र शोथ में ऊपर बताई गई सभी क्रियाएँ अति तीव्र हो जाती हैं। नेत्र असामान्य रूप से बाहर की ओर आ जाता है (नेत्रोत्सेध), गतिशीलता की हानि होती है। किरीट पर पूय का पारगमन होता है, जिससे नेत्र के अन्य भाग दिखाई नहीं देते। इन रोगों में अंतरक्षि दाब बहुधा तेजी से बढ़ जाता है।

उपचार : प्रतिजीवी औषधि का अंतर्जीवी इंजेक्शन देने के बाद रोगी को फौरन ही नेत्र चिकित्सालय में भेजा जाता है, जहाँ उसका प्रतिजीवी औषधि ओर सल्फानीलामाइड से उपचार प्रारंभ किया जाता है। इस उपचार के असफल होने पर नेत्र का समूल निष्कासन किया जाता है। कुछ रोगियों में नेत्र की दशा के अनुसार चिकित्सालय में लाते ही तत्काल शस्त्रकर्म भी किया जा सकता है।

असित पटल मे नवीन अपवृद्धियाँ : ये मुख्य रूप से दुर्दम वर्णक अर्बुद होती है। अर्बुद परितारिका में स्थित हो तो यह बढ़ता हुआ काला धक्का सा दिखाई देता है। अर्बुद नेत्र गोलक और नेत्र गर्त की परिसीमा से भी बढ़ सकता है। इससे आंतरिक अंगों में, और विशेषकर यकृत में विक्षेप होने लगता है। रोमक पिंड और रजित पटल में स्थित अर्बुद को बहुधा परीक्षण की विशेष विधि द्वारा ही देखा जा सकता है। ऐसी अपवृद्धि के होने पर रोगी आंशिक या पूर्ण दृष्टि लोप की शिकायत करता है।

उपचार : रोग के पूर्व-काल में नेत्र-गोलक को निकाल दिया जाता है। यदि यथासमय ध्यान न दिया जाय तो नेत्र गर्त का द्रव्य भी निकाल देना पड़ता है जिसे आशय निष्कासन कहते हैं। कभी-कभी परानासा विवर भी खोलने पड़ते हैं। शस्त्र कर्म के बाद विकिरण चिकित्सा की जाती है।

लेंस के रोग

लेंस का प्रभाव डालने का कारण चाहे कुछ भी हो, इसकी पारदर्शिता घट जाती है। लेंस की अपारदर्शकता को मोतियाबिंद कहते हैं।

मोतियाबिंद : लेंस की अपारदर्शिता के अनुसार मोतियाबिंद आंशिक या संपूर्ण हो सकता है। इससे पता चलता है कि दृष्टि-तीक्ष्णता किस हद तक कमजोर हो गई है। यदि लेंस पूर्णरूप से अपारदर्शक हो गया हो, तो रोगी को प्रकाश का केवल बोध होता है। मूल रूप से मोतियाबिंद का वर्गीकरण है : उपार्जित. मोतियाबिंद (जराजन्य, अभिघातज, नेत्र रोग के जटिल हो जाने पर होने वाला विकिरण और अन्य), तथा प्रगामी मोतियाबिंद जिसमें लेंस धीरे-धीरे अपारदर्शी होता जाता है। जन्मजात मोतियाबिंद बढ़ता नहीं।

उपार्जित मोतियाबिंद का मुख्य लक्षण है दृष्टि-तीक्ष्णता का धीरे-धीरे घटना और पुतली का रंग काले से भूरे में बदलते जाना (चित्र 174)। उपरोक्त तथा दृष्टि पटल दर्शन द्वारा जाने गए मोतियाबिंद का निम्नलिखित चरणों में विभेद किया जाता है : प्राथमिक, अपरिपक्व, परिपक्व और अतिपरिपक्व। सबलवाय से पीड़ित वृद्ध लोग भी धीरे-धीरे दृष्टि अवनति का अनुभव करते हैं और पुतली काले से भूरे रंग में बदल जाती है, पर इसमें पीड़ा नहीं होती। ऐसी दशाओं में विशेषज्ञ द्वारा तत्काल उपचार की आवश्यकता होती है, अन्यथा रोगी अंधा हो सकता है। उपार्जित मोतियाबिंद के प्रथम चरण का उपचार औषधियों द्वारा किया जाता है। यदि यह उपचार असफल हो और दृष्टि की तेजी अवनति के साथ मोतियाबिंद बढ़ता जाय तो शस्त्र कर्म की
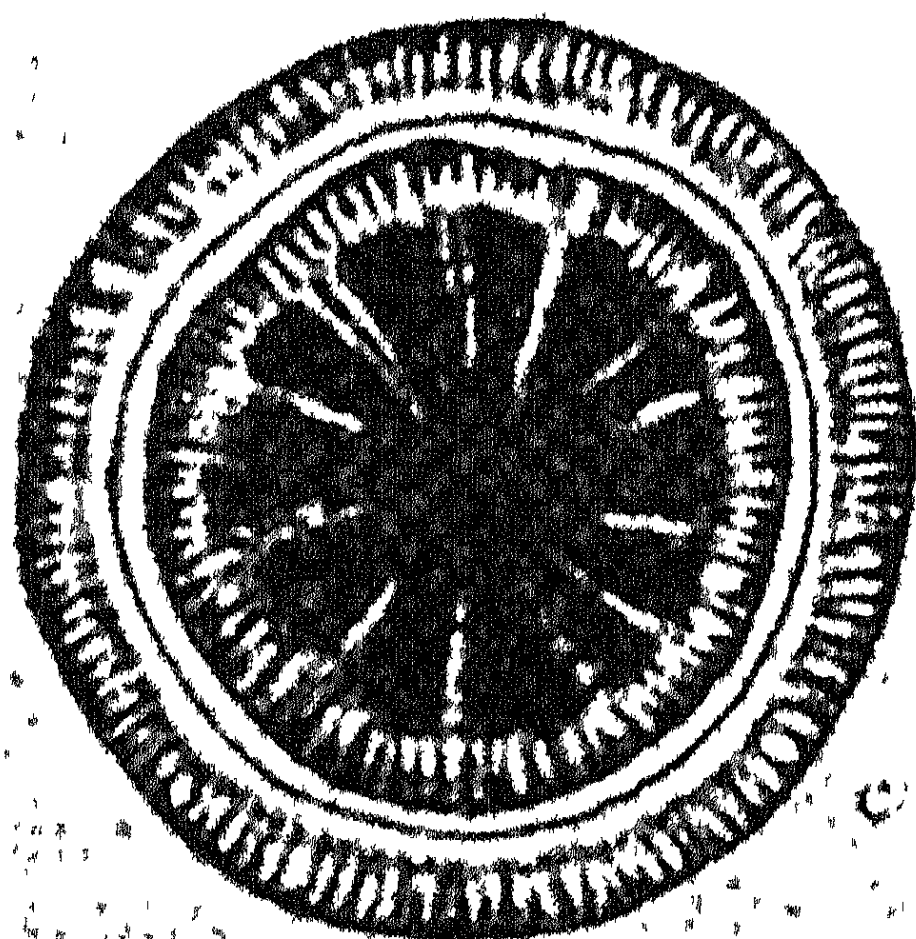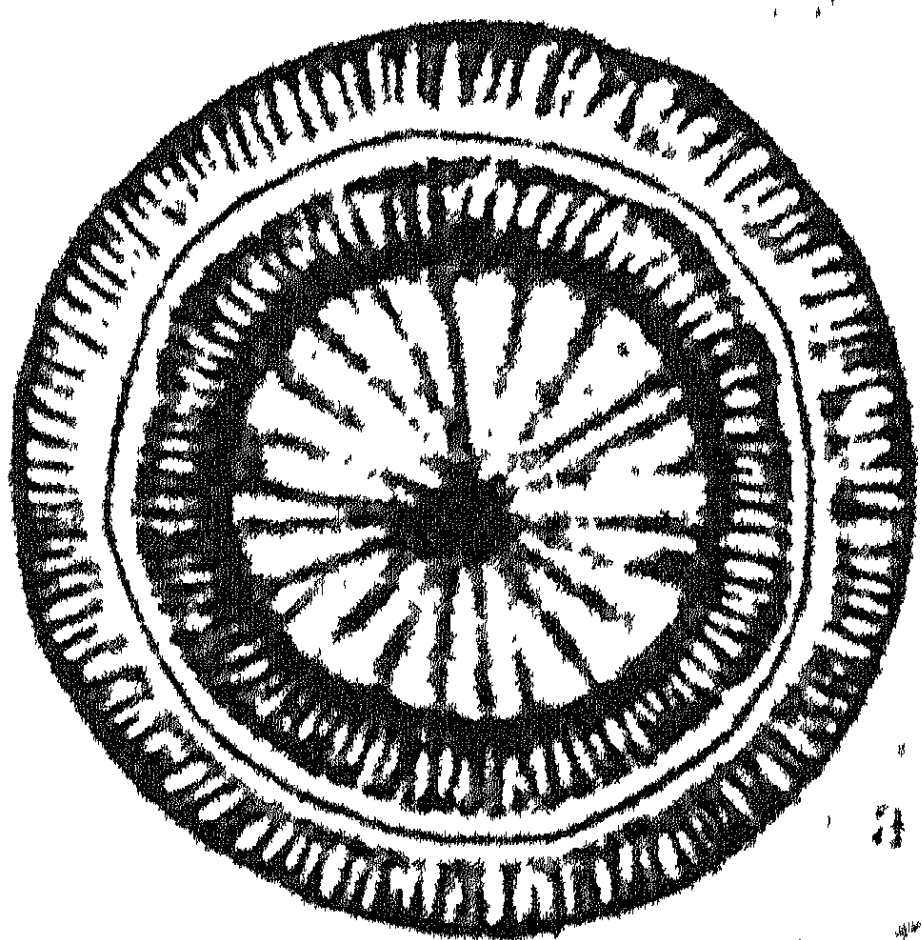
चित्र 174. जराजन्य, मोतियाबिंद।
A. प्राथमिक, B. पक्व, C. अपारदर्शी लेंस में परितारिका।

सलाह दी जाती है : अपरिपक्व या परिपक्व अवस्था में अपारदर्शी लेंस निष्कषर्ण।

जन्मजात मोतियाबिंद–आंशिक (कंद्र की, पटलित) हो सकता है। यदि शिशु में लेश मात्र भी ज्योति हो तो स्कूल जाने से पूर्व की अवस्था में शस्त्रकर्म किया जा सकता है। पूर्ण मूातियाबिंद होने पर, जब बच्चे को केवल प्रकाश का बोध होता है और वह वास्तव में अंधा हो, तो एक या दो वर्ष की अवस्था में शस्त्रकर्म करना चाहिए।

उपरोक्त बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैसे ही रोगी में मोतियाबिंद का पता लगे उसे फौरन नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए।

लेंस को निकाल देने के बाद आँख की अवस्था को लेंसहीनता कहते हैं। ऐसे रोगियों को लेंस के स्थान पर (+10.0 या अधिक से) उत्तल शीशे का चश्मा सदेव पहनना चाहिए और नजदीक से देखने के लिए (+13.0 या अधिक के) उत्तल शीशे वाला चश्मा पहनना चाहिए।

दृष्टि-पटल के रोग

इन रोगों की अभिव्यक्ति दृष्टि-तीक्ष्णता की एकाएक या क्रमिक अवनति से होती है। यदि दृष्टि पटल का मध्य भाग रोगग्रस्त हो (पीत बिंदु और उसके आस-पास का क्षेत्र) तो रोगी इस बात की शिकायत करता है कि वस्तु का आकार-प्रकार विरूपित है, कि आँखों के समाने काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं, कि दूर की नजर बहुत खराब हो गई है और यह कि पढ़ना असंभव हो गया है। वर्ण बोध में भी विकार आ जाते हैं।

अतिरक्तदाबी रोग, गुर्दे और रक्तोत्पादक अंगों के रोग, यक्ष्मा, सिफिलिस, टक्सोप्लाज्मिता, ब्रुसेल रुग्णता, मधुमेह, गर्भकाल की विपालुता और बहुत से अन्य रोगजनक प्रक्रमों में दृष्टिपटल के रोग होते हैं। **रोग** के निदान की पुष्टि नेत्र विज्ञानी द्वारा दृष्टि पटल दर्शन, दृष्टि परिमिति और अन्य नैदानिक विधियों द्वारा की जाती है।

दृष्टि पटल वाहिकाओं में परिसंचरण विकार दृष्टि-पटल वाहिकाओं में तीव्र अवरोध के कारण उत्पन्न होता है। तरुणों में यह हृद्‌कपाट से परिभ्रमी अंतःशल्य केंद्रीय दृष्टिपटल धमनी या इसकी शाखा को अवरुद्ध कर दे तो यह दृष्टिपटल वाहिकाओं का अवरुद्ध होना तंत्रिका तंत्र के क्रियात्मक रोग, क्रियात्मक हृद रोग, अंतर्दिशोथ के रोगों की अभिव्यक्ति होता है। प्रौढ़ लोगों में वाहिकाओं का आकर्ष अथवा धमनी या शिरा की घनास्त्रता, धमनी काठिन्य या अतिरक्तदाबी रोगों की पृष्ठभूमि में होती है। इन सभी रोगों में रोगी ज्योति के तेजी से या एकाएक घटने की शिकायत करता है। पहले यह शिकायत बहुधा एक आंख में होती है। दृष्टिपटल दर्शन से दृष्टि पटल वाहिकाओं के संकीर्णन और इसकी अपारदर्शिता का पता लगता है, और वाहिकाओं की घनास्त्रता होने पर इनमें रक्तस्राव का पता लगता है।

उपचार : ऐसे रोगियों को तत्काल ही नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए, जो नेत्रबुध्न की हालत को देखकर मुख्य रोग का निदान करता है। नेत्र विज्ञानी के इस निदान के उपरांत ही यह निश्चय किया जाता है कि इस रोगी का उपचार नेत्री विज्ञानी के साथ मिलकर काय चिकित्सक या तंत्रिका विज्ञानी करे।

अतिरक्तदाबी रोगों में होने वाले दृष्टिपटल परिवर्तन में पहले नेत्र ज्योति नहीं घटती और इसीलिए इसका पता तभी लगता है, जब काय चिकित्सक रोगी की जाँच नेत्रविज्ञानी के पास परीक्षण के लिए भेजता है। नेत्रज्योति की अवनति का इसका पूर्णतया या लुप्त होना दुर्दम अतिरक्तदाब के आखिरी चरणों में ही होता है। अतिरक्तदाबी रोगों में निम्नलिखित नेत्र संबंधी लक्षण होते हैं : दृष्टिपटल धमनियों का संकीर्णन और कुटिल होना, धमनियों और शिराओं का अनियमित अंतर्व्यास होना, वाहिकाओं का काठिन्य होना, रक्तस्राव होना, दृष्टिपटल का अपारदर्शी होना, दृष्टि तंत्रिकाशोथ होना। ये लक्षण रोग के चरण पर निर्भर होते हैं और इनकी अभिव्यक्ति विभिन्न संयोजनों और तीव्रता से होती है। इसलिए निदान हेतु, रोग की गति का, और इसके पूर्वानुमान के लिए नेत्र बुध्न का, परीक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसे रोगियों का उपचार काय चिकित्सक के द्वारा किया जाना चाहिए।

इसी तरह के परिवर्तन गर्भवती स्त्रियों में विषालुता के साथ-साथ धमनीदाब बढ़ने के फलस्वरूप होते हैं। इसे गर्भवती **स्त्रियों की दृष्टिपटल विकृति** के नाम से जाना जाता है। दृष्टिपटल रोगों के ये विशिष्ट लक्षण रक्त के रोगों, मधुमेह और अन्य रोगों में देखे जाते हैं। ऐसे रोगियों की नेत्र ज्योति संबंधी शिकायत पर ध्यान देना आवश्यक होता है और बेहतर हो कि ऐसे रोगियों को रोगनिरोधी जाँच के लिए नेत्रविज्ञानी के पास भेजा जाय।

दृष्टिपटल के वर्णक अपविकास अस्पष्ट हेतुकी वाला दृष्टिपटल का तीव्र रोग है। यह रोग के परिवार में सामान्य तौर पर पाया जाने वाला और वंशानुगत हो सकता है या मादकता और संक्रमण के बाद उपार्जित हो सकता है। पहले रोगी गोधूलि के समय कम ज्योति और रात्रि में दृष्टि क्षेत्र के संकुचित होने के कारण कम दिखाई देने की शिकायत करते हैं और इसके बाद उन्हें दिन के रोशनी में भी अवकाश के अभिविन्यास में कठिनाई होती है, और दृष्टितीक्ष्णता की प्रक्रमी अवनति होती जाती है। दृष्टिपटल दर्शन द्वारा पहले दृष्टिपटल के परिसर और इसके केंद्र में असंख्य वर्णक विकार स्थान दिखाई देते हैं, जिनका आकार अस्थि पिंड के समान होता है, फिर कोरायड वाहिकाओं का काठिन्य हो जाता है। धीरे-धीरे दृष्टि तंत्रिका शोष विकसित होता है, जिसके कारण दृष्टि तीक्ष्णता का लोप हो जाता है और अंततः अंधता हो जाती है।

उपचार : उपचार के नेत्र ज्योति को बनाए रखने या कुछ सुधार करने में सहायता मिलती है। रोगी को खाने के लिए पोली विटामिन (ए, ई, राइबोफ्लेविन, निकोटीन

एसिड) तथा ऊतक संयोग और वाहिका विस्फारक के अंतर्पेशीय इंजेक्शन लगवाने का निर्देश दिया जाता है। आजकल पराश्रव्य का उपचार के लिए प्रयोग सफलतापूर्वक् किया गया है। अल्प या अविटामिनता के कारण दिवांधता एकाएक हो सकती है, परंतु दृष्टि क्षेत्र, दृष्टितीक्ष्णता और नेत्रबुध्न में कोई परिवर्तन नहीं होता। कोडलीवर आयल, विटामिन ए और ई और इन विटामिनों से युक्त भोजन को लेकर रोगी तेजी से स्वास्थ्य लाभ करता है।

दृष्टिपटल वियोजन : दृष्टिपटल वियोजन की अभिव्यक्ति दृष्टितीक्ष्णता के एकाएक घट जाने या रोगी के नेत्र के दृष्टि-क्षेत्र के कुछ भाग में आच्छादन (आवरण) दिखाई देने से होती है। वृद्ध लोगों का अत्यंत जटिल निकट दृष्टिता वाले व्यक्तियों में अभिघात के बाद दृष्टिपटल वियोजन होता है। अधिकतर वियोजन के प्रचलित कारण होते हैं : इसमें विदार होना या इसका संलग्नक के स्थान से पृथक होना और दृष्टिपटल तथा कोरायड के बीच में स्थित काचाभ पिंड के तरल भाग का निकल जाना।

उपचार : इसका उपचार शस्त्रकर्म है। शस्त्रकर्म इस प्रक्रम के प्रारंभिक चरणों में अधिक प्रभावशाली होता है, इसलिए ऊपर बताई गई शिकायत होने पर रोगियों को नेत्र-रोग चिकित्सालय में भेजना चाहिए। अतिनिकट दृष्टिता से पीड़ित लोगों को भारी शारीरिक श्रम से छूट देनी चाहिए, ताकि दृष्टिपटल वियोजन पर निरोध हो सके; या इस स्थिति को सुधारने के लिए शस्त्रकर्म के बाद भी रोगी को भारी शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिए।

रिटिनोब्लस्टोमा एक प्राथमिक दुर्दम नवीन अपवृद्धि है, जो कि बहुधा जन्मजात होती है जो एक पार्श्वीय या द्विपार्श्वीय हो सकती है। यह रोग बहुधा 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों में होता है। अभिभावकों को यह पता लगता है कि बच्चे को पुतली का विस्फारण होने लगा है और इसका रंग पीला होता जा रहा है, और अंधता होने लगी है। अर्बुद तेजी से नेत्र गर्त और मस्तिष्क में बढ़ने लगता है ओर जल्दी ही विक्षेप होने लगते हैं जिससे कि मृत्यु हो सकती है। बच्चे को बचाने का एकमात्र तरीका है कि नेत्रगोलक को उसके पदार्थ सहित निकाल दिया जाय ओर फिर नेत्रगुहा के क्षेत्र में विकिरण चिकित्सा की जाय।

दृष्टि-तंत्रिका के रोग

दृष्टितंत्रिका के रोगों की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से शोथ (तंत्रिकाशोथ), रक्ताधिक्य (अक्षिबिंबशोफ) और विघटक प्रक्रम (शोफ) से होती है। दृष्टि तंत्रिका के रोगी होने का सबसे प्रचलित कारण है, केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के रोग (अर्बुद, तानिकाशोथ, बहुश्रित काठन्य, जलतानिका शोथ) इत्यादि, इस रोग के कम प्रचलित कारण हैं अतिरक्तदाबी रोग, मधुमेह, संक्रामक रोग (एन्फ्लुएंजा, आमवात) रोग, सिफिलिस, यक्ष्मा, टाइफस,

इत्यादि, परानासाविवर के शोथ, लेड (शीसा), मिथाइल एल्कोहल इत्यादि से होनेवाली विषाक्तता, इत्यादि और नेत्र रोग। रोगी मुख्य रूप से नेत्र ज्योति के एकाएक लुप्त होने या धीरे-धीरे कमजोर होने की शिकायत करता है।

दृष्टि तंत्रिका के शोथ (प्लेट XIII) की अभिव्यक्ति दृष्टितीक्ष्णता के एकाएक घटने, दृष्टिक्षेत्र का संकीर्णन या इसमें विकार होने (तमोबिंद), वर्णबोध के विकार, नेत्रगोलक की पीड़ायुक्त गति से होती है। दृष्टिपटल दर्शन के दृष्टि अंकुरक की अतिरक्तता, दृष्टितंत्रिका की धुँधली परिसीमाओं और दृष्टिपटल शिराओं के विस्फारण का पता लगता है।

उपचार : प्रतिजीवी औषधियों के अंतर्पेशीय इंजेक्शन अंतःशिरा द्वारा हैक्सामेथीलीन-टेट्रामोन (यूरोट्रोपीन) सहित ग्लुकोज और विटामीन $बी_1$ का आधान किया जाता है। रोग के कारण के आधार पर रक्तधान किया जाता है व ऊतक चिकित्सा की जाती है और कनपटी पर जोंक लगाई जाती है।

अक्षिबिंब शोफ (प्लेट XIV)ऐसे मामलों में अंतःकपाल दाब के बढ़ने का अत्यंत महत्त्वपूर्ण लक्षण होता है, जब साथ ही अर्बुद हो या केंद्रीय तंत्रिकातंत्र के शोथीय रोग और दूसरे रोग हों। इसलिए वमन के साथ होने वाले सरदर्द की शिकायत होने पर रोगी को निश्चित रूप से नेत्रबुहन के परीक्षण के लिए नेत्रविज्ञानी के पास भेजना चाहिए। रोग के प्राथमिक चरण में बहुधा दृष्टि क्रियाओं में उपद्रव नहीं होता है। इसके बाद दृष्टि तीक्ष्णता की अवनति बढ़ती जाती है। दृष्टि क्षेत्र संकीर्ण होता जाता है और अंत में रोगी अंधा हो जाता है। दृष्टिपटल दर्शन से दृष्टि अंकुरक में छत्रक के समान वहिसरण और इसका आकार बढ़ जाने का पता लगता है। अंकुरक पर विस्फारित और कुटिल शिराएँ चढ़ती हुई दिखाई देती हैं तथा अंकुरक के चारों ओर रक्तस्राव का पता लगता है।

इसका **उपचार** तंत्रिकातंत्र विज्ञानी और तंत्रिकातंत्र शल्यकार द्वारा किया जाता है। आपात्कालीन निर्जलीकरण चिकित्सा का भी निर्देश दिया जाता है।

तंत्रिका शोथ और अक्षिबिंब शोफ के अंतिम चरण में **दृष्टि-तंत्रिका का शोफ** विकसित होता है। शोफ के रूप प्रारंभ में टेविजडार्सेलिस, मस्तिष्क की सिफिलिस, दृष्टिपटल के वर्णक विघटन, प्रमस्तिष्क वाहिकाओं के काठिन्य इत्यादि में होता है। दृष्टि तीक्ष्णता की कमजोरी तेजी से बढ़ती जाती है और दृष्टिक्षेत्र संकीर्ण होता जाता है, भले ही रोग का कारण कुछ भी हो। दृष्टि पटल दर्शन से दृष्टिपटल वाहिकाओं की संकीर्णता और दृष्टि अंकुरक के पीलेपन का पता लगता है।

उपचार : इस प्रक्रम की हेतुकी पर निर्भर होता है। ऊतक चिकित्सा नियमित रूप से दी जाती है, खाने को पोलीविटामिन और विशेषकर बी कांप्लैक्स दिया जाता है। ग्लूकोज घोल का अंतःशिरा आधान किया जाता है तथा वाहिका विस्फारक औषधियाँ दी जाती हैं।

सबलवाय

सबलवाय एक अत्यंत तीव्र रोग है जो मुख्य रूप से वृद्धावस्था में होता है। सबलवाय बहुधा नेत्र रोगों से पीड़ित रोगियों में से लगभग चार से आठ प्रतिशत लोगों में होता है। परंतु यह संपूर्ण जगत में ठीक न हो सकने वाली अंधता का मुख्य कारण।

सबलवाय की अन्य अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त **अंतरक्षि दाव का बढ़ जाना** सबलवाय का मुख्य लक्षण है। सबलवाय दृष्टि क्रियाओं की क्रमिक अवनति का मुख्य कारण है जिसके फलस्वरूप अंधता होती है। इसका मुख्य कारण है दृष्टितंत्रिका का बढ़ता हुआ अनुत्क्रमणीय शोफ। सामान्य अंतरक्षि दाव 18 से 25 मि.मी. मरकरी (पारद) के बीच होता है। यह दाव बहुधा प्रातःकाल अधिक होता है और सायंकाल में 3-5 मि.मी. मरकरी कम होता है। बढ़ा हुआ अंतरक्षि दाव सबलवाय का लक्षण हैं विशेपकर प्रातः और सायँकाल स्तर में अंतर अधिक होता है। यह रोग अच्छी भली स्वस्थ आँख में बिना किसी स्पष्ट कारण में एकाएक प्रारंभ हो जाता है, जिसे प्राथमिक सबलवाय कहते हैं। द्वितीयक सबलवाय एक ऐसा रोग है जो विसर्जन में उपद्रव के कारण आँख में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों के फलस्वरूप विकसित होता है (किरीट फुल्ली जो परितारिका से संयुक्त हो, परितारिका रोमक पिंडशोथ में परितारिका का बंद होना, लेंस का विस्थापित होना, इत्यादि)।

सबलवाय के प्रवर्ध की तीव्रता के आधार पर इसे पांच चरणों में विभाजित किया जाता है : प्रारंभिक, विकसित, अतिविकसित, लगभग पूर्ण और पूर्ण सबलवाय। प्रतिकार के अनुसार अंतरक्षि दाव के स्तर पर और दैनिक परिवर्तन पर आधारित करते हुए इस प्रक्रम को चार अंशों में विभाजित किया जाता है : प्रतिकारी, उपप्रतिकारी, प्रतिकाररहित और प्रतिकारी (तीव्र आक्रमण)।

प्राथमिक सबलवाय रक्ताधिक्य (बंदकोण सबलवाय) और इसके साधारण रूप में रोगी समय-समय में (खुले कोण की सबलवाय) के रूप में हो सकती है। बंद कोण वाली सबलवाय में रोगी समय-समय पर सिरदर्द की और नेत्र में पीड़ा, धुंधली नजर, प्रकाश के स्रोत में इंद्रधनुष के वृत्तों का दिखाई देने, एकाएक अश्रु स्राव होना, पढ़ते समय आँखों में थकान होने और चश्मे के शीशों को बार-बार बदलने की आवश्यकता की शिकायत करता है। रोगी की शिकायतें स्थायी हो सकती हैं क्योंकि नेत्र ज्योति सबलवाय के प्राथमिक अवस्था में ठीक बनी रहती है, इसलिए रोगी चिकित्सा समाप्त के लिए बहुत ही कम जाता है। परीक्षण करने पर किरीट में हल्की-सी अपारदर्शिता का पता लगता है और ऐसा लगता है कि किरीट में छिद्रण हुआ हो तथा किरीट के चारों ओर का शिरा तंत्र विस्फारित हो गया हो, तथा अग्र कक्ष की गहराई घट गई हो, जिस पर प्रकाश की प्रक्रिया बहुत हल्की होती हो, पुतली विस्फारित हो गई हो, जिस पर प्रकाश की प्रक्रिया बहुत हल्की हो। यदि ये लक्षण स्पष्ट रूप

से दिखाई न भी दें, तो भी अंतरक्षि दाब का माप कर सही और समय से निदान किया जा सकता है। इसे प्रारंभिक अवस्था कहते हैं। जैसे-जैसे प्रक्रम बढ़ता जाता है दृष्टितीक्ष्णता की अवनति होती जाती है और दृष्टिक्षेत्र अधिक संकीर्ण होता जाता है। ऊपर बताए गए परिवर्तन नेत्र के अग्रभाग में अधिक स्पष्ट हो जाते हैं : यह विकसित चरण का प्रारंभ है। रोग के और अधिक बढ़ने पर दृष्टि अंकुरक में अवसाद और शोष होता है जिसका पता दृष्टि तीक्ष्णता और संचरण में कमी से लगता है। यह बहुत आगे बढ़ा हुआ सबलवाय है। नेत्र ज्योति अंततः लुप्त होती जाती है और अंत में केवल प्रकाश का बोध ही होता है। यह लगभग पूर्ण सबलवाय है। यदि नेत्र ज्योति पूर्ण रूप से समाप्त हो जाय तो इसे पूर्ण सबलवाय कहते हैं।

साधारण सबलवाय में रोगी नेत्र ज्योति की निरंतर अवनति और अवकाश में वस्तु के विन्यास में कठिनाई की शिकायत करता है। इस प्रक्रम के अधिक बढ़ जाने में दृष्टितंत्रिका का शोप हो जाता है और रोगी अंधा हो जाता है, अर्थात् प्रवर्ध की वैसे ही अवस्था विकसित हो जाती है, जैसे कि रक्ताधिक्य रूप में। अंतरक्षि दाब और दृष्टि क्षेत्र की सीमाओं को जान लेने के बाद ही साधारण सबलवाय का निदान जल्दी हो सकता हैं। यह परीक्षण रोग-निरोधी उपाय के रूप में 40 वर्ष से अधिक आयु वाले सभी व्यक्तियों का करना चाहिए और विशेष कर ऐसे लोगों में जो कि अपने नेत्र ज्योति को खराब होने की शिकायत करते हैं।

कभी-कभी अंतरक्षि दाब को बिना मापे हुए ही यह मान लिया जाता है कि रोगी को मोतियाबिंद है और उसे इसके पकने का इंतजार करने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार से होने वाली अंधता सबलवाय में असाध्य है। सबलवाय की अभिव्यक्ति या शुरुआत एकाएक तीव्र आक्रमण के रूप में बहुत कम होती है। ऐसा केवल तंत्रिका तंत्र के आधात के फलस्वरूप, शरीर के ठंडे होने के बाद, शारीरिक अतिश्रम के बाद या रोग इत्यादि के बाद हो सकता है। रोगी को आँख में पीड़ा और ऐसा सिर दर्द महसूस होता है जो कि दाँत तक महसूस हो, उल्टी और मतली महसूस होती है तथा शरीर का तापमान बढ़ जाता है। दृष्टि-तीक्ष्णता की अत्यधिक अवनति होती है और केवल प्रकाश का ही बोध होता है। रोगी की पलकें शोफीय हो जाती हैं तथा नेत्र श्लेष्मल वाहिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं, किरीट शोफीय, चमक-रहित और असंवेदनशील हो जाता है तथा अग्रभाग अनुपस्थित होता है और पुतली बहुत विस्फारित हो जाती है, जिस पर प्रकाश की प्रक्रिया नहीं होती। नेत्र बहुत ही कठोर (इसका दाब 70 मि.मी. पारद होता है) हो जाता है और नेत्र में पीड़ा होती है। नैदानिक त्रुटियाँ संभव हैं, क्योंकि उल्टी और मितली होने के कारण प्रमस्तिष्क रोग, अतिरक्तदाबी समस्या, खाद्य विषालुता, संक्रामक रोग और तीव्र अपेंडिसाइटिस समझी जा सकती है। कभी-कभी ऐसी गलती तब होती है जब आँख की लाली और पीड़ा का, परितारिका-रोमकपिंडशोथ का निदान किया जाता है और रोगी की आँख में एट्रोपीन

का बिंदुपात किया जाता है। इस गलती से बहुधा न सुधरने वाली हानि हो जाती है।

ऐसी त्रुटियों से बचने के लिए विभेदक निदान का निम्नलिखित तालिका को देखना उपयुक्त होगा।

सबलवाय की तीव्र आक्रमण	**तीव्र परितारिक शोथ**
1. अंतरक्षि दाव बढ़ जाता है।	1. नियम के रूप में अंतरक्षि दाव सामान्य या कम रहता है। कभी-कभी यह बढ़ भी सकता है, पर ऐसा बहुत कम होता है।
2. किरीट विशेष रूप से अपारदर्शी होता है, यहाँ कि कि बहुत ही धुँधला नजर आता है। इसकी सतह में छिद्रण होता है।	2. किरीट में कोई परिवर्तन नहीं होता।
3. किरीट के चारों ओर की अंतरक्षि शिराएँ विस्फारित और कुटिल होती हैं।	3.किरीट के चारों ओर की धमनी वाहिकाओं में रक्ताधिक्य हो जाता है।
4. पुतली विस्फारित होती है और स्वस्थ आँख की अपेक्षा अधिक बड़ी होती है।	4. स्वस्थ आँख की अपेक्षा पुतली अधिक संकीर्ण होती है (जब तक एट्रोपिन का विंदुपात नहीं किया जाता)।
5. किरीट की संवेदनशीलता कम होती है।	5. किरीट की संवेदनशीलता सामान्य होती है।
6. नेत्र का अग्र कक्ष छोटा होता है।	6. अग्र कक्ष सामान्य गहराई का होता है।
7. इंद्र धनुष के वृत्त और कोहरा दिखाई देने की, नेत्र में पीड़ा की, माथे, जबड़े और सिर के पीछे वाले भाग में पीड़ा की शिकायत होती है।	7. इंद्र धनुष के वृत नहीं दिखाई देते। नेत्र ज्योति का घटना संभव है। नेत्र के क्षेत्र में पीड़ा होती है।

सबलवाय के तीव्र आक्रमण का उपचार प्रक्रम के चरण पर निर्भर करता है और इस बात पर भी निर्भर करता है कि रोगी का समय से और ठीक ढंग से उपचार किया गया है। रोग की प्रारंभिक अवस्था में सभी लक्षण समाप्त हो सकते हैं और नेत्र ज्योति का पुनः वापस आना संभव होता है, लेकिन कभी-कभी प्राथमिक आक्रमण के फलस्वरूप पूर्ण अनुत्क्रमणीय अंधता हो सकती है।

उपचार : सबलवाय का उपचार करने की मुख्य समस्या है अंतरक्षि दाब को घटाना और नियंत्रित करना। यदि दाब को सामान्य स्तर पर लाने में सफलता मिल जाती है, तो इस अवस्था को प्रवर्ध का प्रतिकार कहते हैं। अन्य रोगों में यह प्रक्रम

उपप्रतिकारित या प्रतिकाररहित होता है, जो अंतरक्षि दाब के स्तर और दृष्टि की क्रियाओं की अवस्था पर निर्भर करता है। तीव्र आक्रमण को अप्रतिकारित सबलवाय कहते हैं। ऐसे रोग में पुतली को संकुचित करने वाली दवाओं और अंतरक्षि दाब को घटाने वाली दवाओं का निर्देश दिया जाता है : एक प्रतिशत पोलीकारपीन घोल 0.25% फिजोस्टीग्माइन (एसेरिन) घोल, 0.02% फासफकोल घोल और अन्य औषधियों का निर्देश दिया जाता है। पिलोकारपिन का वहुधा दिन में 3 से 6 बार बिंदुपात किया जाता है, यदि यह पर्याप्त न हो तो अन्य तारा संकोचक औषधियाँ दी जाती हैं। तीव्र आक्रमण होने पर रोगी को तत्काल ही ऐसे चिकित्सालय में भेजना चाहिए जहाँ हर 15 या 20 मिनट बाद नेत्र संकोचक औषधि का बिंदुपात किया जा सके। तीव्रता समाप्त होने के बाद यह विंदुपात प्रत्येक एक या दो घंटे के बाद और तत्पश्चात और भी अधिक अंतराल से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य उपाय भी बरते जाते हैं : उष्णापाद-स्नान, लवाण विरेचक, निद्रादायक गोलियाँ, तंत्रिका तंत्र के लिए शामक, कनपटी पर जोंक लगाना इत्यादि उपाय। यदि अंतरक्षि दाब 24 घंटे के अंदर न घटे तो शस्त्र कर्म आवश्यक हो जाता है। सबलवाय के अन्य रूपों में, जबकि नियंत्रित करने के शस्त्रकर्म रहित उपचार सफल नहीं हों, शस्त्रकर्म करने की सलाह दी जाती है।

इसके अतिरिक्त सबलवाय के रोगियों का हृदयवाहिकाओं, तंत्रिका तंत्र, अंतःस्रावी तंत्र और जठर आंत्र पथ के रोगों का उपचार भी करना चाहिए। सबलवाय के रोगियों के उपचार में कार्य और खाली समय की नियमित सारिणी का सजीव महत्त्व है। सबलवाय के रोगियों को उत्तेजना, तंत्रिका तंत्र के प्रतिबल, अधिक गर्मी या सर्दी, अधिक थकान और कब्ज से बचना चाहिए और उनहें सिर नीचा करके काम नहीं करना चाहिए। दुग्ध पदार्थों और शाक-शब्जी का भोजन उनके लिए उत्तम है, परंतु तरल पदार्थ के लेने की एक सीमा निर्धारित की गई है (एक दिन में चार या पाँच गिलास से अधिक नहीं)। मद्यमान और धूम्रपान वर्जित है। कैफिन और बेलाडोना के संयोग और विशेषकर एट्रोपीन प्रतिदिष्ट है। दूर तक टहलना और हल्का शारीरिक व्यायाम करने की सलाह दी जाती है।

सबलवाय के उत्तरोत्तर विकास को रोकने के लिए और अंधता से बचने के लिए रोगियों का जल्दी पता लगाना आवश्यक है। उनके अंतरक्षि दाब और दृष्टि क्रियाओं की अवस्था पर नियमित निगरानी रखना आवश्यक होता है। सबलवाय का पता, चालीस वर्ष से अधिक आयु वाले रोगियों का नेत्र विज्ञानी और अन्य विशेषज्ञों के पास चिकित्सा सहायता के लिए आने पर, प्रशिक्षित चिकित्सा कर्मियों द्वारा तनावमिंति विधि से किया जाता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्यमों में कार्य करने वाले स्वस्थ व्यक्तियों की जाँच सबलवाय लक्षणों के लिए इसी प्रकार की जाती है, जैसे उस क्षेत्र की अन्य सभी शहरी या देहाती आबादी में होती हैं।

यदि अंतरक्षि दाव 25 मि.ली. पारद से अधिक है या रोगी में सबलवाय की कुछ लक्षण शिकायत है तो रोगी की नेत्र विज्ञानी द्वारा भली-भाँति जॉच करना आवश्यक है।

सभी सबलवाय रोगियों का नेत्रविज्ञानी कार्यालय में विशेष वृत्त रखा जाता है और उनके अंतरक्षि दाब, दृष्टि तीक्ष्णता, दृष्टिक्षेत्र और अन्य क्रियाओं की जाँच और परीक्षण महीने में कम-से-कम एक बार किए जाते हैं। इन ऑकड़ों को विशेष कार्डो में दर्ज किया जाता है।

सबलवाय निरोध के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सक्रिय उपायों के प्रसार में यह आवश्यक है कि वार्ता, व्याख्यान, प्रेस. रेडियों और अन्य साधनों द्वारा उस क्षेत्र की आवादी और चिकित्साकर्मियों को इस रोग के बारे में जानकारी दी जाय।

ऐसे उपायों के उपरांत ही बहुत से सबलवाय रोगियों का पता लगा है और अधिकतर लोग नेत्र विज्ञानी के पास तभी जाँच के लिए आने लगे हैं, जब वह इस रोग के प्राथमिक चरण में ही होते हैं। यही कारण है कि नियमित उपचार के बाद प्रक्रम के स्थायी प्रतिकार के रोगियों की प्रतिशत दर बढ़ गई है, और इसके परिणाम अच्छे रहे हैं।

शिशुओं में भी सबलवाय (जन्मजात सबलवाय, जलनेत्र) और किशोरों में (जुबेनाइल सबलवाय) का रोग पाया जाता है।

जन्मजात सबलवाय : जन्मजात सबलवाय के सभी रोगों में से 60% जन्म के समय जलनेत्री होते हैं। इस प्रक्रम के विकास चरणों में नेत्र के अग्र और पश्च भागों में आकृतिक परिवर्तन होते हैं। प्रारंभिक चरण में दाब बढ़ जाता है। क्रिरीट सामान्य या थोड़ा बढ़ा हुआ (पर बारह मि.मी. से अधिक नहीं) होता है। पुतली कुछ विस्फारित होती है। यदि अंतरक्षि दाब प्रतिकार की स्थिति पर है तो किरीट की पारदर्शिता नहीं घटती है। लिंबस के क्षेत्र, श्वेत पटल और नेत्रबुघ्न में कोई दीखने योग्य परिवर्तन नहीं होता है। विकसित सबलवाय में किरीट का व्यास 12 से 14 मि. मी. तक होता है। लिंबस बढ़ जाता है। अग्रभाग स्वस्थ आँख की अपेक्षा कुछ अधिक गहरा होता है। पुतली देखने में विस्फारित होती है। दृष्टितीक्ष्णता कम हो जाती है। सबलवाय की अति विकसित अवस्था में किरीट और अधिक वड़ा हो जाता है (इसका व्यास 14 मि.मी. से भी अधिक होता है)। लिंवस का क्षेत्र काफी हद तक बढ़ जाता है। नेत्र गोलक की अग्र, पश्च माप बढ़ जाती है। अग्र पक्ष गहरा हो जाता है। परितारिका शोफीय हो जाती है। पोषण के विकारों के फलस्वरूप लेंस अपारदर्शी हो जाता है। अभिबिंब की रोगजनक चपक और इसका शोफ बुघ्न पर दिखाई पड़ता है। पूर्ण सबलवाय में परिवर्तन केवल अग्र भाग में ही नहीं, बल्कि पश्च भाग में भी होते हैं। श्वेतपटल बहुत पतला हो जाता है और इसमें विस्फार हो जाता है, किरीट धुँधला हो जाता है, डेसीमेट नेत्रश्लेष्मला में विदार हो जाते हैं,

काचाभपिंड और लेंस में काफी अपारदर्शिता हो जाती है, दृष्टिपटल और कोरायड का वियोजन हो सकता है और इन दशाओं में कक्ष फिर उथला हो जाता है, जबकि अंतरक्षि दाब गिर जाता है। दृष्टीक्ष्णता शून्य के बराबर होती है। लगभग पूर्ण सबलवाय में प्रकाश का बोध मात्र होता है।

जन्मजात सबलवाय का **उपचार** बहुधा शस्त्रकर्म है। निदान की पृष्टि हो जाने के बाद पहले कुछ दिनों तक औषधि चिकित्सा की जाती है जैसे—तारासंकोचक (पिलोकार्पिन, फासफिकोल, अरमीन तथा अन्य)। औपधि चिकित्सा तथा अन्य उपायों का केवल अस्थायी और अस्थिर परिणाम होता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए यथासंभव शीघ्र शस्त्रकर्म करना आवश्यक होता है। (बच्चे के जन्म होने के पश्चात के पहले कुछ दिनों या सप्ताहों के अंदर ही)।

जोवेनाइल सबलवाय की अभिव्यक्ति युवकों में 25 वर्ष तक होती है। अधिकतर यह साधारण सबलवाय के रोग का पथ अपनाता है। बहुत से रोगियों में जन्मजात परितारिका या जलनेत्र के अल्प विकास के लक्षणों का पता लगना संभव है : सबलवाय के साथ बहुधा निकट-दृष्टिता होती है। प्राथमिक सबलवाय का उपचार वृद्ध रोगों के उपचार के समान ही होता है।

सबलवाय का लेशमात्र संदेह होने पर रोगी को तत्काल ही नेत्रविज्ञानी के पास भेजना चाहिए। जिन रोगियों में सबलवाय का पता लगे उन्हें चिकित्सक के निर्देशों का पालन करना चाहिए और नियमित रूप से नेत्रविज्ञानी के पास जाँच के लिए भेजना चाहिए। नेत्र विज्ञानी की सिफारिश के अनुसार कुछ रोगियों को अन्य कामों पर स्थानांतरित कर देना चाहिए।

नेत्र अभिघात

नेत्र रोग से पीड़ित सभी रोगियों में से 5 से 10 प्रतिशत रोगी नेत्र अभिघात (चोट) के होते हैं। चोट के बहुत से मामले, यहाँ तक गंभीर हो सकते हैं कि आंशिक या पूर्ण रूप से दृष्टि लुप्त हो जाय। नेत्र अभिघात के सफल उपचार के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि रोगी को प्राथमिक सहायता यथासंभव शीघ्र और उपयुक्त दी जाय और उसके बाद नियमित उपचार किया जाय। चोट के कारण के अनुकूल अभिघात को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है, जैसे—यांत्रिक, उष्णीय, और रासायनिक अभिघात, जबकि स्थानिक अभिघात में उपांग उपकरण (नेत्र गर्त सहित) और नेत्र गोलक में भी अभिघात हो सकता है।

यांत्रिक चोट से पलकों नेत्र-गर्त और आँख में जख्म हो सकता है।

पलकों की चोट : पलकों के अभिधात से त्वचा पर, विशेषकर पलकों की परिसीमा पर, चोट लगती है। इसमें दबे हुई ऊतक को निकालने के साथ शस्त्रकर्मी क्षतशोधन करना आवश्यक होता है और अंतरसीमा स्थान में सीवन करनी चाहिए।

उपचारिका को चाहिए कि टिटनेस एंटीटाक्सिन और प्रतिजीवी का अंतर्पेशी इंजेक्शन लगाए। आँख में बिंदुपात करके उसे विसंक्रामित करें। पलकों की त्वचा को ब्रिलिएंट ग्रीन के एक प्रतिशत एल्कोहल घोल से धोना चाहिए और फिर ऑख पर विसंक्रामित पट्टी करके रोगी को नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए।

नेत्रगुहा में चोट : नेत्रगुहा में चोट के साथ हड्डी के टूट जाने से यह हड्डी के भागों के विस्थापित होने से तथा नेत्रगुहा के आयतन में घटबढ़ होने से जटिलता आ जाती है। उसी के अनुसार नेत्र का आकुंचन और वहिःसरण होता है। दृष्टितंत्रिका के विदार, नेत्र में तीव्र नील पड़ने या दबने से एकाएक अंधता भी हो सकती है। नेत्रगुहा के अभिघात भयानक होते हैं, क्योंकि संक्रमण द्वारा उपद्रव संभव होते हैं। नेत्रगुहा में अभिघात के निम्नलिखित लक्षण हैं : पलकों और उनके शोफ की मोटाई में रक्त स्राव होना, स्थिय भित्तियों के क्षेत्र में परिस्पर्शन से पीड़ा होती है, नेत्रगोलक विस्थापित हो जाता है और गतिशीलता घट जाती है, ज्योति की अवनति होती है, नाक से रक्त स्राव होता है और रोगी की शारीरिक दशा कमजोर हो जाती है।

इसकी **उपचार** वही है जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। रोगी को स्ट्रेचर पर लिटाकर नेत्र विज्ञानी के पास ले जाना चाहिए।

नेत्र गोलक की चोट कुंद (नील पड़ने वाली), उपरस्थि और अंदर तक हो सकती है।

अकर्तक अभिघात या **नील** तभी पड़ता है, जब आँख पर किसी छड़ी, मुष्ठि, मशीन के भाग, चौपाए के सींग इत्यादि से प्रहार होता है। इसके साथ विभिन्न प्रकार के अन्य लक्षण भी हो सकते हैं। बहुधा निम्नलिखित मिले-जुले लक्षण होते हैं : पलकों की मोटाई से रक्तस्राव (या घाव होना) नेत्र श्लेष्मा, अग्रभाग, काचाभ पिंड और नेत्र गर्त में रक्तस्राव होना तथा परितारिका का विदार या वियोजन, लेंस का अपारदर्शक होना या विस्थापित होना, तथा नेत्रबुध्न में परिवर्तन। सबसे गंभीर अभिघात वह होता है जब नेत्रगोलक का आंतरिक पर्तो के भंग्र के साथ पिच्चन हो जाता है। ऐसा अंदरूनी चोट के फलस्वरूप होता है। अभिघात की तीव्रता के अनुसार ही रोगी की नेत्रज्योति पर प्रभाव पड़ता है।

उपरस्थि अभिघात बहुधा छोटे आगंतुक शल्य के कारण होता है : एम्री, कोयला, धातुओं की क्षीलन, अन्न की बालियाँ तथा अन्य छोटी चीजें। ये आगंतुक शल्य नेत्रश्लेष्मा, ऊपरी पलक की उपस्थि में खाँचों में रह जाते हे या किरीट की ऊपरी पर्त्र में आ जाते हैं। इनकी वजह से रोगी पलकों के आकर्ष, अश्रुस्राव, और स्पर्श असह्यता की शिकायत करता है। ऐसे में पलकों को सावधानी से पलटकर नेत्र श्लेप्म की जाँच करना आवश्यक होता है। यह जाँच पार्श्व प्रदीपन की सहायता से हो सकती है। धूल के कणों को नेत्र-श्लेष्मा पर से गीली रुई के फाहे से निकाला जाता है, जो आगंतुक शल्य किरीट पर से इस प्रकार निकाले नहीं जा सकते हैं; उन्हें विशेष

प्रकार को छोटी छेनी, स्पीअर या इंजेक्शन वाली सुई से खुरच कर साफ कर दिया जाता है और फिर एल्कोहल या उबले पानी से विसंक्रमित कर देते हैं। आँख में 0.25 प्रतिशत टेट्राकेन घोल का दिन में तीन बार बिंदुपात किया जाता है। आगंतुक शल्य को निकालते समय पलकों को बाएँ हाथ के अँगूठे और तर्जनी के द्वारा बाहर को खींचकर अलग कर दिया जाता है और फिर उसमें छोटी छेनी का प्रयोग करते हैं। नेत्र श्लेष्मला कोष में कोलायड सिल्वर या सिंथोमाइसिन घोल का आधान किया जाता है या 5% सिंथोमाइसिन या लेवोमाइसिटीन (क्लोरमफेनिकाल) मलहम का लगाना बेहतर होता है और इसके बाद आँख पर पट्टी बाँध देनी चाहिए। यदि आगंतुक शल्य किरीट की गहरी पर्तों पर स्थित है या ऊपर बताई गई विधियों से इसको निकालना असंभव है और धूल के कणों को निकालने के बाद उपद्रव (परितारिका शोथ, व्रण) होने पर रोगी को फौरन ही नेत्र विज्ञानी के पास भेजना चाहिए।

आगंतुक शल्य के घुसे बिना होने वाली उपरिस्थ चोटों में किरीट में अपरदन और अंतःसंचरण हो सकता है, जिसका पता दो प्रतिशत सोडियम फ्लोरोसिन घोल का नेत्र में आधान करने के बाद हरा रंग होने से चलता है।

उपचार : आँख में प्रतिजीवी औषधि का मलहम या घोल डालकर अपूति पट्टी बाँधी जाती है। यदि आँख में खरखराहट होती हो और पुतली संकीर्ण हो गई हो तो आँख में (यदि अंतरिक्ष दाब सामान्य हो) इसको कोलामिन या एट्रोपिन का बिंदुपात करके पुतली को फैलाया जाता है, चालीस वर्ष से अधिक आयु वाले लोगों का तारा विस्फारक औषधियों का प्रयोग करने में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि इस आयु के लोगों में अंतरक्षि दाब बढ़ने की अधिक संभावना होती है।

पैने और नुकीले पदार्थो, अग्नेय शस्त्रों इत्यादि से **बेधक जखम** या घाव हो जाते हैं। ये घाव किरीट श्वेत पटल या लिंबस के भाग में हो सकते हैं। यदि ऐसे घाव होने का तनिक भी संदेह हो तो पलकों पर ये रक्त-आतंच को सावधानीपूर्वक निकालना आवश्यक है। 0.25% टेट्राडिकेन घोल का आधान करके और सावधानी से पलक को खोलकर नेत्र की जाँच करनी चाहिए। बच्चों में इस क्रिया के लिए कभी-कभी पलकों के उठाने वाले औजार का प्रयोग आवश्यक होता है। यह बाद ध्यान में रखनी चाहिए कि पलकों को खोलने या दबाने में तनिक भी असावधानी होने से घाव फिर खुल सकता है, जिससे कि काचाभपिंड और आँख की आतंरिक परतें भ्रंश हो सकती हैं। परीक्षण करने से निम्नलिखित परिवर्तनों का पता लगता है : पलकों में घाव; नेत्र की श्लेष्मला परतों में विदार, किरीट और उसके किनारों पर घाव या ऐसे घाव जिनमें परितारिका भ्रंश हो गई हो, श्वेत पटल में विदार और कोरायड में भ्रंश हो; अग्रकक्ष का छिछला या गहरा होना, रक्त का मौजूद होना; परितारिका का विस्फारित या संकुचित होना, भ्रंश परतों की ओर इसका विस्थातिप हो जाना; परितारिका का रंग बदल जाना लैंस के चोटग्रस्त होने पर इसका रंग भूरा

होता है या काचाभ पिंड में रक्त में मौजूद होने से इसका रंग हरा होता है)। यह संभव है कि आगंतुक शल्य आँख में विंध गया हो। कभी-कभी यह अग्रभाग में या आँख के गहरे भागों में दृष्टिपटल दर्शन करने से दिखाई देता है। आगंतुक शल्य के पता लगाने की सुनिश्चित विधि 'एक्सरे' चित्रण है। इसमें दृष्टितीक्ष्णता बहुत घट जाती है।

वेधीय घाव का मुख्य लक्षण है, अंतरक्षि दाव का घट जाना (अल्प तनाव होना)। नेत्रगोलक में अल्क तनाव की पुष्टि बंद आँख के सावधानी-पूर्वक स्पर्शन से होती है। ये अभिधात दीर्घकालिक परितारिका रोमक पिंड शोथ और संक्रमण से जटिल हो सकते हैं। इनके लक्षण हैं, नेत्र की श्लेष्मल कला और पलकों में शोफ होना, नेत्र श्लेष्मला कोश में से आस्राव होना, घाव के किनारों के अंतःसंचरण से जलन होना, काचाभ पिंड और अग्र भागों में अंतर्नेत्रशोथ होना।

चोट लगने के दस से पंद्रह दिन के बाद बीच और कभी-कभी कुछ महीनों से लेकर कुछ वर्षो बाद तक स्वस्थ नेत्र पर विकसित होने वाला परितारिका रोमपिंड शोथ एक ऐसा अनुकंपी शोथ है जो एक अत्यंत भयानक उपद्रव हो सकता है। अगर ज्योतिहीन या लगभग ज्योतिहीन घाव वाली आँख परितारिका पिंड शोथ के कारण काफी समय तक शांत नहीं होती है तो यह विशेषकर भयानक रूप ले सकता है। नेत्र आकार में सिकुड़ जाता है और छूने से इसमें पीड़ा होती है। स्वस्थ आँख को अनुकंपी शोथ से बचाने के लिए ऐसी आँख को यथाशीघ्र निकाल लेना चाहिए। ऐसी आँख के निम्नलिखित लक्षण होते हैं : घटी हुई दृष्टितीक्ष्णता, नेत्रश्लेष्मा पर
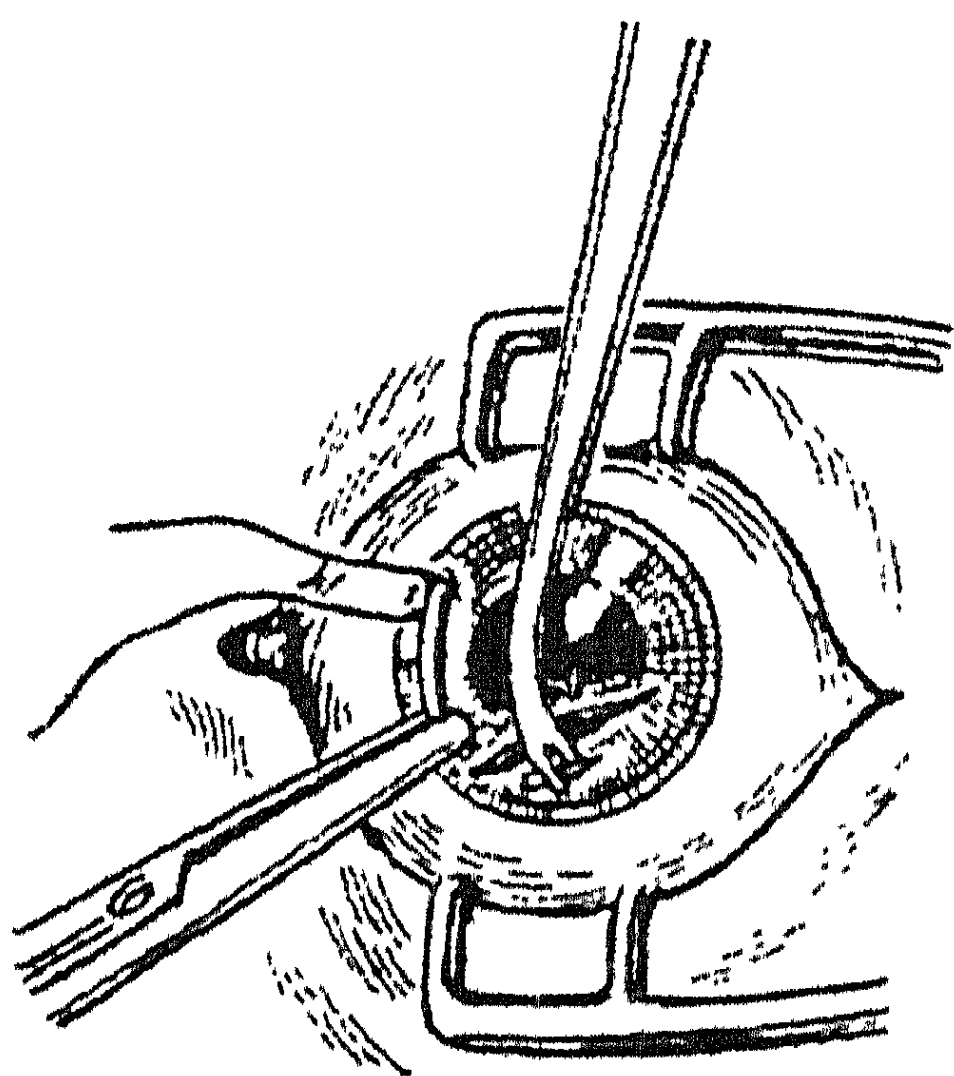
चित्र 175. किरीट में सीवन करना।

चित्र 176. बड़े आकार वाले विद्युतीय चुंबक की सहायता से आँख में से आगंतुक शल्य को निकालना।

गहन या पेरिकोर्नियल अतिरक्तता, परितारिका की अतिरिक्तता, पुतली की संकीर्णता और अंकुरक द्वार का बंद होना (अछिद्रता), किरीट की पश्च सतह पर अवक्षेप होना। अन्य दशाओं में पहले अग्रभाग सामान्य रहता है और दृष्टि तंत्रिका शोथ के कारण ज्योति में अवनति होती है।

उपचार : तीव्र अकर्तक और वेधीय अभिघात वाले रोगियों को नेत्र चिकित्सालय में रखना आवश्यक होता है। नेत्र में विसंक्रामित औषधि का बिदुंपात करने के बाद नेत्र पर अपुतित पुट्टी बाँधी जाती है और टिटनेस प्रतिजीवीष का इंजेक्शन लगाया जाता है। उपचारिका या चिकित्सक के सहायक को चाहिए कि वह ऐसे रोगों को एंबुलेंस में लिटाकर या दूरस्थ भाग से हवाई जहाज में लाकर नेत्र विज्ञानी के पास भेजे। नेत्र में आगंतुक शल्य की मौजूदगी का पता लगाने के लिए चिकित्सालय में रोगी के नेत्र गुहा में कपाल का 'एक्स-रे' चित्रण किया जाता है। इससे नेत्रगुहा की भित्तियों की दशा का भी पता लगता है। वेधीय घाव होने पर घाव का क्षतिशोधन शस्त्रकर्म किया जाता है : भ्रंश परतों उच्छेदन करके घाव को सिर दिया जाता है (चित्र 175)। आँख में से आगंतुक शल्य को निकालने के लिए बड़े एलेक्ट्रोमैगनेट (चित्र 176) या स्थायी मैगनैर (चित्र 177) का प्रयोग किया जाता है। इसके सामान्य उपचार में प्रतिजीवी औषधि का अंतर्पेशीय इंजेक्शन या खाने की प्रतिजीवी औषधियाँ दी जाती हैं। ऊतक चिकित्सा और रक्त आधान किया जाता है। नेत्र में विसंक्रामक घोल का बिंदुपात किया जाता है। नेत्र के तान के अनुसार तारा संकोचक या तारा-विस्फारक औषधियों को बिंदुपात किया जाता है। वेधीय घावों के उपचार की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि रोग की सही चिकित्सा और यथा समय से की गई है या नहीं। इसलिए चिकित्सा कर्मियों का यह कर्त्तव्य होता है कि वह रोगी को किसी प्रकार की देरी कि ये बिना नेत्र चिकित्सालय में भेजे।
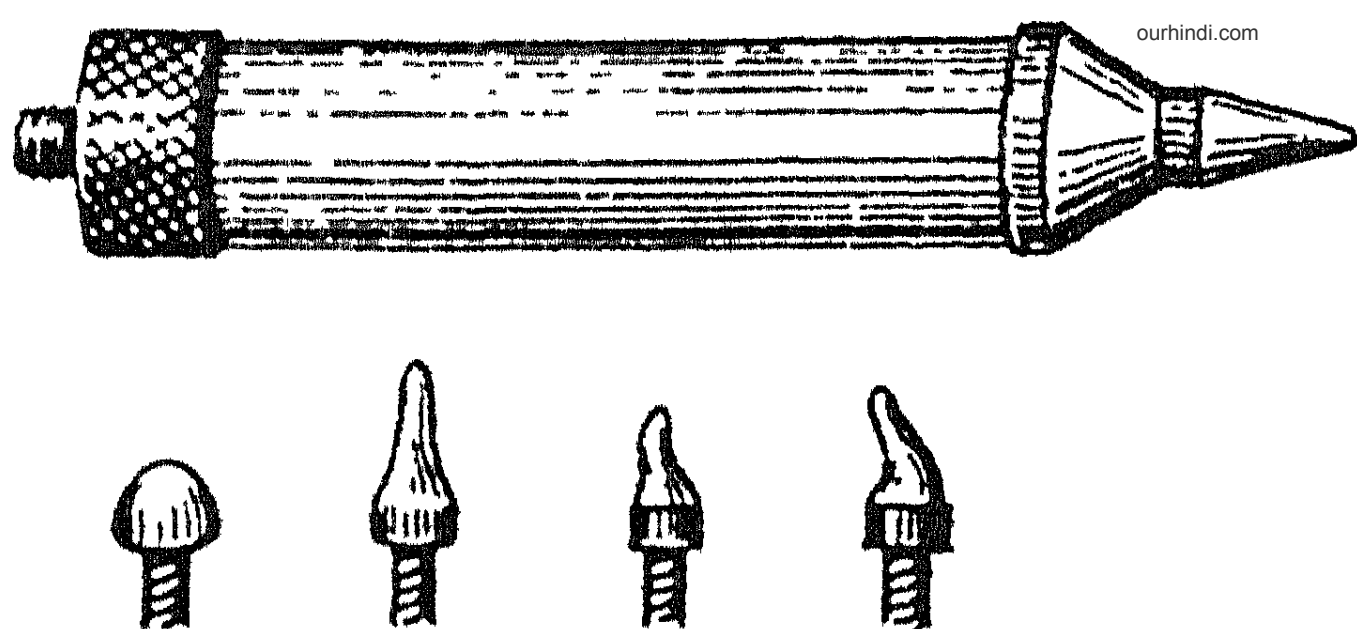
चित्र 177. स्थायी चुंबक।

नेत्र का दग्ध होना : नेत्र और उसके आसपास के भाग अग्नि, पिघली हुई धातु और बदलते हुए पानी से उष्णदग्ध होते हैं। नेत्र में रासायनिक दग्ध अम्ल, क्षार और अनीलीन क्रेअन के प्रभाव से होता हैं क्षार (विशेष रूप से चूने से) अति गंभीर दग्ध होता है, क्योंकि यह पदार्थ तेजी से नेत्री ऊतकों में प्रवेश कर जाता है।

चोट की तीव्रता काफी हद तक हानिकारक पदार्थ की मात्रा और सांध्रता पर

निर्भर करती है। उसके उपचार में प्राथमिक सहायता कितनी जल्दी पहुँचाई गई है और इसका कैसा उपचार किया गया है, यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आँख में हुए परिवर्तन के आधार पर दग्ध का हल्का, कुछ तीव्र, तीव्र और अतितीव्र में वर्गीकरण किया जाता है। इस बात पर जोर देना कि कितने अंशों का दग्ध हुआ है। इसका पता फौरन नहीं चल सकता क्योंकि ये परिवर्तन बाद में होते हैं। हल्के दग्ध में नेत्रश्लेष्मला और त्वचा पर सूजन और लाली दिखाई देती है। अतितीव्र होने पर ऊतक क्षय होने लगता है और किरीट चोट विभिन्न अंशों की हो जाती है (शोफ, अपारदर्शिता जो हल्के से तीव्र होती जाती है)।

प्राथमिक सहायता और चिकित्सा : यह आवश्यक है कि नेत्र की पलक यथासंभव पलट दी जाय जिससे कम-से-कम नेत्रश्लेष्मा तोरणिका दिखाई पड़े। फिर धातु, चूना या अनीनील के कणों को भीगे हुए रुई के फाहे से निकाल दिया जाता है। अनीलीन या वायलेट इंक की दग्धता में नेत्रश्लेष्मा कोश को दो या तीन प्रतिशत टेनिल या तेज चाय के घोल से धोया जाता है और फिर हर दो घंटे के बाद दैनिक बूँदों का बिंदुपात किया जाता है। अन्य दशाओं में आँख को पानी से अच्छी तरह (पाँच या छः गिलास पानी से) से धोया जाता है और पलक के अंदर 5% सिंथोमाइसिन या क्लोरोफेनिकाल मलहम दिन में पाँच या छः बार लगाया जाता है और विटामिन बूँदें या 40% ग्लूकोज घोल का बिंदुपात किया जाता है।

यदि पुतली संकीर्ण है और अंतरक्षि दाब सामान्य है तो ताराविस्फारक औषधियों का बिंदुपात किया जाता है।

अंतरक्षि दाब की निगरानी बहुत जरूरी होती है। यदि दाब बढ़ता है तो 1% पिलोकार्पिन घोल का बिंदुपात करना चाहिए। नेत्रश्लेष्मा में ऊतक क्षय होने पर मलहम लगाना चाहिए और साथ ही कांच की छड़ से नेत्रश्लेष्मला के आसंजन को पृथक रखना चाहिए। तीव्र दग्ध होने पर 40% ग्लूकोज घोल का अंतःशिरा आधान किया जाता है और खाने को पोली विटामिन दिया जाता है। विशेष उपचार और शस्त्र कर्म की आवश्यकता होने पर रोगी को प्राथमिक सहायता देने के बाद फौरन नेत्र चिकित्सालय में भेजना चाहिए। तीव्र दग्ध के परिणामस्वरूप किरीट में खुर्दरी फुल्ली बन जाती है और पलकों की श्लेष्मल कला में आसंजन होता है तथा इससे ज्योति में तीव्र अवनति होती है।

विद्युत नेत्राभिष्यंद (एलेक्ट्रोपथ्लैमिया) : यदि आँखें पराबैंगनी किरणों से भली-भाँति सुरक्षित नहीं की गई हैं तो यह रोग बिजली की वेल्डिंग करने वालों और उनके सहायकों तक फिल्म शूटिंग में उपस्थित लोगों में अति तीव्र प्रदीपन के कारण यह रोग हो सकता है। एलेक्ट्रोपथ्लैमिया की अभिव्यक्ति 5 या 6 घंटे में तीव्र प्रकाश असह्यता, अश्रुस्राव, नेत्रों में पीड़ा और पलकों में सूजन से होती है। समय-समय पर किरीट में अंत-संचरण और पुट्टिकाएँ दिखती हैं। मिनेत्राभिष्यंद भी ऐसे ही होता

है, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

उपचार : ठंडे पानी से आँख को धोना। टेट्राकेन एड्रानेलिन का बिंदुपात। उपचार के बाद ये लक्षण कुछ घंटों में खत्म हो जाते हैं।

नेत्र अभिघातों को सदैव गंभीर समझना चाहिए, क्योंकि विभिन्न उपद्रवों के कारण नेत्र ज्योति तत्काल या धीरे-धीरे पूर्ण या आंशिक रूप से लुप्त हो सकती है। स्वस्थ नेत्र के भी अनुकंपी शोथ का भय रहता है। इसलिए नेत्र अभिघात के रोग-निरोधी उपाय जल्दी करने चाहिए। उद्यम और कृषि में निम्नलिखित उपायों का बरतना आवश्यक है : (1) काम करने की जगह से धूल की सफाई करना, क्योंकि अधिक धूल से नेत्रश्लेष्मा में क्षोभ होता है जिससे कि चिरकारी नेत्र श्लेष्मा शोथ विकसित हो सकता है और किरीट की उपरिस्थ चोट व्रण का रूप ले सकती है, (2) काम करने की जगह और उत्पादन कक्ष में अच्छी रौशनी होनी चाहिए। इससे सब चीजें साफ दिखाई देती है। आँखों में थकान कम होती है और काम करते समय आँख में चोट लगने का खतरा कर रहता है, (3) इस बारे में आश्वस्त होना चाहिए कि काम करने वालों की सुरक्षा नियमों का ज्ञान है और वे इन नियमों का पालन करते हैं, (4) किसी भी व्यवसाय से संबंधित कार्य को करते समय नेत्र अभिघात को रोकने के लिए कर्मियों को स्वास्थ्य शिक्षा की जानकारी देने का काम करना चाहिए, (5) यह देखना चाहिए कि काम करने वाले सुरक्षा चश्मे पहनें और मशीन उपकरणों पर अन्य सुरक्षात्मक साधनों को प्रयोग में लाया जाय, (6) कारीगरों का काम के लिए व्यावसायिक चयन करते समय उनकी नेत्रज्योति की क्षमता के अनुसार काम देना चाहिए, (7) सामूहिक और राज्य फार्मों तथा कारखानों की चिकित्सा-चौकियों पर काम करने वाली उपचारिकाओं को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सुरक्षा नियमों का पालन हो रहा है और जिन लोगों को आश्वयकता है उन्हें प्राथमिक सहायता दी जा रहे है।

बच्चों के नेत्र अभिघात पर विशेष ध्यान देना चाहिए, जो तीखे, काटने वाली चीजों के साथ खेलते हुए, गुलेल या घर में बनी बंदूकों से निशाना साधते हुए अपनी आँखों में चोट खा जाते हैं।

इस रोग का तकाजा है कि इस विषय पर स्कूलों में शिक्षात्मक कार्य किया जाय, स्कूलों की छुट्टियों के दौरान बच्चों के मनोरंजन गृह चलाए जाएँ, घर में माता-पिता बच्चों के आचार व्यवहार पर नियंत्रण रखें।

नेत्र गुहा और नेत्र प्रेरक उपकरण के रोग

अनुषंगिक तिर्यक दृष्टि एक ऐसी दशा है जिसमें आँख की दृष्टि रेखाएँ उस वस्तु पर नहीं मिलतीं, जिसे देखा जा रहा है। दूसरे शब्दों में यह एक नेत्र से एक वस्तु को देखना है जबकि दूसरा नेत्र दूसरी ओर हो। नेत्रों की गति में गड़बड़ नहीं होती,

पर एक नेत्र में स्थायी रूप से तिर्यक दृष्टि या एक के बाद एक, दोनों में ही, यह स्थिति हो सकती है। यदि नजर आँखों की ओर होती है तो इसे अभिसारी तिर्यक दृष्टि कहते हैं और यदि नजर का झुकाव कनपटी की ओर हो तो इसे अपवारी तिर्यक दृष्टि कहते हैं। यदि अच्छी आँखों को हथेली से ढक लिया जाय तो तिर्यक दृष्टि वाले नेत्र मे समंजन गति होकर वह सही स्थिति में आ जायगा जबकि ढकी हुई आँख तिर्यक दृष्टि की किस्म के अनुसार अंदर की ओर या बाहर की ओर झुकेगी क्योंकि नेत्र की गतिशीलता पूरी तरह बनी रहती है।

अपवर्तन के दोष होने के कारण तिर्यक दृष्टि वाले नेत्र की दृष्टि तीक्ष्णता बहुधा घट जाती है और रोगियों को चश्मा लगाने की सलाह दी जाती है। एक या दो वर्ष की आयु वाले बच्चों को भी ऐनक लगाई जा सकती है। बच्चों में तिर्यक दृष्टि का उपचार जितना जल्दी प्रारंभ किया जाय उतना ही अच्छा है और उतना ही उनकी दृष्टि तीक्ष्णता में सुधार हो सकता है। इसलिए जैसे ही अभिभावकों को पता लगे कि उनके बच्चों की नजर कमजोर है, और विशेष रूप से जब यह पता चले कि उनमें तिर्यक दृष्टि है, तो उन्हें नेत्र विज्ञानी के पास चश्मे का नंबर लेने के लिए तथा आवश्यक नेत्र व्यायाम करने के लिए बच्चे को भेजना चाहिए। यदि संरक्षी उपचार सफल न हों तो तिर्यकदृष्टि वाले नेत्र की पेशियों का शस्त्र कर्म करके फिर उपचार जारी रखा जाता है। तिर्यक दृष्टि की अन्य किस्में भी हैं जिनमें चश्मा लगाने से कोई लाभ नहीं होता। इन दशाओं में नेत्रज्योति को सुधारने के लिए व्यायाम किए जाते हैं और शस्त्रकर्म किया जाता है।

नेत्रगोलक की एक या अधिक गतिशीलता पेशियों का अंगघात होने से **अंगघाती तिर्यक-दृष्टि** हो जाती है। इसमें और अनुषंगिक तिर्यक-दृष्टि में अंतर यह है कि अंगघाती पेशी की क्रिया सीमित होने के कारण या क्रिया न होने के कारण उसमें और गति नहीं होती यानि समायोजन गति का अभाव होता है। रोगी इस बात की शिकायत करता है कि उसे एक ही वस्तु दो दिखाई देती है। अंगघाती तिर्यक दृष्टि का सबसे आम कारण है प्रमस्तिष्क के **रोग।**

इसका **उपचार** तंत्रिकातंत्र विज्ञानी करता है। यदि अंगघात स्थायी रूप का हो तो पेशियों का शस्त्रकर्म करना चाहिए।

नेत्रगुहा रोगों का मुख्य लक्षण है नेत्रगोलक बहिःसरण (नेत्रोत्सेध) या इसकी गतिशीलता का उपद्रव या विस्थापन। ऐसा नेत्रगुहा के द्रव्य अर्बुद, रक्तस्राव, निःस्राव और कोशिकीय ऊतकों के शोफ तथा नेत्रगुहा शिराओं की धनास्त्रता, नेत्रगुहा के अभिघात के अस्थियों के अंदर की ओर विस्थापित होने और नेत्रगुहा का आकार घट जाने से होता है। नेत्रोत्सेध अवटु-विषाक्तता का एक लक्षण हैं।

उपचार : उपरोक्त लक्षणों के पाए जाने पर नर्स को चाहिए कि वह रोगी को नेत्र-विज्ञानी, 'एक्स-रे' चित्रण विज्ञानी, नासारोगविज्ञानी और अन्य विशेषज्ञों के

पास भेजे जो कि रोग के कारण को पहचान कर ठीक उपचार का निर्देश दे।

नेत्रगुहा का फ्लेग्मोन : नेत्रगुहा की कोशिकीय ऊतकों के फ्लेग्मोनी शोथ की अभिव्यक्ति पलकों पर तीव्र अतिरक्तता, पीड़ा, शरीर के बढ़े हुए ताप, नेत्रोत्सेध, नेत्रगोलक में गतिशीलता के लोप होने, नेत्रश्लेष्मला के शोफ और बहुधा नेत्र ज्योति में तीव्र अवनति या अंधता से होती है। फ्लेग्मोन का कारण परानासाविवर का तीव्र शोथ, आनन त्वचा के रोग (विसर्प, कुटिकाएँ, और अंजनी), विसंक्रमित अभिघात और संक्रामक रोग है। कपालगुहा तक रोग के फैलने की सम्भावनाओं (तानिका शोथ, मस्तिष्क में व्रण, विवरों की घनास्त्रता) के कारण यह रोग रोगी के जीवन के लिए एक भारी खतरा बन जाता है। दृष्टि तंत्रिका के शोफ और नेत्र की आंतरिक परतों में सक्रिय संक्रमण के कारण अंधता हो सकती है। इससे बचने के लिए उपयुक्त उपचार जल्दी-से-जल्दी शुरू करना चाहिए ताकि स्वास्थ्य लाभ हो सके और नेत्र ज्योति बनाई रखी जा सके। यह उपचार चिकित्सालय में होना चाहिए, इसलिए उपचारिका को चाहिए कि वह नेत्र पर अपूतित पट्टी बाँधकर तथा रोगी को स्ट्रेचर पर लिटाकर फौरन अस्पताल भेजे (अधिक दूर रहने पर वायुयान से भेजना अच्छा है और, अगर आवश्यक हो तो शस्त्र कर्म करना चाहिए।)

नेत्रगुहा के अर्बुद सुदम्य (कुटिल वाहिका-अर्बुदीय, अस्थि अर्बुद इत्यादि) या दुर्दम (सार्कोमा, कैंसर) हो सकते हैं। इनसे नेत्रगोलक का प्रवृद्धि बहिःसरण और कभी-कभी पार्श्व विस्थापन होता है, जिससे गतिशीलता सीमित हो जाती है और नेत्र ज्योति की अवनति होती है। अर्बुद में जो नेत्रगुहा के फ्लेग्मोन से भिन्न है, शोथ या पीड़ा के कोई चिन्ह नहीं होते और यह प्रक्रम धीरे-धीरे बढ़ता है।

उपचार : नेत्र चिकित्सालाय में शस्त्रकर्म।

● ● ●